राजस्थान का इतिहास

बी. एम. दिवाकर


साहित्यागार, जयपुर

मूल्य : सौ रुपये
संस्करण : 1987
प्रकाशक : साहित्यागार
एस एम.एस. हाईवे
जयपुर–302 003

मुद्रक : राजस्थान प्रिन्टिंग वर्क्स, किशनपोल बाजार, जयपुर

Rajasthan Ka Itihas

प्रस्तावना

1. महत्त्व:—यह तो विश्व विख्यात है कि राजस्थान के राजपूत युद्ध भूमि में मरना जानते हैं, पीठ दिखाना नहीं और यह भी प्रसिद्ध है कि उनके समान देश भक्त, आजादी के रखवाले और अपनी बात पर प्राणों की आहुति दे देने वाले सारे भारत में अन्यत्र कहो नहो मिलते। फिर भी वीरो के इस देश का इतिहास परियों की कहानी और आश्चर्य से रोंगटे खड़े कर देने वाली घटनाओ मात्र में सीमित सा था। पृथ्वीराज और संयोगिता की रोमांचकारी कथा, पति के युद्ध में मारे जाने की आशंका से पत्नी का जौहर, पन्ना धाय का त्याग और दुर्गादास की स्वामी-भक्ति की घटनाओं को देश-विदेश के साहित्यकारों ने सुन्दर शब्दों से सजाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि जन-साधारण की जबान पर राजस्थानी वीरों के त्याग और स्वामी-भक्ति के गीत गूंजते रहते हैं। वास्तव मे भारत के इस भाग के लोगो ने अपने धर्म और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये जो बलिदान दिये हैं वे अमर हैं फिर भी भारत के इतिहास में इस वीर भूमि के रक्षकों का उड़ता हुआ सा वर्णन आता है! क्यों? आवश्यकता है नये सिरे से इस गौरवपूर्ण इतिहास के लिखे जाने की।

अब तक पृथ्वीराज को वही तक पढ़ा जाता था जहाँ तक कि उसके गौरी से युद्ध हुए थे। राणा सांगा को सिर्फ बाबर के संघर्ष में एक पराजित राजपूत सरदार मात्र आंका जाता था और अकबर का समकालीन महाराणा प्रताप तो हल्दी घाटी और उसके बाद वन में भटकने, घास की रोटी खाने आदि मात्र के लिये ही विख्यात था। जयपुर का कछावा घराना मुगलो को लड़की देने के लक्षण से लज्जित समझा जाता था तो बीकानेर और जैसलमेर के शासकों को केवल लुटेरा मात्र मान कर इतिहास में उपेक्षा की गयी थी। किन्तु मुगलों के प्रभाव और समय की प्रथा के अनुसार राजपूत राजाओं ने भी दरबारी चारणों के माध्यम से अपने समय का इतिहास लिखवाना शुरू कर दिया और जब देश स्वतंत्र हुआ तो इन स्वतंत्रता के परवानों का इतिहास भी सामने आने लगा। सत्य का सूर्य लाग-लपेट के बादलों में अधिक समय तक नहीं छिप सकता उसी प्रकार जिज्ञासू इतिहासकारों ने प्राप्त बहियो, ख्यातों, राज-पत्रों, फरमानों, शिलालेखों और कलात्मक कृतियों के आधार पर राजस्थान के छिपे गौरव को भी सामने ला रखा। जन साधारण की यह जिज्ञासा अभी तृप्त नहीं हुई है। इतिहास के विद्यार्थी उत्सुकता से इस देश की अधिक से अधिक सामग्री पाना चाहते हैं। शोध

कार्यों का तांता लग गया है और अब समय दूर नही जब राजस्थान का इतिहास विधिवत रूप में आम जनता के हाथों में आयेगा। यह पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी गयी है कि अब तक की प्राप्त सभी सामग्री का समावेश कर इतिहास के छात्रों का मार्ग-दर्शन हो सके।

2. पूर्व प्रयास.—यह बात नही कि अब तक राजस्थान का इतिहास लिखा ही नही गया। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि, बहियों, ख्यातों, राजपत्रो, फरमानों, शिलालेखो, फारसी इतिहासकारो और दरबारी चारणो के आधार पर या प्रचलित लोक कथाओ के आधार पर जिसको जहां से जो सामग्री मिल गयी उसी पर समय-समय पर इतिहासकारो ने प्रयास किये हैं। कर्नल टाड का 'ऐनल्स ऑफ राजस्थान' इस क्षेत्र में बहुत बडा धमाका था जिसने राजस्थान की रेती मे छिपे सत्यो को उछाल कर सबके सामने बिखेर दिया। उदयपुर राज्य के परम भक्त कवि श्यामलदास ने वीर विनोद की जिल्दों मे मेवाड़ का गौरव सग्रह किया। इसी प्रकार नेणसी की ख्यात और रेऊ के मारवाड़ के इतिहास ने जोधपुर का गौरव सचय किया। इन कवियो और इतिहासकारों से प्रेरणा लेकर डॉ० ओझा व श्री गहलोत ने राजस्थान के भिन्न-भिन्न राज्यों का इतिहास लिख डाला। इन सभी ग्रन्थों मे घटनाओ का समावेश इस प्रकार है कि जिससे शंका बढ़ती गयी और इतिहास के विद्यार्थियो में जिज्ञासा बढ़ती गयी। फलस्वरूप इतिहासकारो के एक छोटे से समूह ने इस ओर ध्यान दिया। समय के इन विख्यात इतिहासकारो ने अनुसधान और शोध कार्य पर जोर दिया। सीतामऊ के महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह जी की छोटी सी किन्तु उथल-पुथल मचा देने वाली पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान', डॉ० कानूनगो की 'लैक्चर्स इन राजपूत हिस्ट्री' के सिर्फ छः भाषण, डॉ० दशरथ शर्मा का 'अर्ली चौहान डाइनैस्टीज' आदि ने राजस्थान के इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वो पर प्रकाश डाल कर भारी जिज्ञासा उत्पन्न कर दी। इसके बाद डॉ० गोपीनाथ का 'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' डॉ० घासीराम परिहार का 'मारवाड़ एण्ड दी मराठाज', डॉ० बधरा का 'जयपुर एण्ड दी ईस्ट इंडिया कम्पनी' और डॉ० मोहनसिंह मेहता का 'हेस्टिंग्ज एण्ड दी स्टेट्स' आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जो उच्चतम विद्यार्थी की चरम जिज्ञासा को भी शान्त करते हैं। इनके बाद डॉ० गोपीनाथ की 'राजस्थान स्टडीज' नामक पुस्तक ने राजस्थान के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को भी जगा दिया। इस पुस्तक मे इन सभी ग्रन्थों का निचोड राजस्थानी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। जिसमें राजनीतिक उथल-पुथल, राज्य विस्तार, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक प्रगति का पूरा पूरा विवरण भी दिया गया है। जहाँ-तहाँ सहायक ग्रन्थों का वास्ता देकर पाठकों की जिज्ञासा भी बढाई गयी है। डॉ० वी. एस. भार्गव के शोध ग्रन्थ "मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स" और "राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण" ने

भी महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर जो प्रकाश डाला है वह जिज्ञासा के मार्ग को और स्पष्ट करता है।

3. रचना—राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है जिसमें नदियाँ भी हैं तो रेगिस्तान भी, पठारी दुर्गम भाग के साथ हरे भरे मैदान भी। जहाँ 40-45 इंच वर्षा के औसत से भूमि घने जंगलों से ढकी है वहाँ बादलों के दर्शन को तरसने वाले भू-भाग भी हैं। विभिन्नता में एकता का आभास यहा खूब देखने को मिलता है। राजस्थान की रचना में अरावली पर्वत का बड़ा महत्त्व है। यह पर्वत उदयपुर, बाँसवाड़ा, डूँगरपुर और प्रतापगढ़ में खूब फैला हुआ है और आबू का गुरुशिखर इसकी सबसे ऊँची चोटी है। यही पर्वत मांडलगढ़, कोटा, झालावाड़ आदि भागों में भी फैला हुआ है। यह पहाड़ राजस्थान के विभिन्न भागों में एक बाधा या वल्ली की तरह सीधा ऊँचा खड़ा है। अर्वली का वास्तविक रूप आड़ावला है जो आड़ा आ जाय या रास्ता रोक ले। यही पर्वत जोधपुर में सूखी पहाड़ियों के रूप में और जैसलमेर में रेत के ऊँचे टीबों के रूप में फैला पड़ा है। ये पहाड़ियाँ किलों के निर्माण, देश की सीमा और आदिवासियों की सुरक्षा के लिये वरदान बन गयी। मेवाड़ क्षेत्र मे रहने वाली जातियाँ भील, मेर और मीणे अन्य भागों से अलग हो गये और साधारण स्थिति में किसी बाहरी शासक के लिये इस भाग को जीतना सरल न था। मेवाड़ के शासकों ने इन जातियों का सहयोग प्राप्त कर अपना लिया। इनका और राजपूतों का सामाजिक जीवन प्रायः एकसा हो गया। पर्वतीय प्रदेश होने से मेवाड़ की जनसंख्या कम रह गयी। मेवाड़ के पश्चिम में पर्वत इतने संकड़े और पास-पास हैं कि शत्रु आसानी से उन्हें पार नहीं कर सकता। अबुल फजल ने तो इन पहाड़ियों को 'ऊँट गर्तन' कह कर दुर्गम बताया है। ये ऊँची पहाड़ियाँ मेवाड़ की दीर्घकालीन स्वतन्त्रता का मूल कारण हैं। इसी प्रकार जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर में फैला रेगिस्तानी भाग आक्रमणकारियों के लिये एक विशाल समुद्र का काम करता है। हम देखते हैं कि शेरशाह ने जोधपुर जीतने के बाद कहा था कि 'मैंने मुट्ठी भर बाजरे के लिये भारत की बादशाहत खो दी होती।' अकबर और औरंगजेब के सिवा अन्य मुसलमान शासकों ने तो जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर जैसे स्थानों को जीतने का साहस ही नहीं किया। इनके समय तो इन मरु प्रदेशों के शासक साधारणतः स्वयं इन बादशाहों से आ मिले। इस प्रकार इन रेतीले भागों की स्वतन्त्रता पर भी शत्रु के आघात कम हुए। पानी और वनस्पति के अभाव में कोसों यात्रा करने पर कहीं-कहीं गाँव मिलते हैं। इतिहासकार फरिश्ता ने ठीक ही कहा है कि "सैनिक सुरक्षा और राजनीतिक नियन्त्रण के विचार से रेगिस्तान का अपना स्थान है।"

राजस्थान में मैदान और नदियाँ भी हैं। यह प्रदेश बीच में ऊँचा उठा हुआ और चारों ओर ढलाव रखता है। उत्तर-पश्चिम में सरस्वती नदी है जो

प्राचीन भारतीय संस्कृति की धरोहर मानी जाती है। यह अब एक बरसाती नदी मात्र रह गयी है। यहाँ की सबसे महत्त्वपूर्ण नदी चंबल है जो मध्य भारत से निकल कर राजस्थान के उत्तर-पूर्वी भाग चित्तोड़-कोटा आदि को जीवन प्रदान करती यमुना में जा मिलती है। इस नदी की घाटियाँ अपनी ऐतिहासिकता के लिये आज भी विख्यात है। इसी चम्बल की सहायक नदियों के रूप मे खारी, बेड़च और बनास नदी धमनियो की तरह राजस्थान मे फैली हुई है। ये नदियाँ अनेक राज्यो की सीमा भी निर्धारित करती है। खारी नदी अजमेर और उदयपुर की सीमा है तो माही बाँसवाड़ा और डूंगरपुर की। ये नदियाँ शत्रुओं के आक्रमण मे बड़ी सहायक व मार्ग-दर्शक रही। नेणसी की ख्यात में इस बात का वर्णन मिलता है कि मुगलो के आक्रमण में बनास और चम्बल के बहाव का बहुत बड़ा योग है। इनके सहारे केन्द्र बना कर शत्रुओं ने राजस्थान को उजाड़ने के अनेक प्रयास किये है।

यहाँ का जलवायु भी शुष्क और महत्त्वपूर्ण है। वर्षा का अभाव, कड़ी सर्दी व शोषक गर्मी अन्जान लोगो के लिये प्राण लेवा बन जाती है। राजस्थान की गर्मी से घबराकर बाबर ने खानवा के युद्ध के बाद राजस्थान में पैर रखने की हिम्मत तक नही की। शेरशाह को अपनी नीति बदलनी पड़ी। गर्मी में बीकानेर, जैसलमेर व जोधपुर को सैनिको की आवश्यकता ही नहीं। जिसे स्वयं आत्म-हत्या करनी हो वह मई जून मे उधर चल दे। जिस प्रकार सर्दी के मौसम में मास्को जीतना असम्भव सा है वैसे ही राजस्थान का पश्चिमी भाग जलवायु के कारण शत्रु के पंजे से बाहर है। मेवाड़ के घने जगलों से उपयोगी लकड़ी और कोयला बहुत बनता है अतः जगलो का आर्थिक महत्त्व भी बहुत है। इन जगलों मे जंगली जानवर भी बहुत पाये जाते है जो शिकार के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। नदियों और पहाड़ों ने सारे राजस्थान को एक सूत्र में बाँध दिया है और इस प्रकार की भौगोलिक सीमा में बांट दिया है कि अलग-अलग छोटे-छोटे राज्य होते हुए भी सारा राजस्थान एक सीमा मे बधा है। फलस्वरूप यहाँ की सभ्यता, धर्म, शिक्षा, शासन और व्यवसाय सदा एक से रहे हैं। यहाँ का रहन-सहन और भोजन आदि भी जलवायु से प्रभावित है और जलवायु के प्रभाव से इस प्रदेश में गरीबी फैली हुई है। दैनिक उपभोग की वस्तुओं के अभाव ने लोगो का जीवन कठोर और वीरतापूर्ण बना दिया है। स्पष्ट है कि सीमित साधनों में रहकर भी मेवाड़ कई शताब्दियों तक मुगलों से टक्कर लेता रहा और जयपुर के नरेश साधन सम्पन्न होते हुए भी सुखी जीवन के चक्कर में पराधीन हो गये। इस प्रकार भूगोल और उसके प्रभाव ने राजस्थान के जन जीवन और इतिहास को काफी प्रभावित किया है।

4. इतिहास के साधन—किसी भी देश का इतिहास उसके नगरो, खण्डहरो, राजमहलों, झीलों, स्मारकों, शिलालेखो और साहित्य में भरा रहता है।

राजस्थान का इतिहास कर्नल टाड के साथ सामने आया। इस विदेशी विद्वान ने नगर-नगर और गाँव-गाँव मे घूम-घूम कर प्रचुर सामग्री संग्रह की और राजस्थान के निवासियों को एक चुनौती दी। फलस्वरूप डॉ० हीराचन्द गौरीशंकर ओझा व गहलोत आदि ने अपने अथक प्रयत्नों से साधनो का संग्रह कर राजस्थान के छिपे इतिहास पर जहाँ तहाँ प्रकाश डाला। उसके बाद एक दौड़ सी लग गयी और विद्वानों ने अनुसंधान कार्य कर आज इस देश के इतिहास का संग्रह कर दिखाया। साधनों का वर्णन वैसे अलग से एक अध्याय में आगे पुस्तक मे किया गया है फिर भी यहाँ यह कहना नितान्त आवश्यक है कि अनेक पुराने साहित्य ग्रन्थ मिल चुके हैं जो राजस्थान के राजाओं मात्र पर ही नही वरन् जन-जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इतिहास के साधन साहित्य, मुद्रा और पुरातत्त्व सामग्री में भरे पड़े हैं। कुछ का पता लग चुका है और शेष के लिये खोज जारी है। समय के महान् कवियों की रचनाओं में राजस्थान का इतिहास हँसता है। बाण के हर्ष चरित से लेकर जयानक का पृथ्वीराज विजय, जयचन्द्र सूरि का हमीर महाकाव्य, हरिसेन का बृहत कथा कोष, राजशेखर का प्रवन्ध कोष, चन्द्रवरदायी का पृथ्वी-राज रासो, मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ऐसे व्यापक ग्रन्थ हैं जो राजस्थान के जन-जीवन का सविस्तार वर्णन करते हैं। जैन पट्टावलियों में भी राजाओ, नगरों, व्यापारियों और उद्योगो का वर्णन मिलता है। विशेष तौर पर 'पार्श्वनाथ चरित' नामक ग्रन्थ में राजस्थान के धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन का ज्ञान भरा पड़ा है।

मुसलमानों के आगमन के साथ फारसी ग्रन्थो में भी राजस्थान का इतिहास लिखा गया। यह वर्णन आँखों देखी घटनाओं का है अतः अधिक विश्वस-नीय है। लड़ाइयों का वर्णन, मंदिरो और किलों का वर्णन इन ग्रन्थो में सराहनीय है। मुसलमानों के सिन्ध विजय से लेकर औरंगजेब के बाद तक के बीसियो ग्रन्थ ऐसे हैं जो ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। सिन्ध पर अरब आक्रमणों का वर्णन चचनामा में जैसा है अन्यत्र नहीं मिलता। फिर हर आक्रमणकारी के साथ दरबारी लेखक होते थे। बात इतनी ही है कि यह विजय वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है जिसे सामान्य इतिहास का विद्यार्थी अन्य साधनो से तोल कर सत्य निकाल सकता है। राजाओं ने भी मुगलों की देखादेख अपने दरबार मे इतिहासकार रखने शुरू कर दिये थे जिनमें विशेष उल्लेखनीय कवि श्यामलदास और नैणसी है, जिनकी रचनाएँ आज भी अपना महत्त्व रखती हैं। यदि विधिवद् अध्ययन किया जाय तो अब राजस्थान के इतिहास के साहित्यिक साधनों की कमी नही है।

पुरातत्व भी इतिहास का अविभाज्य अंग रहा है। स्थान-स्थान पर बिखरे स्मारक, मन्दिर, भवन, किले, महल, झीलें, स्तम्भ आदि इतिहास की प्रचुर सामग्री हैं। सास बहू का मन्दिर, हर्ष माता का मंदिर, देलवाड़ा के मंदिर, पुष्कर

और चित्तौड़ के सूर्य मंदिर और उनकी मूर्तियाँ इस देश का जीता जागता इतिहास है। इसी तरह नगरों के भग्नावशेष, मकानों के खण्डहर भी अध्याय हैं। मनिमाल, नागदा, मेड़ता, कुम्भलगढ़ और मण्डोर के खण्डहरों में यहाँ का गौरव सिमटा पड़ा है। चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ और देलवाड़ा के जैन मन्दिर उस समय के जन जीवन के प्रतीक हैं। अनेक अभिलेख भी प्राप्त हो चुके हैं जो पत्थरों, शिलाओं, दीवारों, प्रतिमाओं और स्तम्भो पर खुदे है। ये लेख गद्य और पद्य दोनों में है जो अधिकतर महाजनी लिपि मे खोदे गये है। इन लेखों में राजा का दान, विजय, मृत्यु-जन्म आदि घटनाओं का सविस्तार वर्णन मिलता है। ये लेख राजनीति के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास पर भी प्रकाश डालते हैं।

मुद्राएँ भी इतिहास का एक बड़ा साधन है। राजस्थान के राजाओं ने भी अन्य शासकों की भांति अपने नाम के सिक्के चलाये थे। इन सिक्कों पर अंकित चिन्ह शासकों की रुचि और धार्मिक प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। त्रिसूल, सूर्य, चन्द्र और अन्य देवी देवताओं के चित्र इस बात के प्रतीक है कि वे राजा अपने आपको सूर्यवंशी और शिव आदि देवताओं का भक्त मानते थे। इसी प्रकार अन्य सिक्कों पर पशुओ के चिन्ह अंकित होते थे जैसे घोड़ा, हाथी, चंवर, छत्र जो राजाओ के पराक्रम के सूचक थे। कई सिक्को पर पेड़ और नक्षत्र आदि भी अंकित होते थे। इन सभी सिक्कों को देखकर राजाओं का समय, उनका धर्म, आर्थिक अवस्था, शिल्प-कौशल और पड़ोसी राज्यो से उनका सम्बन्ध पता चलता है। यहाँ के अनेक राज्यो मे मालव, शिवि, शक आदि जनपदों के सिक्के भी मिले हैं जो इन राज्यो से राजपूतों के आर्थिक लेन देन का वर्णन करते हैं। ये सिक्के राज्य की समृद्धि के भी प्रमाण हैं। शिलालेख और साहित्यिक ग्रंथों में सोने और चाँदी के सिक्कों का वर्णन आदि है। द्रभ, एला, रूपक, नाणाक, विंशटिक, द्रभाष्ट आदि मुख्य सिक्के थे। राजस्थान के शासको में बापा, सोमदेव, अजयदेव, पृथ्वीराज चौहान के सिक्के बहुत प्रसिद्ध थे। साधारणतः एक तरफ कोई आकृति और दूसरी तरफ राजा का नाम अंकित किया जाता था। मुसलमानों के प्रभाव में आकर छोटे-मोटे राज्यों ने भी सिक्के शुरू कर दिये थे जो चोकोर व छोटे मोटे आकार के बनते थे। अन्य सामग्री की भांति सिक्के भी इतिहास के निर्माण में सहायता देते है। तिथिक्रम निकालने मे तथा उस समय की धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक दशा पर इनसे भारी प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार मुद्रा, साहित्य और पुरातत्वी सामग्री का अवलोकन करने से हमें राजस्थान के इतिहास के विषय मे और अधिक जानकारी प्राप्त हो रही है। प्रस्तुत पुस्तक मे इस प्रकार की सभी सामग्री का प्रयोग किया गया है।

5. नाम—जन साधारण के मन मे एक प्रश्न सदा रहता है कि राजपूतों के राज्य वाले इस भारतीय भू-भाग को राजस्थान क्यों कहा जाता है और

प्रारम्भ में इसका क्या नाम था ? जिस प्रकार विभिन्न 18 राज्यों को मिलाकर आज एक राज्य बना दिया गया है क्या पहले यह देश कभी एक था और इसका कोई एक नाम था ? उत्तर बहुत सरल और स्पष्ट है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने लार्ड हेस्टिंग्ज के समय में इन राजपूतों के राज्य वाले प्रदेश को राजपूताना नाम दिया था। इसका नाम राजस्थान आजादी के बाद रखा गया लेकिन यह नहीं मानना चाहिये कि आजादी से पहले इसे राजस्थान नहीं कहा जाता था। राजपूतों के इस भाग का नामकरण सबसे पहले कर्नल टाड ने राय-स्थान कहकर किया था अर्थात् रायों या रजवाड़ों का स्थान। मुगल काल में भी इसे राजपूताना कहा जाता था इसी आधार पर अंग्रेजों ने इसे राजपूताना कहा। इस प्रदेश में 18 राज्य शामिल हैं जिनका क्षेत्रफल लगभग 1,32,147 वर्गमील है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्राचीन काल में ही यह देश राजपूताना या राजस्थान कहलाता था। महाभारत काल में इस प्रदेश को जांगल देश कहते थे। इसी आधार पर बीकानेर नरेश अपने आप को जंगल धर बादशाह कहते थे। राजस्थान के अन्य भागों पर कुरु, सपादलक्ष आदि राज्य थे जो अजमेर, अलवर, राज्यों में विस्मित थे। करौली, भरतपुर, धौलपुर में शूरसेन का राज्य था जिसकी राजधानी मथुरा थी। उदयपुर राज्य को शिवि कहते थे। इस प्रकार मुगलों के आगमन तक राजस्थान में मूल रूप से चार राज्य थे, जोधपुर-बीकानेर में जांगल देश, अजमेर अलवर में सपादलक्ष, करौली भरतपुर आदि में शूरसेन और उदयपुर इत्यादि में शिवि राज्य फैले थे।

भौगोलिक स्थिति को देख कर भी इस प्रदेश के कई भागों के नाम रखे गये जैसे प्रतापगढ़ और बांसवाड़ा के 56 गांवों के गिरोह को छप्पन कहा गया। भैंसरोडगढ और बिजोलिया के पठारी उठे हुए प्रदेश को ऊपरमाल कहा गया और जरगा आदि के हरे भरे पहाड़ी भाग को देवहरो कहा। इस प्रकार राज्य और स्थान के महत्त्व को देखकर राजस्थान के कई नाम बदलते रहे है और इसकी राजनीतिक एकता भी या तो सांगा की अधीनता में रखने को मिलती है या फिर अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर यह देश एक होता गया। इस प्रदेश के पाँच प्राकृतिक भाग साफ नजर आते हैं और इसी आधार पर उदयपुर, जयपुर कोटा, जोधपुर और अजमेर मंडलों में यह देश बांटा जाता है। आज भी इसके ये ही प्रमुख राज्य और भाग हैं। इतनी विभिन्नता में भी सांस्कृतिक एकता रखने वाला यह देश राजस्थान कहलाता है।

6. निर्माता—हर देश में समय-समय पर योग्य शासक होते रहे हैं जिनकी अधीनता में राजपूतों की इस वीर भूमि का सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास होता रहा है। इस पुस्तक का उद्देश्य उन्हीं महापुरुषों के कार्यों का अध्ययन करना है चाहे वे राजा हों या प्रजा, धार्मिक सन्त हो या समाज सुधारक।

साधारणत: राजस्थान व भारत के इतिहास मे राजाओं को ही महत्त्व दिया जाता है किन्तु आजकल इतिहास का दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। श्री ओझा, गहलोत और टाड के इतिहासो को देखकर तो यह लगता है कि राजस्थान का इतिहास तो राजाओ की वशावली मात्र सा है जिसमें एक-एक वश के छोटे बडे राजाओ के जन्म, विजय, विवाह और मृत्यु का ब्योरा मात्र दिया गया है किन्तु अब इतिहास के व्यापक अर्थ को समझ कर राजस्थान के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक तत्त्वों का समावेश किया जा रहा है । इस पुस्तक मे जहाँ राजाओं के व्यक्तित्व, विजय और प्रशासनिक सुधारो का संग्रह है वहा कला, साहित्य, समाज परम्पराओं और आर्थिक परिवर्तनों को भी पूरा महत्त्व दिया गया है ।

हरएक विद्यार्थियो के लिये यह भी सम्भव नही की वह प्रकाशित सभी शोध ग्रन्थो को पढ सके । पुस्तक के प्रत्येक अध्याय मे उससे सम्बन्धित प्रकाशित महत्त्वपूर्ण शोध ग्रन्थों का सार देने की कोशिश की है और प्राचीन व आधुनिक साहित्य द्वारा प्राप्त सामग्री का भी उपयोग किया गया है। श्री टाड व ओझा विद्वानो के मतों को पूर्ण महत्त्व देकर सत्य की कसौटी पर उतारा गया है। पढने वाले छात्र व विद्वान ही बता सकेगे कि यह पुस्तक किस हद तक उपयोगी है । त्रुटियाँ सभव है अत: पाठको के सुझाव सादर मान्य है । मैं अपनी पत्नी का आभारी हूँ जिसकी प्रेरणा और सहयोग के बिना इसकी रचना संभव नही थी ।

पुस्तक की लोकप्रियता और बी. ए. व. एम ए. के छात्रो की आवश्यकता ी ध्यान मे रख कर इसे फिर से प्रस्तुत किया जा रहा है । ज्ञान की उपासना मेरी यह पुष्पाजली ज्ञान सौरभ से हर उत्सुक छात्र के मन को महका दे यही मना है ।

— बी० एम० दिवाकर

राजस्थान का इतिहास

विषय–सूची

1

राजपूतों की उत्पत्ति

राजपूत शब्द का अर्थ—"राजपूत या "रजपूत" शब्द संस्कृत के "राजपुत्र" का अपभ्रंश अर्थात् लौकिक रूप है।" श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 41 पर राजपूतों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए यह वाक्य लिखा है। राजपुत्र शब्द का प्रयोग नया नहीं है। प्राचीन भारत के ग्रन्थों में इसका व्यापक प्रयोग मिलता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र, कालीदास के नाटकों व बाणभट्ट के हर्षचरित तथा कादम्बरी में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। ह्वेनसांग चीनी यात्री ने भी, जो हर्षवर्धन के समय में आया था, राजाओं को कहीं क्षत्री और कहीं राजपूत लिखा है। इस बात से इस शब्द की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। वेद और उपनिषदों में भी 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ से लगाकर सोलहवीं शताब्दी में चंद्रवरदायी द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' में 'राजपूत' शब्द का प्रयोग जाति के लिए न होकर योद्धा के लिए किया गया है। भारत के शासक लोग मुसलमानों के आक्रमण तक क्षत्रिय ही कहलाते थे। श्री जगदीशसिंह गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 8 पर लिखते हैं कि—"मुसलमानों के आक्रमण तक यहाँ के राजा क्षत्रिय ही कहलाते थे। बाद में इनका बल टूट गया और ये स्वतन्त्र राजा के स्थान पर सामन्त, नरेश हो गये। मुसलमानों के समय में ही धीरे-धीरे इन शासक राजाओं की जाति के लिए राजपुत्र या राजपूत शब्द काम में आने लगा।" इस प्रकार राज्य खोकर राजपुत्र-राजपूत रह गये।

गौरीशंकरजी ओझा का भी यही मत है। वे अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास की पहली जिल्द के पृष्ठ 42 पर लिखते हैं कि—"मुसलमानों के राजत्व-काल में क्षत्रियों के राज्य क्रमशः अस्त होते गये और जो बचे उनको मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अतएव वे स्वतन्त्र राजा न रह कर सामन्त से बन गये। ऐसी दशा में मुसलमानों के समय राजवंशी होने के कारण उनके लिए 'राजपूत' नाम का प्रयोग होने लगा।"

डॉ॰ भार्गव अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 8 पर यह बताते हैं कि—"मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व राजपूत शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं था।" यह सच है कि यह जाति न होकर शासक वर्ग था और 'राजपूत' जाति के रूप में आठवीं शताब्दी के आगे से प्रयोग में आने लगा। इतिहासकार डॉ॰ स्मिथ ने अपनी पुस्तक (The Early History of India) के पृष्ठ 423 पर

लिखा है कि "राजपूत जाति आठवीं या नवीं शताब्दी में यकायक प्रकट हुई।" जैन और बौद्ध ग्रन्थ भी सातवीं शताब्दी तक राजपूत शब्द का प्रयोग नहीं करते। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि चाणक्य, कालीदास और बाणभट्ट का राजपुत्र मुसलमानों के समय राज्य खोकर राजपूत बन गया। यह कहना सत्य नहीं है कि राजपूतों की उत्पत्ति सातवीं शताब्दी में हुई। राजपूत भारत की प्राचीन जातियों में से हैं। अतः राजपूतों की उत्पत्ति का पहला सिद्धान्त स्पष्ट है कि राजपूत शब्द राजपुत्र का ही अपभ्रंश है, जिसका व्यापक प्रयोग मुसलमानों के आगमन के साथ शुरू हुआ था। राजपूत शब्द राजपुत्र का ही रूप है जिसका प्रयोग मुसलमानों ने उस बहादुर जाति को सम्बोधन करने के लिए किया होगा और 14वीं शताब्दी से इसका प्रयोग राजपूत जाति के रूप में होने लगा। इससे लगता है कि राजपूत भारत के ही निवासी थे।

इस प्रकार राजपूतों की उत्पत्ति के बारे में पहला सिद्धान्त यह है कि वे आर्यों में क्षत्री ही थे और राज्य जाने के साथ राजपुत्र की जगह राजपूत रह गये जो बिगड़ी भाषा का उच्चारण था।

2. राजपूत विदेशी हैं—भारत में अधिकांश लोग विदेशों से आये। आर्यों से लेकर अंग्रेजों तक कोई एक दर्जन विदेशी शासकों ने भारत पर आक्रमण किया और फिर यहीं बसकर भारतीय धर्म व संस्कृति को अपना लिया। इसी आधार पर कुछ भारतीय व कुछ विदेशी लेखकों का मत है कि राजपूत भी विदेशी थे। कर्नल जेम्स टाड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 29 पर कहते हैं कि—"राजपूत शक अथवा शिथियन जाति के वंशधर हैं।" अपने इस कथन की पुष्टि के लिए टाड महोदय दो तर्क देते हैं। प्रथम तो यह कि विश्व के सभी प्रमुख धर्म चाहे वह बेबीलोन का हो या यूनान का, भारत का हो या मूसा का कथन, इसी बात पर जोर दिया है कि मूलतः मानव सभ्यता का विकास मध्य एशिया से हुआ और पहले पुरुष को किसी ने 'सुमेरु' कहा और किसी ने 'बेकस' और किसी ने 'मनु'। इन सब बातों को लेकर टाड महोदय कहते हैं कि—"इन बातों से साबित होता है कि संसार के सभी मनुष्यों का मूल स्थान एक ही था और वहीं से ये लोग पूर्व की तरफ आये।" पृष्ठ 38 आर्य, यूनानी, शक, हूण, कुशान (यूची) सभी विदेशी जातियाँ मध्य भारत से आई थीं अतः टाड महोदय का मत है कि राजपूत भी, मध्य एशिया अर्थात् बाहर से आये थे और विदेशी थे।

दूसरा तर्क जो टाड महोदय प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि राजपूतों के रीति-रिवाज आदि शक, शिथियन और हूणों में मिलते हैं जैसे सूर्य की पूजा, सतीप्रथा, अश्वमेध यज्ञ, घोड़ों की पूजा आदि राजपूत भी करते थे और शक व शिथियन लोग भी। ऐसी दशा में दोनों के एक होने का भ्रम स्वाभाविक-सा है। श्री टाड के शब्दों में—"राजपूतों के स्वभावों और उनकी आदतों से भी इस बात का साफ-साफ पता चलता है कि वे और शक लोग किसी समय एक थे..........शक लोगों की वीरता, उनकी

आदर्तें और उनके विश्वास राजपूतों में पूर्ण रूप से देखने को मिलते हैं। ....इन सब बातो का साफ अर्थ यह है कि आरम्भ में बहुत थोड़े से मनुष्य संसार मे थे और वे बिना किसी भेद और विचार के एक ही स्थान पर रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे।" पृष्ठ 38-39 किन्तु टाड के इन दोनों सिद्धान्तों का खंडन भारतीय लेखक करते हैं। डॉ० भार्गव, डॉ० गोपीनाथ, डॉ० दशरथ शर्मा सभी राजपूतो को आर्यों की सन्तान और भारत का मूल निवासी मानते हैं। क्योंकि आर्य भी सतीप्रथा, अश्वमेध यज्ञ, सूर्य पूजा आदि करते थे। मनुस्मृतियों में प्रजा की रक्षा करने वाला क्षत्रिय माना गया है (मनुस्मृति 89) इस आधार पर राजपूत भी प्राचीन आर्य, क्षत्री थे। प्राचीन आर्यों में पाण्डु की दूसरी रानी माद्री सती हुई थी, राम व युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस आधार पर श्री गौरीशंकर ओझा राजपूतों को आर्य और क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ अपनी पुस्तक अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया में पृष्ठ 321-22 पर यही तर्क देते हैं कि "राजपूत हूणों की सन्तान है।" उनका कहना है कि विदेशी गुर्जरो ने गुजरात को जीतकर उसका नाम अपने नाम पर गुजरात रख दिया। उसी प्रकार हूणों ने भी भारत की परम्पराओं को अपनाकर राजस्थान को अपना घर बनाया। आज गुर्जर राज्य तो नहीं है पर गूजर जाति शेष है। इसी प्रकार हूणों ने भी राज्य समाप्त होने पर राजपूत नाम धारण कर रहना शुरू कर दिया होगा। स्मिथ निष्कर्ष निकालते हैं कि 'हूरम जाति ही विशेषकर राजपूताने और पंजाब में स्थाई रूप से आबाद हुई, जिसमें अधिकांश गुर्जर थे और गूजर कहलाये।" पृष्ठ 41.1 इस आधार पर राजपूत गुर्जर अथवा हूण के जो राज्य खोने के बाद यहीं बस गये थे। इस तर्क का खण्डन करते हुए श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 9 पर लिखते हैं कि—"विंसेन्ट स्मिथ आदि का राजपूत जाति की उत्पत्ति को आठवीं शताब्दी के करीब मानना इस कारण से असत्य प्रतीत होता है कि उससे पहले ईसा की सातवी सदी में ही राजपूताने के कई प्रदेशो में गुहिल, चावड़ा, यादव आदि राज्य वंशों के राज्य थे। जैसे विक्रमी सं० 625 के आसपास मे मेवाड़ में गुहिलो (गहलोतों) का और विक्रमी सं० 685 में भीनमाल में (628 ई०) चावड़ा क्षत्रियों का राज्य पाया जाता है।" इन तर्कों के आधार पर डॉ० स्मिथ का यह कहना कि—"राजपूत जाति आठवी या नवीं शताब्दी मे यकायक प्रकट हुई।" सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इस शताब्दी से पहले का राजपूत इतिहास उपलब्ध है। अतः राजपूत विदेशी नही थे।

3. दैविक शक्ति सिद्धान्त—हर शासक अपने आपको बड़ा बताता रहा है। विशेष तौर पर उसके दरबार के लोग शासक को देवता तुल्य ईश्वर द्वारा भेजा गया या देवताओं की सन्तान बताता है। यही परम्परा राजपूतों पर भी लागू होती है। मनुस्मृति की नवीं जिल्द के 303 से 311 तक के श्लोको मे क्षत्रियो का उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई है। ऋग्वेद के अनुसार ये ब्रह्मा की बाहों से जन्मे थे और इन दोनों

ग्रन्थों के आधार पर इनका काम निर्बल लोगों की रक्षा करना ' बताया गया है। सातवीं शताब्दी के क्षत्रियों ने अपना महत्त्व खो दिया था और वे अन्य तीन वर्णों की रक्षा नही कर सके थे, किन्तु राजपूतों के उत्थान के साथ इन ब्रह्मा की सन्तान का महत्त्व पुनः बढने लगा। राजपूतों को चारण व भाटों ने इनकी खोई हुई महिमा को पुन: दोहराने के लिए उन्हें ब्रह्मा का पुत्र कहकर पुरानी दैविक शक्ति सिद्धान्त को दोहराया। ब्रह्मा से क्षत्रिय की उत्पत्ति मानी गई तो साहित्यकारों ने राजपूतों को राजा होने के नाते दैविक शक्ति या (Divin Power) मान कर बड़ा कहा है। नद्धरहरण में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख में रघुवंश कीर्त्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द राजपूतों का महाकाव्य काल के राम और कृष्ण से सम्बन्ध जोड़ने के लिए किया गया है। दसवीं शताब्दी के राजपूतों को राम या लक्ष्मण का वंशज माना गया है। इस प्रकार एक शिलालेख व दसवीं शताब्दी के साहित्य द्वारा राजपूतो की देव कुल या दैविक शक्ति द्वारा उत्पत्ति बताई है। इस सिद्धान्त से भी स्पष्ट है कि राजपूत यदि रामायण और महाभारत काल के राम कृष्ण के वंशज हैं तो भारतवासी व आर्यों के वशज ही हैं।

इस प्रकार एक सिद्धान्त उन्हें आर्य क्षत्री और राजपूत बताता है, दूसरा उन्हे शक या सिथियन और हूण या गुर्जर विदेशी बताता है और तीसरा सिद्धान्त उन्हें राम के वंश का दैविक शक्ति वाला शासक बताता है। अब हम अन्य सिद्धान्तों को भी देखें।

4. अग्नि-कुण्ड उत्पत्ति—चन्द्र बरदाई ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'पृथ्वीराज रासो' के प्रथम भाग में पृष्ठ 45 से 47 तक राजपूतो की उत्पत्ति 'अग्नि-कुण्ड' से बताई है। चन्द्र बरदाई ने इस सिद्धान्त के अनुसार आबू-पर्वत पर निवास करने वाले मुनि गौतम, अगस्त और विश्वामित्र आदि के यज्ञों को राक्षस मांस, हड्डी और मल-मूत्र डालकर अपवित्र कर देते थे। इन राक्षसों का अन्त करने के लिए वशिष्ठ मुनि ने एक भ्रष्ट यज्ञ अग्नि में से तीन योद्धा उत्पन्न किये, जो परमार, चालुक्य और प्रतिहार कहलाये। जब ये तीनो भी ऐसा नहीं कर सके तो वशिष्ठ ने चौथा हथियारों से सुसज्जित योद्धा उत्पन्न किया जिसका नाम चौहान रखा गया। इसी योद्धा ने राक्षसों का अन्त कर देश में शान्ति स्थापित की और इस प्रकार राजपूतों का जन्म हुआ। श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पहले भाग के पृष्ठ नौ पर अग्नि-कुण्ड सिद्धान्त का खण्डन करते है। वे कहते हैं कि—"यह सब पृथ्वीराज रासो के रचयिता के दिमाग की 'उपज है। आधुनिक खोज के अनुसार अग्निवंशी कोई स्वतन्त्र वंश नही माना जा सकता।" इस सिद्धान्त के खण्डन में दो तर्क दिये जाते हैं। पहला तो यह कि अग्नि से उत्पन्न होने का अर्थ है धर्म परिवर्तित या छोटे लोगों की अग्नि यज्ञ द्वारा शुद्धि करना। कई विद्वानों का मत है कि प्राचीन-काल में जो क्षत्री बौद्ध बन गये थे उन्हें अग्नि यज्ञ द्वारा पवित्र कर वापस क्षत्री बनाया गया होगा अतः ये लोग अग्निवंशी कहलाये। दूसरा मत अग्नि-कुण्ड का यह है कि प्राचीन आदिवासी भील, मीने आदि लोगों की यज्ञ द्वारा शुद्धि कर उन्हें क्षत्री बनाया गया

होगा तो उन लोगों ने अपने आपको अग्निवंशी कहा होगा। इसी अग्नि-कुण्ड पर एक मत और है कि विदेशी शक, हूण यूची आदि जो स्थायी रूप से भारत में बस गये थे उनकी यज्ञ द्वारा शुद्धि कर उन्हें क्षत्रियों में मिला लिया गया होगा क्योंकि ये विदेशी लड़ाकू जाति के थे और क्षत्रियों में ही मिल सकते थे। इस प्रकार अग्नि-कुण्ड की सत्यता इतनी मात्र हो सकती है कि ऋषियों ने बौद्ध धर्म के अनुयायी क्षत्रियों को, या आदिवासी जातियों को, या शक, हूण, यूची आदि विदेशियों को यज्ञ द्वारा शुद्धि कर क्षत्री बनाया होगा। विदेशी विद्वान् विलियम कुक लिखते हैं कि—"अग्नि-कुण्ड से तात्पर्य अग्नि द्वारा शुद्धि से है"......इस हवन कुण्ड द्वारा क्षत्रियों को शुद्ध किया गया ताकि वे पुनः हिन्दू जाति व्यवस्था में प्रविष्ट हो सकें।" अतः यह कथा कि वशिष्ठ ने अग्नि से चार योद्धा उत्पन्न किये जिन्होंने 400 वर्ष तक राज्य किया सर्वथा निर्मूल बात है जिसे इस वैज्ञानिक युग में नहीं माना जा सकता। आबू या पुष्कर में जो यज्ञ हुए वे शुद्धि के लिये थे न कि जन्म के लिये।

5. ब्राह्मणों से उत्पत्ति—डॉ० भण्डारकर प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने चौहानों की उत्पत्ति किसी विदेशी (खज्र) ब्राह्मण से बताई है। फिर तो कई विद्वानों व लेखकों ने राजपूतों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बता दी। मंडोर के प्रतिहार ब्राह्मण के वंश के थे। इनके पूर्वज ब्राह्मण हरिश्चन्द्र तथा उनकी पत्नी भादरा की सन्तान थी। इसी प्रकार आबू के प्रतिहार वशिष्ठ ऋषि की सन्तान थे। ऐसा भी होता था कि राजपूत अपने पुरोहित का गोत्र अपना लेते थे। इस विचार का प्रचार व प्रभाव यों होता है कि ब्राह्मण पहले राजा भी हुआ करते थे। टाड महोदय इस मत पर जोर देते हैं। वे अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 40-41 पर कहते हैं कि—"भारत के शासकों में ब्राह्मणों का स्थान कम नहीं रहा। जमदग्नि से लेकर महाराष्ट्र के पेशवा तक में इस बात के प्रमाण मिलते हैं.................रावण ब्राह्मण था और लंका में राज्य करता था।" ब्राह्मण कहीं-कहीं राजा से भी बड़े थे। मिथिला का राजा जनक और अयोध्या का राजा दशरथ ब्राह्मण राजर्षि विश्वामित्र से हाथ जोड़कर प्रार्थना करते थे। अतः कुछ लेखों में, जिनमें पाँचवी शताब्दी का 'पिंगल सूत्र कृति' भी सम्मिलित है राजपूतों को बड़ा बताने के लिये उन्हें ब्राह्मणों की सन्तान बताया है। आधुनिक इतिहासकार डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने इस बात को स्वीकार किया है कि मेवाड़ के गुहिलोत-नागर जाति के ब्राह्मण गुहेदत्त के वंशज हैं। श्री ओझा ने भी इस सिद्धान्त को माना है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' पर टीका लिखते समय स्वयं स्वीकार किया है कि गुहिलोतों की उत्पत्ति गुहेदत्त से हुई है। किन्तु अधिकांश राजपूत इसे स्वीकार नहीं करते।

6. सूर्य व चन्द्रवंशी—10वीं शताब्दी में राजपूतों का इतिहास लिखने वाले चारणों की यह धारणा थी कि राजपूत सूर्य व चन्द्रवंशी हैं। पौराणिक साहित्य में राम व लक्ष्मण को विभिन्न देवताओं का अवतार बताया है। जब दूसरे लोग अपनी उत्पत्ति देवताओं से बताने लगे तो क्षत्रियों ने भी अपने आपको रघुवंशी अर्थात्

राम के वंश का कहना शुरू कर दिया। दो शिलालेख भी ऐसे मिले जिनमें राजपूतों को सूर्य व चन्द्रवंशी कहा गया है। इसी आधार पर टाड महोदय ने भी राजपूतों की परम्परा के अनुसार उन्हें सूर्य व चन्द्रवंशी मान लिया। मुगल दरबारी लेखक अबुल फजल ने भी इसी बात का विश्वास कर राजपूतों को अपनी पुस्तकों में सूर्य व चन्द्रवंशी कहा है। इस सम्बन्ध में प्राप्त एक शिलालेख चित्तौड़ में 1247 ई० का मिला है और दूसरा अन्कलेश्वर में 1285 ई० का है। टाड के अनुसार, पृष्ठ 42 पर—"व्यास ने सूर्य पुत्र वैवस्वेत मनु से लेकर रामचन्द्र तक सूर्यवंश के सत्तावन राजाओं के नामों का उल्लेख किया है।..........ययाति से चन्द्रवंश आरम्भ होता है।..........युधिष्ठिर, जरासन्ध और बहुरथ तक जो कृष्ण और कंस के समकालीन थे.......चन्द्रवंशी थे।" इस प्रकार टाड महोदय वेद व्यास के कथनानुसार राजपूतों को सूर्य व चन्द्रवंशी मानते हैं और पुराणों के आधार पर और विशेष तौर पर अग्निपुराण के अनुसार—"चन्द्रवंशी कृष्ण और अर्जुन तथा सूर्यवंशी राम और लव-कुश के वंशज राजपूत थे।" यह धारणा राजपूतों में बहुत लोकप्रिय भी है। श्री गहलोत पृष्ठ 11 पर कहते हैं कि—"सारांश यह है कि वर्तमान राजपूतों के राजवंश वैदिक और पौराणिक काल में राजन्य, उग्र, क्षत्रिय आदि नाम से प्रसिद्ध सूर्य व चन्द्रवंशी क्षत्रियों ही की सन्तान हैं।" ये न तो विदेशी ही हैं और न विधर्मियों (अनार्यों) के वंशज ही, जैसा कि कुछ यूरोपियन लेखकों ने अनुमान किया है।—'गहलोत राजपूताने का इतिहास'—पृष्ठ 11।

पृथ्वीराज रासो में भी चन्द्रवरदाई ने एक पंक्ति में क्षत्रियों के तीन वंशों का वर्णन किया है। वह रवि-शशि और यादव इन तीन वंशों का जिक्र करता है। इसके अतिरिक्त अनेक शिलालेख भी इस प्रकार के मिले हैं जो राजपूतों को सूर्य व चन्द्रवंशी बताते हैं। अतः वेद व्यासजी व पुराणों के आधार पर, टाड द्वारा समर्थित वंशावली व गहलोत के कथनानुसार राजपूत लेखकों के एक मत न होने पर भी सूर्यवंशी व चन्द्रवंशी ही माने जाते हैं।

7. शिलालेख—लिखित साहित्य के अतिरिक्त अनेक ऐसे शिलालेख भी प्राप्त हो चुके हैं जो राजपूतों को सूर्य व चन्द्रवंशी बताते हैं। इन शिलालेखों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

(1) उदयगिरी का शिलालेख जो प्रथम शताब्दी में मिला था। इसमें वर्णन किया है कि क्षत्री एकदम नष्ट नहीं हुए थे।

(2) तेजपाल मन्दिर से 1230 में प्राप्त शिलालेख जिसमें लिखा है कि धुमपाल, परमाल राजा सूर्यवंशी थे।

(3) सीकर जिले से हर्षनाथ के मन्दिर से प्राप्त शिलालेख के अनुसार चौहानों के पूर्वज सूर्यवंशी थे।

(4) अजमेर में श्री गौरीशंकर ओझा द्वारा प्राप्त शिलालेख में सूर्यवंश की भारत में प्रस्तुति का वर्णन किया गया है।

(5) चित्तौड़ की जयदेवी के मन्दिर से प्राप्त 14वीं शताब्दी का शिलालेख। इसमे सूर्यवंश का वर्णन है।

(6) चिड़ावा में प्राप्त 15वीं शताब्दी का शिलालेख वंशावली देता है।

(7) जालोर व नाडौल में प्राप्त 13वी शताब्दी के शिलालेख जिनमें राठौरों को सूर्यवंशी क्षत्री कहा गया है।

श्री दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक 'अर्ली चौहान डाइनेस्टीज' में लिखते हैं कि—"अग्निकुण्ड का सिद्धान्त राजपूत चारण व भाटों की मानसिक कल्पना थी जिसका एकमात्र आधार अपने संरक्षकों के लिए उच्च कुल तलाश करना था। राजपूत सूर्य व चन्द्रवंशी थे।

8. निष्कर्ष—राजपूतों को बड़ा बताने के लिए उस समय के लेखकों, धार्मिक ग्रन्थों और शिलालेखों में कभी उन्हें दैविक शक्ति से उत्पन्न किया, इन्द्र और ब्रह्मा का पुत्र बताया, मनु की सन्तान कहा और कभी उन्हें ब्राह्मणों की सन्तान बताकर सम्मानित किया। अग्निकुण्ड का सिद्धान्त बताकर उन्हें देवताओं की कृति बनाना चाहा। यहाँ इतने समर्थक और अच्छा बताने वाले हैं वहाँ उन्हें विदेशी, धर्म परिवर्तित और आदिवासी अनार्य कहने वालों की भी कमी नहीं। स्मिथ ने उन्हें हूण कहा, भण्डारकर ने उन्हें नागर ब्राह्मणों की संतान कहा। वेद व्यासजी ने उन्हें सूर्य व चन्द्रवंशी कहा और इस प्रकार अनुसंधान के लिए प्रचुर जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। राजपूत क्या है? यह अभी भी अनुसंधान का विषय है। किन्तु इन देशभक्त वीरों को विदेशी या दलित वर्ग का बताकर तो उनका ही नहीं, राष्ट्रीयता का व देश के गौरव का अपमान करना है अतः अन्त मे डॉ० कानूनगो के शब्दों में, इस विवाद को समाप्त करें जो उन्होंने अपनी पुस्तक *'Studies in Rajput History'* मे कहे हैं कि—"अग्निकुण्ड की कहानी इस युग में नहीं चल सकती, उनकी सूर्य अथवा चन्द्र से उत्पत्ति एक काल्पनिक सत्य हो सकती है। राजपूत चाहे किसी भी रूप में जन्मे हों लेकिन यह सत्य है कि इतिहास में उन्होंने महाकाव्य काल के क्षत्रियों की परम्पराओं को बनाये रखा है।"



2

इतिहास के साधन

राजस्थान अपनी वीरता, शौर्य और देशभक्ति के लिए विश्व में अमर है। संसार का कदाचित ही कोई भाग ऐसा हो जिसका शौर्य इतना गौरवपूर्ण हो जितना राजस्थान का। कर्नल टाड ने भी कहा है कि—"राजस्थान की तुलना में यूनान के स्पार्टा का शौर्य भी हल्का रह जाता है।" आधुनिक अनुसंधानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सिन्धु घाटी के सभ्य लोगों में राजस्थान की गणना थी। महाकाव्यकाल के भग्नावशेष जयपुर के पास बैराठ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यही बैराठ में पांडवों ने द्रोपदी के साथ अज्ञातवास किया था। इसी प्रदेश की बीजक पहाड़ी में अशोक महान् का शिलालेख पाया गया है। स्पष्ट है कि विश्व-विख्यात सम्राट् अशोक से भी इस प्रदेश का आर्थिक सम्बन्ध था। बयाना (भरतपुर के पास), बागड़ लैण्ड (बाँसवाड़ा) और रैठ (जयपुर में) में प्राप्त सैकड़ों प्राचीन व मध्यकालीन सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीनकाल से आज तक राजस्थान भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। इतना अवश्य अन्तर है कि स्थानों के नाम भिन्न थे। ऐसी दशा में इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश का इतिहास जानने की इच्छा प्रबल हो जाती है। किन्तु इस वीर देश की ऐतिहासिक सामग्री को अनेकों तूफानों का सामना करना पड़ा है। निरन्तर होने वाले विदेशी आक्रमण यहाँ के स्मारकों, इमारतों और भवनों को नष्ट कर गये और आक्रमणकारियों के धार्मिक मतभेदों ने यहाँ की अमूल्य लिखित सामग्री को ईर्षावश जलाकर हमारे गौरव को बड़ा आघात पहुँचाया है। फिर भी जो सामग्री प्राप्त हो चुकी है और अनुसंधानों द्वारा जो साधन जुटाये जा रहे हैं उनसे राजस्थान का गौरवमय इतिहास फिर चमक उठा है।

श्री रामवल्लभ सोमानी, अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के पृष्ठ 329 पर कहते हैं कि—' शिलालेख, दान-पत्र और पुस्तक प्रशस्तियाँ इतिहास के सबसे अधिक प्रामाणिक साधन माने जाते हैं।" उन्होंने केवल कुम्भा के अध्ययन के लिए सौ से अधिक लेखों का अध्ययन किया जिनमें उस समय की राजनैतिक, साहित्यिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान होता है। यह सत्य है कि शिलालेख, दान-पत्र और पुस्तक प्रशस्तियाँ इतिहास के साधन हैं किन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे साधन हैं जिनकी ओर कदाचित् सोमानी जी का ध्यान आकर्षित नहीं हो सका।

सुप्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकार अलबरुनी ने अपनी पुस्तक 'तहकीके हिन्द' में लिखा है—"दुर्भाग्य है कि हिन्दू लोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर ध्यान नहीं देते।" अलबरुनी ने आगे यह स्वीकार किया कि राजवंशो का क्रमवद्ध इतिहास भी था किन्तु जनसाधारण को उपलब्ध न था। विदेशी आक्रमणकारियों ने काफी सामग्री को नष्ट कर दिया फिर भी जो सामग्री प्राप्त हुई है वह पर्याप्त है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' की जिल्द पहली के पृष्ठ छः पर कहते है कि—"मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बच रही और जो अब तक उपलब्ध हो चुकी है, वह भी इतनी प्रचुर है कि उसकी सहायता से एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है।..........यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

1. हमारे यहाँ की प्राचीन पुस्तकें।
2. विदेशियों के यात्रा वर्णन और इस देश के वर्णन संबंधी ग्रन्थ।
3. प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।
4. प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।

इस प्रकार ओझाजी राजस्थान के इतिहास के साधनों को चार भागों मे बाँटते हैं और सोमानीजी के शिलालेख, दानपत्र और प्रशस्तियों के साथ सिक्के, मुद्रा, शिल्प जोड़कर विदेशियों के विवरणों को भी महत्त्व देते हैं।

इसके विपरीत श्री सुखवीरसिंह गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 13 पर साधनों को सिर्फ दो भागों में बाँटते हैं। उनके निजी शब्दों में—"राजस्थान का इतिहास जानने के मुख्य साधन हैं—पुरातत्व की सामग्री व साहित्यिक सामग्री।" पुरातत्व सामग्री में शिलालेख, सिक्के, स्मारक, शिलापट्ट, पत्थर के औजार, मिट्टी के बर्तन मृण-मूर्तियां आते हैं और साहित्यिक सामग्री में ऐतिहासिक महाकाव्य, संस्कृत, हिन्दी, फारसी, राजस्थानी व अंग्रेजी में लिखे गये इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ आते हैं। श्री गहलोत साहित्यिक सामग्री पर बहुत जोर देते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्राप्त विवरण यहाँ के जीवन पर काफी प्रकाश डालता है। इसके अलावा राजस्थान के पुरालेखागार मे कई फरमान, निशान, मन्शूर और हस्बूल हुक्म संग्रहित हैं जिनसे इतिहास की काफी जानकारी मिलती है।

डॉ० वी० एस० भार्गव अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 13 पर राजस्थान का इतिहास जानने के आठ साधन बताते हैं। उनका विचार है कि—"यदि इतिहास वास्तव में सत्य का प्रकाशक और जीवन का शिक्षक है तो किसी भी देश और जाति का सच्चा इतिहास लिखने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।" यह सामग्री बहुत जगह बिखरी है और बहुत-सी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट हो चुकी है फिर भी राजस्थान का इतिहास निम्नलिखित आधारों पर लिखा जा सकता है—(1) शिलालेख, (2) सिक्के, (3) स्मारक, (4) ऐतिहासिक महाकाव्य, (5) रासो, (6) हिन्दी और राजस्थानी साहित्य, (7) जैन पट्टावली तथा (8) मुस्लिम तवारिखें। इस प्रकार डॉ० भार्गव, श्री ओझा,

श्री गहलोत और श्री सोमाली सब मिलकर अलग-अलग शब्दों में एक ही बात कहते हैं कि साहित्य, शिलालेख, स्मारक इतिहास के साधन हैं।

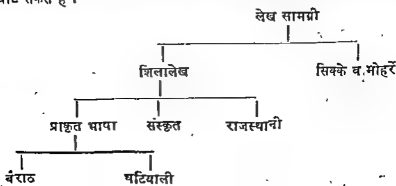
डॉ० के० एस० गुप्ता और डॉ० एल० पी० माथुर अपनी पुस्तक 'बनेड़ा संग्रहालय के अभिलेख' के प्रीफेस में बताते हैं कि बहुत-सा महत्त्वपूर्ण इतिहास राजस्थान के ठिकाणों मे छिपा पड़ा है जिसे वे लोग प्रकाशित नहीं करना चाहते। यदि उसे प्रकाश में लाया जाय तो विस्तृत सच्चे इतिहास का पता चलेगा जो टाड के इतिहास से भिन्न है और मूल्यवान होगा। डॉ० गुप्ता व माथुर के शब्दों मे—"इतिहास के पृष्ठों मे अमर राजस्थान का अभी कोई विधिवत इतिहास नहीं है।" 20वीं शताब्दी तक इतिहास का पता लगाने के लिए सिर्फ टाड का अनुकरण किया जाता था। वास्तव में राज्यों के संग्रहालय में प्रचुरता मे सामग्री उपलब्ध है। इन सब विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचारों का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि राजस्थान का इतिहास हम निम्नांकित साधनों द्वारा जान सकते हैं—

1 शिलालेख और सिक्के।
2. पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री और
3 साहित्यिक साधन।

1. शिलालेख व सिक्के आदि

अंग्रेजी के महान् कवि शेक्सपीयर ने अपनी पुस्तक 'एज यू लाइक इट' मे कहा कि—"जगल की एक सूखी लकड़ी हमे मनुष्य का अनन्त ज्ञान दे सकती है और झरनों में किताबें भरी है, पत्थरो मे इतिहास हँस रहा है।" कवि का आशय कदाचित प्रकृति से था, किन्तु आधुनिक काल के अनुसधानो ने प्रमाणित कर दिया है कि पहाडो की चोटियाँ, घने जगल और बड़ी-बड़ी चट्टानो को तराश कर मानव ने अपनी प्राप्तियों को पत्थर के हृदय पर उतार दिया था। वहीं आज हमारे इतिहास का प्रमाण बन गया है।

राजस्थान मे एक कहावत प्रसिद्ध है कि—'नांव गीतड़ा ने भीतड़ा सूं रहवे' अर्थात् मनुष्य की कीर्ति को स्थाई बनाने वाली वस्तु या तो उसका इतिहास है या उसके कीर्ति-स्तम्भ। अर्थात् साहित्य और स्मारक दोनों ही इतिहास के साधन है। इतिहास के प्रमुख साधन शिलालेख व सिक्के का अध्ययन करने के लिए हम इसे दो भागों में बांट सकते हैं।



प्राप्त शिलालेख प्राकृत, संस्कृत और स्थानीय भाषा में मिले है। आज तक 162 शिलालेख प्राप्त हो चुके हैं जिनका वर्णन 'एनवल रिपोर्ट राजपूताना' अजमेर द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। इन शिलालेखों का वर्णन आर्क्यूलोजीकल सर्वे रिपोर्ट में भी प्रकाशित हो चुका है, जिसमें उदाहरण के लिए 15 शिलालेखों का वर्णन है। प्रकाशित अन्य ग्रन्थों में आठ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें इन शिलालेखों का वर्णन मिलता है। ये ग्रन्थ निम्नांकित है—

1. Inscription of North India by Dr. D. R Bhandarkar.
2. Jain Inscription by P. C. Nahar.
3. प्राचीन जैन लेख सग्रह—मुनि जिन विजय
4. Archaeological Survey Reports of India.
5. Indian Antiquary.
6. Epigraphia Indica.
7. भावनगर अभिलेख
8. Corpur Inscriptions.

इन शिलालेखों में तिथि के अतिरिक्त और भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना मिलती है। डॉ० भण्डारकर ने बीजोलिया में प्राप्त शिलालेख के आधार पर चौहानों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बताई है। इसी प्रकार सूडा शिलालेख जालौर के चौहानों को ब्राह्मण बताता है और अचलेश्वर का शिलालेख चन्द्रावती के चौहानों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बताता है। इन्हीं शिलालेखों के आधार पर राजपूतों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बताई गई। अतः ये शिलालेख अत्यधिक महत्त्व के साधन हैं। यहाँ हम सभी 162 शिलालेखों का वर्णन तो नहीं कर सकते किन्तु कुछ चुने हुए शिलालेखों का वर्णन आवश्यक है। ऊपर हमने बीजोलिया, जालौर और अचलेश्वर के शिलालेखों का वर्णन किया जो राजपूतों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं।

शिलालेखों मे वंशावली व तिथि के अतिरिक्त राजनैतिक दशा, सामाजिक व आर्थिक अवस्था, धर्म और नैतिकता का पता भी चलता है। इनमें राजाज्ञा, विजय, यज्ञ और वीर पुरुष की गाथाएँ भी होती हैं। कुछ एक पुस्तकें भी शिलाओं पर खुदवा दी गई थी। राजा भोज द्वारा रचित 'कूर्मशतक' नामक दो प्राकृत भाषा काव्य एक पाठशाला में पत्थरों पर खुदे मिले हैं। इसी प्रकार अजमेर के चौहान राजा विग्रह राज (वीसल देव चौथा) का लिखा 'हरकेलि नाटक' भी शिलाओं पर खुदा मिला है। श्री ओझा का कहना है कि—"भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिये सबसे अधिक सहायक और सच्चा इतिहास बताने वाले, शिलालेख और दान पत्र हैं।" 'राजपूताने का इतिहास'—पहली जिल्द पृष्ठ 12

बैराठ का शिलालेख दूसरा महत्त्वपूर्ण शिलालेख है जो अशोक ने खुदवाया था। यह ईसा से 260 वर्ष पुराना शिलालेख है जिसमें बौद्ध-धर्म की प्रगति व

प्रचार का वर्णन है । अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये क्या-क्या प्रयत्न किये थे आदि इससे ज्ञात होता है । भारत की धार्मिक दशा का विवरण जयपुर के पास प्राप्त इस शिलालेख से लगता है । उस समय राजस्थान मे बुद्ध व ब्राह्मण धर्म प्रचलित था इसी शिलालेख से ज्ञात होता है । यह लेख प्राकृत भाषा मे लिखा गया है ।

तीसरा शिलालेख रायरा का शिलालेख है जो मथुरा के पास प्राप्त हुआ है । यह कुषाणकाल का शिलालेख है । इसके कुछ हिस्से टूट गये हैं फिर भी इस लेख से पता चलता है कि भारत के आर्यो ने विदेशियों के सम्पर्क में आकर मूर्ति पूजा करना सीखा ।

चौथा हर्षनाथ शिलालेख है । यह सीकर जिले में हर्षनाथ मन्दिर में मिला है । यह बहुत बड़ा लेख है, जिसमें 59 पक्तियाँ हैं । इस शिलालेख में चौहानो के शासनकाल में राजपूताने की सामाजिक व आर्थिक स्थिति पर काफी प्रकाश डाला गया है ।

5. घटियालो शिलालेख—910 वि. संवत् मे खुदाया गया था । इसमें मारवाड़ व जैसलमेर का इतिहास भरा पड़ा है । इन प्रदेशों को मरु और माड़ कहते थे । हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद राजस्थान की राजनैतिक दशा पर विवरण मिलता है ।

6. अपराजीत शिलालेख—यह 661 ई. अपराजीत में मिला है जो संस्कृत मे लिखा है । यह हर्ष के बाद के राजस्थान पर राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रकाश डालता है । यह अत्यधिक महत्व का शिलालेख है । उस समय राजस्थान में सिचाई चमड़े के चरस मे होती थी, इसका ज्ञान भी इसी लेख मे मिलता है । इसी लेख से राजस्थान की जातियों और उनके कार्यो का पता चलता है । अत: यह शिलालेख भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिलालेख राजस्थान के धर्म, समाज, राजनीति, वंश, आर्थिक जीवन आदि पर सविस्तार प्रकाश डालते हैं जिनमें अतिशयोक्ति या मिथ्या का कोई अंश नही है ।

यहाँ अन्य तीन लघु शिलालेखो का वर्णन करना भी उपयुक्त होगा जो संस्कृत भाषा मे लिखे गये हैं । ये दूसरी श्रेणी के शिलालेख कहलाते हैं ।

हटूंडी, हर्षनाथ और नाडोल मे ये लेख मिले हैं जिन्हें क्रमशः 1053; 1030 और 1202 ई. में खुदवाया गया था । ये तीनों राजस्थान की आर्थिक दशा पर प्रकाश डालते हैं । इन द्वितीय श्रेणी के लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि राजस्थान मे रुपाका नाम का चाँदी का सिक्का चलता था । पुष्कर एक महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थान था और राजस्थान में शैव धर्म का प्रचार था । साधारण लोग तो प्राकृत बोलते थे लेकिन लिखने पढने की भाषा संस्कृत थी ।

तीसरी श्रेणी के शिलालेख विक्रम संवत् 1200 से आगे के हैं । इनमे नाडो-ल का शिलालेख महत्वपूर्ण है य ह लेख उस समय की वर्ण व जाति व्यवस्था बताता

है। ये शिलालेख जालोर व प्रतापगढ़ में भी हैं। इसमें गौ हत्या निषेध बताई गई है। इन पर निश्चित तारीख नहीं है परन्तु ये 8वी से दसवीं शताब्दी के बीच के हैं। जालोर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वहाँ के युवराज ने यात्रियों की सुगमता के लिये सरायें बनवाई थी।

इतना सब होते हुए भी ये शिलालेख अधूरे हैं। इनमें बहुत सी तारीखें नहीं है व राजाओं के नाम भी पूरे नहीं हैं और बहुत से लेखों मे तो सिर्फ एक दो लाइन ही प्राप्त हो पाई है। कुछ के अंग टूट गये हैं। फिर भी ये सब 162 शिलालेख मिलकर राजस्थान के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इनसे हमें राजपूतो की उत्पत्ति, गौवध निषेध, प्रशासनिक व्यवस्था और जन-जीवन का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है। ये लेख तीन भाषाओं मे तीन वर्गों में बांटे जा सकते हैं।

सिक्के और मोहरें—शिलालेखों की तरह राजस्थान मे प्राप्त सिक्कों का भी महत्व काफी है। ये सिक्के तिथियों को सही आँकने मे सहायता प्रदान करते हैं। इन पर शासक का नाम और उसके युग की कोई महत्वपूर्ण घटना अंकित होती है जो उस समय के ऐतिहासिक सत्यों का प्रमाण बन जाती है। प्राचीन राजस्थान में सोना, चाँदी और तांबे के सिक्के बनते थे। ये सिक्के मूल रूप से निम्न स्थानों पर अधिक पाये गये हैं:—

1. बाँसवाड़ा के सरवानिया गाँव में—क्षत्रियों के सिक्के मिले हैं। यह गाँव बाँसवाडा से 13-14 मील दूर है। इन सिक्कों के आधार पर मेवाड़ और बागड़ के प्रारम्भिक शासकों का इतिहास लिखा जा सकता है।

2. बयाना के सिक्के—आधुनिक भरतपुर के पास बयाना मे 500 सोने की मोहरें मिली है जो गुप्त शासको के समय की हैं। स्पष्ट है कि गुप्त युग में राजस्थान भी समृद्ध था। भरतपुर में ही शहर से चार मील दूर उत्तर पूर्व में नोह नामक गाँव मे भी राजस्थान सरकार के खुदाई विभाग द्वारा अनेक सीलें व सिक्के प्राप्त हुए हैं जो सिन्धु घाटी सभ्यता से राजस्थान का पल्ला बाँध देते है और हमारे लिये यह गौरव की बात हो जाती है कि ईसा से 3500 वर्ष पहले भी राजस्थान भारतीय संस्कृति के उपवनों में से एक था।

3. कालीबंगा की मोहरें—बीकानेर जिले में भादरा नामक कस्बे से 14 मील दक्षिण मे कालीबंगा कस्बा है जो लगभग 5000 वर्ष पहले की संस्कृति का केन्द्र था। यहाँ भी सिन्धु घाटी समकालीन सभ्यता की सीलें व मोहरें प्राप्त हुई है। ये मोहरें मिट्टी की हैं जिनके एक तरफ कुछ लिखा है दूसरी तरफ जानवरों के चित्र हैं जो कुछ पालतू और कुछ जंगली है। इन मोहरों से उस समय के पालतू जानवर, और सामाजिक व्यवस्था, शिकार आदि का पता चलता है। इसी प्रकार उदयपुर में भी डॉ. अग्रवाल की अधीनता में खुदाई कार्य किया गया और यहाँ भी मिट्टी के

बरतन और सीलें प्राप्त हुई जिनसे यह कहा जा सकता है कि उदयपुर में आहड़ तक सिन्धु सभ्यता फैली हुई थी।

इस प्रकार राजस्थान में प्राप्त पुरानी सीलें व सिक्के हमारी संस्कृति के आधार बन गये। ये सिक्के तिथियाँ निश्चित करने मे बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। इनसे राज्य सीमा का भी पता चलता है। इनसे प्राचीन राजाओं के आपसी राजनीति सम्बन्धो का भी पता चलता है। उदाहरण के लिये हम पृथ्वीराज का एक सिक्का लें जो 19वीं शताब्दी मे तारागढ (अजमेर) मे प्राप्त हुए। इस सिक्के में एक तरफ मुहम्मद गोरी का चित्र अंकित है और दूसरी तरफ पृथ्वीराज चौहान का। उन मूर्तियों के नीचे दोनों के नाम लिखे हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज तराइन की लड़ाई में मारा नही गया था। संस्कृत और फारसी के लेखकों का यह कहना कदाचित सही है कि तराइन के युद्ध के बाद दोनों में थोडे समय के लिए मित्रता हो गई थी। इसी बात का समर्थन 'चितामणि कोष' भी करता है। साधारणत लोग यह मानते हैं कि पृथ्वीराज को पकड़कर मार डाला गया था। इस प्रकार एक सिक्का सारे इतिहास को बदलने की सामर्थ्य रखता है। सिक्को के सम्बन्ध में प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

1. The Chronicles of the Pathan kings of Delhi-by-Thomas. इसमें चौहान शासकों के सिक्को का वर्णन है।

2. Coins of Mediaval India by Cunningham

3. Indian Coins-by-E. J. Rapson.

4. Catalogue of the Coins in the Indian Musium, Calcutta-by V. A. Smith.

5. Currencies of the Hindu States of Rajputana by-W.W. WEBB.

2. पुरातत्व सामग्री

पुरातत्व सामग्री को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है।

(1) स्मारक, (2) शिल्प कला, और (3) मिट्टी के बरतन तथा पुरानी ऐतिहासिक वस्तुएँ।

1. स्मारक—भारत का कोई भाग कदाचित ही ऐसा हो जो मन्दिरों से न भरा हो। राजस्थान मे भी पुराने खंडहरो, नदी की घाटियों और रमणीक पहाड़ी स्थानों पर प्राचीन मन्दिरों की भरमार है जो आज भी पुराने इतिहास व संस्कृति का उन्मत्त भाल चमका रहे है। इन पुराने मन्दिरों के भग्नावशेष इस बात के प्रतीक हैं कि स्थापत्यकला का विकास राजस्थान में भी हो चुका था। ऐसे पुराने मन्दिरो में से सबसे पहले बैराठ के पास बीजक की पहाड़ी मे एक गोलाकार मन्दिर अवशेष मिला था। दूसरा मन्दिर कोटा व झालावाड़ के बीच मिला जो गुप्त

कालीन है। जिससे यह प्रतीत होता है कि गुप्त युग में ब्राह्मणवाद का पुनः उत्थान हो गया था। यह मन्दिर मुकन्दरा मे है।

तीसरा मन्दिर चार चोम कृष्ण विनाश का है। इस मन्दिर से वैष्णव धर्म का ज्ञान मिलता है और यह भी स्पष्ट होता है कि राजा लोग भी वैष्णव धर्म का संरक्षण करने लगे थे। ये तीनों मन्दिर भग्नावशेष अवस्था में मिले है इनसे स्पष्ट होता है कि राजस्थान के लोग वैष्णव देवताओं की पूजा करते थे और धर्म भीरु थे। साथ ही इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि ये शक्ति माँ की उपासनां भी करते थे। इस देवी के मन्दिर भी टूटी अवस्था में प्राप्त हुए हैं। इन तीनो मदिरों से स्पष्ट है कि सनातन, शैव और वैष्णव धर्म राजस्थान में लोकप्रिय था।

इसका यह मतलब नही कि जैन व अन्य धर्म शिथिल थे। साँगानेर में एक मंदिर टूटी-फूटी अवस्था में मिला है जिससे पता चलता है कि राजस्थान में जैन धर्म भी प्रचलित था। डॉ० कैलाशचन्द्र जैन ने अपने अनुसंधान ग्रन्थ में मदिरों का आधार देकर यह बताया है कि राजस्थान में जैन धर्म लोकप्रिय था और इस धर्म के आधार पर शिल्पकला बहुत उन्नति पर थी। इसका जीता-जागता उदाहरण आबू के पास दिलवाड़ा का जैन मन्दिर है जो मध्यकालीन जैन कला का लोम हर्षक वैभव है।

राजस्थान में सूर्य मन्दिर भी प्राप्त हुए हैं। इन मन्दिरों के भग्नावशेष बडोद, आम्बा मंडारे, नागदा, किराडू, आमानेरी और ओशिया में प्राप्त हुए है। नागदा और ओशिया के सूर्य मन्दिर इस बात के प्रमाण है कि स्थापत्य कला राजस्थान में पूर्ण विकसित थी। इस प्रकार मन्दिर हमें धर्म और कला का विकास बताते हैं। धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है। मुसलमानों के आगमन से पहले हमारी स्थापत्य कला काफी विकसित थी और इन भग्नावशेषों की सूचना का इतिहास प्रथम श्रेणी के साधनों में रखा जा सकता है।

2. मन्दिरों के बाद **मूर्तियाँ**—कला के उच्च नमूने प्रस्तुत करती हैं। प्लास्टिक कला का प्रथम नमूना भरतपुर के पास नोह में प्राप्त हुआ है यहाँ से यक्ष की मूर्ति मिली है जो सात फिट लम्बी है। इसके काल और आकार को देख कर साफ पता चलता है कि प्राचीनकाल में आर्यों के आगमन के बाद यहाँ देवी-देवताओं की पूजा होती थी अर्थात् प्राचीनकाल मे मूर्ति-पूजा होती थी।

इसी प्रकार रायरा से एक स्त्री की मूर्ति मिली है जो सिर पर साफा बाँधे है और उसका आधा शरीर कपड़ों से ढका और आधा नंगा है। नग्नता के आधार पर कला पारखियों ने इसे यूनान का प्रभाव बताया है और इस प्रकार कला का विदेशों से समन्वय भी राजस्थान में हो चुका था।

घरेलू चीजें— पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री का तीसरा अंग है खुदाई में प्राप्त वे वस्तुएं जो घर में काम आती हैं और उस समय के रहन-सहन पर प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार का बहुतसा सामान नगरी, आहड़ और [illegible] से प्राप्त हुआ है। इन

स्थानों से पत्थर की बनी छोटी-छोटी मूर्तियाँ और पालिश किये हुए लाल पत्थर की घरेलू वस्तुओ के अवशेष मिले है। नोह की खुदाई मे कटोरा प्राप्त हुआ है, मिट्टी के बर्तन मिले है जो तीन हजार वर्ष पुराने हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान के अनेको भागो मे सिन्धु घाटी की समृद्ध सभ्यता फैली हुई थी। राज्य और केन्द्र की तरफ से अभी कई स्थानो की खोज व खुदाई होती रहेगी और हाल ही में बागोर में खुदाई के बाद सिन्धु सभ्यता के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। यह खुदाई डॉ० मिश्रा की अधीनता में पूना विश्वविद्यालय कर रहा था। समय-समय पर खुदाई से जो वस्तुएँ प्राप्त होती है वे हमारे देश की सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं। उसी आधार पर हम यह कह देते है कि राजस्थान सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से सभ्य और विकसित देश है।

3. साहित्यिक साधन

अध्ययन की सरलता के लिये साहित्यिक साधनों को निम्न भागो मे बाँटा जा सकता है—

1. धार्मिक साहित्य।
2. चारण व भाटों का साहित्य।
3. विदेशी साहित्य।
4. आधुनिक शोध कार्य।

1. सबसे पहले हम धार्मिक साहित्य का अवलोकन करें तो उसमे भी कई भाग हैं (1) वैदिक, (2) पुराण, (3) बुद्ध, व (4) जैन साहित्य।

1. वैदिक साहित्य—इस शीर्षक के नीचे हम वेदों में प्राप्त संस्कृति,धर्म, समाज, राज्य, रीति-रिवाज और अन्य परम्पराओं का वर्णन पाते है जो हमारे समाज का अविभाज्य अंग हैं। ऋग्वेद से बडा और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ प्राचीनकाल मे नही था। वैदिक साहित्य मे हमारा प्राचीन साहित्य भी आ जाता है। पाणीणी तथा पातंजलि द्वारा जो व्याकरण, महाभाष्य एवं अष्टाध्यायी के नाम से लिखी गई हैं उन रचनाओं को पढने से स्पष्ट हो जाता है कि अलवर, भरतपुर, करौली आदि राजस्थान के भाग वैदिककाल मे जनपद कहलाते थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा पाली साहित्य में संघ राज्य या स्वराज्य का उल्लेख है। चित्तौड़ तथा जयपुर राज्य के उणियारा ठिकाने में ककोट नगर के खण्डहरो से प्राप्त सिक्को मे भी जनपदों का उल्लेख है। बुद्ध के पहले मे राजस्थान मे जनपद थे। अशोक के पोते सम्प्रति का राजस्थान (अवन्ति) मे विशेष स्नेह था सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उसने जैन धर्म के प्रचार के लिये वही किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिये। इस प्रकार (प्राचीन) आर्य-साहित्य हमारे ज्ञान का केन्द्र है।

2. पुराण या महाकाव्य काल—वैदिक साहित्य के बाद पुराण और महाभारत हमारे इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। स्कन्ध पुराण

और पद्म पुराण प्रमुख रूप से ऐतिहासिक साहित्य पर प्रकाश डालते हैं। इनमें गुप्त कालीन युग तक का वर्णन मिल जाता है। श्री ओझा पृष्ठ आठ पर कहते हैं कि—'वायु, मत्स्य, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं तथा उनकी शाखा प्रशाखाओं की प्राचीनकाल से लगाकर महाभारत के युद्ध से पीछे की कई शताब्दियों तक की वंशावली एवं नंद, मौर्य शुंग काण्व, आंध्र आदि वंशों के राजाओं की पूरी नामावलियाँ तथा पिछले चार वंशों के प्रत्येक राजा के राज्य काल के वर्षों की संख्या तक दी है।" वेद और पुराण दोनों साहित्य की रचना मूलतः ब्राह्मणों ने की थी अतः उनमें ब्राह्मण धर्म के विकास का काफी वर्णन मिलता है। पुराणों की भाँति रामायण और महाभारत भी हमारे इतिहास के साधन है। पाण्डवों ने बैराठ में (जयपुर के पास) अपना अज्ञातवास बिताया था। रामायण में वर्णित चित्रकूट-चित्तौड़ गढ़ के पास ही है। अहिल्या को गौतम ने आबू पहाड़ में चट्टान बताया था जिसका उद्धार श्री राम के चरण कमलों के स्पर्श से हुआ था। इसी प्रकार बाण भट्ट द्वारा रचित 'हर्ष चरित्र' में भी हर्ष कालीन राजस्थान का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णुगुप्त चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' भी प्राचीन मूल्यवान ऐतिहासिक ग्रन्थ है। रामायण में रघुवंश का और महाभारत में कुरुवंश का विस्तृत इतिहास है और अन्य ग्रन्थों में देश की धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परम्पराओं का वर्णन मिलता है। संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में भी कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ है जो हमारे इतिहास पर प्रकाश डालते है। पंडित जीवधर का 'अमर सार' मेवाड़ का मूल्यवान ग्रन्थ है। मोहन भट्ट का 'जगतसिंह शास्त्र' भी स्मरणीय है। इसी प्रकार पातंजलि के महाभाष्य से साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (चित्तौड़ से सात मील दूर) पर यवनों के आक्रमणों का पता चलता है। कालीदास के नाटक भी ऐतिहासिक सत्यों से भरपूर हैं। इस प्रकार के सैकड़ों ग्रन्थ हैं जिनसे उस समय का इतिहास जाना जा सकता है।

3. बौद्ध साहित्य— बौद्ध साहित्य भारत में बौद्ध-धर्म के विकास पर प्रकाश डालता है। जहाँ वह महात्मा बुद्ध के विकास पर प्रकाश डालता है। जहाँ वह महात्मा बुद्ध के जीवन व उपदेशों का वर्णन करता है वहाँ राजस्थान में किस प्रकार और कितना इस धर्म का प्रचार हुआ, यह भी ज्ञात होता है। इस साहित्य में कुछ पुस्तकें काफी सामग्री रखती हैं जिनमें —मज्जिम निकाय, कथा सरित सार आदि तो राजस्थान में बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता व प्रचार पर प्रकाश डालती है और कनिष्क के समय का बौद्ध साहित्य यह बताता है कि बौद्ध-धर्म दो भागों में विभक्त हो गया, हीनयान और महायान। कुषाण वंश के समय का सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ 'दिव्यवदान' है जिसके आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि महायान शाखा का प्रचार बैराठ के आस-पास बहुत था। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में मज्जिम निकाय, कथा सरित सार और दिव्यवदान ग्रन्थ हमारे इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

4. **जैन साहित्य**—न्याय चंद सूरी, सिद्धेश्वरी और हेमचन्द्र सूरी ने जो जैन साहित्य लिखा है वह राजस्थान के प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त जैन साधुओं द्वारा लिखी पट्टावली भी इतिहास के लिये महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 'महावंश टीका' सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें देश के बड़े-बड़े शासको और राजवंशों का वर्णन मिलता है। जैन-धर्म के साहित्य का अध्ययन करने से राजस्थान के लोगों का रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि का भी पता चलता है। यह तो स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान के खाते-पीते लोगों ने इस धर्म को स्वीकार कर राजस्थान में इसके प्रसार के लिये पूरी चेष्टा की थी।

2. **चारण-भाटों का साहित्य**—यूनानी और मुसलमान आक्रमणकारी अपने दरबार मे विद्वान रखते थे जो अपने शासकों की विजय गाथा का वर्णन लिखते रहते थे। इन्ही से प्रभावित होकर मध्यकालीन राजपूत राजाओ ने विद्वानो और कवियो को अपने दरबार में सम्मान देना शुरु किया। ये कवि राजाओ की प्रशंसा मे महाकाव्यों की रचना करते और राजघरानो का पूरा वर्णन लिखते रहते, ऐसे कवियो को समय की बोली और भाषा मे भाट या चारण कहा गया। धीरे-धीरे यह एक जाति बन गई जिसका काम, बड़े लोगों की प्रशसा का काव्य में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करना मात्र रह गया। इन भाटो और चारणों के काव्यों मे भी इतिहास की सामग्री भरी पडी है। आवश्यकता है उनकी रचनाओ का बिना आवेश के समालोचनात्मक अध्ययन कर सत्य निकाल लेने की। इसी प्रकार के साहित्य में 'पृथ्वीराज रासो' और नेणसी की ख्यात व अन्य ख्यातें आ जाती है। यह सारा साहित्य राजस्थानी भाषा में लिखा गया है और अब तो इनके प्रकाशन भी हो चुके है। इन विवरणो मे से मुख्य निम्नांकित है—(1) पृथ्वीराज रासो, (2) नैणसी की ख्यात, (3) अन्य ख्यातें जिनमे मडीमार ख्यात, कविराज ख्यात, जोधपुर ख्यात, और दयालदास की ख्यात विशेष उल्लेखनीय है, (4) वीर विनोद, (5) अन्य महाकाव्य जिनमें 'वंश भास्कर,' जयरथ नामक कश्मीरी का 'पृथ्वीराज (तृतीय) विजय' महाकाव्य, चन्द्रशेखर द्वारा अकबर के दरबार में रचित "सुरजन चरित्र' महाकाव्य आदि उल्लेखनीय है अब इनमें से महत्वपूर्ण रचनाओं का संक्षिप्त विवरण कर लें।

पृथ्वीराज रासो—इस रासो की चार प्रतियाँ प्राप्त हुई है। नागरी प्रचारणी सभा बनारस द्वारा प्रकाशित इस रासो में 40,000 श्लोक हैं। इसी प्रति को इतिहास का आधार व साधन माना है। दूसरी प्रति में 10,000 श्लोक हैं तीसरी में 4000, और चौथी में केवल 1500 श्लोक हैं। पृथ्वीराज रासो की भाषा, ऐतिहासिक घटनाएँ और संवत् आदि को प्राचीन शोध की कसोटी पर जाँच की जाती है तो यही सिद्ध होता है कि यह पुस्तक वर्तमान रूप में न तो पृथ्वीराज की समकालीन है और न किसी समकालीन कवि की कृति।1. ओझा पृष्ठ 28. इस चौथी प्रति का सम्पादन प्रो. नरोत्तमदास जी स्वामी ने कर राजस्थान भारती से

प्रकाशित करवाया है। किन्तु इसे पृथ्वीराज रासो की सूक्ष्म प्रति नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीराज रासो की सत्यता और ऐतिहासिकता पर डॉ० दशरथ शर्मा के लगभग 12 लेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि "यह रोमांचकारी कहानी सत्य है।" उन्होंने पृथ्वीराज संयोगिता की कहानी को भी सच माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पृथ्वीराज रासो रोमांचकारी कथाओं का जन्मदाता होते हुए भी ऐतिहासिक सूचना का एक बड़ा केन्द्र है। विद्वान अभी तक इस बात पर एक मत नहीं हो पाये हैं कि इन चारों ग्रन्थो में कौनसा पूर्ण और कौनसा उसका सूक्ष्म है। इस रासो पर अनेक अनुसंधान लेख डा माता प्रसाद गुप्त के भी प्रकाशित हो चुके हैं। रासो साहित्य चौहानो के साथ प्रारम्भ हुआ। वैसे चन्द्रवरदाई का पृथ्वीराज रासो इसमें दस प्रतिशत फारसी शब्द हैं। यह काव्य 1543 ई० के आस-पास का है। "प्राचीन शोध के प्रारम्भ से पूर्व यह 'राजपूताने का महाभारत' और इतिहास का अमूल्य कोष समझा जाता था।" (ओझा पृष्ठ 27) वैसे पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता को अनेक विद्वान चुनौती दे चुके हैं किन्तु डा० दशरथ शर्मा के प्रयासो ने इसकी सत्यता प्रमाणित कर दी है। चन्द्रवरदाई को इसका रचयिता मान लिया गया है। रासो साहित्य मे और भी ग्रन्थ आते हैं। बिजोलिया से प्राप्त 1224 वि. स. का स्थम्भ लेख भी रासो साहित्य मे आता है जिसमे 92 श्लोक हैं। यह स्थम्भ लेख चौहानो की उत्पति ब्राह्मणो से बताता है चारण और भाट साहित्य पर सबसे पहले प्रकाश एल.पी. टैपीटोरी ने डाला था। उसके बाद इस प्रकार का साहित्य सर्वेरिपोर्ट (A. S. R.) के वार्षिक अको में प्रकाशित हो चुका है। इन चारणों के साहित्य का प्रयोग बड़ी सावधानी और निष्पक्षता से करना चाहिये क्योकि इसमे घटनाओं का वर्णन बहुत बढ़ा चढ़ा कर किया जाता था।

नेणसी की ख्यात — भाषा की पुस्तको में ख्यातों का स्थान भी है। हर राज्य की, सरदारों के ठिकानों की तथा भिन्न-भिन्न जाति की ख्यातें मिलती हैं। "लगभग सौ वर्षों पूर्व ये ही ख्यातें राजपूताने के इतिहास का मुख्य साधन मानी जाती थी।" ओझा—'राजपूताने का इतिहास' जिल्द पहली—पृष्ठ 24 पर कहते हैं किन्तु ज्यों-ज्यों शिलालेख, सिक्के और अन्य लिखित सामग्री मिलती गई, इन ख्यातों की असत्यता प्रमाणित होती गई। बूंदी मे प्राप्त चौहानों की ख्यात और सिरोही में प्राप्त बड़वों की ख्यातों का ओझाजी ने मिलान किया तो चौहानो के प्रसिद्ध पृथ्वीराज तक बूंदी की ख्यात में 177 और सिरोही की ख्यात मे 227 और निमराणे की ख्यात मे चौहान राजाओ के 400 से अधिक नाम मिले। इस प्रकार का नामावली या वंशावली का अन्तर इन ख्यातों की सत्यता पर शका उत्पन्न करता है। फिर भी ये हमारे ज्ञान के साधन है। भिन्न-भिन्न राजा अपने राज्यो में ख्यातें लिखवाते थे। यह हिन्दी के ख्याति शब्द का अपभ्रंश लगता है। इसमें राजाओं की ख्याति का वर्णन होता है। इन ख्यातों मे 15वीं शताब्दी के पहले के नाम तो भाटो ने ही लिखे थे। वि० सं०

17वीं शताब्दी के बाद राजाओं की तरफ से ख्यातें लिखी जाने लगी। जोधपुर और बीकानेर राज्य की ख्यातें विस्तृत रूप से मिलती है। 'आज तक मिली ख्यातों में मुंहणोत नेणसी की ख्यात सबसे उपयोगी है।' ओझाजी पृष्ठ 25 पर। मुंहणोत नेणसी का जन्म 4 नवम्बर, 1610 ई० में हुआ था और 60 साल की अवस्था मे 3 अगस्त, 1670 ई० मे इसका देहान्त जोधपुर मे हुआ था। ये जोधपुर महाराजा जसवन्तसिंह (प्रथम) के दीवान पद पर काम करते थे। यह वीर तथा कुशल शासक होने के अतिरिक्त इतिहास का बड़ा प्रेमी था। जोधपुर का दीवान होने के कारण अन्य राज्यो के बड़े लोगो से इसका मेलजोल स्वाभाविक था। अपने मित्रो, सम्बन्धियों और चारण भाटों की सहायता से इन्होने 1650 से 1665 ई० के बीच 15 सालों में अपनी ख्यात का संग्रह किया। अपनी ख्यातों मे उन्होंने जिसके द्वारा जिस सन् में वृत्तान्त मिला, उसका भी वर्णन किया है। डॉ० भार्गव के अनुसार नेणसी 1638 से 1678 तक जोधपुर का दीवान था (मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 21) और ओझाजी के अनुसार उसका देहान्त 3 अगस्त, 1670 को ही हो गया था (पृष्ठ 25, राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द)। ये दोनो ही इतिहासकार नेणसी की तिथियों और वंशावली को संशोधन के साथ सही मानते हैं। वास्तव मे प्राचीन इतिहास की तिथियाँ पूर्ण रूप से विश्वास के योग्य नही है।

नेणसी ने अकबर बादशाह के प्रधानमन्त्री अबुल फजल (नागौरी) के आइना ए० अकबरी की भाँति अपने राजा का इतिहास 'ख्यातों' मे लिखा। उसने दो ग्रन्थ लिखे—एक 'ख्यात' और दूसरा 'गाँवारी ख्यात'। इसमें से प्रथम ग्रन्थ का प्रकाशन तो तीन जिल्दो मे राजस्थान पुरातत्व मदिर, जोधपुर द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी मेवाड के विद्वान् स्वर्गीय रामनारायणजी दुगड़ ने नागरी प्रचारणी सभा, काशी द्वारा कई वर्षो पूर्व प्रकाशित करवा दिया था। यदि कर्नल टाड को नेणसी की ख्यात मिल जाती तो उनका इतिहास भी और समृद्ध हो जाता। नेणसी की ख्यात में वंशावलियाँ कुछ शुद्ध है और कुछ अशुद्ध भी। कहीं-कही संवतों की भी त्रुटियाँ हो गई है। इस पर भी ख्यात विक्रम की 15वी से ,7वी सदी तक लिखी गई ख्यातों की अपेक्षा विशेष उपयोगी है। इस ख्यात मे उदयपुर, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ के सिसोदिया (गुहिलोतों); जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ के राठौरो; जयपुर के कछवाहों; सिरोही के चौहानो, बूंदी के हाडा, जैसलमेर के भाटियो, यादवों, झालों, साँखला आदि सभी महत्त्वपूर्ण राजवशों का पता चलता है। इसी मे गौड़ों और कयामखानियों का इतिहास भी दिया गया है। वंशो के अतिरिक्त इस ख्यात मे किलों, पहाडों, नदियो और जिलो का वर्णन भी दिया गया है। यह ख्यात, चौहानों, राठौरो, कछवाहों और भाटियों के इतिहास के लिए विख्यात है। इन वशो का वर्णन सविस्तार किया गया है जो अन्यत्र कही मिलना सर्वथा असंभव है। मूल पुस्तक मे एक वंश का इतिहास एक ही स्थान पर नहीं है परन्तु हिन्दी अनुवाद में क्रमबद्ध संग्रह किया गया है। "जोधपुर के स्वर्गीय सुप्रसिद्ध

इतिहास-वेत्ता मुंशी देवीप्रसाद ने तो नेणसी को राजस्थान का अबुलफजल माना था।" इस मत का प्रतिपादन श्री ओझा अपनी पुस्तक के पृष्ठ 26-27 पर करते हैं। इस ग्रन्थ को प्रसिद्धी दिलाने का श्रेय जोधपुर राज्य के स्वर्गीय कविराज मुरारीदान को है।

क्या नेणसी वास्तव में राजपूतों का अबुलफजल था? मुंशी देवीप्रसाद के मत का समर्थन श्री ओझा ने किया है। इसी मत की पुष्टि डॉ॰ भार्गव और कानूनगो भी अपनी पुस्तकों में करते हैं। अतः राजपूताने के इन इतिहासकारों की राय में नेणसी को अबुलफजल कहना उचित ही है क्योंकि उसकी ख्यात अकबरनामे से किसी क्षेत्र में कम नहीं थी। राजपूताने के गाँवों का वर्णन—'गाँवारी ख्यात' में जितना अच्छा है उतना तो आइना-ए-अकबरी में भी नहीं है। नेणसी की ख्यात में राजाओं के समय की हर घटना का, तारीखों सहित वर्णन मिलता है। युद्धों के वर्णन में कुछ नहीं छिपाया गया है और लड़ाई में घायल या मारे गये सैनिकों के नाम व पते भी लिखे गये है। उसकी ख्यात में सबसे बड़ी कमी यह है कि गरीबों का वर्णन नहीं मिलता। इसके लिये नेणसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखक केवल शासक वर्ग पर ही अधिक ध्यान देते थे। वर्णन के दृष्टिकोण से उसे अबुलफजल और उसकी ख्यात को अकबरनामा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वैसे नेणसी, अबुलफजल की तरह विद्वान् तो नहीं था और न उसके पास इतना समय ही था फिर भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसका ग्रन्थ अबुलफजल की अपेक्षा अधिक विधिवत, प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण है। अबुलफजल ने कहीं भी अपने साधनों व सूचना के केन्द्रों का वर्णन नहीं किया लेकिन नेणसी ने अपने साधनों का वर्णन अपनी ख्यात में किया है। दूसरी विशेषता, जो ख्यात में है और अकबरनामा या आइना-ए-अकबरी में नहीं है वह यह है कि अबुलफजल ने दरबार में रह कर अकबर के संरक्षण में अपना ग्रन्थ लिखा था किन्तु नेणसी ने दरबार के प्रभाव से दूर रहकर अपने स्वामी के गुण व दोषों का स्पष्ट वर्णन किया है जो इतिहास के दृष्टिकोण से उसके ग्रन्थ का महत्व बढ़ा देता है। अतः कम समय और कम ज्ञान होते हुए भी नेणसी की ख्यात अबुलफजल के अकबरनामे से अधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इतिहासकार डॉ॰ कानूनगो ने अपनी पुस्तक (Studies in Rajput History) में ठीक ही लिखा है कि—"पुस्तकालय और शाही संरक्षण एक अबुलफजल भले ही पैदा कर दें लेकिन एक नेणसी और उसकी ख्यात नहीं दे सकते जो राजपूत वीरता के शुद्ध वास्तविक वातावरण में साँस लेते हुए राजपूताने के सामाजिक व आर्थिक जीवन के साथ वंशावली का एक चित्र हमारे सम्मुख निकट और स्पष्ट रूप से लाती है।"

अन्य ख्यातें—राजपूतों की वीर-कृतियों, युद्धों में मारे जाने पर राणियों के सती होने आदि पर डिंगल भाषा में हजारों गीत मिलते हैं जो चारणों, भाटों आदि

ने लिखे हैं। इन गीतों की रचना वास्तविक घटनाओं के आधार पर की गई है। चारणों व राजाओं के यहाँ ऐसे गीतों के बड़े-बड़े संग्रह मिलते हैं। इन गीतों में तिथियों का पता नहीं चलता। इनके अतिरिक्त कुछ ख्यातें और भी हैं जिनका जिक्र करना आवश्यक है। 'मुंडीमार ठिकाणों की ख्यात' कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह ठिकाणा नागोर मे दस मील दक्षिण में है। जोधपुर के राजाओं ने यह जागीर चारणों को दे दी थी। इस ख्यात की नकल जोधपुर दफ्तरी ऑफिस में है। इसमें राव सीहाने मारवाड़ में राठौड़ राज्य की स्थापना से लेकर महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम तक का वर्णन है। यह ख्यात जसवन्तसिंहजी के जीवनकाल मे लिखी गई थी। इसमें मारवाड़ के राजाओं का जन्म, विवाह, राज्याभिषेक, मृत्यु, रानियाँ, सन्तान आदि के नाम व तारीखें माफ-माफ दे रखी हैं। ब्राह्मणों को दान में दी गई भूमि का भी वर्णन इसमें मिलता है। इसी ख्यात से ज्ञात होता है कि जहाँगीर की पत्नी जोधाबाई राजा उदयसिंह की पुत्री नहीं दत्तक बहन थी जो मालदेव की दासी में उत्पन्न हुई थी। इस ख्यात का महत्त्व नेणसी की ख्यात से कम नहीं कहा जा सकता।

कविराज की ख्यात—एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आज से 70 वर्ष पहले जोधपुर की एक दीवार खोदते समय यह ख्यात मिली थी। इसमें जोधपुर के राठौड़ों के सिवाय राव जोधा और रायमल के मन्त्री भाटी गोविन्ददास के उपख्यात भी हैं। इसमें भी महाराजा जसवन्तसिंह तक के समय का वर्णन है। इसकी प्रतिलिपि महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

तीसरी ख्यात —'जोधपुर राज्य की ख्यात' है जो दो जिल्दों में प्राप्त हुई है। इसकी प्रति ओझाजी के पास है। इस ख्यात में महाराजा मानसिंह के जीवनकाल तक का हाल है। ओझाजी इस ख्यात को मनघड़न्त मानते हैं। फिर भी जोधपुर राज्य का विस्तृत इतिहास इसी ख्यात में मिलता है। दयालदास की ख्यात में भी जोधपुर का पूरा इतिहास शुरू से लेकर राव जोधा तक का मिलता है। इस प्रकार जोधपुर के इतिहास की प्रचुर सामग्री इन ख्यातों में है।

वीर विनोद जोधपुर का इतिहास तो ख्यातों में मिल गया। सूर्यमल मिश्रण ने 'वंशभास्कर' लिखकर बूंदी का इतिहास भी लिख दिया। फिर भरतपुर के मुंशी बाबू ज्वाला सहाय माथुर ने 'बकाये राजपूताना' उर्दू में लिखा जो टाड और अंग्रेजी सामग्री पर आधारित तीन जिल्दों में है। उदयपुर का इतिहास विद्यानुरागी महाराणा सज्जनसिंहजी के समय में उनके राजकवि श्यामलदासजी ने 12 वर्ष की मेहनत से, एक लाख रुपया खर्चकर लिखा। यह लगभग तीन हजार पृष्ठों का पाँच भागों में ग्रन्थ है जिसे 'वीर विनोद' के नाम से पुकारा जाता है। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ उदयपुर के राजघरानों में सीमित हैं जो अब केवल 70 रु० माल में महाराणा की कृपा से जनता के लिये उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1943 में हो गया था। उदयपुर के इतिहास पर श्री रामनारायण दूगड़ ने नवीन खोजों के आधार पर 'राजस्थान रत्नावली' दो भागों में प्रकाशित की, फिर रायबहादुर गौरीशंकर हीरा-

चन्द्र ओझा ने अत्यन्त परिश्रम के साथ राजपूताने का इतिहास लिखा। फिर श्री जगदीशसिंह गहलोत ने भी दो भागों में राजस्थान का इतिहास लिखा। ये सभी ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जो कर्नल टाड के अधूरे अध्ययन को पूरा करते हैं। ये सब तो हैं स्वदेशी प्रयास, अब विदेशियों का योगदान देखें।

3. फारसी रचनाएँ—चौहानों को हराकर मुसलमानों ने उत्तरी भारत में अपना राज्य स्थापित किया। उनके साथ फारसी के लेखकों ने अपने राजाओं की विजय का वर्णन करना शुरू किया। राजस्थान, दिल्ली और दक्षिण के बीच पड़ता था अतः मुसलमान शासकों की आँख में खटकता था। अतः 12वीं शताब्दी से राजस्थान का इतिहास फारसी ग्रन्थों में भी मिलता है। इस युग में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।

1. **ताजुल-मासीर** – हसन निजामी द्वारा जिसमें अजमेर और दिल्ली के शासक पृथ्वीराज के अन्तिम दिनों का वर्णन है।

2. जमीउल-हकीकत—इसमें मुहम्मदऊफी ने तराइन की लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान की हार का वर्णन किया है। इसका संकलन लगभग 1211 ई० में हुआ था।

3. तारीखे-मुबारक—15वीं शताब्दी में लिखी गई जिसमें मुहम्मद गौरी और कुतुबुद्दीन की विजय का वर्णन सही मिलता है।

4. तहकीके-हिन्द—अलबरुनी द्वारा लिखी गई थी। यह महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। इसने राजस्थान के दर्शन, सामाजिक व आर्थिक जीवन पर काफी कुछ लिखा है।

5. किताब जैमुल—महमूद गिर्दी ने लिखी जिसमें विदेशी मुसलमान आक्रमणों का पूरा विवरण है। भारत की दशा पर भी यह काफी प्रकाश डालता है।

6. **तारीखे यामिनी**—अलयूतबि द्वारा यह भी विदेशी आक्रमण और मुसलमानों के यहाँ आकर बसने का वर्णन करता है।

7. इसके अलावा अलाउद्दीन के दरबारी कवि अमीर खुसरो द्वारा उसकी विजयों का आँखों देखा हाल **'खजाइनुल फुतूह'** नामक पुस्तक में मिलता है।

8. जियाउद्दीन बरनी द्वारा रचित—**'तारीखे फीरोजशाही'** खिलजी और तुगलक वंश के शासकों पर प्रकाश डालती है।

9. अफीफ ने खिलजी और तुगलक वंश पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **'तारीखे मुबारकशाही'** लिखकर सुल्तानियत काल तक का मुसलमानों का इतिहास पूर्ण कर दिया। इनका अनुवाद इलियट और डौसन ने अंग्रेजी में किया और अलीगढ़ के प्रो० रिजवी ने इनका हिन्दी अनुवाद कर राजस्थान के सुल्तानियत काल का इतिहास और स्पष्ट कर दिया है।

मुगलकाल में तो हर बादशाह के दरबार में इतिहासकार रहते थे, जिनमें से मूल ग्रन्थों में मुगलकाल के इतिहास के साथ-साथ उनका राजस्थान से संघर्ष व संबंधों पर प्रकाश पड़ता है। इस निमित्त—

1. बाबरनामा—जो स्वयं बाबर ने लिखा था। यह राणा सांगा और मुगलो के सम्बन्ध को बतलाता है।

2 हुमायूनामा मे हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम ने मारवाड के मालदेव तथा जैसलमेर के भाटी मालदेव का वर्णन मिलता है।

3. तारीखे शेरशाही मे इतिहासकार अब्बास खसानी ने शेरशाह के राजस्थान अभियान का रोचक वर्णन किया है।

4 अकबरनामा के अतिरिक्त अबुल फजल ने और भी आधी दर्जन पुस्तकें ऐसी लिखी है जिनमे राजस्थान का इतिहास भी स्पष्ट झलकता है।

5 इसके अतिरिक्त तुजुके जहाँगीरी यानी जहाँगीर की आत्म-कथा और औरगजेब के प्रथम दस वर्षों के शासन मे 'आलमगीरनामा' इतिहास के प्रमुख ग्रन्थ हैं जो फारसी मे राजस्थान का इतिहास बताते हैं।

फरमान व हुक्म—इतनी पुस्तको के अतिरिक्त अनेक शाही फरमान, हुक्म, निशान और मन्शूर हमारे इतिहास के केन्द्र हैं। इस प्रकार के सैकड़ों पत्र और फरमान मुगल शासकों ने अपने समय के राजपूत राजाओं को लिखे थे, जिनका संग्रह आजकल राज्य के पुरातत्व विभाग मे सुरक्षित है। सैकड़ो ज्ञान के भूखे अनुसन्धान करके इन फरमानों का अध्ययन करते हैं और उन्हे अनुवाद कर प्रकाशित करते है। इसी प्रकार के फरमान और शाही फरमानों से राजपूत-मुगल सम्बन्धो व राजपूत-मराठा सम्बन्धो पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। फरमानों की एक लिस्ट राजस्थान सरकार के पुरालेख विभाग, बीकानेर से 1962 मे प्रकाशित हो चुकी है। यह सूची भी राजस्थान के इतिहास का एक साधन है, जिसके द्वारा मध्यकालीन राजस्थान के बारे मे काफी ज्ञान मिलता है।

आधुनिक साधन—पिछले 40 साल से एक लहर-सी दौड़ गई है, राजस्थान के विद्वानों और इतिहासकारों के बीच में कि इस वीर भूमि के इतिहास को प्रकाश मे लाया जाय। फलस्वरूप दर्जनों नई किताबें राजस्थान के इतिहास पर लिखी जा चुकी हैं। ये ग्रन्थ हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं मे मिलते हैं। सारे ग्रन्थो का यहाँ वर्णन करना तो छात्रो को डराना मात्र होगा किन्तु कुछ-एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का उल्लेख किये बिना भी साधनों का ज्ञान पूरा नही होगा। हिन्दी के ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

1. वीर विनोद—कविराज श्यामलदास
2. राजपूताने का इतिहास—(पाँच व दो भागो मे) गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।
3. कोटा राज्य का इतिहास (दो भागों मे)—डॉ० मथुरालाल शर्मा
4. राजपूताने का इतिहास—टाड अनुवाद डॉ० ईश्वरी प्रसाद।
5. राजपूताने का इतिहास—जगदीशसिंह गहलोत।
6. पूर्व आधुनिक राजस्थान—डॉ० रघुबीरसिंह सीतामऊ।

7. मारवाड़ का इतिहास—पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ।
8. मारवाड़ का मूल इतिहास—रामकरण आसोपा।
9. महाराणा कुम्भा—रामवल्लभ सोमाणी, हरविलास शारदा।
10. महाराणा सांगा—हरविलास शारदा।

वैसे तो अंग्रेजी में दो दर्जन से भी अधिक पुस्तकें है लेकिन यहाँ कुछ-एक का वर्णन आवश्यक है—

1. Early Chauhan Dynasties—Dr. Dashrath Sharma
2. Studies in Rajput History—Dr. K. R. Qanungo
3. Mewar and the Mughal Emperors—Dr. Gopi Nath Sharma
4. Marwar and the Mughal Emperors—Dr. V. S. Bhargava
5. History of Mewar–Dr. Ray Chaudhary

वैसे अब अध्ययन के साधन नई-नई खोजों के साथ बैठते ही जा रहे है और निश्चय ही एक दिन इस वीर भूमि का सही सही इतिहास पूरा-पूरा लिखा जा सकेगा।

3

बापा रावल

मेवाड़ का राजवंश भारत के श्रेष्ठ शासक घरानों में से एक है। बड़े-बड़े साम्राज्य बने और बिगड गये। जूलियस सीजर नैपोलियन, सिकन्दर आदि विजेताओ के साम्राज्य भी इतिहास में अपना नाम छोड़कर पलायन कर गये। संसार के इतिहास में एक भी वंश ऐसा नहीं जो साम्राज्य की स्वाधीनता, एकता और राजवंश की अमरता के लिए मेवाड़ के गहलोत या सूर्यवंशी शासको की समानता कर सके। भारत के इतिहास में भी बड़े-बड़े राजवंश चमके और अस्त हो गये किन्तु मेवाड़ के शासकों को कोई नहीं मिटा सका। विक्रमादित्य के समय से लगाकर 1947 तक अपनी आजादी के लिये संघर्ष करने वाला और अपने राज्य को स्वतन्त्र बनाये रखने वाला भारत का सिर्फ एक ही राज्य है और वह है मेवाड़। सन् 565 से लेकर आज तक लगभग 1600 वर्ष से भी अधिक समय तक मेवाड का राज करने वाले इस वंश का पहला पराक्रमी राजा कालभोज या (बापा) था जो आगे चलकर बापा रावल के नाम से विख्यात हुआ। उदयपुर के इस राजवंश को 'हिन्दुआ-सूरज' कहा जाता है जो उचित ही है। समकालीन विरोधी विदेशी भारत के शासको ने भी मेवाड़ के इस वंश की प्रशंसा की है। मुसलमान और ईसाई शासकों के समय के इतिहासकारों ने बापा रावल द्वारा स्थापित मेवाड के राज्य की हर तरह से प्रशंसा की है। मेवाड़ के गौरव-वर्णन पर यहाँ कुछ विद्वानो की राय देना अनुचित नही होगा।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन के समय भारत की यात्रा की थी। वह अपनी पुस्तक की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 266-67 पर मेवाड़ की समृद्धि का वर्णन करता है कि—"यह देश घेरे में 6000 ली है (छः ली बराबर एक मील); राजधानी का घेरा करीब 30 ली है; लगभग 100 नागरिक करोड़पति हैं; दूर-दूर के देशों की कीमती वस्तुएँ यहाँ बहुतायत से मिलती हैं; यहाँ कई सौ देवताओ के मन्दिर हैं।" स्पष्ट है कि गुप्तकाल के बाद ही मेवाड़ का वैभव स्मरणीय हो गया था।

इसी प्रकार फरिश्ता अपनी तवारीख मे पृष्ठ 54 पर लिखता है—"वीर राजा विक्रमादित्य के समय से जहाँगीर के समय तक ऐसा कोई न रहा जिसका नाम लिया जावे, अलबत्ता एक राजा राणा राजपूत है जिसके घराने मे मुसलमानी जमाने पहले से राज्य चला आता है।"

बर्नीयर ने भी अपने सफरनामे की पहली जिल्द के पृष्ठ 232-233 पर लिखा है कि—"खिराज न देने वाले एक सौ से अधिक राजा हैं जो बहुत ताकतवर हैं। इन राजाओं में *15* या *16* धनाढ्य और शक्तिशाली हैं, खासकर राणा जो कि राजाओं का सम्राट् समझा जाता है पोरस के खानदान में गिना जाता है।

मिल महोदय अपने भारत के इतिहास की सातवीं जिल्द के पृष्ठ 57 पर लिखते हैं कि "उदयपुर के राणा को राम के पुत्र लव का वंशज बताते हैं, वे सूर्यवंशी समझे जाते हैं और राजपूतों में गुहिलोत खानदान की सीसोदिया शाखा में से हैं। सब राजपूत राजाओं में बड़े माने जाते हैं।

विलियम रॉबर्टसन, अपनी पुस्तक भारत के इतिहास के पृष्ठ 302 पर लिखते हैं कि —"चित्तौड़ के राजा, जो हिन्दू राजाओं में सबसे प्राचीन समझे जाते हैं और राजपूत कौमों में सबसे बड़े हैं, अपनी उत्पत्ति पोरस के वंश से बताते हैं।"

इसी प्रकार एचिसन अपनी पुस्तक की तीसरी जिल्द के पृष्ठ 3 पर लिखते हैं कि—"उदयपुर का खानदान भारत के राजपूत राजाओं में सबसे बड़ा स्थान और इज्जत रखता है। यहाँ के राजा को हिन्दू लोग अयोध्या के प्राचीन राजा राम का प्रतिनिधि समझते हैं।" इनका मत है कि सन् 144 ई० में इस वंश की स्थापना हुई और डूंगरपुर, सिरोही, प्रतापगढ़ तथा मराठों का भोंसला खानदान भी उदयपुर घराने से निकला है।

टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान के इतिहास की पहली जिल्द के पृष्ठ 211 पर कहते हैं कि—"मेवाड़ के महाराजा राणा सांगा कहलाते हैं, ये सूर्यवंशी हैं और इनकी दूसरी उपाधि रघुवंशी है, मेवाड़ के महाराणा वास्तव में राम की गद्दी के वारिस हैं। राजपूतों की 36 कौमों में से इन्हें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है।"

इन सब विद्वानों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ के शासक श्रेष्ठ वंश के ही नहीं सर्वश्रेष्ठ शासक भी थे जिन्हें शत्रुओं ने भी मान्यता प्रदान की है। ऐसे प्रतापी सूर्यवंशी मेवाड़ राज्य का संस्थापक बापा रावल था। अब हम बापा रावल के जन्म, वंश और उत्पत्ति की ओर ध्यान दें। बापा रावल गुहिल वंश के थे अतः सबसे पहले उनके पूर्वजों पर प्रकाश डाला जाय तो उचित होगा।

गुहिल वंश—गुहिल वंश की उत्पत्ति पर विद्वान एकमत नहीं हैं। मुसलमान लेखकों में अबुल फजल की धारणा है कि गुहिल ईरान के बादशाह नौशेरवाँ आदिल के वंशज हैं। कथा इस प्रकार मानी जाती है कि नौशेरवाँ के जीवनकाल में उसके पुत्र नौशेजाद ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था और एक बड़ी सेना लेकर भारत आया। यहाँ से उसने अपने पिता नौशेरवाँ आदिल पर आक्रमण किया जिसमें मारा गया। उसकी सन्तान भारत में ही बस गयी और ये ही लोग गुहिल कहलाये। इस प्रकार का वृत्तान्त ओझाजी अपने उदयपुर राज्य का इतिहास के भाग 1, पृष्ठ 71-72 पर देते हैं।

जैन ग्रन्थों के आधार पर कर्नल टाड दूसरा वर्णन देते हैं। वे भी गुहिलों को विदेशी मानते हैं। टाड महोदय राजस्थान के इतिहास की जिल्द एक के पृष्ठ 247-51-60 पर इस प्रकार वर्णन करते हैं कि विदेशियों ने 524 ई० में वल्लभी पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। वल्लभी का राजा शिलादित्य मारा गया। उस समय उनकी रानी पुष्पावती, अम्बाभवानी की तीर्थयात्रा पर गयी हुई थी, वह बच गयी। उसी रानी ने गोह (गुहदत्त) को जन्म दिया जो आगे चल कर मेवाड़ का स्वामी बना। इतिहासकार स्मिथ भी अपनी पुस्तक आक्सफोर्ड डिस्ट्री ऑफ इण्डिया के पृष्ठ 190 पर राजपूतों की उत्पत्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए राजपूतों को हूणों से सम्बन्धित बताते हैं जो पाँचवीं और छठी शताब्दी में भारत मे आकर यहाँ के क्षत्रियों से मिल गये थे। किन्तु भारतीय इतिहासकार ओझा, कवि श्यामलदास, गहलोत और डा० गोपीनाथ शर्मा आदि मेवाड़ के राजवंश व बापा रावल के पूर्वजो को विदेशी नही मानते।

वास्तव में अबुलफजल, टाड और स्मिथ की तीनो धारणाएँ निराधार हैं। अबुलफजल का यह तर्क कि नौशेरवाँ का पुत्र नौशेजाद भारत आया और फिर उसने वापस ईरान पर चढाई की, आधार रहित है। इसके पक्ष मे कोई फारसी साहित्य नही मिलता। उपलब्ध साधनों के आधार पर यह साफ पता चलता है कि विद्रोही नौशेजाद ईरान में ही मारा गया था। अत. गुहिलो के ईरानी होने का प्रश्न ही नही उठता।

अब यदि टाड महोदय की कहानी को कसौटी पर कसें तो टाड का कहना है कि 524 ई० मे शिलादित्य यवनों के हाथ मारा गया, जबकि मारने वाले का पिता नौशेरवाँ ही 531 ई० में ईरान के सिहासन पर बैठा था तो फिर 524 ई० में शिलादित्य को मारने वाला नौशेरवाँ का पुत्र नही हो सकता। इसी प्रकार स्मिथ की यह धारणा कि गुहिल विदेशी हूण थे, सर्वथा आधार रहित है। राजपूतों को हूण राजा मिहिर कुल का मानना या उसके बाद में वापस राज्य का गठन करने वाला बताकर हम राजपूतो और गुहिलों के साथ अन्याय करेंगे।

वास्तव में गुहिल सूर्यवंशी, अयोध्या के राजा-राम के वंशज हैं। बापा के सिक्कों पर सूर्य का चिन्ह इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि वे सूर्यवंशी क्षत्री थे। विक्रम संवत् 1028 और 1034 के शिला-लेखों मे उन्हें सूर्यवंशी, क्षत्रियों का उत्पत्ति स्थान कहा है। अन्य तीन लेख जो 1342, 1485 और 1557 में लिखे गये, वे भी गुहिलों को सूर्यवंशी क्षत्री मानते हैं। उन्ही पाँच लेखो के आधार पर ओझा जी उदयपुर के राजवंश को क्षत्री मानते हैं लेकिन यह धारणा भी पूर्णरूप से स्पष्ट नही है। डा० गोपीनाथ अपनी पुस्तक राजस्थान के इतिहास के पहले भाग में पृष्ठ 39 पर कहते हैं कि—"सूर्यवंशी या क्षत्रीय लिखने की परिपाटी चित्तौड़ के 278 के लेख के आस-पास अपनायी गयी प्रतीत होती है।..........977 ई० के

आटपुर लेख में कालभोज को 'अर्कसम' अर्थात् 'सूर्य की भाँति' लिखा है न कि सूर्यवंशीय।"

मेवाड़ के राणा गुहिल वंश के हैं। इनके बारे में प्रचलित कथा इस प्रकार है कि अयोध्या के राजा राम का पुत्र कुश सूर्यवंश का संस्थापक था। राम और बुद्ध की भाँति मेवाड़ के राणा भी सूर्यवंशी है कुश से लेकर सुमित्र तक 61 राजा हुए जिनकी राजधानी अयोध्या थी। इसी वंश के भटार्क नामक गुप्त सेनापति ने, गुप्त राज्य का पतन होते देख कर काठियावाड़ पर अपना अधिकार जमा लिया और वल्लभीपुर को अपनी राजधानी बनाया। यह भटार्क भी सूर्यवंशी था। उसके दानपत्रों मे उसे मैत्रक या सूर्य (मित्र) कहा गया है। इन मैत्रक राजाओं ने वल्लभीपुर में 19 पीढ़ी तक राज्य किया और इनका अन्तिम राजा शिलादित्य छठा था। उसके समय में काठियावाड पर सिन्ध की तरफ से अरब लोगों ने आक्रमण किया और इस राज्य को नष्ट कर दिया मैत्रक ने अपना राज्य लगभग 318-19 ई० में स्थापित किया था। इसके राज्य का विस्तार दूर दूर तक था और मालवा पर भी इनका अधिकार था। महणोत नेणसी अपनी ख्यात के प्रारम्भ में गुहलोत वंश की उत्पत्ति का रोचक वर्णन करते हैं कि सीसोदिया प्रारम्भ में गहिलोत कहलाते थे। इनके पूर्वज सूर्य की उपासना करते थे जिससे कोई योद्धा उन्हें जीत नही सकता था। इनका राज्य दक्षिण तक फैला हुआ था। इनका अन्तिम राजा शिलादित्य था उसके कोई पुत्र न था अतः उनकी पत्नी अंबा देवी की उपासना करने गयी। उसे सूर्य की कृपा से गर्भ में पुत्र रत्न प्राप्त हुआ किन्तु जब वह देवी की जात बोलने गयी तो पीछे से शत्रुओ ने आक्रमण कर राजा को मार डाला। रानी वापस वलभीपुर नही गयी और नागदा गाँव मे ठहर गयी। पुत्र का जन्म होने पर उसने अपना पुत्र विजयादित्य नामक ब्राह्मण को दान दे दिया और इसी ब्राह्मण विजयादित्य के कारण दस पीढ़ी तक ये सूर्यवंशी राजा ब्राह्मण (नागर) कहलाये। नेणसी की ख्यात में यही पाया जाता है कि शिलादित्य का पुत्र गुहादित्य (गुहिल) ही ब्राह्मण विजयादित्य के बेटे के नाम से मेवाड़ मे आकर गुहिल या गहलोत वंश की स्थापना की। किन्तु कवि श्यामलदास, ओझा जी और डा० गोपीनाथ इस कथा को सत्य नहीं मानते क्योंकि राजाओं का समय व राज्य काल देखते हुए यह सम्भव नहीं लगता। इसी धारणा पर गुहिल राजाओं को ब्राह्मण भी माना गया है। बापा रावल के लिये शिलालेखों में जिस 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया गया है वह इस बात का द्योतक है कि उसके पूर्वज ब्राह्मण धर्म को मानते थे किन्तु इससे यह भी नही मान लेना चाहिये कि वे ब्राह्मण थे। गुहिलो के ब्राह्मण या क्षत्री होने पर भी मतभेद हैं नेणसी इन्हें नागर ब्राह्मण मानते हैं। ओझा जी नहीं मानते और कहते हैं कि उनमे ब्राह्मणों के गुण रहे होगे अतः उन्हें ब्राह्मण समान समझा जाता है। डा० गोपीनाथ अपनी पुस्तक 'राजस्थान के इतिहास' के पृष्ठ 39 पर यह मानते

हैं कि "गुहिलों का ब्राह्मण वंशीय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

हम इस विवाद मे न पड़ें और यह मानलें कि अन्य ब्राह्मण राजाओं की तरह गुहिल भी ब्राह्मण रहे होंगे। जैसे कण्व, शुंग आदि वंश भी ब्राह्मण थे। अतः बापा के पूर्वजों के बारे मे दो धारणाएँ हैं कि वे सूर्यवंशी क्षत्री थे या नागदा के नागर ब्राह्मण थे।

दूसरी मतभेद की बात यह है कि बापा के पिता कौन थे? गुहिल और बापा के बीच की वंशावली सही तौर पर नही मिलती। कवि श्यामलदास वीर विनोद के पहले भाग में पृष्ठ 250 पर बापा को शील के पुत्र अपराजित का बेटा मानते हैं। उन्ही के आधार पर बापा का असली नाम महेन्द्र था और बापा उनकी उपाधि। लेकिन गोपीनाथजी उसे पृष्ठ 43 पर गुहिल का निकटतम उत्तराधिकारी मानते हैं। अतः बापा के माता-पिता व वंश जाति अभी तक अनुसंधान का विषय है। अनेक शिलालेख अलग-अलग बात कहते हैं। राणा कुम्भा ने भी बहुत छानबीन के बाद अपने आपको ब्राह्मण लिखवाया था। बापा ने भी 810 ई० मे सन्यास ले लिया था। साधारणतः ब्राह्मण ही सन्यास लेते हैं अतः बापा के वंश व पूर्वजो को हम निश्चित रूप से ब्राह्मण या क्षत्री नही कह सकते। उसके पिता भी गुहिल थे या अपराजित, कहना कठिन है। वैसे गुहिलो का राज्य आगरा, चाटसू (जयपुर) मालवा, डूंगरपुर, बागड़ आदि अनेक स्थानों पर रहा था। आगरे में गुहिल के हजारों सिक्के भी मिले हैं जो इस वंश की समृद्धि और व्यापकता का प्रमाण है। यह वंश पहले मेवाड़ में जमा फिर इसकी शाखाएँ राजस्थान के अन्य भागो मे फैल गयी।

बापा का बचपन—मेवाड़ राज्य के संस्थापकों में बापा रावल का स्थान सर्वोच्च है। बापा का आरम्भिक जीवन कठिनाइयों से भरपूर था लेकिन इस वीर बालक ने सारी कठिनाइयों का सामना बडी दृढ़ता और वीरता से किया। श्री मनोहर प्रभाकर, भाषा अधिकारी, राजस्थान जयपुर, अपनी पुस्तक 'राजस्थान की ऐतिहासिक विभूतियां' के पहले पृष्ठ पर—नागा-दित्य को बापा का पिता और गुहिलोत वंश का आठवां शासक बताते हैं उनका कहना है कि—"मेवाड़ के सिंहासन पर बैठने वाले गुहिलोत वंश की आठवीं पीढी में नागादित्य नाम का एक राजा हुआ। उसके दुर्व्यवहार से बहुत से भील अप्रसन्न थे। अतः एक दिन उन्होंने नागादित्य को जंगल में घेरकर मार डाला। इसी नागादित्य का तीन वर्षीय बालक बापा अकेला रह गया। "जिस ब्राह्मण वंश ने गुहिल की रक्षा की थी। उसी की एक ब्राह्मणी बापा को मंडेर नामक किले मे ले गयी जहाँ भीलो ने भी बापा की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया किन्तु इस स्थान को सुरक्षित न पाकर ब्राह्मण उसे वापस नागदा ले गये। यह गाँव उदयपुर से दस मील उत्तर मे है। यहीं बापा ने अपना बचपन भील बालकों के बीच में बिताया।

बापा के समय का कोई लेख नही मिला है जिससे बापा के जीवन पर अनेकों कपोल कल्पित कथाएँ लिख दी गयी हैं। समय के साथ ये कथाएँ लोकप्रिय हो गयीं और उन्हें गलत साबित करना भी एक समस्या बन गयी। टाड महोदय ऐसी कथाएँ देते है। नेणसी का कहना है कि बापा अपने बचपन में हारीत ऋषि की गायें चराता था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर हारीत ऋषि ने राष्ट्र सेनी देवी से बापा के लिये राज्य माँगा। देवी ने 'ऐसा ही' वरदान दिया। फिर हारीत ने महादेवजी की उपासना की और महादेवजी ने प्रसन्न होकर हारीत को दर्शन दिये व एकलिंगजी का लिंग प्रकट हुआ। हारीत ऋषि ने महादेवजी से भी बापा के लिये मेवाड़ का राज्य मांगा। इसके बाद हारीत ने बापा को मिलने बुलाया। बापा कुछ देरी से आया तब तक हारीत का विमान स्वर्ग को उड़ चला था। हारीत ने मोक्ष पाने से पहले बापा को मेवाड का राज्य वरदान में दिया और मौर्यों से चित्तौड़ छीन लेने का आदेश दिया। जाते-जाते वे एक पान बापा के लिये विमान से गिरा गये। यह पान बापा के पैरों पर गिरा यदि यह मुँह में गिर जाता तो बापा अमर हो जाता। ऋषि हारीत ने यह भी कहा था कि जमीन से पन्द्रह करोड़ मुहरें निकालकर सेना संगठित करो व राज्य बनाओ। बापा ने ऐसा ही किया और हारीत के आदेशानुसार धन निकाल कर चित्तौड़ जीता। हारीत के वरदान से बापा का वंश अमर हो गया और 1400 वर्ष बाद भी आज मेवाड़ का वंश चल रहा है। इतने लम्बे समय तक संसार में किसी भी वंश ने राज्य नही किया अतः हारीत की तपस्या, देवी और महादेव का वरदान, एकलिंगजी का प्रगट होना आदि बातो पर विस्मयपूर्वक विश्वास कर लेना अच्छा लगता है। इसी कथा को नेणसी ने अपनी 'ख्यात' के पत्र एक में दूसरे पृष्ठ पर दिया है जिसे ओझाजी ने 'उदयपुर राज्य के इतिहास', भाग 1, के पृष्ठ 112-115 पर दोहराया है। डा० गोपीनाथ ने भी इस कथा को मान्यता देते हुए बापा का बचपन ब्राह्मणों के पास व्यतीत मानते हुए इसी बात को 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 44 पर दोहराया है।

टाड महोदय ऊपर दी हुई दोनों कथाओं को मिलाकर वर्णन करते हैं कि बापा के पिता को ईडर के भीलों ने हमले में मार डाला। तब उसकी माँ उसे नागर की ब्राह्मणी कमलावती के वंशजों के पास ले गयी। बापा नागदा मे गौएँ चराने लगा तभी वह हारीत ऋषि के सम्पर्क मे आया। वहाँ उसे एकलिंगजी के दर्शन हुए और उन्ही की कृपा से उसे मेवाड़ का राज्य मिला।

बापा के बचपन पर अनेकों और भी कथाएँ है जो उसके उभरते हुए व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं। उसके बाहुबल के लिये विख्यात है कि वह एक ही झटके में दो भैंसो की बलि देता था। वह एक विशालकाय व्यक्ति था जो चार बकरे रोज खाता था और पैंतीस हाथ की धोती और सोलह हाथ का दुपट्टा पहनता था उसकी तलवार बत्तीस मन की थी आदि आदि कथायें उसके विशालकाय

शरीर और बाहुबल की प्रशंसा करने के लिये कही जाती है। वह बचपन से ही स्त्री प्रेमी था और उसने अनेक शादियाँ की थी। उसकी पहली शादी की रोचक कथा टाड महोदय ने बड़े सुन्दर शब्दों में दी है कि नागेन्द्र नगर की राजकुमारी शरद ऋतु में जब सखियों सहित झूला झूलने वन में आई और रस्सी लाना भूल गयी तो निडर बापा ने उससे विवाह का प्रस्ताव रखा कि "यदि तुम मुझ से शादी कर लो तो मैं रस्सी ला दूँगा। राजकुमारी राजी हो गयी और बापा ने उससे जंगल में गुप्त विवाह कर लिया। आगे चलकर उसे इस विवाह के कारण कुछ समय जंगलों और गुफाओं में छिप कर काटना पड़ा।"

बापा ने अपनी माँ से यह सुन लिया था कि वह चित्तौड़ के मौरी राजा का भानजा है। टाड महोदय का कहना है कि इसी आधार पर वह अपने साथियों सहित चित्तौड गया। उस समय चित्तौड़ पर मौर्य वंश का राजा मानसिंह राज्य करता था। उसने बापा को एक सामन्त बना दिया और बापा की ख्याति बढ़ने लगी। उसी समय किसी विदेशी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। अन्य सामन्त तो डर गये, किन्तु बापा ने बड़ी वीरता से शत्रु को मार भगाया। इससे बापा की ख्याति और भी बढ़ी। सारे सामन्त उसके अधीन हो गये। स्थिति से लाभ उठाकर बापा ने अपने मामा मानसिंह मौर्य को गद्दी से हटा कर चितौड राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। तभी से आज तक मेवाड़ पर बापा के वंशजों का अधिकार चला आ रहा है। मानसिंह ने चित्तौड़ पर 714 से 728 ई० तक राज्य किया था। उसने बापा को 15 वर्ष की अवस्था में अपना सामन्त बनाया था और उसी वर्ष 728 ई० में बापा ने चित्तौड़ पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार बापा का जन्म 713 ई० में हुआ होगा जो भाट कवियों ने 191 से बताया है सही जान पड़ता है। बापा के समय से गुहिलोतों का उत्थान आरम्भ होता है। इसके बाद 1100 वर्ष में इस वंश के 59 राजाओं ने राज्य किया। कहते हैं कि एक सौ वर्ष तक जीवित रहने के बाद बापा सन्यासी हो कर मरा। उसने काश्मीर, कन्धार, ईराक, ईरान, तुरान, और काफरिस्ता आदि पश्चिमी देशों को पराजित कर वहाँ की राजकुमारियो से विवाह किये। बापा के एक सौ तीस सन्तान बताई जाती है। उसके यवन पुत्र नौ शेरा पठानो के नाम से इतिहास में विख्यात हैं। हिन्दू रानियों से उसे 98 पुत्र प्राप्त हुए जो सूर्यवंशी कहलाये उसकी मृत्यु के समय उसकी हिन्दू और यवन सन्तान में यह झगड़ा हुआ कि उसके मृत शरीर को गाड़ना चाहिये या जलाना। कफन हटाकर देखा गया तो शव पर सफेद कमल खिल रहे थे अतः उन फूलो को मान सरोवर में ले जाया गया। यह कथा उसके मृत शरीर का महत्व बताती है। हमे इन कथाओ को यथावत न मानकर इनके पीछे छिपी भावनाओ को समझना चाहिये कि बापा की सन्तान को उसके मृत शरीर से भी कितना स्नेह था। स्पष्ट है कि वह लोकप्रिय शासक रहा होगा।

वीर विनोद में तो बापा का नाम महेन्द्र माना गया है किन्तु डा० गोपीनाथ इसे सत्य नहीं मानते और श्री गहलोत तो अपने 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 182 पर बापा रावल को महेन्द्र का पुत्र राजा कालभोज कहकर सम्बोधित करते हैं। मेवाड़ के इतिहास में गुहदत्त के बाद बापा का नाम सम्मान से लिया जाता है। शिलालेखों, दान-पत्रों, सिक्कों व ख्यातों में बापा को बप्प, बोप्प, बप्पक, बापा आदि स्नेहमय नामों से पुकारा गया है। यह श्रद्धा का नाम है जो बापू से निकलता है। आधुनिक काल में महात्मा गांधी को भी 'बापूजी' व बापू आदि नामों से पुकारा गया है जो उनकी लोकप्रियता का सूचक है। इसी प्रकार, महेन्द्र या कालभोज को सम्मान से लोग प्रजाजन बापा या बप्पा कहकर पुकारते थे। विद्वानों ने बड़े अनुसन्धानों के बाद बापा रावल का समय 734 से 753 ई० तक निर्धारित किया है। अर्थात् उसने कुल 19 वर्ष राज्य किया। ओझाजी का यह निष्कर्ष सामान्यतः मानने में नहीं आता कि इतने से समय में उसने इतनी ख्याति प्राप्त कर इतने देश जीत लिये और सन्तान भी छोड़ गया। यदि टाड द्वारा दी गयी राज्यारोहण तिथि को मान लें तो 728 ई० से 753 तक बापा राज्य 25 वर्ष तक रहा होगा। इसमें भी अभी खोज की आवश्यकता है। बापा का देहान्त नागदा, मेवाड़ में हुआ था और उसकी समाधी एकलिंग जी (कैलाशपुरी) से एक मील दूरी पर आज भी है जो बप्पा रावल के नाम से विख्यात है।

इतनी कथाओं के बाद भी यह अस्पष्ट है कि बापा का असली नाम क्या था महेन्द्र, या कालभोज? अपराजित और बापा के बीच की कड़ी अभी स्पष्ट नहीं है और कथाकारों ने गुहिल के पिता का शत्रुओं द्वारा मारे जाने वाली कथा बापा के साथ जोड़ दी लगती है। क्योंकि दोनों ही पराक्रमी थे। रहा ऋषि हारीत की गायें चराने या भक्ति करने वाला बापा शायद पुत्र कामना या राज्य कामना से ऋषि की सेवा वृत्ति में लगा होगा। वैसे गुहिल के समय से मेवाड़ पर बापा के पूर्वजों का राज्य था और बापा ने अपने शौर्य से चित्तौड़ को भी अपने अधीन किया था। इस प्रकार बापा का जीवन आज भी अनुसंधान कार्य मांगता है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि योग्य राजाओं की विजय और प्रशासन पर अनेक प्रकार की कथायें लोग बना लेते हैं और इसी प्रकार लोकप्रिय, वीर शासक बापा पर भी अनेक कथाएँ बना दी गयी जिसमें ऐतिहासिक सत्य का पुट छिपा पड़ा है।

बापा उपाधि—सबसे पहले तो यह स्पष्ट समझना चाहिये बापा किसी राजा का नाम न होकर एक उपाधि है जो सम्मान और बड़प्पन का सूचक है। शिलालेखों में इस शब्द का प्रयोग बापा, बाप्पा, बाप्पक, बाप्प, बप्पा आदि रूपों में किया गया है। जिस प्रकार महात्मा गाँधी को बापू कहते थे उसी प्रकार मेवाड़ के इस विख्यात शासक को बापा के नाम से जाना गया। समकालीन लेखों के अभाव में इतिहासकार इस विषय पर अभी एक मत नहीं हैं कि बापा की उपाधि

मेवाड़ के कौन से राजा ने धारण की थी। सामान्यतः यह तो सभी मानते हैं कि गुहिल के बाद मान्यता प्राप्त शासकों में बापा का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। लेकिन विभिन्न विद्वान बापा का नाम व समय अलग अलग बताते हैं। इन विरोधी मतों मे टाड, कवि श्यामलदास, भण्डारकर, ओझा डा० गोपीनाथ शर्मा के मत उल्लेखनीय हैं।

1. टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान के इतिहास के पहले भाग में पृष्ठ 269 पर कुम्भलगढ़ प्रशस्ति मे शील के स्थान पर 'वप्प' नाम को पाकर बापा का नाम शील समझ लेते हैं क्योंकि पहले सभी प्रशस्तियों में शील शब्द का प्रयोग किया गया है। लेकिन 646 ई० के लेख से स्पष्ट हो जाता है कि शील एक स्वतन्त्र शासक था जो मेवाड़ के अधीन नही था। अतः मेवाड़ का शासक वप्प उस समय का कुम्भलगढ का स्वतन्त्र शासक शील नहीं हो सकता। टाड महोदय ने शील की 646 ई० की प्रशस्ति भी देख ली होती तो वे बप्प को शील की उपाधि नही मानते अतः इस प्रशस्ति के आधार पर टाड का यह कथन कि शील राजा ही बापा था सत्य नहीं है।

2 वीर विनोद के लेखक कवि श्यामलदास पहले भाग के पृष्ठ 2 50 पर महेन्द्र को बापा मानते है। उनका कहना है कि शील के बाद अपराजित हुआ और फिर उसके बेटे महेन्द्र ने बापा का खिताब धारण किया। महेन्द्र को रावल पद से भी सुशोभित किया गया था और बापा से भी। लगभग 713 ई० में शत्रुओ ने महान राजा अपराजित को मार डाला और बापा 713 ई० में मेवाड का राजा बना जिसने 734 में चित्तौड़ विजय किया। अपराजित लगभग 661 ई० मे राज्य करता था और बापा ने 753 ई० में सन्यास लिया। उसके सन्यास लेने का समय कवि श्यामलदास भी 753 ई० ही मानते है तो क्या बापा ने सौ वर्ष तक राज्य किया। यह बात भी मानने में नही आती। ओझा जी अपराजित और महेन्द्र के बीच मे 100 वर्ष का अन्तर बता कर यह समझाते हैं कि सौ वर्ष में सिर्फ दो राजा होना सम्भव नही और इसी तर्क पर वे महेन्द्र को बापा नही मानते। अतः दूसरा तर्क भी सन्दिग्ध है कि बापा महेन्द्र की उपाधि थी।

3 प्रोफेसर भण्डारकर खुम्माण को बापा मानते है। उन्होंने अपराजित की 661 की प्रशस्ति और 953 ई० की अल्लट की प्रशस्ति के 300 वर्ष के समय मे 12 राजाओ की नामावली दी है और हर राजा का राजकाल लगभग $24\frac{1}{2}$ वर्ष आता है। इस प्रकार बापा का नम्बर 753 मे अपराजित के बाद चौथा राजा होता है जो 92 वर्ष के अन्तर से पडता है। इस आधार पर भण्डारकर खुम्माण को बापा मानते है लेकिन यह कोई सम्पत्ति का विभाजन नही कि हर राजा को बराबर मिले। कोई भी शासक 50 वर्ष भी शासन कर सकता है अतः हर राजा को $24\frac{1}{2}$ वर्ष का राज्य काल बाँटना न्याय सगत नहीं लगता और बराबर की समय तालिका एक अनहोनी बात है क्योंकि अनेक राजा छः सात साल भी राज्य ~र सके थे। अतः भण्डारकर का मत भी तर्क की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता।

4. ओझा जी उदयपुर राज्य का इतिहास के भाग एक में पृष्ठ 106 से 110 तक बापा की उपाधि और राजा के नाम पर अपने विचार प्रगट करते हैं। उनका विचार है कि बापा न तो शील की उपाधि थी न महेन्द्र की और न खुम्माण की ही। ओझाजी इसे कालभोज की उपाधि मानते हैं। ओझाजी खुम्माण को तो कालभोज का पुत्र मानते हैं। इस कथन की पुष्टि ख्यातों में भी की गयी है। राज प्रशस्ति में भी बापा को खुम्माण का पिता कहा गया है। इस आधार पर ओझा जी कालभोज को बापा मानते हैं। किन्तु डा० गोपीनाथ इस तर्क का खंडन करते हैं। वे अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 46 पर कहते हैं कि कालभोज का पुत्र खुम्माण था अतएव कालभोज बापा हो, यह कोई तर्क नही हो सकता।

5. डा० गोपीनाथजी का तर्क है कि कुम्भलगढ़ प्रशस्ति के आधार पर बापा के बाद अपराजित, महेन्द्र और कालभोज मेवाड़ के शासक हुए। चित्तौड़, आबू और राकपुर आदि के शिलालेख भी बापा और कालभोज को अलग अलग मानते हैं। डा० गोपीनाथजी बापा या बाप को उपाधि नही मानते जैसा कि अन्य सभी लेखकों की धारणा है। बम्बई ऐशियाटिक सोसायटी जनरल की जिल्द 22 वीं के पृष्ठ 166-67 के आधार पर जिसमें नाथों की प्रशस्ति में 'बप्पक' को स्वतंत्र नाम माना है, गोपीनाथजी महेन्द्र, अपराजित, खुम्माण और कालभोज की भाँति बापा को भी एक राजा का स्वतंत्र व पूर्ण नाम मानते है। वल्लभी के ताम्र-पत्र में 'वप्प' और धुलेख के अभिलेख में 'वप्पदत्ती' शब्दों का प्रयोग उपाधि न होकर नाम के लिये प्रयोग में लाया गया है। इस आधार पर डा० गोपीनाथ बापा को मेवाड़ के एक शासक का नाम मानते हैं उपाधि नही? यदि इसे मान लिया जाय और अन्य लेखकों के प्रमाणों को असत्य भी मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि बापा का समय क्या था? वह किस समय मेवाड़ का शासक था?

शासनकाल—जिस राजा के नाम पर इतिहासकारों में घोर विवाद है उसके शासन का समय भी निर्विवाद नही हो सकता। पहले हम यह देखें कि भिन्न-भिन्न इतिहासकारों ने बापा का समय क्या निर्धारित किया है।

टाड महोदय ई० 769 से वल्लभी नाश मानते हैं जिसके बाद वहाँ का राजवंश मेवाड़ में आया और उसके 191 वर्ष बाद बापा का जन्म हुआ। इस प्रकार बापा का जन्म 960 ई. के आस पास आ जाता है जो माना नही जा सकता।

दूसरा मत कवि श्यामलदास का है जो वीर विनोद के पहले भाग में पृष्ठ 252 पर बापा की चित्तौड़ विजय का समय 734 ई. मानते हैं। ओझा जी बापा की चित्तौड़ विजय का समय 713 ई. मानते है और उसके सन्यास का समय 753 ई.। डा० भंडारकर भी इस मत से सहमत हैं। इन तीनो लेखकों के आधार पर यह तो माना ही जा सकता है कि बापा 734 से 753 ई. के बीच मेवाड़ का शासक था। ओझा जी मानसरोवर के अभिलेख के आधार पर ही 713 ई में बापा

की चित्तौड़ विजय मानते हैं। इसी कथन की पुष्टि टाड महोदय ने राजस्थान के इतिहास के पहले भाग में पृष्ठ 799 पर की है और वीर विनोद के पहले भाग पृष्ठ 378-380 पर कवि श्यामलदास भी मानसरोवर के लेख को ही मान्यता देकर 713 में बापा की चित्तौड़ विजय मानते हैं।

किन्तु इनके विपरीत डा० गोपीनाथ तीसरे मत पर जोर देते हैं कि "नवी शताब्दी तक चित्तौड़ पर गुहिलों के द्वारा अधिकार होना कल्पना के बाहर है। यदि मोरियों से चित्तौड़ किसी ने लिया तो वे प्रतिहार थे।" अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 48 पर वे स्पष्ट कहते है कि "चित्तौड़ विजय के समय को बापा से मिलाना भूल है।" अबुल फजल व राय चौधरी के तर्कों का समर्थन कर गोपीनाथजी ई. 713 में चित्तौड़ विजय और 753 मे सन्यास, इन दोनों को सत्य नही मानते। उनका कहना है कि, चित्तौड़ की 1274, आबू की 1285 और राणपुर की 1439 ई. की इन तीनों प्रशस्तियों में बापा को भूल से गुहिल के पिता लिखा दिया गया है। यह संभव नही। बापा गुहिल के निकटतम वंशधरों में था। इस प्रकार वह गुहिल का पांचवा वशज था। इस आधार पर गोपीनाथजी बापा का समय 620 ई. के लगभग मानते हैं। बापा को शील और अपराजीत के पीछे मानें तो वह सातवी शताब्दी के तीसरे चरण मे मेवाड़ का राजा रहा होगा।

संक्षेप में यह मान लिया जाय कि बापा ने सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे राज्य किया होगा, तो विवाद का अन्त हो सकता है। वैसे बापा ने काफी वर्षो तक मेवाड़ पर राज्य किया होगा। इस बात का प्रमाण यह है कि बापा ने कन्धार, काश्मीर, ईराक ईरान, तूरान और काफरिस्तान आदि अनेक देशों को जीत कर वहाँ की यवन राजकुमारियों से विवाह किया। उनके 130 सन्तान थी जिनमे से अनेक यवन रानियों से जनमी होने के कारण नोशेरा के पठानो के नाम से विख्यात हैं। देलवाड़ा नरेश के एक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर बापा ने लगभग सौ वर्ष की अवस्था प्राप्त की। आधुनिक लेखकों की धारणा है कि बापा ने 50 वर्ष की अवस्था में खुरासान पर विजय प्राप्त की और वहाँ रह कर अनेक स्त्रियों से विवाह किया और अन्त में उसकी वहीं मृत्यु हो गयी। वैसे बापा का देहान्त नागदा में माना जाता है और आज भी उसका समाधि स्थान 'बापा रावल के नाम से मेवाड में प्रसिद्ध है। अतः यह नही माना जा सकता कि बापा ने सौ वर्ष की अवस्था पाई और उसका देहान्त खुरासान मे हुआ जहाँ उसके शव को अन्तेष्ठी क्रिया के लिये उसके हिन्दू व मुसलमान पुत्रों मे झगड़ा हुआ। जो भी हो बापा मेवाड का एक प्रतिभा सम्पन्न रावल था जिसने दूर दूर देशों को जीतकर इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया। इस विवाद का अभी निश्चित रूप से अन्त नही कहा जा सकता कि बापा ने मेवाड़ पर 713 ई मे अधिकार किया या 620 ई. में और यह भी निश्चित नही है कि उसने कितने समय तक राज्य किया और उसका देहान्त कहाँ हुआ ? हो सकता है कि उसकी हिन्दू सन्तान ने उसकी समाधि

नागदा में बना दी हो और उसका देहान्त खुरासान में ही हुआ हो। बापा के जन्म, राज्य काल, वंशावली, विजय और मृत्यु के विषय में अनेक लोकप्रिय कथाएँ इस बात का प्रमाण अवश्य है कि वह एक सफल प्रभावशाली शासक था। उसकी ऐतिहासिकता व समय अभी अनुसंधान कार्य माँगते हैं।

बापा रावल का सिक्का—सिक्के शासक का प्रतिबिम्ब है और साम्राज्य की समृद्धि के प्रमाण भी। प्राचीन भारत के अधिकांश शासकों के बारे में सिक्कों ने महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं। राजा अपने नाम के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के चलाते थे। जो बहुधा जमीन में, बनियों के पास, गाँव के लोगों के गले में नाके लगाकर लटकाये हुए देखने में आते हैं। दुर्भाग्य इस बात का है कि प्राप्त होते ही सोने और चाँदी के सिक्कों को गला कर सुनार लोग जेवर बना लेते है और ताँबे के सिक्कों को ठठेरों को देकर लोग बर्तन बनवा लेते हैं और इस प्रकार इतिहास का एक बड़ा साधन नष्ट हो जाता है। इतने पर भी अनेक अजायबघरों में प्राचीन व मध्य कालीन भारत के सिक्के संग्रहीत हैं जो हमें पर्याप्त सूचना देते हैं। राजस्थान में शिक्षा के अभाव में सिक्कों का संग्रह बहुत कम हुआ। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि राजस्थान में सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्के बनते थे। राजस्थान के इतिहास में छठी से 12 वीं शताब्दी तक मेवाड़ के गुहिल (सिसोदिया), अजमेर के चौहान और कन्नोज के प्रतिहारों के चाँदी और ताँबे के सिक्के कहीं कहीं मिल जाते हैं। इन 600 वर्षों के समय का सोने का सिक्का बापा रावल के अतिरिक्त और किसी का नहीं मिला है।

बापा रावल का सोने का सिक्का 1951 ई. में अजमेर के एक सुनार के पास मिला। भीलवाड़ा का एक महाजन जेवरों के साथ इसे अजमेर में बेच गया था। इसके साथ दो मोहरें और भी थी एक अकबर की और दूसरी औरंगजेब की। ओझा जी ने इन तीनों सिक्कों को अजमेर के सुनार से खरीद कर सिरोही महाराज के संग्रहालय में रख दिया जहाँ वे आज भी विद्यमान हैं। इस सोने के सिक्के में एक सोने का नाका (कुंडा) लगा था जिसे सुनार ने उखाड़ दिया था। इस सिक्के का तोल 115 ग्रेन (65$\frac{5}{7}$ रत्ती) है। इस सिक्के को देख कर यह स्पष्ट है कि बापा रावल के समय सोने के सिक्के प्रचलित थे।

बापा के सोने के सिक्के में सामने की तरफ छः उल्लेखनीय बातें हैं :—

1. ऊपर की तरफ से बाँई ओर आधे हिस्से में बिन्दियों की एक पंक्ति है जिसे माला कहते हैं।

2. ऊपरी भाग में माला के नीचे आठवीं शताब्दी की भाषा में 'श्री बोप्प' लिखा है।

3. श्री बोप्प के नीचे माला के पास त्रिशूल खड़ा है।

4. त्रिशूल के दाहिनी तरफ वेदी पर शिवलिंग बना है।

5. शिवलिंग की दाहिनी तरफ लिंग की तरफ मुँह किये बैल बैठा है। जिसकी पूँछ सिक्का घिस जाने से नहीं दिखती।

6. शिवलिंग और बैल के नीचे पेट के बल पर लेटा हुआ एक मनुष्य है जो सिक्के पर सिर्फ जाँघो तक का अंकित है। इसका चेहरा लम्बा और छिदे हुए बड़े बड़े कान हैं।

सिक्के के पीछे की तरफ आठ बातें ध्यान देने योग्य है—

1. दाहिनी तरफ का थोड़ा सा भाग छोड़कर सारे सिक्के की किनारी पर बिंदियों की माला है।

2 ऊपरी भाग में मालके नीचे चंवर, सूर्य और छत्र है।

3 तीनो चिन्हो के नीचे दाहिनी तरफ मुंह किये गाय खड़ी है।

4 गाय के पैरो मे बाँई तरफ बछड़ा दूध पी रहा है। जिसके गले में घंटी लटक रही है। बछडे की पूंछ ऊँची है।

5. बछड़े की पूंछ और गाय के मुंह के बीच एक गोल बर्तन पड़ा है।

6 गाय और बछड़े के नीचे दो आड़ी लकीरें हैं।

7 लकीरो के दाहिनी तरफ एक मछली है जिसकी पूंछ लकीरों को छूती है।

8. लकीरो के नीचे और बिंदियों की माला के ऊपर चार बिंदियो का एक फूल सा बना है।

बापा का यह स्वर्ण सिक्का एक मात्र प्राप्ति नही है। ओझाजी ने स्वयं इस सिक्के को खोजा और अपनी पुस्तक 'ओझा निबन्ध-संग्रह' के छठे अध्याय में पृष्ठ 91 से 104 तक बापा की इस स्वर्ण मुद्रा का वर्णन किया है। इस सिक्के पर सूर्य होना यह प्रमाणित करता है कि बापा सूर्यवंशी था।

बापा के अन्य सिक्को मे एक तांबे का सिक्का भी प्राप्त हुआ है। यह सिक्का श्री रोशनलाल सांभर के पास सचित है। आकार, वजन, लिपि और बनाने के ढंग को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिक्का गुहिल के सिक्कों के समान है तथा आने वाली पीढ़ी के राजाओं के सिक्को से बिलकुल मेल नही खाता। यह तांबे का सिक्का $27\frac{1}{2}$ रत्ती का है। इस पर भी 'श्री बोप' लिखा है।

बापा के सिक्को पर कामधेनु, शिवलिंग, बैल, बछड़ा, दण्डवत करता पुरुष, नदी, मछली, फूल, त्रिशूल, सूर्य, चँवर, छत्र, माला आदि अनेक चिन्ह एक साथ एक ही सिक्के पर होने से कुछ सन्देह होता है। डा० गोपीनाथजी, बापा के स्वर्ण सिक्के के सम्बन्ध मे कुछ न कहना ही उचित समझते है। फिर भी सिक्के के अस्तित्व को चुनौती नही दी जा सकती। इन दोनो सिक्को को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है बापा अपने समय का एक लोकप्रिय महान शासक था।

बापा का मूल्यांकन—बापा का सही मूल्यांकन एक कठिन कार्य है। उसके विषय में प्राप्त सामग्री अपर्याप्त ही नही संदिग्ध भी है फिर भी मोटे तौर पर बापा एक बहादुर बालक, वीर योद्धा, अजेय सेनापति और दीर्घकालीन कुशल शासक था। कर्नल टाड के अनुसार, "वह कई राजाओं के वंश क्रमों का संस्थापक, शासक

के रूप में मान्यता प्राप्त, मनुष्यों मे पूज्यनीय और अपनी कीर्ति से चिरंजीवी था।" टाड महोदय ने यह मत अपनी पुस्तक के पृष्ठ 184 पर दिया है।

कवि श्यामलदास जी वीर विनोद के पृष्ठ 253-54 पर कहते है कि–"किस्से कहानियों का कुछ भी हिस्सा सही न हो, तो भी इसमें संदेह नही कि महेन्द्र (बापा) हिन्दुस्तान का बड़ा प्रतापी, पराक्रमी और तेजस्वी महाराजा हुआ, और उसने अपने पूर्वजों के प्रताप, बड़प्पन और पराक्रम को दो चार प्रकाशित किया।"

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 182 पर लिखते हैं कि—"बाप. रावल बडा प्रतापी और पराक्रमी राजा था। मेवाड़ के मूल पुरुष गुहिल के बाद ख्याति और वीरता में इसका नाम आता है।"

श्री मनोहर प्रभाकर, भाषा अधिकारी राजस्थान, जयपुर, अपनी पुस्तक 'राजस्थान की ऐतिहासिक विभूतियाँ' के पृष्ठ 4 पर लिखते है कि "गजनी नगर के यवन शासक सलीम को पराजित कर बप्पा चित्तौड़ लौटा। उसके मामा मानसिंह को सभी सामन्त बापा की विजय और पराक्रम से प्रभावित होकर बापा के आस-पास इकट्ठे हो गये। बापा ने स्थिति से लाभ उठा कर मामा मानसिंह को चित्तौड़ के सिंहासन से हटा दिया और स्वयं बप्पा रावल के नाम से चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा। राजा बनने के बाद उसने 'हिन्दू सूर्य' 'राजगुरु' और 'चक्कवै' नाम की तीन उपाधियाँ धारण की।"

श्री ओझा जी 'उदयपुर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 116 पर कहते हैं कि—"बापा स्वतन्त्र, प्रतापी और एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था।" प्रायः सभी इतिहासकार बापा को योग्य सेनापति, विजेय और बड़े साम्राज्य का स्वामी मानते है। इसी आधार पर डा० गोपीनाथ शर्मा भी अपनी पुस्तक मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स के पृष्ठ सात पर कहते हैं कि "बापा का स्थान मेवाड़ के इतिहास मे अग्रणीय है।"

इसी प्रकार श्री सी. वी. वैद्य अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मिडीवल हिन्दू इंडिया' की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 72-73 पर लिखते हैं कि—"मेवाड़ वंश का ख्याति प्राप्त संस्थापक बापा रावल भारत का चार्ल्स मार्टल था, जिसके शौर्य की चट्टान के सामने अरब आक्रमण का ज्वार भाटा टकराकर चूर-चूर हो गया।........शिवाजी की तरह बापा रावल भी पूर्णतः धार्मिक था और गो हत्यारे विदेशी आक्रमणकारियों से घृणा करता था।"

हो सकता है कि बापा के बारे मे कही गयी कथाएँ असत्य हो किन्तु उनमें छिपे सत्य को भी नही भुलाया जा सकता। बापा के बाल्यावस्था की कठिनाईयाँ, उसका गायें चराना, मुनि हारीत से मिलना, शिवभक्त होना, एकलिंगजी के मन्दिर की स्थापना करना आदि उसके कठिन, धर्मपूर्ण व गुरु-भक्त जीवन की प्रतीक हैं। उसका गजनी और खुरासान आदि जीतना उसकी वीरता का प्रमाण है। उसने चित्तौड़ जीत कर रावल की उपाधि धारण की और बाद में तीन अन्य उपाधियाँ

धारण की जिनमे अन्तिम 'वनक्रवे' थी जो कदाचित चक्रवृत्ति का ही स्थानीय रूप होगा। स्पष्ट है कि अन्य सम्राटों व महाराजों की तरह बापा एक विशाल साम्राज्य का संस्थापक था जो उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में बँट गया।

बापा की स्वर्ण मुद्रा उसके समृद्धि युग का प्रमाण-पत्र है। स्पष्ट है कि उसके समय मे कला की पर्याप्त उन्नति हुई होगी। कला मे शक्ति और स्फूर्ति सजीव थी। उसके कई रानियाँ और कई पुत्र थे जिससे स्पष्ट है कि उसने दीर्घकाल तक राज्य किया होगा। अपने अन्तिम दिनों मे उसने चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक की भाँति, सब कुछ छोड कर सन्यास ले लिया। इससे प्रगट होता है कि वह अपने कर्तव्य और मोक्ष के प्रति सजग हो नहीं प्रयत्नशील भी था। धन, वैभव, राज्य और परिवार होते हुए भी उसका सन्यास लेना उसके उज्वल चरित्र का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

किन्तु उसकी व्यवस्था व नीति मे कई बड़ी कमियाँ रही होंगी तभी उसकी मृत्यु के तत्काल बाद गुहिलो का राज्य विस्तार रुक गया। उसके उत्तराधिकारी भीलों के प्रसार को नहीं रोक सके और शीघ्र ही मेवाड़ का क्षय हो गया। यदि उसके उत्तराधिकारी महेन्द्र आदि उसके राज्य को नहीं सम्भाल सके तो इसमे बापा का क्या दोष? यह तो मानना ही पड़ेगा कि बापा सिसोदियो का संस्थापक और सफल विजेता था जिसने मेवाड मे गुहिलों का राज्य युग युगान्तर के लिये स्थापित कर दिया। जब तक मेवाड़ राज्य रहेगा तब तक बापा रावल का नाम श्रद्धा और सम्मान के साथ लिया जायेगा।

□

चौहानों का इतिहास

"चौहान राज्य राजस्थान के दूरवर्ती एक कोने पर बसा हुआ है। मरूभूमि की अन्यान्य रियासतों में चौहानों का राज्य अनेक अच्छाइयों और विशाल होने के कारण साम्राज्य मालूम होता है।" कर्नल टाड ने चौहानों के राज्य का वर्णन इस वाक्य से प्रारम्भ किया है। वे अपनी पुस्तक 'राजपूताने के इतिहास' के पृष्ठ 608 पर चौहानों की उत्पत्ति और साम्राज्य की विशेषताएँ बताते हैं। वास्तव में चौहानों का इतिहास राजस्थान के उत्तर पश्चिमी भाग में एक समृद्धि और प्रगति का युग था। इस वंश में वासदेव चौहान से लगाकर पृथ्वीराज तृतीय चौहान के लड़कों के समय तक पांच सौ वर्ष तक उत्तर व पश्चिमी भारत में चौहानों का आधिपत्य था। चौहान राज्य का विधिवत अध्ययन करने के लिये हमें इन बातों पर ध्यान देना होगा—

1. चौहानों की उत्पत्ति—शिलालेखों के आधार पर यह माना जाता है कि चौहान जांगल देश (मरूभूमि) के राजा थे। उनका राज्य कई केन्द्रों में विभक्त था। बरौच के चौहान सबसे अधिक पुराने थे। उन्होंने गुर्जर राज्य के पतन के बाद 736 ई० के लगभग अपना राज्य स्थापित कर लिया था। धौलपुर में भी चौहानों का राज्य था। प्रतापगढ़ भी इन्ही के अधीन था और सीकर, बीकानेर, सांभर, जालौर और जोधपुर के एक भाग पर भी चौहान ही राज्य करते थे। वास्तव में चौहानों का आदि स्थान सीकर है और इनके आदि पुरुष सीकर में ही रहते थे। चौहान सामन्त प्रतिहारों के अधीन थे। जयपुर राज्य के शेखावाटी में प्रसिद्ध हर्षनाथ के मन्दिर में प्राप्त शिलालेख, जो चौहान राजा विग्रहराज के समय का 973 ई. है साफ पता चलता है कि साभर का चोहान राजा सिंहराज कन्नौज के प्रतिहार राजा देवपाल के अधीन सामन्त था। श्री ओझा का मत है कि—"सांभर का चौहान राजा सिंहराज किसी चक्रवर्ती अर्थात् बड़े राजा का सामन्त था।"" सांभर के चौहान भी पहले कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे।" पृष्ठ 173 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम भाग पर चौहानों की उत्पत्ति व विस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे पहले सामन्त मात्र थे। किन्तु अन्य मत यह है कि ये चौहान भी ब्राह्मणों की सन्तान थे। तीसरा मत यह है कि ये विदेशी खुर्जर थे।

चौहानो का सबसे पहला शिलालेख बीजोलिया मे प्राप्त हुआ है जो 1169 ई० का है। इस शिलालेख पर अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं उन्ही के आधार पर डा० दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक Early Chauhan Dynasties में कहते हैं कि "सांभर के चौहानो का प्रथम शासक सामन्त था। ये ब्राह्मणों के वत्स गोत्र से पैदा हुए थे।" "इन्होने क्षत्रियों का कर्म शुरू कर दिया था अतः क्षत्री बन गये थे।

प्रबन्ध कोष के अनुसार चौहानों का पहला शासक वासुदेव 608 वि॰ सं.

में सांभर पर राज्य करता था और सांभर झील उसने युद ने बनवाई थी। डा दशरथ शर्मा इस राजा की उत्पत्ति के बारे में लिखते हैं कि वत्स गोत्र का अहिछत्रपुर (नागौर) का ब्राह्मण था। नागौर से रवाना होकर यह सामन्त शेखावाटी (सीकर) मे महाजनो की सेवा करने लगा।' वही उसने शक्ति संगठन किया और पैसे जोड कर हर्षादेवी का मन्दिर बनवाया और बाद में शासक बन गया। इससे प्रमाणित होता है कि ब्राह्मणो से ही चौहान बने थे।

पृथ्वीराज रासो के अनुसार भी चौहान वैदिक कालीन ब्राह्मण थे जो अग्नि कुण्ड से पैदा हुए थे। किन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जाता।

चौहानों को विदेशी बताने वाले डा० भंडारकर हैं जिन्होंने अपने विद्वतापूर्ण लेखों से Indian Antiquary व केरल इपीग्राफिया इन्डिका के ग्रन्थों में यह प्रमाणित किया है कि चौहान लोग खजर नामक विदेशी जाति के थे। दशरथ शर्मा, भंडारकर के इस मत का खण्डन अपनी पुस्तक Early Chauban Dynasties के पृष्ठ 8 पर करते है।

चारण और भाट चौहानो को सूर्यवंशी क्षत्री बताते है। इन सब बातो से हम एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चौहान क्षत्री होते हुए भी किसी न किसी रूप मे ब्राह्मणो से सम्बन्धित थे। उन्हे ब्राह्मण मान कर हम उनकी उस हीन स्थिति पर पर्दा डाल देते हैं जो प्रतिहारो के समय उनकी थी। यह भी मानना उचित होगा कि चौहानो के पूर्वज सामन्त थे। जो भी हो चौहानों की उत्पत्ति सांभर में साधारण सामन्तो से हुई थी जिन्होंने प्रतिहारो की क्षीण होती शक्ति से लाभ उठाकर छोटे-छोटे राज्य बना लिये।

2. प्रारम्भिक चौहान—प्रतिहारो के समय मे भी धौलपुर, भड़ौंच, नाडोला, नागौर और सांभर में चौहानों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इनका सबसे बडा या महत्वपूर्ण शासक वासुदेव था। जब प्रतिहार राजाओ ने राजस्थान को छोड़कर कन्नौज को अपनी राजधानी बना लिया तो चौहानो को अपना साम्राज्य बढ़ाने का अवसर मिल गया। इस प्रकार चौहानों का राज्य विस्तार कार्य 836 ई. मे शुरू हो गया था। साभर के चौहानों ने 1036 ई. तक अपने राज्य की सीमा दिल्ली तक बढ़ाली। वासुदेव ने 833 ई मे अपने राज्य को साभर मे सुदृढ़ बनाया। चौहानो का एक मात्र उद्देश्य राज्य विस्तार था। उन्होने खाली देश विजय ही नही की वरन् जीते हुए प्रदेशो को उचित शासन-व्यवस्था भी प्रदान की।

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 32-33 पर कहते हैं कि "राजस्थान का एक दूसरा महत्वपूर्ण राज्य सांभर के चौहानो का था। ये लोग दशवी शताब्दी के अत में प्रतिहारों से स्वतन्त्र हो गये थे। चौहानो ने ही अजमेर नगर बसाया था। इस वश के अर्णोराज ने मुसलमानो को अजमेर के मैदान मे हराकर आनासागर झील बनवाई।" इसी अर्णोराज के पुत्र विग्रहराज ने खेतड़ी के पास तुर्को को हराकर पूरे आर्यव्रत को स्वतन्त्र कर लिया था। इसी

विग्रहराज ने 1115 ई. में तँवरों को हरा कर दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया था। विग्रहराज ने अजमेर में एक महाविद्यालय बनवाया जिसे मुसलमानों ने बाद में मस्जिद बना दिया था। आज भी इस स्थान को ढाई दिन का झोंपड़ा कहते हैं इस झोंपड़े की स्थापत्य कला देखने योग्य है।

चौहान राज्य के उत्तर पूर्व में मारवाड़ राज्य था और दक्षिण-पूर्व में कोलीवाड़ा। दक्षिण में नमक की झील और पश्चिम में रेगिस्तान था। चौहान राज्य दो भागों में बँटा हुआ था पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी चौहानों को अपने पर बड़ा गर्व है। वे अजमेर के मानिकराय और विसलदेव तथा दिल्ली के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज को अपना वंशज मानते हैं कर्नल टाड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 608 पर कहते हैं कि "आठवी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक चौहान राज्य अजमेर से सिन्ध की सीमा तक फैला हुआ था। उनकी राजधानियाँ अजमेर, नागोर, जालौर, सिरोही और चुना चोटन थी। यों तो साधारणतौर पर वे सभी स्वतंत्रता का जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु उनको कुछ बातों में अजमेर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी।"

वासुदेव से लेकर विग्रहराज तक चौहानों की कई पीढ़ियाँ बीत गई लेकिन ऐतिहासिक प्रमाण न होने के कारण हमारा ज्ञान केवल पौराणिक कथाओं पर ही आधारित है अतः उनकी क्रमबद्ध वंशावली तैयार करना बड़ा कठिन है। नाटक और साहित्य के आधार पर वासुदेव के बाद नरदेव का नाम और आता है जिसने जोधपुर के एक नागोर पर अधिकार कर शासन किया था। इस प्रकार यदि थोड़ा बहुत क्रम लगाने की चेष्टा करें तो वासुदेव, नरदेव, विग्रहराज, दुर्लभराय, अजयराज अर्णोराज, पृथ्वीराज आदि लगभग एक दर्जन महत्वपूर्ण शासक तो साफ तौर पर सामने आते हैं। विग्रहराज भी चार हुए थे और पृथ्वीराज तीन। पृथ्वीराज चौहान तृतीय के बाद उसके दो लड़कों ने अजमेर और रणथम्भोर पर राज्य किया। चौहानों के अन्तिम राजा हमीर से अलाउद्दीन ने 1300 ई. में रणथम्भोर छीन कर इस वंश के राज्य का सदा को अन्त कर दिया।

नरदेव के बाद चौहानो की छः पीढ़ियों मे सिर्फ विग्रहराज उल्लेखनीय है। चौहान शिलालेखों में विग्रहराज को मतंगा (मुसलमानों का विनाशक) कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उसके समय में गजनी के सुल्तानों ने चौहानो से युद्ध शुरू कर दिया था। फरिश्ता नामक इतिहासकार विग्रहराज को अजमेर का शासक बताता है और महमूद गजनी से उसका युद्ध भी बताता है। लेकिन अन्य फारसी के लेखक इस कथन की पुष्टि नही करते। उसके बाद साँभर का राजा दुर्लभ राज हुआ जिसने महाराजा की उपाधि धारण की और चौहानों के राज्य को सिन्ध नदी के डेल्टे (मुहाने) तक पहुँचा दिया। दुर्लभराज तीसरा मुसलमानो से लड़ता हुआ मारा गया। दुर्लभराज तीसरे ने गुजरात के चालुक्यो को भी युद्ध मे हराया था। उसके बाद अजयराज ने भी गजनी की सेनाओं को हराया और 'गर्जन मतंगा' कहकर पुकारा गया। स्पष्ट है कि चौहानो को अपने प्रारम्भ से पश्चिम मे मुसलमानो से

निरंतर संघर्ष करना पड़ा । उनका पूर्वी मोर्चा भी शान्तिमय नहीं था । कन्नौज के राजा सदा चौहानों के पतन की कामना करते थे । इन सब परिस्थितियों में, दोनों तरफ शत्रुओं से घिरा होने के बाद भी चौहान धीरे-धीरे राज्य बढ़ाते गये । अजयराज ने अजमेर बसाया क्योंकि साँभर सुरक्षित स्थान नहीं था और आये दिन के आक्रमण का भय सदा बना रहता था और प्राचीनकाल में राजधानी हार जाना राज्य हार जाना माना जाता था अतः अजयराज ने पहाड़ियों से घिरे हुए सुरक्षित स्थान अजमेर को अपनी राजधानी बनाई । अर्णोराज पहले के चौहान राजाओं से अधिक प्रसिद्ध व लोकप्रिय था । उसके शासनकाल में पाँच महत्वपूर्ण बातें या कार्य हुए—

1. अजमेर के मैदान में मुसलमानों को पराजित कर आनासागर झील का निर्माण किया ।
2. उसने मालवा के शासक नरवर्मन को हराया ।
3. चौहानों का राज्य विस्तार सिन्ध तक कर दिया ।
4. इसने हरितका पर आक्रमण किया ।
5. उसने तोमरों से दिल्ली छीनकर सांभर के चौहानों के अधीन कर, चौहानों को भारतीय शक्ति बना दिया ।

3. राज्य विस्तार नीति—विग्रहराज ने मुसलमानों को हराया । दुर्लभराज ने चालुक्यों को हराया । अजयराज ने गजनी की सेना को हराया और अर्णोराज ने तो दिल्ली को ही अपने अधीन कर लिया । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चौहान राजा राज्य विस्तार में विश्वास रखते थे । उनकी नीति राज्य विस्तार की नीति थी । इसी विस्तारवादी नीति को ध्यान में रखकर चौहानों ने अपनी राजधानी साँभर से बदलकर अजमेर कर ली थी । अजमेर में पानी की कमी को पूरा करने के लिये अर्णोराज ने आनासागर झील का निर्माण करवाया था । चौहानों ने अपने राज्य का विस्तार उत्तर पूर्व में किया । उन्हें सदा तीन मोरचों पर शत्रुओं का सामना करना पड़ा । गुजरात के चालुक्य, दिल्ली के तोमर और सीमा के मुसलमान शासक सदा चौहानों से लड़ते रहे । इस राज्य विस्तार की नीति के कारण चौहानों ने उत्तर पश्चिमी भारत में एक संगठित और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर दी थी । यदि 1193 ई० में तराइन की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी से नहीं हारा होता तो भारत का इतिहास ही कुछ और होता । चौहान राज्य दो भागों में बँटा हुआ था और कर्नल टाड के अनुसार "राज्य के दोनों भागों के आस पास बबूल तथा काँटेदार पेड़ों का परकोटा था ।" पृष्ठ 609.

जब पृथ्वीराज चौहान गद्दी पर बैठा तो चौहानों का राज्य विस्तार काफी हो चुका था । पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में पृथ्वीराज को एक बहुत बड़ा साम्राज्य प्राप्त हुआ । डा० दशरथ शर्मा का कहना है कि "ये लोग अपने वंश के सर्वाधिक

तिभाशाली शासक पृथ्वीराज तृतीय के लिये एक शक्तिशाली राज्य, जिसकी राज-नी अजमेर थी, विरासत में छोड़ गये।"

चौहान राज अपने आप को हिन्दू धर्म और संस्कृति का रक्षक मानते थे। होंने सदा अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा मुसलमानों से की। इसीलिये इन्हें हाकाव्यों में 'भतंगा' कहा गया।



पृथ्वीराज चौहान (1166-1193)

1. प्रारम्भिक जीवन—जिन दिनों दिल्ली के राजा अनंगपाल का कन्नौज के राजा से युद्ध हुआ, उन दिनों अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर ने अनंगपाल की सहायता की। लड़ाई में कन्नौज का राजा हार गया। अनंगपाल अजमेर के राजा सोमेश्वर से प्रसन्न हुआ अपनी लड़की कर्पूर देवी का विवाह सोमेश्वर से कर दिया। टाड का कहना है कि "इसी लड़की से पृथ्वीराज का जन्म हुआ।" इसके कुछ दिनों पूर्व अनंगपाल ने अपनी लड़की का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से किया था जिससे जयचन्द का जन्म हुआ था। टाड महोदय के अनुसार पृथ्वीराज और जयचंद मौसी के बेटे भाई थे। अनंगपाल के कोई लड़का नहीं था अतः उसने पृथ्वीराज को आठ वर्ष की अवस्था मे दिल्ली का राजा घोषित कर दिया। अनंगपाल की इस घोषणा से पृथ्वीराज और जयचंद में स्थाई शत्रुता हो गई। "पृथ्वीराज जब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो जयचद ने न केवल उसकी अधीनता मानने से इन्कार कर दिया, बल्कि उसने अपनी श्रेष्ठता की घोषणा की।" टाड–'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ 144

पृथ्वीराज का जन्म 1166 ई. मे हुआ। डा० दशरथ शर्मा ने पृथ्वीराज की जन्म तिथि पर एक लेख राजस्थान-भारती बीकानेर से प्रकाशित किया था इस लेख में इसकी जन्म-तिथि को प्रमाणित करते हुए डा० महोदय ने कहा कि–'पृथ्वीराज का जन्म शुभ-मुहूर्त में हुआ था।' वास्तव में पृथ्वीराज में जन्म से बहुतसी विशेषताएँ थी। संसार के अधिकांश योग्य शासकों की भाँति पृथ्वीराज भी छोटी उमर में अनाथ हो गया। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसके पिता सोमेश्वर का देहान्त हो गया। बाबर भी जब नौ वर्ष का था तो उसके पिता का देहान्त हो गया था। हुमायूँ भी अकबर को तेरह वर्ष का छोड कर चल बसा था। पृथ्वीराज ने भी सिर्फ ग्यारह वर्ष की अवस्था मे राज्य का कार्य संभाल लिया। पृथ्वीराज को अपनी योग्य माता कर्पूर देवी और स्वामीभक्त मंत्री कमासा का संरक्षण प्राप्त था।

पृथ्वीराज ने अपने छोटे से जीवन मे पाँच सुन्दर रमणियों की सुन्दरता पर मोहित होकर उनसे विवाह किया था जिनमें से संयोगिता एक थी। वह स्वयं तो सुन्दर नहीं था किन्तु सुन्दरता का उपासक अवश्य था और उसके गुण सुन्दरियों के आकर्षण का केन्द्र भी थे। वह अपने युग का ख्याति प्राप्त योद्धा था और उसकी ख्याति से मोहित होकर संयोगिता ने स्वयं उसे अपने वर के रूप में चुना था। वह अभी सिर्फ 27 वर्ष का ही था कि 1193 ई. मे तराइन की दूसरी लड़ाई के बाद मुहम्मद गौरी के हाथों मारा गया। पृथ्वीराज ने 1180 ई. में राज्य की बागडोर

अपने हाथ में ले ली थी और पूर्ण स्वतन्त्रता से केवल 13 वर्ष राज्य कर, इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर गया।

2. पृथ्वीराज के शत्रु—पृथ्वीराज जब गद्दी पर बैठा तो चौहान राज्य चारों तरफ से शत्रुओं से घिरा हुआ था। सिन्ध के मुसलमान जिनमें मुहम्मद गजनवी जैसे योग्य व विस्तार नीति का समर्थक, उसका परम शत्रु। दक्षिण-पश्चिम में गुजरात के चालुक्य अपनी पराजय का बदला लेना चाहते थे। दक्षिण-पूर्व में महोवा के चंदेले और पूर्व मे कन्नौज का राजा जयचंद अपने आपको बड़ा मानकर उससे दिल्ली छीनना चाहता था ये तो बाहर की कठिनाइयां थीं। लेकिन पृथ्वीराज को तो आन्तरिक विद्रोहों का भी सामना करना था। पृथ्वीराज को बालक समझ कर उसी के रिश्तेदार ने जो विग्रहराज का लड़का था, विद्रोह कर दिया और गुड़ा पुरा पर अपना अधिकार जमा लिया। यह विद्रोही नागार्जुन था। अकबर का शाही दरबारी लेखक अबुल फजल तो नागार्जुन को अजमेर का राजा कहकर सम्बोधित करता है। स्पष्ट है कि पृथ्वीराज को विरासत में जहाँ एक बड़ा साम्राज्य मिला था वहाँ उसका पथ फूलों का न होकर काँटों भरा था। पृथ्वीराज के महत्वाकांक्षी पूर्वजों ने उसे काँटों का ताज पहनाया था।

यहाँ यदि चौहान राज्य की सीमा भी आंक लें तो अनुचित नहीं होगा। पृथ्वीराज के पूर्वजों की निरन्तर विजय के परिणामस्वरूप कन्नौज से लेकर नागौर तक और दिल्ली से लेकर आधुनिक जहाजपुर तक पृथ्वीराज को राज्य प्राप्त हुआ था। पृथ्वीराज भी अपने पूर्वजों की विस्तारवादी नीति का अनुकरण करता रहा। फलस्वरूप1180 में जब उसने राज्य का प्रशासन कार्य अपने हाथ में लिया तब से उसके शासन के अन्तिम वर्ष तक वह निरन्तर युद्ध ही करता रहा। प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वीराज ने इस प्रकार की युद्धात्मक या आक्रमणात्मक नीति को क्यों अपनाया?

3. नीति के उद्देश्य—पृथ्वीराज की इस आक्रमणात्मक या युद्धात्मक नीति के मूल रूप से चार कारण थे:—

1. मुसलमानों का भय—पश्चिमी सीमा पर पिछली दो शताब्दी से निरन्तर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे और उसके कुछ पूर्वज यवनों के साथ युद्ध मे मारे भी गये थे। अतः गजनी के आक्रमणों से लेकर गौरी के आक्रमणों तक चौहानो को आत्म-रक्षा के लिये उग्र नीति को ही अपनाना पड़ा। मुहम्मद गौरी की सेनाओ ने 1178 में गुजरात को रौंदा-लूटा था। अपने देश की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक था कि पृथ्वीराज सदा युद्ध के लिये तैयार रहे।

2. नागार्जुन का विद्रोह—उसके निकट के सम्बन्धी नागार्जुन ने जो विग्रहराज की सन्तान था, आन्तरिक विद्रोह खड़ा कर दिया। पृथ्वीराज को अपने राज्य की अखण्डता बनाये रखने के लिये तथा आन्तरिक शान्ति के लिये भी शस्त्र उठाने पड़े। नागार्जुन ने कदाचित अजमेर पर भी अपना अधिकार जमा लिया था।

3. अलवर और भरतपुर का विद्रोह—पृथ्वीराज को अल्प आयु देख कर

अलवर, भरतपुर और मथुरा के जिलों मे विद्रोह खड़े हो गये थे। इन जिलों के भण्डानकों ने अपने आप को स्वतन्त्र करने के लिये विद्रोह शुरू कर दिये थे। पृथ्वीराज के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह तमाम विद्रोहियों का दमन कर चौहानो की सत्ता को स्थापित रखे।

4. दिग्विजय कामना—प्राचीन भारत से यह प्रथा चली आ रही थी कि योग्य राजा अपने राज्य विस्तार के लिये दिग्विजय करते थे। पृथ्वीराज भी समुद्रगुप्त की तरह और सूर्यवंशी राजा राम की तरह सारे भारत को जीत कर यश कमाना चाहता था। इसी इच्छा की पूर्ति के लिये वह लगभग दस वर्ष तक राज्य विस्तार के लिये युद्ध करता रहा। 1182 से 1193 तक। इससे पहले का समय आन्तरिक विद्रोह का दमन करने मे लग गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों का भय, आन्तरिक विद्रोह और दिग-विजय की कामना ने पृथ्वीराज को युद्ध नीति अपनाने के लिये बाध्य कर दिया।

पृथ्वीराज के कार्यों का अवलोकन करने पर हम उन्हे निम्नांकित भागों मे विभक्त कर सकते है—

1. नागार्जुन का दमन,
2. चालुक्यों पर विजय,
3. भण्डानकों का दमन,
4. चन्देलों पर विजय,
5. जयचन्द से सम्बन्ध, और
6. मुहम्मद गौरी से युद्ध।

दूसरे शब्दों मे पृथ्वीराज की युद्ध-नीति को हम छः भागों मे बाट सकते हैं।

5. नागार्जुन का दमन—पृथ्वीराज का निकट-सम्बन्धी नागार्जुन जो विग्रहराज का वशज था, चौहानो का नेतृत्व अपने हाथ मे लेना चाहता था। अपने पिता के देहान्त के समय पृथ्वीराज केवल आठ वर्ष का था। नागार्जुन ने इस अवसर से लाभ उठाकर अजमेर पर अपना अधिकार जमाना चाहा। अबुल फजल तो उसके विद्रोह को सफल मान कर उसे अजमेर का राजा कहकर पुकारते थे। पृथ्वीराज के लिये यह पहली समस्या थी। उसने सबसे पहले नागार्जुन के विद्रोह का दमन किया। इस कार्य में उसके योग्य मन्त्री कैमासा ने एक विशाल सेना संग्रह कर नागार्जुन पर आक्रमण किया और नागार्जुन को पराजित कर उससे गुडापुरा व अजमेर का क्षेत्र वापस छीन लिया। नागार्जुन अपने उद्देश्य मे सफल नहीं हो सका। यह योग्य मन्त्री कैमासा दाहिमा ब्राह्मण था जिसने नागार्जुन को मार कर राजनैतिक अव्यवस्था को ठीक किया।

6 चालुक्य विजय—मुहम्मद गौरी ने सन 1178 मे गुजरात को रौंद दिया था। गुजरात के चालुक्य राजा अपनी इस क्षति की पूर्ति चौहानों के राज्य से करना चाहते थे। वे अपने राज्य का विस्तार आबू से नागौर तक करना चाहते थे नागौर चौहानों के अधीन था अतः क्षतिपूर्ति की भावना से चालुक्य उत्तर में राज्य

विस्तार योजना बना रहे थे। पृथ्वीराज का अल्पायु होना उनके लिये एक स्वर्ण अवसर बन गया और वे नागौर पर आक्रमण कर बैठे। अतः पृथ्वीराज को अपने पुराने शत्रु चालुक्यों से युद्ध करना आवश्यक हो गया। कुछ समकालीन साधन व कथाए भी इस प्रकार की है कि पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर नागौर की रक्षा करते समय चालुक्यों के राजा भीमदेव द्वितीय के हाथ से मारा गया था। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण यह बताते है कि भीमदेव का देहान्त तो सोमेश्वर से दो वर्ष पहले हो गया था। यह सम्भव हो सकता है कि सोमेश्वर भीमदेव के उत्तराधिकारी जगदेव प्रतिहार के हाथों मारा गया हो। जो भी बात रही हो, पृथ्वीराज के लिये आवश्यक हो गया कि वह अपने पिता के हत्यारो से बदला ले। यदि पृथ्वीराज इनका दमन नही करता तो जगदेव नागौर लेकर ही मानता। अतः नागौर की रक्षा और अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये यह आवश्यक हो गया कि पृथ्वीराज गुजरात के चालुक्य राजा जगदेव को पराजित कर अपने अधीन कर ले।

पृथ्वीराज रासो में चौहान चालुक्य युद्ध का वर्णन मिलता है। उसी आधार पर डा० दशरथ शर्मा यह कहते है कि नागौर पर जगदेव ने आक्रमण किया और दुर्ग के बाहर युद्ध मे दो योग्य सेनापति मारे गये। पृथ्वीराज ने इन योग्य सेनापतियों की स्मृति मे बीकानेर डिवीजन में चारलू नामक गाँव में 2 शिलालेख खुदवाये। ये लेख विक्रम सम्वत् 1241 के है जो इस युद्ध के बारे में पर्याप्त जानकारी देते हैं। इस युद्ध के बारे में खरगछा पट्टावली से भी जानकारी है। इस ग्रन्थ का लेखक जिनपाल है। इस प्रकार नागौर में लड़े गये चालुक्य चौहान युद्ध के बारे मे चार साधनों से सामग्री मिलती है। चारलू गाँव के दो शिलालेख, जिनपाल द्वारा रचित खरगछा पट्टावली और पृथ्वीराज रासो। इन आधारों पर यह निर्णय निकलता है कि वि. सं. 1241 में पृथ्वीराज चौहान ने नागौर के किले के बाहर लड़े गये घमासान युद्ध में गुजरात के चालुक्य राजा जगदेव को पूर्ण रूप से पराजित कर उसे सदा के लिये अपना सेवक बना लिया। जिनपाल लिखता है कि 'चालुक्य शासक ने अपने मुँह में दाब दबा कर अपनी जान की भीख प्राप्त की।' इसी वर्ष पृथ्वीराज और जगदेव में स्थाई सन्धि हो गई और जगदेव अपने जीवन के शेष वर्ष अपनी सन्धि को निभाता रहा और वि. सं. 1241 को लड़े गये युद्ध के फलस्वरूप चौहानों और चालुक्यों की दीर्घकालीन शत्रुता समाप्त हो गई। पृथ्वीराज ने चालुक्यों की उत्तर में राज्यविस्तार की नीति को सदा के लिये समाप्त कर दिया। इस प्रकार वह गुजरात पर विजय पाने में सफल रहा।

6. भण्डानकों का दमन—चालुक्यों को पराजित करने के बाद पृथ्वीराज समस्त उत्तरी भारत को अपने अधीन करने के लिये उत्सुक हो गया। किन्तु आधुनिक अलवर, भरतपुर और मथुरा जिले अभी उसके अधीन नही थे। इन जिलों पर भण्डानकों का अधिकार था। दिल्ली मे जहाजपुर तक समस्त राजस्थान पर अधिकार जमाने के लिये इन भण्डानकों को रास्ते से हटाना आवश्यक था। दूसरी तरफ

ये स्वतन्त्र शासक अपना राज्य विस्तार कर रहे थे और डा० दशरथ शर्मा का तो मत है कि आधुनिक रेवाडी, हिसार और गुड़गाँव पर भी इन लोगों ने अपना अधिकार जमा लिया था। इस प्रकार दिल्ली और अजमेर के बीच एक नई शक्ति का विकास हो रहा था। पृथ्वीराज ने अपनी सेना का नारायना (आधुनिक नरैणा जो फुलेरा और किशनगढ़ के बीच है) को अपना सैनिक केन्द्र बनाया और चालुक्यों को परास्त करने के बाद ही भण्डानकों के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया। भण्डानको को घेरता हुआ पृथ्वीराज गुड़ापुरा (आधुनिक गुड़गाँव, दिल्ली के पास) ले आया और यहाँ एक ही निर्णयात्मक युद्ध मे भण्डानकों को हराकर अलवर, भरतपुर, मथुरा, गुड़गाँव, रेवाड़ी और हिसार के जिले अपने राज्य में मिला लिये। यह विजय निर्णयात्मक ही नही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी।

7. **चंदेलों पर विजय**—चालुक्य और भण्डानकों को हरा लेने के बाद पृथ्वीराज का साहस बहुत बढ गया और उसने पूर्व मे स्थित बुन्देलखण्ड के शासक चन्देलो को पराजित करने की योजना बनाई। उस समय बुन्देलखण्ड को जेजाक भूमि कहते थे। पृथ्वीराज की इस विजय का वर्णन हमें दो ग्रन्थों में मिलता है। एक तो 'पृथ्वीराज रासो' मे और दूसरा 'आला खण्ड' नामक महा काव्य में। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज चौहान ने अपने मदनपुर शिलालेख में भी अपनी बुन्देलखण्ड विजय का वर्णन किया है। इस लेख पर इस प्रकार लिखा है—"सोमेश्वर के पुत्र महाराजाधिराज पृथ्वीराज ने 1241 वि. सं. में बुन्देलखण्ड या जेजाक भूमि को पराजित किया।" इस समय चन्देलों का राजा परमारदीन था और उनकी राजधानी महोबा थी। परमारदीन ने (कन्नौज) गढवाल से सहायता मांगी और जिस समय पृथ्वीराज ने चन्देलो की राजधानी महोबा को घेर रखा था उस समय गढवाली सेना ने भी पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था। इस कथन की पुष्टि हमें 'प्रबन्ध चिन्तामणी' का अध्ययन करने से होती है। इस बात के भी प्रमाण मिलते है कि अवसर से लाभ उठाकर जयचन्द ने भी कन्नौज की सेनाएँ महोबा भेज दी और इस प्रकार महोबा के युद्ध में पृथ्वीराज के विरुद्ध महोबा और गढ़वाल की सेनाओं ने युद्ध किया। साधारणतः यह मानलें कि महोबा का युद्ध एक निर्णयात्मक युद्ध था जिसने पूर्व से आक्रमण के भय को सदा के लिये समाप्त कर दिया। पृथ्वीराज ने चन्देलों के साथ साथ गढ़वाली (कन्नौज) को भी पराजित कर दिया। परिणामस्वरूप परमादीन को अपने मुंह मे दाव रख कर वफादारी की कसम खानी पडी। चन्देलों की पूर्ण पराजय हुई और उसे पृथ्वीराज की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। जयचन्द इस हार से और भी चिढ गया और 'पृथ्वीराज को अपमानित करने की योजनाए बनाने लगा।

8. **जयचंद से सम्बन्ध**—जयचन्द और पृथ्वीराज मोसी के बेटे भाई थे और जयचन्द उमर मे पृथ्वीराज से बड़ा था। दोनों का नाना अनगपाल दिल्ली का शासक था। अनंगपाल के कोई लड़का नही था अतः जयचन्द को यह आशा थी कि

अनंगपाल उसे दिल्ली का शासक बनायेगा किन्तु जब पृथ्वीराज आठ साल का था तभी अनंगपाल ने उसे गोद लेकर जयचन्द की आशाओं पर कुठाराघात कर दिया। यही से दोनों योद्धा एक दूसरे के विरोधी और शत्रु हो गये थे। अत. दिल्ली का सिंहासन दोनों के आपसी वैमनस्य का पहला मूल कारण बन गया था।

डा० रोमीला थापर ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाल का इतिहास' में लिखा है कि—"कन्नौज का शासक जयचन्द एक आकांक्षावादी शासक था। वह अपने पितामह गोविन्दचन्द की तरह समस्त उत्तर भारत को विजय करना चाहता था।" गोविन्दचन्द की मृत्यु के बाद जो प्रदेश कन्नौज की अधीनता से मुक्त हो गये थे उन्हें वह वापस लेना चाहता था। स्पष्ट है कि जयचन्द अपने पूर्वजों के राज्य को कम होते नही देख सकता था और इधर पृथ्वीराज भी साम्राज्यवादी भावनाएं रखता था। जयचन्द के देखते देखते उसने भरतपुर, अलवर, मथुरा, रेवाड़ी आदि देशों को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इससे जयचन्द का उत्तरी भारत पर अधिकार करने का सपना टूट गया। एक ही क्षेत्र में जब दो शासक अधिकार करना चाहें तो युद्ध स्वाभाविक ही है। इस प्रकार पृथ्वीराज और जयचन्द के सम्बन्धों को खराब करने वाली घटनाओं में दूसरा नम्बर जयचन्द की महत्वाकांक्षाएं आती हैं कि वह उत्तर भारत का स्वामी बनना चाहता था।

श्री.आर. एम. त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'कन्नौज का इतिहास' में जयचन्द व पृथ्वीराज के सम्बन्ध को बिगाड़ने वाली घटनाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"जयचन्द को अपनी विशाल सेना पर बहुत अधिक गर्व था।" जयचन्द के पास एक विशाल सेना थी, उसके मन में राज्य विस्तार की कामना थी। जहाँ कामना और शक्ति दोनो हों वहाँ विवेक और सहिष्णुता नही टिकती। अतः जयचन्द की संगठित सैन्य शक्ति उसे बार बार संघर्ष के लिये उकसा रही थी। इसके विपरीत पृथ्वीराज चौहान उसके देखते-देखते अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर राज्य विस्तार में लग गया था। अतः जयचन्द की विशाल सेना दोनो के संघर्ष का तीसरा कारण बन गई।

जहाँ जयचन्द महत्वाकांक्षी था और उसके पास विशाल संगठित सेना थी वहाँ पृथ्वीराज भी कम नहीं पड़ता था। पृथ्वीराज के समकालीन फारसी ग्रन्थ 'ताजुल मा़सिर' में इस बात का उल्लेख मिलता है कि "पृथ्वीराज विश्व-विजय की कामना करता था।" उसी समय के हिन्दू ग्रन्थों में भी इस बात का वर्णन किया गया है कि पृथ्वीराज ने 'दल पंगुल' की उपाधि धारण की थी जिसका अभिप्राय विश्व विजय से था। पृथ्वीराज को प्रारम्भिक सफलताएं भी मिल चुकी थी, वह एक ख्याति प्राप्त योद्धा था। स्पष्ट है कि जहाँ जयचन्द अपना राज्य बढ़ाना चाहता था वहाँ पृथ्वीराज कन्नौज को जीतकर अपने राज्य में मिला लेना चाहता था। इस प्रकार पृथ्वीराज की विश्व-विजय योजना दोनो की शत्रुता का चौथा कारण बन गई थी।

इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण शत्रुता का कारण था महान् रोमांचकारी ऐतिहासिक घटना, संयोगिता का स्वयंवर या हरण जिसने दोनों को कट्टर शत्रु बना दिया। इस स्वयंवर की लोमहर्षक घटना पर इतिहासकारों में बड़े मतभेद हैं अतः इसका अध्ययन अलग से करें—

9. **संयोगिता हरण**—भारतीय इतिहास में एक किंवदंति बहुत प्रसिद्ध है कि संयोगिता पृथ्वीराज के शौर्य पर आसक्त थी और पृथ्वीराज ने भी अपनी छाप के माध्यम से संयोगिता के मन में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया था। संयोगिता जब विवाह के योग्य हुई तो जयचन्द ने बड़ी धूम-धाम से स्वयंवर का आयोजन किया जिसमें देश विदेश के अनेक राजा निमन्त्रित किये गये। कहते हैं कि पृथ्वीराज को नीचा दिखाने के लिये जयचन्द ने स्वयंवर भवन के द्वार पर पृथ्वीराज की एक मूर्ति बनवा कर रखवादी थी। योजनाबद्ध संयोगिता ने द्वार तक जाकर पृथ्वीराज की मूर्ति को वरमाला पहना दी। पृथ्वीराज को इस घटना का पूर्व ज्ञान था। वह भेष बदल कर अपने चुने हुए वीरों के साथ कन्नौज पहुंच गया था और ठीक समय पर संयोगिता को द्वार से उठाकर ले गया। कहते हैं कि जयचन्द की विशाल सेना भी पृथ्वीराज को न पकड़ सकी और स्वयंवर भवन से हरी गई संयोगिता वापस नहीं लाई जा सकी।

यह प्रेमियों की उत्साहपूर्ण सुखान्त कहानी साहित्य ही नहीं इतिहास में वाद-विवाद का कारण बन गई। कुछ इतिहासकार इस घटना को सत्य मानते हैं जिनमें डा० दशरथ शर्मा मुख्य हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक Early Chawhan Dynesties में यह प्रमाणित किया है कि "संयोगिता स्वयंवर की कहानी सच्ची है।" उनके समर्थक इतिहासकार इस बात को सत्य मानते हैं कि जयचन्द ने पृथ्वीराज की मूर्ति बनाकर द्वार पर रखवादी थी। यह कार्य उसने महोबा में अपनी पराजय की प्रतिक्रिया स्वरूप किया था और दूसरा कारण यह था कि समय की परम्परा के अनुसार शुभ अवसर पर प्रतिद्वन्द्वियों की मूर्ति को द्वार पर प्रहरी बनाकर खड़ा कर दिया जाता था। आठवीं शताब्दी में हिरण गर्भ महादान समारोह में दांतिदुर्ग के राजा ने भी अपने प्रतिद्वन्द्वी गुर्जर राजा को अपमानित करने के लिये उसकी मूर्ति समारोह भवन के द्वार पर लगा दी थी।

'पृथ्वीराज रासो' में चन्द्रवरदाई और 'पृथ्वीराज विजय' में चन्द्रशेखर इस घटना का सुन्दर व स्पष्ट वर्णन करते है। उन्हीं के आधार पर अकबर के शाही इतिहासकार अबुलफजल भी इस घटना को सही मानते हैं। इन ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि "पृथ्वीराज सुन्दर अप्सरा संयोगिता पर मोहित हो गया और इसलिए वह संयोगिता को स्वयंवर से उठा लाया।" जयचन्द ने पृथ्वीराज को अपमानित करने के लिये उसे जानबूझ कर निमन्त्रण नहीं दिया था। पृथ्वीराज ने भी संयोगिता को पहले नहीं देखा था किन्तु उसकी प्रशंसा भाव सुनकर उस अप्सरा की सुन्दरता पर इतना अधिक मोहित हो गया था कि बिना बुलाये वेष बदल कर अपनी प्रेमसी के द्वार पर जा पहुंचा और अपनी कल्पना की साम्राज्ञी को शेर की

नींद में से उठा लाया। पृथ्वीराज के पहले भी दो पत्नियां थी। इस कहानी को सत्यता की कसौटी पर कसने के बाद डा० दशरथ शर्मा का मत है कि "संयोगिता को भगा कर लाने की कहानी इसलिये भी गलत प्रतीत नहीं होती कि भारत में इस प्रकार के विवाह प्रचलित थे। पृथ्वीराज ने जयचन्द की लड़की को भगाकर यदि बलपूर्वक विवाह कर भी लिया तो इसमें कोई काल्पनिक या रोमांचकारी बात नहीं नहीं थी।" महाभारत काल में अर्जुन ने कृष्ण की बहन को भगाकर ले गया था।

किन्तु डा० रोमिला थापर 'गढ़वाल का इतिहास' में और आर० एस० त्रिपाठी 'कन्नौज का इतिहास' में इस घटना को चन्द्रवरदाई की सुखद कल्पना मानते हैं। उनका तर्क यह है कि पृथ्वीराज रासो आदि चौहान ग्रन्थों के अतिरिक्त और किसी समकालीन ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन नहीं मिलता अतः सुखद व प्रभावशाली होते हुए भी इस रोमांचकारी साहित्य को सच नहीं माना जा सकता। 'रम्भा मंजरी' नामक नाटक का नायक जयचन्द है किन्तु इस नाटक में संयोगिता के हरे जाने का कहीं वर्णन नहीं मिलता। नाटक से तो यह भी पता नहीं चलता कि जयचन्द के संयोगिता नामक कोई लड़की भी थी। इसी प्रकार 'हमीर महाकाव्य, जिसकी रचना न्यायचन्द सूरी ने 1403 ई० में की थी, में भी संयोगिता का वर्णन नहीं मिलता। इन ग्रन्थों में संयोगिता के नाम के अभाव से इस घटना की ऐतिहासिकता पर सन्देह होने लगता है। 'प्रबन्ध कोष' में चिन्तामणी ने भी इस घटना का कहीं वर्णन नहीं किया है। श्री त्रिपाठी ने इन्हीं आधारों पर यह कहा है कि "संयोगिता की घटना साहित्यकारों के मस्तिष्क की सूझ थी।"

किन्तु इन विरोधी विद्वान इतिहासकारों के निष्कर्ष केवल नकारात्मक सबूतों पर आधारित हैं। 'रम्भा मंजरी, में जयचन्द के जीवन की पूरी घटनाओं का वर्णन भी तो नहीं है फिर जिस पुस्तक का नायक जयचन्द हो उसमें उसकी पराजय या अपमान की बात क्यों लिखी जाती। 'हमीर महाकाव्य' में भी पृथ्वीराज के जीवन की सभी बातों का वर्णन नहीं है। अतः उसके आधार पर भी संयोगिता की घटना का गलत कहना न्यायसंगत नहीं होगा। हमीर महाकाव्य में पृथ्वीराज के एक भी विवाह का वर्णन नहीं किया गया। इसका यह मतलब तो नहीं कि पृथ्वीराज कुंवारा ही मर गया होगा। हमीर महाकाव्य में तो पृथ्वीराज की भण्डानकों व नागार्जुन विजय का वर्णन भी नहीं है अतः इस काव्य के आधार पर संयोगिता–पृथ्वीराज की घटना को गलत कहना अन्याय ही होगा। तीसरा तर्क विरोधी यह देते हैं कि पृथ्वीराज जैसे योद्धा के लिये यह शोभनीय प्रतीत नहीं होता कि वह किसी रमणी को उठा ले जाय। इसका उत्तर तो सिर्फ इतना ही है पृथ्वीराज ने पांच सुन्दर रमणियों की सुन्दरता के वशीभूत होकर ही उनसे विवाह किये थे।

इन सब तर्कों को विवेक की कसौटी पर कसने से यही निष्कर्ष निकलता है कि संयोगिता का हरण एक ऐतिहासिक सत्य है। इस सत्य का समर्थन डा० दशरथ शर्मा, श्री कानूनगो, डा० गोपीनाथ शर्मा और डा० वी० एस० भार्गव भी करते हैं।

श्री ओझा, गहलोत और टाड तो इसको पूर्णरूप से मान्यता प्रदान करते हैं। डा० दशरथ शर्मा इस घटना का समय निर्धारण करते हैं कि तराइन के प्रथम युद्ध के बाद ही यह घटना घटी थी। युद्ध से लौटते समय पृथ्वीराज ने संयोगिता के रूप लावण्य की गाथा सुनी और राजधानी लौटने की बजाय बिजली की तरह कन्नौज गया और संयोगिता को विवाह मण्डप से उठा लाया। यह हरण दोनों के मन मुटाव का सबसे बड़ा कारण बन गया जिसके फलस्वरूप 1192-93 में जब पृथ्वीराज का पतन हुआ तो जयचन्द चुपचाप तमाशा देखता रहा।

पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी

महमूद गजनवी के आक्रमणों ने मुसलमानों का ध्यान भारत की ओर लगा दिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके दो लड़के मुहम्मद और मसूद में उत्तराधिकार के लिये लड़ाई शुरू हो गई। मसूद ने मुहम्मद को अन्धा कर राज्य छीन लिया और फिर मुहम्मद के बेटे अहमद ने मसूद को मार डाला। फिर मसूद के बेटे मौदूद ने अहमद को पराजित कर गजनी का राज्य हड़प लिया। भाइयों की इस लड़ाई से लाभ उठाकर गौरी के सूबेदारों ने अपने आपको स्वतंत्र कर लिया। गौरी अब छोटा सा स्वतन्त्र राज्य बन गया जिसका शासक सैफुद्दीन गौरी था। इस उथल पुथल के समय गजनी में सत्तर वर्ष में आठ सुल्तान बदले। परिस्थिति से लाभ उठाकर दिल्ली के हिन्दू राजा ने हाँसी, थानेश्वर और सिंध मुसलमानों से छीन लिये। भारत में मुसलमानों का राज्य केवल लाहौर और उसके आस-पास के प्रदेश पर रह गया। उसी समय सैफुद्दीन गौरी के भाई अलाउद्दीन हुसेन गौरी ने गजनी पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया और महमूद गजनवी का अन्तिम वंशज भागकर लाहौर आ गया। उधर सैफुद्दीन के बाद उसका चचेरा भाई शहाबुद्दीन गौरी, गोर देश का शासक बना। यह स्पष्ट था कि जब तक लाहौर पर गजनी वंश का आधिपत्य रहेगा तब तक गौरी वंश को सदा पराजय का भय बना रहेगा। अतः शहाबुद्दीन गौरी के लिये यह आवश्यक था कि अपनी सत्ता को स्थाई बनाने के लिये गजनी के नाम मात्र के अन्तिम सुल्तान को पराजित कर लाहौर पर भी अधिकार कर ले। शहाबुद्दीन ने 1180 ई० में खुसरो मलिक से लाहौर छीन कर गजनी के पूरे साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। शहाबुद्दीन का पूरा नाम शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी था। यही आगे चलकर भारत में मुसलमान राज्य का संस्थापक बना।

एक तरफ भारत की सीमा पर एक महत्वाकांक्षी सरदार मुहम्मद गौरी की अधीनता में शक्तिशाली मुसलमान साम्राज्य का संगठन हो रहा था और दूसरी तरफ पृथ्वीराज चौहान की अधीनता में हिन्दू राज्य का गठन हो रहा था। अतः निकट भविष्य में दोनों का संघर्ष अनिवार्य था। अब हम संक्षेप में उन कारणों का अवलोकन करें जिन्होंने पृथ्वीराज तृतीय और शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी के बीच युद्ध अनिवार्य कर दिया।

युद्ध के कारण

1. भारत की दशा—महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह हमले किये थे और असख्य धन लूट कर ले गया था। मुसलमान भारत को सोने की चिड़िया मान कर चलते थे जैसा कि फ्रासीसी इतिहासकार बरनीयर ने आगे चल कर कहा था कि—"यह हिन्दोस्तान एक ऐसा अथाह गढ्ढा है, जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चाँदी चारों तरफ से अनेक रास्तो से आकर जमा होता है और जिसके बाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता। शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी स्वयं महमूद गजनवी के समान भारत पर चढ़ाईयाँ कर इस देश के असीम धन को पाना चाहता था। भारत जहाँ धनाढ्य देश था वहाँ राजनीतिक वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। पृथ्वीराज को दिल्ली मिल जाने से जयचंद उससे नाराज था और पृथ्वीराज का पतन देखना चाहता था। मदोर का राजा भी पृथ्वीराज को नीचा दिखाना चाहता था क्योंकि पृथ्वीराज ने उसकी लड़की से विवाह तय होने के बाद भी उसने विवाह करने से इन्कार कर दिया अत पृथ्वीराज और मदोर के परिहार राजा में शत्रुता हो गई। दोनों में युद्ध हुआ और पृथ्वीराज ने अपने पराक्रम से मंदोर के राजा को पराजित कर दिया। नागौर विजय से पृथ्वीराज को सात करोड़ रुपये का खजाना मिला था जिससे अन्य राजा और भी जल गये। पृथ्वीराज की विजय से लगभग सभी भारतीय हिन्दू राजा जलते थे और उसका पतन देखना चाहते थे। केवल चित्तोड़ का राजा समरसिंह, जो पृथ्वीराज का बहनोई था, पृथ्वीराज का एक मात्र समर्थक था। टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 145 पर भारत की इस राजनीतिक फूट का वर्णन करते हुए लिखते है कि—"जयचन्द ने कई एक छोटे राजाओं को मिलाकर, अनहिलवाड़ा पट्टम, मन्दोर और धार के राजाओं के परामर्श से एक योजना तैयार की और उस योजना के अनुसार शहाबुद्दीन के द्वारा यह पृथ्वीराज का सर्वनाश करना चाहता था।" यही कारण है कि पृथ्वीराज ने मन्दोर के राजा को पराजित किया और अनहिलवाड़ा पट्टम के राजा को भी नसीहत देना चाहता था।

शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी को यह सब ज्ञात था और वह भारत की फूट से लाभ उठा कर अपना राज्य विस्तार करना चाहता था। अतः पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी के युद्ध का पहला कारण भारत की दशा थी जिसने गोरी को प्रलोभन दिया।

2. पुरानी शत्रुता—राजपूतों और मुसलमानों में काफी पुरानी शत्रुता थी। श्री ओझा अपनी पुस्तक राजपूताने का इतिहास के पृष्ठ 304-5 पर इस शत्रुता का सविस्तार वर्णन करते है। उनके अनुसार "लाहौर मे गजनवी वंश के सुलतानों का हाकिम रहा करता था और वहाँ से लूट मार के लिये राजपूताने पर चढाइया हुआ करती थी।"""""साँभर का चौहान राजा दुर्लभराज दूसरा मुसलमानों के साथ लड़ाई में मारा गया था। अजमेर बसाने वाले अजयदेव ने मुसलमानों को ,१,

किया""""विरलदेव आर्यवर्त से मुसलमानो को निकालने के लिये उत्तर की तरफ बढ़ा। उसने दिल्ली और हांसी के इलाके अपने राज्य में मिलाये और आर्यवर्त से मुसलमानों को निकाल दिया।" इस प्रकार के आपसी युद्धों के अनेक वर्णन संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रन्थों से मिलते हैं लेकिन इस शत्रुता और मुसलमानों की पराजय का वर्णन फारसी के ऐतिहासिक ग्रन्थों में नहीं मिलता। अशोक के शिवालिक स्थम्भ पर भी बीसलदेव की आर्यवर्त विजय का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि राजपूत और मुसलमानों के बीच पुरानी शत्रुता थी जो निर्णयात्मक युद्ध के बिना समाप्त नहीं हो सकती थी।

3. धार्मिक कट्टरता— डा० ए एल. श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'सुलतानियत काल' में पृथ्वीराज और गोरी के बीच संघर्ष का मूल कारण धार्मिक कट्टरता बताते हैं। उनके शब्दों में "वह मोहम्मद साहब के संदेश का भारत के हिन्दुओं में प्रचार करना तथा मूर्ति पूजा का अन्त करना अपना कर्त्तव्य समझता था।" इस प्रकार वह एक प्रचारक बन कर भारत में इस्लाम का प्रचार करना चाहता था और पृथ्वीराज व उसका हिन्दू राज्य उसकी सबसे बड़ी बाधा थी। दूसरी तरफ पृथ्वीराज भी अपने आप को हिन्दू धर्म और संस्कृति का संरक्षक मानता था। मोहम्मद गौरी की तरह पृथ्वीराज भी अपने आप को हिन्दू धर्म का कट्टर अनुयायी मान कर अपने देश को विधर्मियों से मुक्त कराना चाहता था। डा० दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक Early Chauhan Dynasties के पृष्ठ 81 पर कहते हैं कि "पृथ्वीराज मुसलमानों के विनाश को इस संसार में अपने जीवन का विशेष लक्ष मानता था।" इस प्रकार दो विरोधी विचारधाराओं की टक्कर स्वाभाविक थी। एक तरफ मुहम्मद का इस्लाम प्रचार का संकल्प और दूसरी तरफ पृथ्वीराज का भारत से मुसलमानों को बाहर निकालने का संकल्प अतः दोनों में युद्ध अनिवार्य हो गया।

4. मुस्लिम राज्य—मुसलमानों का उदय अरब से हुआ था और ये लोग तलवार के जोर पर देश जीत कर धर्म प्रचार करते थे। मिश्र, उत्तरी अफ्रीका, और यूरोप में स्पेन को भी इन लोगों ने जीत लिया था। समस्त मध्य एशिया पर मुसलमानो का साम्राज्य स्थापित हो गया था। भारत में भी मुसलमानो ने सिन्ध लाहौर आदि जीत लिया था। अन्य मुसलमान शासकों की तरह मुहम्मद गौरी भी भारत वर्ष में मुसलमान राज्य की स्थापना कर धर्म के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करना चाहता था। तराइन की दूसरी लड़ाई से पहले भी उसने पाँच युद्ध लड़े थे लेकिन वह इन युद्धों की विजय से संतुष्ट नहीं था। वह अपनी विजय को संगठित बना कर भारत में एक विशाल मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करना चाहता था ताकि मध्य एशिया की भाँति भारत भी एक इस्लामी देश हो जाय। यह तभी हो सकता था जब वह पृथ्वीराज को पराजित कर दिल्ली व अजमेर पर स्थाई अधिकार जमा लेता।

5. गोर राजनीति—इस्लाम सत्ता शक्ति पर आधारित थी। जो शक्तिशाली था, वही राज्य हड़प लेता था और मोहम्मद गौरी को सदा यह डर बना रहता था

कि कोई अधीन सेनापति या निकट सम्बन्धी उसकी अनुपस्थिति मे गोर देश पर अधिकार जमा लेगा। उसके सामने उसके स्वामी व गजनी के शासकों का इतिहास स्पष्ट था जहां आपसी झगड़ों के कारण सत्तर साल में आठ शासक बदले जा चुके थे। उसे यह भी भय था कि गजनी के शासकों के वंशज पुन: अपना राज्य पाने की चेष्टा करेंगे। अत: उसके पास भारत विजय के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं था। उसके निवास स्थान गोर मे शक्तियों मे आपसी तनाव इतना था कि उनसे दूर आकर नया राज्य बनाना ही उचित व सुरक्षित काम था। अत: अपने राज्य वंश की स्थापना के लिये भारत विजय करना उसके लिये एक राजनैतिक आवश्यकता थी अन्यथा गोर मे कभी भी कोई नई शक्ति उसे पदच्युत कर सकती थी। अपने राज्य को विवाद से दूर व स्थाई बनाने के लिये भारत विजय आवश्यक थी।

6. **मुसलमानों का संरक्षण**—सिन्ध विजय के बाद व नवीं शताब्दी के प्रारम्भ से उत्तरी व पश्चिमी भारत में आक्रमणकारी मुसलमान कई स्थानों पर बस गये थे और मोहम्मद गौरी के पास इस प्रकार के समाचार पहुंचते थे कि अजमेर और नागौर के आस-पास रहने वाले मुसलमानों को हिन्दू राजा काफी कष्ट देते थे। विशेष तौर पर अजमेर के चौहान राजाओं ने नागौर जीत कर वहां से मुसलमानों को मार भगाया था। अजमेर के युद्ध मे भी मुसलमान हार कर भाग गये थे। इन स्थानों पर जो मुसलमान रहते थे उनके साथ चौहानों का व्यवहार अच्छा नहीं [illegible] कर गौरी के दरबार में संत व सूफी मोहम्मद गौरी को इस बात पर [illegible] रहते थे कि वह चौहानों को पराजित कर राजस्थान में बसने वाले मुसलमानों को उनका संरक्षण प्रदान करे। यह तभी हो सकता था जब कि मोहम्मद गौरी पृथ्वीराज को पराजित कर उस प्रदेश को अपने अधीन कर लेता। इस प्रकार राजस्थान में रहने वाले मुसलमानों को संरक्षण प्रदान करने के लिये भी पृथ्वीराज से युद्ध आवश्यक हो गया।

7. **खोये हुए राज्य की प्राप्ति**—मोहम्मद गौरी अपने आप को गजनवी का उत्तराधिकारी मानता था और उन सभी प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाना चाहता था जो महमूद गजनवी के समय गजनवी राज्य में शामिल थे। महमूद गजनवी के देहान्त के बाद उसके दो लड़के मुहम्मद और मसूद में उत्तराधिकार युद्ध हुआ [illegible] तो परिस्थिति से लाभ उठाकर दिल्ली के हिन्दू राजा ने हांसी, थानेश्वर [illegible] मुसलमानों से छीन लिये थे। जब मोहम्मद गौरी ने गजनी पर अधिकार [illegible] तो वह अपने आप को पंजाब और मुलतान आदि का भी स्वामी [illegible] उसकी यह धारणा थी कि राजपूतों ने उसके पूर्वजों के राज्य को [illegible] वापस जीत कर अपने राज्य में मिलाना उसका कर्तव्य [illegible] राज्य को पुन: पाने के लिये उसे पृथ्वीराज से युद्ध करना आवश्यक [illegible]

8 **पृथ्वीराज की [illegible]**—पृथ्वीराज [illegible] की सहायता से उसने [illegible] के [illegible]

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 35 पर कहते है कि —"वह अपनी शक्ति कन्नौज, महोबा गुजरात आदि पड़ौसी राज्यों से लड़ने में लगाने लगा।" उसे चाहिये था कि जब मोहम्मद गौरी ने मुल्तान और भटिंडा का किला जीता तभी उस पर आक्रमण कर उसे भारत से बाहर खदेड़ देता। लेकिन जब मोहम्मद ने गुजरात पर आक्रमण किया तब भी पृथ्वीराज चुपचाप बैठा रहा। यह उसकी सबसे बड़ी भूल थी। उसे चाहिये था कि वह गुजरात की मदद कर आपसी वैमनस्य को भुला कर मोहम्मद की हिम्मत बढ़ने से पहले ही उसे रोक देता। किन्तु गुजरात आक्रमण के समय चुप रह कर पृथ्वीराज ने आपसी झगड़ो को बढावा दिया। यही कारण है कि जब उस पर आक्रमण हुआ तो उसके बहनोई चित्तौड़ के राजा समरसिंह के सिवा कोई उसकी मदद को नही आया। गुजरात जीत लेने के बाद मोहम्मद गौरी के हौसले बढ गये और हिन्दू राजाओं के सगठन की सम्भावना समाप्त हो गई। अन्त में पृथ्वीराज को 1191 ई. में मोहम्मद के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उसने अपने शत्रु को शक्ति सगठन का समय देकर भारी भूल की। यदि गुजरात के युद्ध से ही मोहम्मद को हरा दिया जाता तो पृथ्वीराज पर वह कभी आक्रमण नही कर पाता।

9. **जयचंद का षड़यन्त्र**– जयचंद पृथ्वीराज का मोसेरा बड़ा भाई था। वह दिल्ली का शासक भी बनना चाहता था किन्तु जब उसे दिल्ली नही मिली तो वह पृथ्वीराज का शत्रु बन गया। इतिहासकार टाड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 145 पर कहते हैं कि—"जयचंद ने कई एक छोटे राजाओं को मिलाकर अनहिलवाड़ा पट्टम, मन्दोर व धार के राजाओ के परामर्श से एक योजना तैयार की और उस योजना के अनुसार शहाबुद्दीन के द्वारा पृथ्वीराज का सर्वनाश चाहता था।" पृथ्वीराज को भी इस योजना का पता चल गया था कि जयचंद के निमंत्रण पर मोहम्मद गौरी एक विशाल सेना लेकर दिल्ली पर आक्रमण कर रहा है। उसने अपने शत्रुओ को सबक देने का निश्चय किया और गौरी से लड़ने से पहले अनहिलवाडा पट्टम के राजा को पराजित करने गया। इस प्रकार जयचंद ने पृथ्वीराज के विरुद्ध षडयंत्र रच कर उसका ध्यान ही नही बँटाया वरन मोहम्मद की हिम्मत को और भी बढा दिया। मोहम्मद गौरी को विश्वास हो गया कि पृथ्वीराज अकेला ही लड़ेगा अतः युद्ध का अत्यंत महत्वपूर्ण व तात्कालिक कारण जयचंद की योजना थी। इन परिस्थितियों से पृथ्वीराज और मोहम्मद गौरी में तराइन के मैदान में दो युद्ध लड़े गये।

तराइन का प्रथम युद्ध 1191

महमूद गजनवी के उत्तराधिकारी अपने पैतृक राज्य को यथावत बनाये रखना चाहते थे। सन् 1030 मे महमूद की मृत्यु के समय गजनवी का राज्य अफगानिस्तान और पूरे पंजाब पर फैला हुआ था। उसके लड़के मसूद की ... नो बनारस तक जा पहुंची थी। सन् 1079 में सेनापति इब्राहिम ने

चाहमान राजा दुर्लभराज (तृतीय) पर आक्रमण किया था और दुर्लभराज इस आक्रमण में मारा गया था। यहाँ तक कि लाहौर के सूबेदार तुगातिगिन ने गढवाल के राजा मदनसिंह को वन्दी वना लिया था। एक सेनापति बहलीम ने तो नागौर पर कब्जा कर आस-पास के क्षेत्र में लूट मचा दी थी। फलस्वरूप अजयराज ने अजमेर का दुर्ग बना कर बहलीम को मार भगाया जो भागते समय मुलतान के पास दलदल में फंस कर मर गया। अभिप्राय यह है कि तराइन का प्रथम युद्ध चौहानों व मुसलमानों का पहला संघर्ष नहीं था। लगभग एक शताब्दी से चौहान बार बार मुसलमानों को भारत से बाहर खदेड़ रहे थे और इन निरंतर आक्रमणों ने भारत की राजनीतिक दशा व कमजोरियों का भेद मुसलमानों पर खोल दिया।

मुहम्मद गौरी ने गजनी वंश के अन्तिम सुल्तान खुसरो मलिक को कैद कर गजनी भेज दिया जहाँ मुहम्मद गौरी के भतीजे बहराम ने उसे मरवा दिया। मुहम्मद गौरी उन सभी राज्यों को अपना समझता था जिन पर गजनवी के शासक एक सौ वर्ष से राज्य करने को झूझ रहे थे। उसने 1178 में पंजाब, मुल्तान और सिंध को जीत कर अपने अधीन कर लिया। पृथ्वीराज इन प्रदेशों को अपने अधीन करना चाहता था। उसने दिल्ली, हाँसी, सरस्वती और सरहिन्द के किलों पर अधिकार कर लिया। गौरी ने 1189 में पुनः सरहिन्द पर अधिकार किया और 12000 सैनिकों को मलिक जियाउद्दीन के अधीन सरहिन्द में छोड़ कर लौट गया। पृथ्वीराज को जब यह पता चला कि गौरी ने सरहिन्द वापस जीत लिया है तो वह सरहिन्द के किले को पुनः जीतने के लिये आगे बढ़ा। उसने सरहिन्द के किले मे गौरी के सूबेदार मलिक जियाउद्दीन को घेर लिया। अपने जीते हुए राज्य व सेनापति की रक्षा के लिये मुहम्मद गौरी वापस लौट कर आया।

पृथ्वीराज इस समय अनहिलवाड़ा पट्टम जीत कर लौटा था। मुसलमान आक्रमणकारियों को बाहर निकालने के लिये उसने अपने बहनोई चित्तौड़ के राजा समरसिंह से सहायता माँगी। कन्नौज के राजा जयचन्द को भी निमंत्रित किया किन्तु दोनों ने ही उसकी सहायता नहीं की। दिल्ली का राजा गोविन्दराज इस युद्ध में पृथ्वीराज के साथ था। पृथ्वीराज ने गोविन्दराज के पुत्र चन्द्रराज को आक्रमणकारियों का समाचार लाने भेजा। चन्द्रराज ने समाचार भेजा कि—"गौरी ने देश को लूटा और जला दिया है, नारियों का अपमान किया और उनकी बहुत दुर्दशा कर दी है। अनेक राजपूत घराने उसके सामने नष्ट हो गये हैं या भाग गये हैं।" टाड महोदय का कहना है कि पृथ्वीराज यह सुन कर बहुत दुःखी हुआ और उसने समरसिंह को गौरी का मुकाबला करने भेजा। पृथ्वीराज की सेना ने रावी के तट पर गौरी को आगे बढ़ने से रोक दिया और कई दिनों के भीषण संग्राम के बाद भी कोई परिणाम नहीं निकला।

पृथ्वीराज स्वयं आगे बढ़ा और थानेश्वर से 14 मील दूर, स[illegible] किले से कुछ ही दूर, आधुनिक करनाल जिले में करनाल व [illegible]

तरावडी (तराईन) के मैदान में पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी की लड़ाई हुई। समरसिंह और गोविन्दराज, जो चित्तौड व दिल्ली के राजा थे, के आक्रमणों से गौरी की सेना मे भगदड मच गयी। दिल्ली का राजा गोविन्दराज हाथी पर बैठा था। इस युद्ध में पृथ्वीराज के पास दो लाख घुड़सवार और तीन हजार हाथी थे। गौरी की पराजय निश्चित थी। उसने हाथी पर बैठे गोविन्दराज पर बर्छा से वार किया जिससे गोविन्दराज के सामने के दो दाँत टूट गये। गोविन्दराज ने कटार फेंक कर गौरी पर प्रहार किया जिससे गौरी का हाथ बुरी तरह घायल हो गया। वह अधिक समय तक घोड़े पर नही बैठ सकता था। उसने घोड़े का मुंह दूसरी ओर मोड़ा तथा मैदान से भाग निकलने का प्रयास किया। वह घोडे से गिर ही रहा था कि एक खिलजी युवक ने सुल्तान को देख लिया। वह कूद कर सुल्तान के पीछे चढ गया और उसे मैदान से बाहर सुरक्षित स्थान पर ले आया। इस प्रकार गौरी की प्राण रक्षा हुई। मुसलमान सेना भी मैदान छोड कर भाग गयी। सुरक्षित स्थान पर, जो सरहिन्द से लगभग 80 मील दूर था, पहुंच कर जब मुसलमान सेना ने अपने सुल्तान को फिर से देखा तो उनका रोना धोना हर्ष में बदल गया। अपने भालों का उन्होंने स्ट्रेचर बनाया और घायल सुल्तान को उस पर लिटाकर वापस गौरी लौट गये। टाड महोदय कहते है कि "राजपूतों ने भागती हुई मुसलमान सेना का अस्सी मील तक पीछा किया। रास्ते में नागौर जीता जहाँ पृथ्वीराज को सात करोड रुपये की सम्पत्ति मिली जिसे समरसिंह और अन्य सरदारों मे बाँट दिया।" इसके विपरीत डॉ० दशरथ शर्मा का कथन है कि "मुस्लिम सेना हारी, किन्तु उसकी विशेष क्षति न हुई। चौहानों ने उसका पीछा न किया। सैनिक दृष्टि से यह बड़ी भूल थी।"[1]

पृथ्वीराज यदि भागते हुए मुहम्मद गौरी का पीछा करता और उसे घायल अवस्था मे पकड कर मार डालता तो कदाचित आज भारत का इतिहास ही दूसरा होता। पृथ्वीराज की यह भूल उसे खुद को बहुत महंगी पड़ी। अगले ही वर्ष पहले से अधिक विशाल सेना लेकर गौरी भारत पर फिर चढ़ आया। डा० ईश्वरी प्रसाद का कहना है कि "इससे पूर्व मुसलमानों को विधर्मियों के हाथ ऐसी पराजय का सामना नही करना पड़ा।" तराइन का प्रथम युद्ध 1191 में लड़ा गया। इसके बाद का एक वर्ष पृथ्वीराज की असफलता और गौरी के संयम व संकल्प का वर्ष था। एक फकीर के प्रश्न का उत्तर देते हुए सुल्तान मुहम्मद गौरी ने कहा था—"यह निश्चित रूप से समझो कि जब से मैं हिन्द के राजाओं से हारा हूं, मैं स्त्री संग से दूर रहा हूं, मैंने जिस्म के कपड़े नही बदले हैं, और साल को गमी, खेद और उदासी में बिता कर मैंने अमीरों को अपने दरबार में नहीं आने

1. डॉ० दशरथ शर्मा—चौहान सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय और उसका युग पृष्ठ 31.

दिया है । अब खुदा के बडप्पन में भरोसा कर मैं हिन्द देश की ओर बढ़ रहा हूं ।" बयान सुनकर पीर ने जमीन को चूमा और कहा, "विजय और सफलता आपकी सेवा करने वालों को मिलेगी ।" इस प्रकार की तैयारियों के साथ कूच का वर्णन फरिश्ता अपनी पुस्तक तारीखे फरिश्ता में करता है ।

तराइन का दूसरा युद्ध 1192

अपनी पराजय का बदला लेने मोहम्मद गौरी एक बार फिर, एक ही वर्ष बाद भारत पर फिर चढ आया । पहले उसने अपने विद्रोहियों का अन्त किया और हताश न होकर युद्ध की तैयारियाँ करने लगा । इधर विजय प्राप्त करने के तत्काल बाद पृथ्वीराज ने जयचन्द को सबक देने के लिए संयोगिता का स्वयवर भवन से हरण किया और आमोद प्रमोद में डूब गया । मोहम्मद गौरी ने अपने दूत किवाम-उल-मुल्क को पृथ्वीराज के पास भेजा और उसे अधीनता व इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के लिए पत्र लिखा । पृथ्वीराज कट्टर हिन्दू था अतः इस्लाम स्वीकार करने का प्रश्न ही नही उठता था । उसने गौरी के अनहोने प्रस्ताव को ठुकरा दिया । गौरी एक लाख बीस हजार सैनिकों की विशाल सेना लेकर तराइन की तरफ बढ़ा, पृथ्वीराज ने अपने बहनोई व मित्र समरसिंह को फिर सदेश भेजा । समरसिंह ने चित्तौड़ का राज्य भार अपने छोटे पुत्र कर्णसिंह को सौंप दिया और स्वय पूरी तैयारी के साथ पृथ्वीराज की मदद करने आ गया । पृथ्वीराज की सेना में तीस हजार घोड़े और तीन हजार हाथी थे । पैदल सेना इससे कही अधिक थी । भारत के कई अन्य राजाओ ने भी पृथ्वीराज की सहायता की लेकिन जयचन्द चुप बैठा रहा ।

टाड महोदय के अनुसार (पृष्ठ 146) "कगार के किनारे पर दोनों ओर की सेनाओं का सामना हुआ । तीन दिन तक भीषण मारकाट हुई । तीसरे दिन समरसिंह अपने पुत्र कल्याणसिंह और तेरह हजार राजपूत सैनिको तथा सरदारों के साथ युद्ध में मारा गया । उसकी रानी पृथा ने अपने पुत्र और पति के मारे जाने का समाचार सुना । उसने यह भी सुना कि उसका भाई पृथ्वीराज शत्रुओं के द्वारा कैद कर लिया गया है और दिल्ली तथा चित्तौड़ के राजपूत सैनिकों और सरदारों का संहार हुआ है ।" युद्ध में पृथ्वीराज पराजित हुआ और मोहम्मद गौरी दिल्ली व अजमेर का स्वामी बन गया ।

इन युद्धों का वर्णन हमें चन्द्रबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो', हसन निजामी के 'ताजुलमासिर' और सिराज के 'तबकात्-ए-नासिरी' से मिलता है । पराजित होने के बाद पृथ्वीराज के जीवन के बारे में अनेक मतभेद हैं । कुछ विद्वान् मानते है कि गौरी ने उसे अन्धा कर दिया और बन्दी बनाकर अपने साथ गौरी ले गया । कुछ विद्वानों की राय है कि पृथ्वीराज को तत्काल अन्धा कर मार डाला गया । यह सत्य है कि जब प्रात:काल राजपूत सेना नित्यकर्म में व्यस्त थी तो मुसलमानो ने अचानक उस पर हमला कर दिया । 'ताजुलमासिर' का लेखक हसन निजामी इस

बात का वर्णन स्वयं करता है कि—"जब मोहम्मद गौरी ने आक्रमण किया तो पृथ्वीराज स्वयं गहन निद्रा में सो रहा था।"

युद्ध मे गौरी ने चालाकी व नीति से काम लिया। उसने अपनी सेना को पाँच भागों मे बाँटा और युद्ध के थोड़ी देर बाद चार भागों को पीछे भागने का आदेश दिया। पाँचवा भाग एक तरफ सुरक्षित था। जब राजपूतों ने मुसलमानों का पीछा किया तो थोड़ी दूर जाकर गौरी की सेना के चारों भागों ने एक कर फिर आक्रमण कर दिया। अभी राजपूत सम्भले भी नही थे कि गौरी की सेना के पाँचवें सुरक्षित भाग ने पीछे से उन पर आक्रमण कर दिया। राजपूत चारों तरफ से घिर कर हताश हो गये। राजा गोविन्दराज भी युद्ध मे मारा गया। पृथ्वीराज भी मैदान छोड़कर भागा किन्तु मुसलमानों ने उसका पीछा किया और सिरसा के पास उसे बन्दी बना लिया। उसे कैदी के रूप मे अजमेर तक लाया गया। पृथ्वीराज रासो में उसके अन्धा बनाने की बात दशरथ शर्मा नहीं मानते। सन् 1193 ई० का एक पृथ्वीराज का सिक्का तारागढ (अजमेर) से प्राप्त हुआ है जिससे स्पष्ट है कि तराइन के युद्ध के बाद भी पृथ्वीराज और मोहम्मद गौरी के सम्बन्ध अच्छे थे। हसन निजामी का मत है कि मोहम्मद गौरी पृथ्वीराज को उसका राज्य लौटाना चाहता था। इस कथन की पुष्टि प्रबन्ध कोष भी करता है। ये दोनों ग्रन्थ समकालीन है अतः यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये कि पृथ्वीराज तराइन की दूसरी लड़ाई के बाद भी जिन्दा था। किन्तु पृथ्वीराज ने इस्लाम को स्वीकार नही किया इसलिए आगे चल कर अजमेर में उसे मार डाला गया। इस कथन की पुष्टि राजपूत ग्रन्थ भी करते है।

पृथ्वीराज का वध गौरी मे हुआ हो या युद्ध के मैदान में या अजमेर मे, लेकिन यह सत्य है कि इस पराजय का भारत के इतिहास पर भारी और अमिट प्रभाव पड़ा।

तराइन के युद्ध के परिणाम

श्री विन्सैन्ट ए स्मिथ अपनी पुस्तक 'दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के पृष्ठ 235 पर इस युद्ध के परिणामो का वर्णन करते हुए कहते है कि—"वास्तव मे 1192 की तराइन की दूसरी लड़ाई एक निर्णायक संघर्ष माना जा सकता है। जिसने मुसलमानो के आक्रमण की विजय को सुनिश्चित कर दिया।" स्मिथ आगे कहते हैं कि कोई भी हिन्दू राजा किसी भी युग के अनुभव से लाभ उठाने को तैयार नही था। वे बहुत पहले सिकन्दर द्वारा दिये गये सबक को भी भूल गये थे। समय समय पर राजाओं द्वारा इकट्ठा किये गये सिपाही और हाथियों के समूह बडी आसानी से पश्चिमी आक्रमणकारी नष्ट कर चुके थे। सिकन्दर, मुहम्मद गौरी, बाबर, अहमद शाह दुर्रानी और अन्य योग्य शासकों ने लगभग एकसी युद्ध प्रणाली का प्रयोग किया और वीर हिन्दू राजाओं की विशाल सेना को पराजित किया।

जाति प्रथा सैनिक निपुणता मे विदेशियों के मुकाबले सदा एक विरोधी

तत्व रही है। सदा की तरह इस बार भी आक्रमणकारी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए। इस पराजय का पहला सीधा परिणाम यह निकला कि चौहानों का लगभग 250 वर्ष पुराना साम्राज्य समाप्त हो गया।

एक विजय से मुहम्मद गोरी को बडा प्रोत्साहन मिला और उसके योग्य सेनापति कुतुबुद्दीनऐबक ने 1193 मे दिल्ली जीता, फिर दो-आब की तरफ बढ़ा वहा मुहम्मद गोरी ने उसके साथ मिलकर कन्नौज को जीता और जयचन्द को पराजित कर मार डाला। फिर 1197 में गुजरात की राजधानी अनहिलवाडा पर आक्रमण कर उसे जीता। उसी वर्ष अजमेर को भी मुस्लिम राज्य मे मिला लिया गया। उसके बाद बिहार और बंगाल के पाल व सेन राजाओं को भी आक्रमणकारियो ने जीत कर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार तराइन की दूसरी लड़ाई के बाद समस्त उत्तरी भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना इस युद्ध का दूसरा परिणाम था।

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'दिल्ली सल्तनत' के पृष्ठ 86 पर तराइन के युद्ध के परिणाम बताते हुए लिखते है कि—"तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास की एक युग परिवर्तनकारी घटना है।" इससे चौहानो की शक्ति बिलकुल नष्ट हो गई। हमारे इतिहास में पहली बार मुहम्मद ने हिन्दुस्तान के बीचों बीच एक विदेशी तुर्की राज्य की नींव डाली। सभी विजित स्थानो में हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े गये और उनके स्थान पर मस्जिदे खडी की गई। मुस्लिम परम्परा के अनुसार जीते हुए स्थानों में इस्लाम को राज्य धर्म घोषित कर दिया। अजमेर में मुसलमानों ने मन्दिरों को तोड़ कर विग्रहराज चौहान द्वारा स्थापित प्रसिद्ध विद्यालय को मस्जिद में बदल दिया। आज भी वह स्थान ढाई दिन के झोपड़े के नाम से विख्यात है। इस प्रकार तराइन के युद्ध का तीसरा परिणाम भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार व हिन्दू मन्दिरों का ध्वंस था।

इस युद्ध में हजारो वीर मारे गये, चित्तौड़ का राजा समरसिंह व उसका पुत्र कल्याण काम आये। दिल्ली का वीर गवर्नर गोविन्दराज और उसका लड़का चन्द्रराज भी मारा गया। पृथ्वीराज चौहान के बाद कन्नौज का जयचन्द भी मारा गया। इन पराक्रमी वीरों के साथ साथ हजारों राजपूत योद्धा भी मारे गये। मुसलमानों ने इन विजयो के साथ देश को खूब लूटा और उन्हें अतुल सम्पत्ति भी प्राप्त हुई। इस प्रकार तराइन के युद्ध ने विदेशियों को अपार सम्पत्ति ही नहीं दी वरन् देश को एकबार तो वीर योद्धाओं से रहित कर दिया। अधिकांश राजपूत योद्धा इस युद्ध में काम आये और हिन्दुओं का प्रायः सर्वनाश सा हो गया। हिन्दुओं का साम्राज्य समाप्त हो गया और एक नये पराधीनता के युग का प्रारम्भ। इस समय से भारत दासता की बेड़ियो में ऐसा जकड़ा गया कि 1947 मे ही

स्वतन्त्र हो सका। अतः राजनीतिक व ऐतिहासिक दृष्टि से तराइन का दूसरा युद्ध, पराधीनता और अन्धकार के युग का जन्मदाता था।

टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 146 पर इस युद्ध के परिणामों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"पृथ्वीराज की युद्ध मे पराजय हुई। परन्तु उसका नाम सदा सर्वदा के लिए इस देश के इतिहास मे अमर हो गया। समरसिंह के जीवन का अन्त हो गया परन्तु उसका यश तथा प्रताप इतिहास के पन्नो मे अमिट अक्षरों में लिखा गया।" इसके विपरीत जाति व देशद्रोही जयचन्द और गुजरात के शासको को भी मरना पडा, किन्तु वे इतिहास मे कीर्ति नही कमा सके। टाड महोदय राजपूतों की वीरता की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें निडर, स्वाभिमानी और शरणागत की रक्षा करने वाला बताते हैं। वास्तव मे युद्ध हार कर भी पृथ्वीराज अमर हो गया। इससे यह परिणाम स्पष्ट है कि भारतवर्ष में देश और धर्म पर बलिदान होने वालों की सदा पूजा होती है।

तराइन के युद्ध में राजपूतों की पराजय का बौद्ध धर्म पर सीधा और भयानक प्रभाव पड़ा। बिहार विजय के साथ साथ मुहम्मद के सेनापति खिलजी ने सारनाथ के महान् बौद्ध विहार को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। मुसलमान इतिहासकार इस बात का वर्णन करते है कि यहाँ के अधिकांश निवासी सिर मुंडाये हुए ब्राह्मण थे जिन्हें कत्ल कर दिया गया और जो बच गये वे जान बचा कर तिब्बत, नेपाल या दक्षिण भारत मे भाग गये। इस प्रकार मुहम्मद की सफलता बिहार में पूर्ण विकसित बौद्ध धर्म के विनाश का कारण बन गई। बौद्ध धर्म उत्तर भारत का एक संगठित धर्म था किन्तु मुहम्मद के आगमन के बाद यह लुप्त हो गया इतिहासकार स्मिथ भारत के इस धर्म पर इस पराजय का परिणाम बताते हुए 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के पृष्ठ 236 पर लिखते है कि—"1200 ई० के बाद उत्तर भारत मे बौद्ध धर्म के चिह्न धुंधले और अस्पष्ट है।" अर्थात् 1200 ई० बाद उत्तर भारत में बुद्ध धर्म के चिह्न धुंधले और कहीं कही हो मिलते है।" अतः पृथ्वीराज की पराजय ने भारत में बौद्ध धर्म का विनाश करदिया।

इतिहासकार आर० सी० मजूमदार अपनी पुस्तक 'दी स्ट्रगल फॉर एम्पायर' के पृष्ठ 113 पर युद्ध के भयानक परिणामों का वर्णन करते हुए लिखते है कि - "तराइन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने केवल चौहानो की राज्य-शक्ति का ही नाश नही किया वरन् पूरे हिन्दू धर्म पर विनाश ला दिया। शासक कुमारो का साहस पूरी तरह टूट गया और सारा देश आतंक से पकड़ गया।" अनेक लोग जो शांति से रहना चाहते थे, अपना देश छोड़-छोड कर दक्षिण भारत चले गये। जैन गुरु आशाधर स्वयं शहाबुद्दीन की लूटमार से डर कर तथा उसकी सेना द्वारा अपमानित होने के डर से पहले ही मालवा मे चले गये थे। इस प्रकार सारे देश पर एक आतंक-सा छा गया। श्री मजूमदार आगे कहते हैं कि—"इस प्रकार की चीजो ने

स्वाभाविकतः मुहम्मद और उसके सेनापतियों के लिये हिन्दुस्तान के हृदय पर ठोस कदम जमाना सरल कर दिया ।"

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 36 व 37 पर इस युद्ध के परिणामों का वर्णन करते है। उनका कहना है कि—"लड़ाई में हजारो राजपूतों ने वीरगति पाई। पृथ्वीराज स्वयं मारा गया। मृत्यु के समय वह केवल 26 वर्ष का था। ....भारत का वह अन्तिम हिन्दू सम्राट् कहा जाता है। ....उसके बाद लगभग 650 वर्ष तक दिल्ली के सिंहासन पर जितने भी बादशाह बैठे, वे सब मुसलमान थे।" इस प्रकार धर्म, राजनीति, समाज और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह पराजय भारत के इतिहास में सदा युग परिवर्तन करने वाली गिनी जायेगी। इस विजय ने मुसलमानों के लिये भारत के द्वार खोल दिये और समय के साथ सारे भारत पर इस्लाम राज्य स्थापित हो गया।

पृथ्वीराज का चरित्र

पृथ्वीराज के चरित्र का वर्णन करते हुए श्री आर० सी० मजूमदार अपनी पुस्तक 'दी स्ट्रगल फॉर एम्पायर' के पृष्ठ 113 पर लिखते हैं कि—'पृथ्वीराज एक उच्च कोटि का सेनानायक था किन्तु उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता का अभाव था।"

इसी प्रकार वी. ए. स्मिथ अपनी पुस्तक 'दी ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के पृष्ठ 210 पर पृथ्वीराज के लिए लिखते हैं कि—"पृथ्वीराज आज दिन तक उत्तर भारत का सबसे लोकप्रिय नायक है।" जिस पर महाकाव्य और कई लोककथाएँ लिखे जा चुके हैं। अब हम इस लोकप्रिय नायक के चरित्र का अध्ययन करें। पृथ्वीराज ने बहुत कम समय तक राज्य किया। सिर्फ 26 वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया बताते हैं। दूसरी तरफ यह भी कहा जाता है कि उसके बाद मुहम्मद गौरी ने उसके बेटे गोविन्दराज को अजमेर की गद्दी पर बिठाया किन्तु पृथ्वीराज का भाई हरीराज रणथम्भोर में रहकर मुसलमानों से लड़ता रहा। यह विचार उत्पन्न होता है कि पृथ्वीराज अगर 26 वर्ष की अवस्था में ही मर गया, जैसा श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 36 पर कहते हैं तो अवश्य ही उसका पुत्र छोटी अवस्था का होगा। जो भी हो यह मानना पड़ेगा कि पृथ्वीराज अपने युग का प्रतिभाशाली शासक था। यदि वह कुछ बड़ी भूलें नहीं करता तो भारत का इतिहास ही बदल जाता।

शासक पृथ्वीराज—पृथ्वीराज को उसके समकालीन लेखकों ने राम का अवतार बताया है। प्रबन्ध कोप, हम्मीर काव्य पृथ्वीराज प्रबन्ध और प्रबन्ध चिन्तामणि इस बात को बार-बार दोहराते है कि पृथ्वीराज एक योग्य शासक था। उसने अपनी विजय को संगठित कर उत्तर भारत में एक राज्य स्थापित किया। उसके पाँच मंत्री और शासन के लिये एक सभा थी जिसे 'पंचकुल' कहते थे। उसकी पुलिस, सैनिक और न्याय-व्यवस्था पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित थी। समय और परिस्थितियों को देखते

हुये उससे अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकती थी। पृथ्वीराज स्वयं जैन धर्म का मानने वाला था किन्तु जैन व ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णुता रखता था। यह शक्ति का भी उपासक था फिर अन्य धर्मों को संरक्षण प्रदान करता था। उसके राज्य में नारी का काफी सम्मान था और जाति के आधार पर लोगों को दरबार में सम्मान मिलता था। अपने छोटे से जीवन को युग में बदल देने वाला पृथ्वीराज जो सदा युद्धों में व्यस्त रहा फिर भी प्रजा के संरक्षण और शासन-व्यवस्था को न भूला। वह उसकी प्रशासनिक योग्यता का प्रमाण है। सारे राजस्थान को एक सूत्र में बाँधने वाला पृथ्वीराज अपने समय का कुशल शासक भी था।

योद्धा पृथ्वीराज—पृथ्वीराज एक वीर सेनापति था, वह अचूक निशानेबाज था जो शब्द-भेदी बाण लगाने में प्रवीण था। पृथ्वीराज रासो के अनुसार गोरी उसे अन्धा बनाकर गोरी ले गया जहाँ उसने शब्दवेदी बाण द्वारा मुहम्मद गोरी को मार डाला। माना कि यह घटना सही नहीं है फिर भी यह पृथ्वीराज के अचूक निशाने का वर्णन माना जाय तो कोई हर्ज न होगा। पृथ्वीराज असाध्य घुड़सवार भी था वह एक ही दिन में 150 मील तक घोड़े की पीठ पर सफर कर लेता था। उसने अपने अमूल्य जीवन का अधिकांश समय विद्रोहियों का दमन और विजय में व्यतीत किया। उसने चन्देल और गहलोत को हराया, परमार और भण्डानकों को पराजित किया। डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार—"उसने दिग्विजयी सम्राट् बनाने के आदर्श को चरितार्थ करके दिखा दिया था।" वह अपने जीवन में सिर्फ एक ही युद्ध हारा था। अतः यदि यह कहा जाय कि पृथ्वीराज अपने समय का श्रेष्ठ सेनापति था तो उचित ही होगा। उसने नागौर, जालौर, गुजरात, लाहौर, आदि प्रदेशों को सरलता से जीत लिया था। तराइन के दूसरे युद्ध में यदि मुहम्मद गोरी ने अचानक आक्रमण कर पृथ्वीराज को सोते हुए को न पकड़ा होता तो कदाचित वह दूसरे युद्ध में भी गोरी को मारकर भगा देता। पृथ्वीराज ने साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को बढ़ाया और अपने पड़ोसियों के विरुद्ध अनेक आक्रमणकारी युद्ध लड़कर उन पर विजय प्राप्त की।

संरक्षक पृथ्वीराज—पृथ्वीराज विद्वानों का आदर करता था। उसकी राजधानी अजमेर में विद्वानों का जमघट लगा रहता था। उसके दरबार में पृथ्वी भट्ट, चन्द्रवरदाई, विश्वरूप, वागेश्वर जनार्दन, विद्यापति गौड, जयनक आदि अनेक विद्वान रहते थे। साहित्यकारों व लेखकों को राजकीय संरक्षण प्रदान कर रखा था। ये लेखक उसकी विजय का वर्णन करते थे। पृथ्वीराज ने धार्मिक साहित्य का संग्रह भी किया था। इससे उसकी साहित्य व धर्म दोनों के प्रति रुचि का पता चलता है। उसने जनसाधारण को शिक्षा के लिये प्रोत्साहन भी दिया। अजमेर का आधुनिक ढाई दिन का झोपड़ा चौहानों द्वारा स्थापित सरस्वती कठाभरण नामक संस्कृत का विशाल विद्यालय था। उसके समय चित्तौड, आबू, भीन-माल व अजमेर शिक्षा के केन्द्र थे।

१० दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक अर्ली चौहान डाइनैस्टीज के पृष्ठ 249 से

250 पर पृथ्वीराज के शिक्षा प्रेम व संरक्षण का वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय 85 विषयों में शिक्षा दी जाती थी। चौहान राजा गरीबों के भी संरक्षक थे और जनकल्याण कार्य भी करते थे। सारे राजस्थान में उसने कई नये कस्बे व गाँव बसाये। यातायात के साधनों को बढ़ाया, वाणिज्य की उन्नति की और आवश्यकता की सभी वस्तुओं को सुलभ कर प्रजा को पूरा संरक्षण प्रदान किया।

पृथ्वीराज की कमियाँ—आर० सी० मजूमदार का कहना है कि "पृथ्वीराज उच्च श्रेणी का सेनापति था किन्तु उसमें दूरदर्शिता का अभाव था।" (पुस्तक 'दी स्ट्रगल फॉर एम्पायर' पृष्ठ 113) मजूमदार आगे कहते हैं कि भारतीय शासकों की यह महान् त्रुटि थी कि मुसलमानों के विरुद्ध सदा रक्षात्मक युद्ध लड़ते थे। परिणाम-स्वरूप जब उसके शत्रु युद्ध में हार जाते तो केवल मैदान से लौट जाने पर ही उनकी बचत हो जाती। राजपूत अपने शत्रुओं का भी पीछा नहीं करते थे और पृथ्वीराज भी इस कमी से मुक्त नहीं था। पहली तराइन की लड़ाई के बाद उसे सुल्तान का पीछा कर पंजाब में ही नष्ट कर देना चाहिये था। यह करने के बजाय वह उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित तब्र हिन्द के किले की सुरक्षा की उचित व्यवस्था किये बिना ही अजमेर लौट गया और भयानक परिणाम पीछे आ गये।

पृथ्वीराज की साम्राज्यवादी नीति ने उसके पड़ोसियों से उसके सम्बन्ध खराब कर दिये थे। वह सदा अपने पड़ोसियों से लड़ता रहता था। सबसे पहले जब 1178 ई० में मुहम्मद गौरी ने गुजरात पर आक्रमण किया था तो उसे गुजरात की सहायता करनी चाहिये थी। गुजरात के शासक ने उसकी सहायता माँगी थी। उसके बाद दूसरी दफा जब गौरी ने लाहौर पर अधिकार किया तो उसे 1186 में सारे हिन्दू राजाओं का संगठन बनाकर गौरी का सामना करना चाहिये था। राजपूतों को अपने अधीन संगठित न कर पाकर पृथ्वीराज ने अपनी संगठन शक्ति की कमी का प्रदर्शन किया। उसे मुसलमानों का विकास रोकने के लिये संगठन बनाना चाहिये था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया।

प्राचीन शासन-शक्ति पर ही आधारित होते थे। राजनीतिक विद्वान् लक्ष्मीधर ने 950 ई० में भारतीय राजाओं को चेतावनी दी थी कि यदि वे सतर्क नहीं रहे तो उनका शासन समाप्त हो जायगा। पृथ्वीराज को उस समय की राज-नीतिक परम्पराओं से परिचित होना चाहिये था जबकि चारों तरफ उसके दुश्मन थे। उसके भाई भी स्वयं उसे अल्प आयु का मानकर उसका राज्य छीन लेना चाहते थे। नागार्जुन उसका चचेरा भाई था। उधर उसकी मौसी का भाई जयचन्द उसके विनाश की कामना करता था। एक अनुभवी सेनापति होने के नाते पृथ्वीराज को सिर्फ एक तरफ मोर्चा बनाना चाहिये किन्तु जब भारत पर गौरी के आक्रमण शुरू हुए तो उसने चंदेलों पर आक्रमण किया था और तराइन के युद्ध में आने से पहले वह गुजरात की राजधानी जीत कर आया था। यह दुश्मन उसकी एक भारी कमी थी जिसके कारण उसे पराजित होना पड़ा।

उसकी सेना में अनुशासन का अभाव और गुप्तचर प्रणाली की अव्यवस्था उसकी एक और भारी कमी थी। उसे इस बात का पता तक नहीं था कि गौरी बहुत सवेरे ही आक्रमण कर उसे सोते हुए को अचेत दबोच लेगा। उसकी सेना में अनुशासन का अभाव तो था ही साथ ही सिपाहियों के पास न तो अच्छे हथियार ही थे और न उनको वेतन या भाड़ा पूरा मिलता था। इस प्रकार के भाड़े के टट्टुओं से वीरता प्रदर्शन व विजय की आशा रखना पृथ्वीराज की सर्वथा भूल थी।

कुछ लोग इस बात पर भी जोर देते हैं कि पृथ्वीराज का पारिवारिक जीवन बड़ा अशान्त था। उसके कई पत्नियाँ थी और वह कदाचित् उच्च आदर्शों का व्यक्ति नहीं था। डॉ० दशरथ शर्मा, तराइन के युद्ध के समय उसकी आयु 32 वर्ष की बताते है जबकि ओझाजी उसे 26 वर्ष का ही मानते हैं। इस युवा अवस्था में उसका युद्ध के मैदान मे देर तक सोया रहना उसकी लापरवाही और विलासिता का सूचक है। वह बहुत रसिक व्यक्ति था। प्रथम तराइन के युद्ध के बाद ही संयोगिता को स्वयंवर से उठा लाया। ये सब बातें उसके व्यक्तिगत चरित्र की कमियाँ थी। उसकी बहुपत्नी वाली बात को सामान्य रूप से देखा जा सकता है किन्तु उसका अन्य क्षेत्रों में लापरवाही या अदूरदर्शिता से काम लेना उसके लिये ही नही सारे देश के लिये भारी पड़ गया।

इन सब कमियो के होते हुए भी हमे यह मानने मे कोई शंका नही होनी चाहिये कि वह मध्यकालीन भारत का महान् शासक था जिसकी वीरता के गान भारतीय इतिहास में सदा गाये जायेंगे।

राजपूतों की पराजय के कारण

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद चौहानो ने अपना केन्द्र अजमेर से हटाकर रणथम्भौर बना लिया था और चार पीढ़ी तक वहाँ चौहानो का शासन चला। हम्मीर इनका अन्तिम राजा था जिसे 1301ई. मे अल्लाउद्दीन खिलजी ने पराजित कर चौहानों के राज्य का अन्त कर दिया। हम यह तो मानते हैं कि राजपूत वास्तव में वीर, निडर और अपनी मर्यादा का पालन करने वाले लोग थे। उनके शौर्य पर आज सारे भारत को गर्व होता है। राजस्थान के छोटे से छोटे स्थान पर भी ऐसे वीर पुरुषों की गाथाएँ सुनने को मिल जाएँगी जिन्होंने मातृभूमि की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण दे दिये। कर्नल टाड ने ठीक ही कहा है कि "राजस्थान मे ऐसा कोई छोटा राज्य नही है कि जिसमें थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जहाँ लियानिडास के समान मातृभूमि पर बलिदान होने वाला वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

डॉ० कानूनगो अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री' के पृष्ठ 68 पर कर्नल वाल्टर का मत देते हुए लिखते हैं कि—"राजपूतों ने जो वीर कार्य किये हैं तथा अपने वीरत्व का जैसा परिचय दिया है, वैसा विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास मे नहीं मिलता।" वास्तव मे राजपूतों के शौर्य पर गर्व किया जाना

चाहिए। उन्होंने अपने धर्म और देश के लिए अपने प्राणों को सदा हथेली पर रखा है।

प्रश्न यह उठता है कि इतनी वीर और देशभक्त कौम इस प्रकार शत्रुओं से कैसे हार गई, उसकी पराजय के मूल कारण क्या थे? सामान्यतः विदेशी साहित्यकार एल्फिस्टन, लेनपूल, स्मिथ आदि अंग्रेजी इतिहासकारों का मत है कि भारतीयों की पराजय इसलिए हुई कि उनकी तुलना में तुर्क कहीं अधिक अच्छे सैनिक थे क्योंकि वे शीत प्रदेशों के निवासी थे, मांस खाते थे और युद्धप्रिय थे। लेकिन इस मत में गम्भीरता नहीं है क्योंकि राजपूत भी मांसाहारी होते हैं तथा भारतीय सैनिकों ने गुलामी के युग में भी प्रथम व द्वितीय युद्धों में दूर ठण्डे देशों में जाकर अपनी वीरता की धाक जमाई है। यूरोप, एशिया और अफ्रीका के मैदानों में गौरव यश प्राप्त किया है अतः यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि हमारे पूर्वज हमारी अपेक्षा घटिया रहे होंगे। अतः हमें राजपूतों की पराजय के कारण अन्यत्र कहीं ढूंढने पड़ेंगे। ये कारण निम्नांकित हैं—

1. **देश की आन्तरिक फूट**—घोर संकट के समय भी हमारे शासक मिलकर युद्ध नहीं कर सकते थे। वे सदा आक्रमणकारी से एक-एक करके लड़ते थे। सिकन्दर के आक्रमण से लेकर अंग्रेजों के आगमन तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हम सदा अपने ही मतलब के लिए, केवल अपने राज्य की सुरक्षा के लिए लड़ते रहे हैं। सारे देश के लिए कभी संगठित नहीं हो सके। अतः मुख्य सामान्य कारणों में देश की आन्तरिक फूट को सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण मानना पड़ेगा। महमूद गजनवी को निमन्त्रण देने वाले भी हिन्दू राजा थे। सिकन्दर को भी तक्षशिला के राजा आम्भी ने बुलाया था और पृथ्वीराज के विरुद्ध भी जयचन्द आदि ने मिलकर षड्यंत्र रचा था जिसका इसी अध्याय में पहले वर्णन किया जा चुका है। स्पष्ट है कि हमारी आन्तरिक फूट राजपूतों की पराजय का प्रथम कारण थी।

2. **स्थायी सेना**—भारतीय सेना अधिकतर एक भीड़ के समान होती थी। किसी के पास भाला, किसी के पास तलवार तो किसी के पास लाठी ही होती थी। न तो उन्हें किसी प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता था और न ही उनकी निश्चित स्थाई संख्या होती थी। सामान्यतः युद्ध के समय राजा सामन्तों से सेना मंगा लेता था और युद्ध समाप्त होने पर उन्हें वापस भेज दिया जाता था। कुछ सैनिक तो किराये पर मंगाये जाते थे। इस प्रकार राजपूतों की सेना में न तो युद्ध-कौशल था और न ही अनुशासन। उनके लड़ने के ढंग भी अलग-अलग थे। मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस कमजोरी का पूरा-पूरा लाभ उठाया और राजा के पास अनुशासन व अभ्यास के अभाव से पीड़ित अस्थाई सेना राजपूतों की पराजय का कारण बन गई।

3. **हाथी और घोड़े**—भारतीय सेना का अग्रिम अंग हाथियों का होता था जो शत्रु के अग्रिम भाग को नष्ट करने में काम में लिया जाता था किन्तु मुसलमानों

के तीखे तीरो की मार से ये बिना लगाम के हाथी बिगड़ जाते थे और पीछे मुड़कर अपनी ही पैदल सेना का संहार शुरू कर देते थे। भारतीय सेना का दूसरा मुख्य अंग होता था पैदल सैनिक जो विदेशी तेज दौड़ने वाले घोड़ों के सामने खड़ा नहीं रह सकता था। वैसे तो महमूद गजनवी भी हाथियों का प्रयोग करता था किन्तु उनसे सिर्फ दुर्ग के द्वार तुड़वाने का काम लिया जाता था। घोड़ों में भी मुसलमानों के पास अच्छी नस्ल के घोड़े थे। वे घुड़सवारों को अपनी फौज का खास अंग रखते थे जबकि राजपूतों में पैदल सेना अधिक होती थी। राजपूतों के भारी धीरे चलने वाले हाथी और पैदल तुर्कों के फुर्तीले घोड़ों की बराबरी नही कर सकते थे। तुर्कों के तेज घोड़े भारतीय सेना को जल्दी ही घेर कर चारों ओर से प्रहार करने लगते थे और जब भारतीय सेना भागने लगती तो उनका आसानी से पीछा कर उन्हें कत्ल कर डालते थे। अतः घोड़ों के स्थान पर हाथी व पैदलों का प्रयोग भी राजपूतों की पराजय का कारण था।

4. रण-नीति—हमारा सैनिक संगठन ही पुराने और पिछड़े सिद्धान्तों पर आधारित नही था वरन् हमारे सेनापति अन्य देशों की रण-नीति से परिचित नही थे। यह दोष हमारे देश में हर युग में देखने को मिलता है। दूसरे देश तो प्रगति पर थे लेकिन हम जहाँ के वहाँ रहे। इसलिए अस्त्र-शस्त्र तथा समर-नीति दोनों ही क्षेत्रों में मुसलमान राजपूतों से श्रेष्ठ थे। भारतवासियों के लिए आगे चलकर बाबर ने भी कहा था कि भारतवासी मरना जानते हैं, लड़ना नही। राजपूत वीर थे, अपने प्राण दे सकते थे किन्तु शत्रु की दुर्बलता से लाभ उठाना उन्हें नही आता था। सच तो यह है कि उन्हें युद्ध के दाँव-पेचों का प्रयोग करने की योग्यता नही थी। राजपूत तलवार और भाले का प्रयोग अधिक करते थे और तीर चलाने मे पारगत नही थे जबकि मुसलमान तीरों के द्वारा दूर से ही राजपूतों को परेशान कर देते थे। मुसलमानों के पास दुर्ग विजय के लिए मजनिक और अर्रादा नामक हथियार थे जबकि राजपूतो को दुर्ग जीतने की विधि नही आती थी। इस प्रकार रण-कौशल व नीति में मुसलमान राजपूतों से अधिक चालाक व दक्ष थे।

5. गुप्तचर - मुसलमान आक्रमण करने से पहले राजपूतों की सैनिक-शक्ति आदि का पूरा पता लगा लेते थे और उनके व्यापारी यहाँ का सारा हाल अपने देश भेज देते थे और राजाओं की शक्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही आक्रमण करते थे। वे गुप्तचरो की सहायता से असंतुष्ट और देशद्रोहियों को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेते थे। तुर्क लोगों का गुप्तचर विभाग बहुत गठित और निपुण था। उनके व्यापारी गुप्तचर हमारे देश में बेरोक-टोक इधर-उधर घूमते रहते थे और सारा हाल जान लेने के बाद वे अचानक आक्रमण करते थे। इसके विपरीत राजपूतों की सेना मे गुप्तचरों का पूर्णतया अभाव था। वे शत्रु की गति-विधि से सर्वथा अपरिचित रहते थे। इस प्रकार राजपूतों को विदेशी आक्रमणकारियों की सैनिक तैयारियों का बिल्कुल पता नही रहता था और वे युद्ध-क्षेत्र मे सदा अपरिचित से रहते थे जबकि मुसलमानो को हर स्थिति का ज्ञान रहता था। शत्रु की

गतिविधियों से अपरिचित रहकर राजपूत साधारणतः जीता हुआ युद्ध हार जाते थे।

6. धर्म युद्ध—डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'दिल्ली सल्तनत' के पृष्ठ 95 पर राजपूतों की पराजय के कारण बताते हुए लिखते है कि "राजपूतों को अपनी तलवार चलाने की कला पर घमण्ड था और युद्ध को वे रण-कौशल तथा वीरता के लिए एक टूर्नामेन्ट समझते थे।" इसके विपरीत तुर्क लोग विजय के लिए युद्ध में हर चीज को उचित मानते थे। शत्रु पर रात में सोते समय आक्रमण करना, भागते शत्रु को पकड़कर मार डालना आदि राजपूत अधर्म समझते थे और मुसलमान इनका पूरा प्रयोग करते थे। वे तो युद्ध जीतना चाहते थे चाहे इसके लिए उन्हें किसी भी मार्ग का अनुकरण करना पड़े। यदि पृथ्वीराज तराइन की पहली लड़ाई के मैदान से भागते हुए घायल महमूद को पकड़कर मार डालता तो उसे दूसरा युद्ध ही नही लड़ना पड़ता। किन्तु धर्म-युद्ध के चक्कर में उसने अपना सर्वनाश कर लिया।

7. सीमा-सुरक्षा—देश रक्षा के लिए सीमा-सुरक्षा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है किन्तु राजपूत राजाओं ने अपनी सीमा को सुरक्षित बनाने के लिए कभी चेष्टा नही की। भारत पर अधिकतर विदेशी आक्रमण पश्चिमी व उत्तरी दर्रों से हुए हैं। राजपूतों के समय में महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के आक्रमण भी उत्तर-पश्चिम सीमा से ही हुए थे। यदि पृथ्वीराज अपनी सीमा-सुरक्षा के लिए ठोस कदम उठाता तो कदाचित् गौरी थानेश्वर तक नही आ पाता। पजाब में मुसलमानो का अधिकार हो चुका था। उसे भी रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। जिस समय मुहम्मद गौरी तराइन की पहली लड़ाई मे हार कर भागा था उसी समय यदि पृथ्वीराज अपनी सुरक्षा और भावी आक्रमणों से बचत के लिए ठोस कदम उठाता तो उसे पराजित नहीं होना पड़ता। मुसलमानो ने पंजाब को अपना आधार बनाकर राजपूतों पर आक्रमण किये थे। अतः सीमा की सुरक्षा का ध्यान न रखकर पृथ्वीराज ने शत्रु के लिए अपने घर के द्वार खोल दिये।

8. जाति-प्रथा—डॉ० दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक अर्ली चौहान के पृष्ठ 322 और 323 पर राजपूतो की पराजय के कारण बताते हुए लिखते हैं कि—"राजपूत सेना में जाति-भावना भरी पड़ी थी तथा झूठे अहंकार के कारण उनमें सामूहिक एकता नही आती थी।" वास्तव में राजपूतों की पराजय का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण जाति की भावना थी। वे अपने राजा के वफादार या स्वामिभक्त कहलाने को लड़ते थे। उनका उद्देश्य सीमित था जबकि मुसलमानो में धार्मिक जोश रहता था और वे विजय को इस्लाम की विजय समझते थे और इसीलिए हर युद्ध को धर्म युद्ध या 'जिहाद' का नाम देते थे, राजपूतों की कमी होती जा रही थीं। तराइन के मैदान मे लगभग एक लाख सैनिक मारे गये। हमारे देश में यह प्रथा चली आ रही थी कि युद्ध तो सिर्फ क्षत्री ही करेंगे और उनकी पराजय से समाज के दूसरे वर्ग विचलित नहीं होते थे। इस परम्परा के अनुसार मुहम्मद गौरी के विरुद्ध भी राजपूत ही लड़ते

रहे अन्य जातियो ने उनका साथ नही दिया। इस प्रकार जाति-प्रथा पृथ्वीराज की पराजय का एक और कारण बन गई।

9. सामन्त प्रथा—राजपूतो का राजनैतिक गठन ही दोषपूर्ण था। वे रक्षात्मक युद्ध लडते थे और तुर्क सदा आक्रमण मे विश्वास रखते थे। युद्ध के समय राजा सामन्तो से सेना मँगा लेता था किन्तु ये भाड़े के सैनिक उस उत्साह से नही लड़ते थे जिससे मुसलमान सैनिक जो अपने सेनापति को ही स्वामी मानते थे। पेशेवर सैनिको से सम्राट के प्रति स्नेह या भक्ति की आशा करना व्यर्थ था। राजपूत अपने आपको कुलागत मानते थे और सेनापति की मृत्यु पर उसके लड़के को ही सेनापति बनाया जाता था जिससे अन्य योग्य सैनिको और दूसरी जाति के लोगो मे असन्तोष फैलता था फलस्वरूप सैनिको का पूर्ण सहयोग नही मिल पाता था। राजपूतों मे राजा, सामन्त और सेना तीन अलग-अलग इकाइयाँ थी। जबकि मुसलमान सेना सुल्तान को ही अपना सब कुछ समझती थी अतः सामन्त प्रथा राजपूतो की शक्ति के विभाजन के कारण बन गई।

10 सामाजिक कारण—भारतीय समाज ऊँच-नीच और वैमनस्य से भरा रहता है। राजपूतों मे भी अनेक उपजातियाँ थी जो एक-दूसरे से जलती थी। सामन्तों में भी ऊँच-नीच की भावना भरी पडी थी और सारे राजपूत कभी एक होकर नही लड़ सके। जयचन्द अपने भाई पृथ्वीराज से जलता था। नागार्जुन भी उसका प्रतिद्वन्द्वी था। हमारे समाज की शिथिलता, आपसी फूट, मादक पदार्थों व सेवन, बहुविवाह, अहकारी भावना आदि ऐसी बातें है जो सदा हमारे शासको i दामन से लिपटी रही है। हम सदा आपस में भी लडते रहे हैं। इन सामाजिक बुरा इयों को लेकर संगठित विदेशियो के सामने हम सदा हारे हैं। हमारा समाः विभीषणो से भरपूर है। सामाजिक कुरीतियाँ हमारी पराजय का एक औ कारण है।

11. धार्मिक बाधा—भारत की अधिकाश जनता धर्म भीरु और अहिंसा है। जैन व बौद्ध धर्म ने रहे-सहे शौर्य की कमर तोड डाली। धार्मिक विश्वास भ कभी-कभी सीमा लाँघ जाते है।·· महमूद गजनवी के विरुद्ध राजपूतों की सहायता इसलिए स्वीकार नही की गई कि उन्हे विश्वास था कि सोमनाथ महमूद को मा भगायेंगे। ज्योतिषियो की भविष्यवाणी पर निर्भर रहकर हिन्दू लापरवाह हो जाते थे। इसी कारण लक्ष्मण सेन को इल्तुतमिश के हाथो हारना पड़ा। अन्धविश्वास पर आधारित हिन्दू-धर्म भला किस प्रकार मुसलमानो की शहीद होने की या इस लोक व परलोक सुधारने की भावना से टकरा सकता था। वास्तव में गौतम बुद्ध और महावीर की अहिंसा ने सैनिक-शक्ति को निर्बल कर दिया था।

12 योग्य प्रतिद्वन्द्वी कुछ इतिहासकारों का मत है कि राजपूतों मे तो सिर्फ पृथ्वीराज चौहान ही एकमात्र योग्य राजा था जबकि उनके प्रतिद्वन्द्वी मुसलमानो मे महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, कुतुबुद्दीन जैसे योग्य सेनानायक थे। मुसलमान सेनापति भारतीय सेनापतियो की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी और अनुभवी थे।

अपमान न सह सकने के कारण जयपाल ने अपने आपको जिन्दा जला दिया किन्तु वह वापस विजय पाने का कोई और उपाय नहीं ढूंढ सका। इन बातों से स्पष्ट है कि हिन्दुओं से प्रतिद्वन्द्वी अधिक योग्य थे।

13. आतंक प्रथा—मुसलमान सहसा आक्रमण करते थे और लूटमार, आगजनी, हत्या, बलात धर्म-परिवर्तन, कत्लेआम आदि साधनों का सहारा लेकर आम जनता पर आतंक फैला देते थे जिससे सारे देश का उत्साह भंग हो जाता था। वे विद्युत गति से हमारे सैनिकों तथा सुन्दर नगरों पर झपट पड़ते और तलवार तथा अग्नि से देश को उजाड़ देते जिससे हमारे सैनिकों का मनोबल चूर्ण हो जाता। इस भावना से हमारे समाज को लकवा मार जाता और वे लोग मनोवैज्ञानिक विजय तो लड़ाई से पहले ही प्राप्त कर लेते थे। उनकी आतंक की नीति विरोधियों के लिए यातनाओं का कारण बन जाती थी अतः जनता ने उनका विरोध छोड़ दिया और राजपूतों की पराजय प्रायः स्वाभाविक हो गई।

14. सैनिक भरती—डॉ० ईश्वरी प्रसाद का मत है कि मुसलमानों को मध्य एशिया से वीर और मरने-मारने वाले सैनिक बराबर मिलते रहते थे जिन्हें कत्लेआम, लूटमार और आग आदि लगाने में आनन्द आता था। वे लोग भारत की धन सम्पत्ति से भी आकर्षित थे और अधिकांश योद्धाओं का भारत आने का मूल कारण धन प्राप्ति था, इसलिए मुसलमानों को कभी योग्य सैनिकों की कमी नहीं हुई जबकि राजपूतों को इस प्रकार के सैनिक प्राप्त नहीं थे।

15. आकस्मिक कारण—जयपाल और सुबुक्तगीन के युद्ध में यकायक वर्षा और हिमपात ने भारतीय सैनिकों को हताश कर दिया। महमूद गजनवी के विरुद्ध आनन्दपाल के हाथी यकायक बिगड़ गये। इसी प्रकार चन्दावर की लड़ाई में जयचन्द की आँख में तीर लग गया अन्यथा मुहम्मद गौरी के युद्ध जीतने की कोई सम्भावना नहीं थी। इस प्रकार की अनेक आकस्मिक घटनाओं ने समय-समय पर राजपूतों पर दैविक प्रकोप कर दिखाया था। पृथ्वीराज का तराइन की दूसरी लड़ाई में निर्णायक युद्ध के दिन देर तक सोते रह जाना भी एक आकस्मिक घटना ही थी अन्यथा युद्ध भूमि में देर तक सोते रहना सामान्य जीवन का अंग नहीं कहा जा सकता। आकस्मिक घटनाओं ने राजपूतों को पराजित करने में आक्रमणकारियों का साथ दिया।

6

चौहान राजा हमीर देव (1105-1116)

कोटा राज्य में प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण पाषाण लेख रणथम्भौर के चौहानों का कालक्रम बताता है कि हमीर पृथ्वीराज की चौथी पीढ़ी का शासक था। पृथ्वीराज वाग्भट्ट (बहाड़), जैत्रसिंह और हमीर। इसी लेख में यह भी कहा गया है कि हमीर ने मालवा जीता था और पुष्पक नामक एक तिमंजिला स्वर्ण महल बनवाया था जो रणथम्भौर में स्थित जयपुर का राजकीय महल हो सकता है। हमीर का यह वर्णन डॉ० लाल अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 82 पर देते हैं।

श्री गहलोत का कहना है कि "पृथ्वीराज का पुत्र गोविन्दराज अजमेर से हटाये जाने के बाद रणथम्भौर चला गया और वहाँ उसने नये राज्य की स्थापना की। इस वंश में हमीर बहुत ही प्रसिद्ध शासक हुआ है।" वास्तव में हमीर चौहान वंश का अन्तिम पराक्रमी शासक था। तराइन का दूसरा युद्ध निर्णायक था उसके फलस्वरूप दिल्ली व अजमेर से चौहानों का राज्य समाप्त हो गया। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद मुहम्मद गोरी ने उसके बेटे गोविन्दराज को अजमेर का राजा बना दिया था। किन्तु पृथ्वीराज का भाई हरिराज अजमेर को मुसलमानों के अधीन नहीं देख सका और उसने अजमेर पर आक्रमण कर उसे छीन लिया। पृथ्वीराज का पुत्र गोविन्दराज अजमेर छोड़कर रणथम्भौर चला गया और वहाँ चौहानों का राज्य जमाया। इसी वंश का अन्तिम राजा हमीर था। श्री ओझा के अनुसार—"सन् 1300 ई० में राजा हमीर चौहान से रणथम्भौर का किला लेकर अलाउद्दीन खिलजी ने वहाँ के चौहान राज्य की समाप्ति की।"—'राजपूताने का इतिहास', पृष्ठ 309

रणथम्भौर राजस्थान के दक्षिण-पूर्वी कोने में है। यह पथरीले पठार पर समुद्र की सतह से 1578 फुट ऊँचाई पर स्थित है। अमीर खुसरो के अनुसार यह दिल्ली से दो सप्ताह की यात्रा की दूरी पर स्थित था और इसकी परिधि तीन कोस लम्बी एक ठोस दीवार से घिरी थी। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसके भाई हरिराज और उसके बेटे ने अपने पूर्वजों के राज्य को पाने के लिए कई विफल कोशिशें कीं किन्तु अन्त में निराश होकर उन्हें अजमेर व दिल्ली का विचार त्याग देना पड़ा। वे सब रणथम्भौर आ गये और यह स्थान राजपूतों का एक विशाल केन्द्र बन गया। लगभग सौ वर्षों तक यहाँ चौहानों का राज्य रहा (1194 से 1300 ई० तक)। दिल्ली के सुल्तानों ने कई बार रणथम्भौर पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा

की थी परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली थी। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1209 में आक्रमण किया और 1226 में इल्तुतमिश ने इसे जीत लिया था किन्तु शीघ्र ही वह पुनः स्वतन्त्र हो गया था। 1291 ई. में जलालुद्दीन खिलजी ने उसके विरुद्ध अभियान किया किन्तु दुर्ग को अजेय पाकर वापस लौट आया। इधर मुसलमान सुल्तान राजस्थान को पूर्ण रूप से अपने अधीन करने के लिए अधीर थे और उधर चौहान अपने राज्य को वापस पाने के लिए कटिबद्ध थे। मेवाड़ के राणा भी इस मामले में चौहानों के पक्ष में थे। जिस समय अलाउद्दीन अपने चाचा को मारकर दिल्ली का सुल्तान बना (20 जुलाई, 1296) उस समय रणथम्भोर पर एक शक्तिशाली राजा हमीर देव चौहान राज्य करता था।

ज्ञान के स्रोत—चौहानों के इतिहास में दो ही शासकों पर अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिलती है। एक पृथ्वीराज चौहान पर और दूसरी हमीर देव चौहान पर। क्योंकि इस राजा ने मुसलमानों के साथ निर्णायक युद्ध किये थे अतः मुसलमान लेखकों ने भी इसकी वीरता और अन्तिम पराजय का वर्णन किया है। सब मिलकर निम्नांकित ग्रन्थ हमीर के जीवन और काल का वर्णन करते हैं—

1. न्याय चन्द सूरी का 'हम्मीर महाकाव्य'।
2. जोधराज का 'हम्मीर रासो'।
3. चन्द्र शेखर का 'हम्मीर हठ'।
4. प्रबन्ध कोष।
5. बलबन और गाय शिलालेख।
6. जियाउद्दीन बरनी—'तारीख-ए-फीरोजशाही' और 'फतवाए ज़हादारी'।
7. अमीर खुसरो की पाँचों रचनाएँ।
8. सूरज चरित्र के वर्णन व पिंगल, प्राकृत और सनंगद्य रणघति भी हमीर का वर्णन करती है।
9. डॉ० दशरथ शर्मा—'दी अर्ली चौहान डाइनेस्टीज।'
10. गौरीशंकर ओझाकृत "राजपूताने का इतिहास"।

ये सभी ग्रन्थ हमीर के समय, शासन और युद्धों का वर्णन करते हैं। इनके अनुसार हमीर जयत्र सिन्हा का लड़का था। ग्रन्थकारों में यह भी मतभेद है कि हमीर जयत्र सिन्हा का पहला या तीसरा बेटा था। हम्मीर महाकाव्य से पता चलता है कि जयत्र सिन्हा के तीन पुत्र थे सूरत चन्द्र, विरमा और हमीर। इनमें हमीर अन्तिम पुत्र था जो 1282 ई० में रणथम्भोर का शासक बना। डॉ० दशरथ शर्मा भी इसी मत का समर्थन करते हैं। सबसे छोटा होते हुए भी हमीर को ही शासन भार सौंपा गया क्योंकि वह सबसे योग्य था। उसकी माता का नाम हीरादेवी था। एक इतिहासकार ऐसे हैं जो हमीर को जयत्र सिन्हा का बड़ा बेटा

मानते हैं। श्री हरविलास शारदा की धारणा है कि हमीर के बाद जयत्रसिन्हा के दो पुत्र और हुए थे किन्तु अन्य कोई ग्रन्थ इस बात का समर्थन नहीं करता इसलिये शारदाजी के मत को सही नहीं मानकर डॉ० दशरथ शर्मा का विचार ही मान्य लगता है कि हमीर छोटा बेटा होते हुए भी योग्य होने के कारण रणथम्भोर का राजा बना। उसने अठारह वर्ष तक राज्य किया (1282 से 1300 ई० तक)। इस तिथि पर भी कुछ लोगों को व्यर्थ की आपत्ति है।' प्रबन्ध कोष की आड़ लेकर हमीर के राज्यारोहण की तिथि 1286 ई० आँकने का प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ और त्रुटिपूर्ण है। डॉ० दशरथ शर्मा हमीर महाकाव्य का विश्लेषण कर सत्य तक जा पहुँचे हैं कि अपने पिता के बाद हमीर 1282 ई० में गद्दी पर बैठा था'। अपने अन्तिम समय में जयत्रसिन्हा चम्बल नदी पर स्थित पाटन तीर्थ गया था और वहाँ जाने की तिथि प्रबन्धकोष में दी है जिसे हमीर का राज्याभिषेक समय मान लिया गया है। वास्तव में हमीर को तीर्थ-स्थान जाने के तीन वर्ष पहले राज्य सौंप दिया गया था। जो भी हो यह विवाद का प्रश्न नहीं क्योंकि जो लेखक 1282 ई० के अतिरिक्त तिथि देते हैं उन्होंने चौहानों पर कोई शोधकार्य नहीं किया है अतः डॉ० दशरथ शर्मा की तिथि को ही मानना उचित होगा कि हमीर 1282 ई० में रणथम्भोर का शासक बना।

हमीर की विजय—हमीर एक महान् योद्धा था। उसके शासनकाल का अधिकांश समय युद्धों मे व्यतीत हुआ था। अपने 18 वर्ष के शासनकाल मे दिग्विजय और अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। पुरोहित विश्वरूप ने उसे अश्वमेध यज्ञ करवाया था। उसकी युद्ध और विजयों के विषय में हमीर महाकाव्य से पता चलता है कि उसने गद्दी पर बैठते ही दिग्विजय की नीति अपनाई और आस-पास के क्षेत्रों को जीत डाला। न्यायचन्द सूरी ने इन विजयों का क्रमबद्ध वर्णन हमीर महाकाव्य में किया है। कुल मिलाकर हमीर ने चौदह स्थानों पर विजय प्राप्त की। उसने खिलजी शासक जलालुद्दीन खिलजी के आक्रमण को 1290 में विफल किया। अलाउद्दीन के 1300 ई० के आक्रमण को भी उसने विफल कर दिया था किन्तु अन्त में गलत चिह्न देखकर क्षत्राणियों के जोहर कर लेने से वह वापस अलाउद्दीन की सेना पर टूट पड़ा और लडता लडता मारा गया। इस प्रकार हमीर ने कुल 17 युद्ध लड़े जिनमें से 16 में उसे विजय प्राप्त हुई।

हमीर ने सबसे पहले भीमरस के शासक अर्जुन को पराजित किया। वलबन, शिलालेख में अर्जुन को मालवा का शासक बताया है जो हमीर के पिता जयत्रसिन्हा के समकालीन जयसिन्हा द्वितीय का उत्तराधिकारी था। इसी शिलालेख मे यह भी वर्णन मिलता है कि हमीर ने मालवा के शासक अर्जुन की हस्ति सेना पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। मालवा जीतने के बाद हमीर ने मांडलगढ़ को जीता और यहाँ के राजा से बहुत सी भेंट आदि वसूल की। मांडलगढ़ की विजय को अलग इतिहासकारों ने अलग अलग नाम से पुकारा है। हरविलास शारदा

इसे माण्डालागढ़ कहते है तो कुछ प्राचीन ग्रन्थ इसे माण्डल-कूटा कहते हैं। डाक्टर दशरथ शर्मा और ओझाजी इसे मांडलगढ़ कहते हैं। जो भी हो हमीर की दूसरी विजय मांडलगढ़ थी। उसके बाद उसने अश्वमेध यज्ञ कर अपनी दक्षिण विजय का अभियान शुरू किया। इसमें उसने राजा भोज, जो परमार वंश का था, पराजित कर उज्जैन और धार को अपने अधीन किया। उत्तर की तरफ लौटते हुए उसने दस स्थानों को विजय कर अपने अधीन किया। इस विजयाभिमान में हमीर की तलवार का लोहा मानने वाले व हमीर को भेंट कर और सम्मान देने वाले राजाओं की गिनती चित्तौड़ से मेरठ तक के दस राज्यो मे फैली हुई है। हमीर ने एक ही दौर में चित्तौड़, आबू, वर्धनपुर, चंगा, पुष्कर, मेरठ, खंडवा, चम्पा और कंकरिला को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसकी अन्तिम विजय करौली की थी। डॉ० दशरथ शर्मा ने जिसे मेरठ कहा है उसे हमीर महाकाव्य में महाराष्ट्र कहा है और करौली को त्रिभुरा नगरी भी कहा गया है। हमीर ने अपना यह विजय अभियान 1288 ई० मे शुरू किया था। बलवन शिलालेख से भी इन विजयों का वर्णन और तिथिक्रम का पता चलता है। इन सब विजयों के अतिरिक्त न्यायचन्द्र सूरी ने हमीर महाकाव्य मे एक और परमार राजा का वर्णन किया है जिसे हमीर ने धार नामक स्थान पर पराजित किया था।

ये आक्रमण तो हमीर ने दूसरे राज्यों पर किये थे। यहाँ उन दो आक्रमणों का वर्णन भी करना उचित होगा जो मुसलमान शासकों ने हमीर पर किये थे। ये आक्रमणकारी खिलजी वंश के सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी और उसका भतीजा अलाउद्दीन खिलजी थे।

जलालुद्दीन खिलजी का आक्रमण—मुहम्मद गौरी द्वारा दिल्ली से निष्कासित किये जाने के बाद से रणथम्भौर चौहानों का सबसे बड़ा गढ़ था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस किले पर 1209 ई० मे असफल आक्रमण किया था। इल्तुतमिश ने 1226 में इसे बहादुरी से नहीं बल्कि विश्वासघात से जीत लिया था जिसे रजिया के समय में राजपूतों ने पुनः स्वतन्त्र कर लिया। बलवन ने 1249 में वहाँ तुर्की राज्य स्थापित करना चाहा पर असफल रहा। इतिहासकार लाल अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 28 पर लिखते है कि सन् 1282 में रणथम्भौर की गद्दी पर महान् योद्धा राणा हमीर बैठा। उसने गढ़ मांडला के गौड़ राजा को पराजित करके कर देने के लिए बाध्य किया। उसने उज्जैन के राजा भोज द्वितीय पर आक्रमण कर उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया। अपने प्रदेश को लौटते समय वह अजमेर, पुष्कर, सांभर और खण्डेला से होकर निकला और इन सब स्थानों पर अधिकार कर लिया। "इन सब विजयों ने जलालुद्दीन खिलजी को इतना भयभीत किया कि उसने रणथम्भौर का अभियान करने का निश्चय किया।" पता नहीं इस वृद्ध और शान्ति-प्रिय शासक ने ऐसा सकटपूर्ण अभियान हाथ मे क्यों लिया।

15 दिन की यात्रा के बाद जलालुद्दीन रणथम्भौर की सीमा पर पहुंचा। उसने पहले सीमा पर झाँई का नगर जीता। हमीर ने शत्रु को रोकने के लिए

अपने वीर सेनापति गुरदन सैनी को दस हजार रावतो की सेना देकर भेजा। सैनी महान् सेनापति था और मालवा के प्रदेशों में अपनी वीरता का परिचय दे चुका था किन्तु एक भयानक युद्ध के पश्चात् वह मारा गया। जलालुद्दीन ने झांई के सुन्दर नगर को स्वर्ग से नर्क बना दिया। उसके बाद मालवा से होता हुआ वह रणथम्भौर के बाहर जा पहुंचा। हमीर ने अपने किले को मजबूत किया। अनेक पड़ोस के राजा भी उसकी मदद को आ गये। राजपूतों की तैयारी देखकर पहले तो सुल्तान थोडा झिझका फिर भयानक युद्ध, यन्त्र, मगरबी, साबात और गरगच तैयार करने का आदेश दिया। किन्तु जब खुद रणथम्भौर के किले का निरीक्षण करके लौटा तो कुछ घबरा मा गया और सेनापतियों के समझाने पर भी वापस दिल्ली लौट जाने का निश्चय कर लिया। लोगों ने बहुत समझाया कि इससे आपका सम्मान कम हो जाएगा और इस स्थान का राजा अत्यन्त गर्व का अनुभव करेगा। किन्तु सुल्तान हमीर से डर गया और लौटने का निश्चय कर बोला—"ऐसे दस किलो को भी मुसलमान के बाल के बराबर नही समझता।" उसने घेरा हटा लिया और 2 जून, 1291 को वापस दिल्ली पहुंच गया।

इस प्रकार हमीर के भय से जलालुद्दीन को रणथम्भौर से पलायन करना पड़ा।

अलाउद्दीन का आक्रमण—अपने चाचा जलालुद्दीन को मार कर अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान बना। उसे यह ज्ञात था कि पिछले सभी मुसलमान सुल्तान रणथम्भौर को जीतने मे असफल रहे है। यदि वह रणथम्भौर को जीत लेता तो राजपूतो की शक्ति नष्ट करने में उसे कोई कठिनाई नही होती। अतः हमीर वह कसौटी थी जिस पर अलाउद्दीन खिलजी राजपूतो की शक्ति आंकना चाहता था। अलाउद्दीन ने बहुत सोच समझ कर इस किले पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के कई कारण थे जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं :—

1. **सैनिक महत्त्व**—राजस्थान दिल्ली और दक्षिण के बीच मे पड़ता है। इस प्रदेश मे विरोधी शक्ति होने का अर्थ यह था कि सुल्तानों को दक्षिण विजय और प्रशासन संचालन मे सदा बाधा पड़ती रहेगी। अतः दक्षिण पर नियंत्रण करने के लिए आवश्यक था कि रणथम्भौर के स्वतन्त्र चौहानो को पराजित कर उनकी शक्ति को क्षीण किया जाय। यह किला दिल्ली से दूर भी नही था और मालवा आदि पर नियंत्रण रखने के लिए इसका सैनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व था।

2. **अपमान का बदला**—मुस्लिम आक्रमणकारियों ने रणथम्भौर पर अधिकार करने की कई विफल चेष्टाएँ की थी जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। जलालुद्दीन खिलजी ने भी इसके विरुद्ध अभियान किया था किन्तु दुर्ग को अजय पाकर वह खाली हाथ लौट गया था। इस असफलता से खिलजी साम्राज्य के सम्मान को काफी धक्का लगा था और उसके मुँह पर एक करारी थपत सी लगी

थी। अपने वंश के इस अपमान का बदला लेने के लिए यह आवश्यक हो गया कि अलाउद्दीन रणथम्भोर को जीत ले।

3. शक्ति परीक्षा—डॉ० लाल अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 82 पर कहते हैं कि—"वास्तव में रणथम्भौर पहली रियासत थी जिसे राजपूतों के साथ शक्ति आजमाने के लिए चुना गया था। "वास्तव में रणथम्भौर का किला बहुत सुदृढ़ और अजय था। यह किला सदा मुसलमानों के लिए एक चुनौती था और इसकी स्वतन्त्रता मुस्लिम साम्राज्य के लिए एक सिर दर्द थी। इस किले की प्रसिद्ध दुर्भेद्यता के कारण अपनी सैनिक शक्ति को आजमाना चाहता था। वह संसार विजय की सोचता था फिर अपने पास ही स्वतन्त्र हिन्दू राज्य कैसे सहन कर सकता था? अतः उसने अपनी सैनिक शक्ति की परीक्षा लेने के लिए रणथम्भौर पर आक्रमण करना उचित समझा।

4. विद्रोही को शरण— श्री गहलोत का कहना है कि—"हमीर ने अलाउद्दीन के एक अपराधी मुहम्मद शाह को शरण देकर सुल्तान को नाराज कर लिया।" (पृष्ठ 27) इसी सन्दर्भ में डॉ० लाल कहते हैं कि—"जालौर के निकट हुए विद्रोह के नेता मुगल विद्रोही मुहम्मदशाह और उसके भाई केहब्रू को रणथम्भौर के राणा ने शरण दी थी।" यद्यपि कोई भी समकालीन इतिहासकार इस बात को आक्रमण का कारण नहीं बताते लेकिन यह वास्तव में एक बड़ा बहाना बन गया। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि—"हमीर देव ने कुछ विद्रोही नये मुसलमानों को अपने यहाँ शरण दी थी। उसके इस दुस्साहस के लिए उसे दण्ड देना अलाउद्दीन अभिवांछनीय समझता था।" (दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ 178)

अलाउद्दीन ने हमीर से यह माँग की थी कि विद्रोहियों को उसके हवाले कर दे किन्तु हमीर ने शरणार्थियों को सौंपना धर्म के विरुद्ध समझा। हमीर महाकाव्य में इस घटना का वर्णन मिलता है। हमीर ने जब अलाउद्दीन की बात को ठुकरा दिया तो उसे क्रोध आना स्वाभाविक था। वास्तव में बात यह थी कि अलाउद्दीन की बेगम चिमना, सेनापति मुहम्मदशाह से प्रेम करती थी। बेगम और सेनापति ने मिलकर अलाउद्दीन के विरुद्ध षड्यंत्र रचा जिसका पता अलाउद्दीन को चल गया। फलस्वरूप मुहम्मद दिल्ली से भाग निकला और रणथम्भौर में आकर शरण ली। इस घटना का वर्णन चन्द्रशेखर के 'हमीरहट' और जोधराज के 'हमीर रासो' में मिलता है। यद्यपि इस घटना का वर्णन समकालीन किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में नहीं मिलता फिर भी डॉ० लाल कहते हैं कि यह घटना अनुमानतः सत्य ही है। इस प्रकार के शरणार्थी को न लौटाना युद्ध का तात्कालिक कारण बन गया।

5 धर्म-शिमा और भोज की गद्दारी—अलाउद्दीन ने वास्तविक युद्ध के आक्रमण से पहले अपने सेनापति उलुग खाँ को रणथम्भौर जीतने के लिए भेजा जिसे हमीर के सेनापति भीमसिंह ने बनास नदी के किनारे पराजित किया।

अपने वीर सेनापति गुरदन सैनी को दस हजार रावतों की सेना देकर भेजा। सैनी महान् सेनापति था और मालवा के प्रदेशों में अपनी वीरता का परिचय दे चुका था किन्तु एक भयानक युद्ध के पश्चात् वह मारा गया। जलालुद्दीन ने झाई के सुन्दर नगर को स्वर्ग से नर्क बना दिया। उसके बाद मालवा से होता हुआ वह रणथम्भौर के बाहर जा पहुंचा। हमीर ने अपने किले को मजबूत किया। अनेक पड़ोस के राजा भी उसकी मदद को आ गये। राजपूतों की तैयारी देखकर पहले तो सुल्तान थोड़ा झिझका फिर भयानक युद्ध, यन्त्र, मगरबी, साबात और गरगच तैयार करने का आदेश दिया। किन्तु जब खुद रणथम्भौर के किले का निरीक्षण करके लौटा तो कुछ घबरा सा गया और सेनापतियों के समझाने पर भी वापस दिल्ली लौट जाने का निश्चय कर लिया। लोगों ने बहुत समझाया कि इससे आपका सम्मान कम हो जाएगा और इस स्थान का राजा अत्यन्त गर्व का अनुभव करेगा। किन्तु सुल्तान हमीर से डर गया और लौटने का निश्चय कर बोला—"ऐसे दस किलों को भी मुसलमान के बाल के बराबर नहीं समझता।" उसने घेरा हटा लिया और 2 जून, 1291 को वापस दिल्ली पहुंच गया।

इस प्रकार हमीर के भय से जलालुद्दीन को रणथम्भौर से पलायन करना पड़ा।

अलाउद्दीन का आक्रमण—*अपने चाचा जलालुद्दीन को मार कर अलाउद्दीन* दिल्ली का सुल्तान बना। उसे यह ज्ञात था कि पिछले सभी मुसलमान सुल्तान रणथम्भौर को जीतने मे असफल रहे हैं। यदि वह रणथम्भौर को जीत लेता तो राजपूतों की शक्ति नष्ट करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। अतः हमीर वह कसौटी थी जिस पर अलाउद्दीन खिलजी राजपूतों की शक्ति आंकना चाहता था। अलाउद्दीन ने बहुत सोच समझ कर इस किले पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के कई कारण थे जिनमे से मुख्य निम्नांकित हैं:—

1. सैनिक महत्त्व—राजस्थान दिल्ली और दक्षिण के बीच मे पड़ता है। इस प्रदेश मे विरोधी शक्ति होने का अर्थ यह था कि सुल्तानों को दक्षिण विजय और प्रशासन सचालन मे सदा बाधा पड़ती रहेगी। अत. दक्षिण पर नियन्त्रण करने के लिए आवश्यक था कि रणथम्भौर के स्वतन्त्र चौहानों को पराजित कर उनकी शक्ति को क्षीण किया जाय। यह किला दिल्ली से दूर भी नहीं था और मालवा आदि पर नियंत्रण रखने के लिए इसका सैनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व था।

2. अपमान का बदला—मुस्लिम आक्रमणकारियों ने रणथम्भौर पर अधिकार करने की कई विफल चेष्टाएँ की थी जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। जलालुद्दीन खिलजी ने भी इसके विरुद्ध अभियान किया था किन्तु दुर्ग को अजय पाकर वह खाली हाथ लौट गया था। इस असफलता से खिलजी साम्राज्य के सम्मान को काफी धक्का लगा था और उसके मुँह पर एक करारी चपत सी लगी

राजपूतों को विजय की लूट में काफी माल मिला और मुसलमान सेना तितर बितर हो गई। भीमसिंह अपनी विजय की खुशियाँ मना ही रहा था कि उलुग खाँ ने शक्ति संग्रह कर पुन: भारी आक्रमण किया जिसमें हिन्दावट दर्रे के पास राजपूत सेना घिर गई। लड़ाई में भीमसिंह मारा गया और राजपूतों की पराजय हुई। यदि इस युद्ध मे हमीर का मन्त्री धर्म-सिंमा गद्दारी नही करता तो भीमसिंह कदापि नही मारा जाता। धर्म-सिंमा के षड्यन्त्र से ही भीमसिंह की मृत्यु हुई। युद्ध के लिए धन की आवश्यकता थी और धर्म-सिंमा से सबका विश्वास उठ गया था अतः उसे मन्त्री पद से हटा कर उसके भाई भोज देव को मन्त्री बनाया गया। किन्तु धर्म-सिंमा प्रभावशाली व्यक्ति था। उसने पुन षड्यंत्र रचा और अपने भाई को हटा कर फिर मन्त्री बन गया। इस प्रकार पद से हटाये जाने पर भोज देव नाराज हो गया। उसकी प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात लगा। वह क्रोधित होकर अपने अपमान का बदला लेने अलाउद्दीन के दरबार में चला गया। दो भाइयों के आपसी झगड़े ने रणथम्भोर का सारा विवरण अलाउद्दीन तक पहुंचा दिया। अलाउद्दीन ने भोजदेव को जगरा की जागीर दी और उसकी सहायता से रणथम्भौर पर आखिरी व निर्णयात्मक आक्रमण करने का फैसला किया। न्यायचन्द सूरी का कहना है कि—"भोज ने खिलजी सुल्तान को रणथम्भौर पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया।" इस कथन की पुष्टि हरविलास शारदा भी अपनी पुस्तक के पृष्ठ 19 पर करते हैं। स्पष्ट है कि धर्म-सिंमा और भोजदेव की गद्दारी व स्वार्थ ने रणथम्भौर पर आक्रमण करवाया। इन कारणों से प्रेरित होकर, भोजदेव को साथ लेकर अलाउद्दीन ने 1300 ई० मे रणथम्भौर पर स्वय आक्रमण किया।

युद्ध—उलुग खाँ और नसरत खाँ की अधीनता में विशाल मुसलमान सेना झाई को जीतती हुई रणथम्भौर तक जा पहुँची। हमीर काव्य के अनुसार शाही सेना मे 80,000 घुड़सवार थे और एक विशाल पैदल सेना भी थी। न्यायचन्द सूरी का कथन है कि अलाउद्दीन की सेना में एक लाख घुड़सवार थे। दूसरी तरफ फरिश्ता के अनुसार हमीर की सेना मे दो लाख सैनिक थे। यहय्या का अनुमान है कि—"राणा के पास 12000 घुड़ सवार अनेक प्रसिद्ध हाथी और अगणित प्यादे थे।"

रणथम्भौर पहुँच कर उलूग खाँ ने चौहान के राणा के पास संदेश भेजा कि—'उसके स्वामी के हृदय में राय के प्रति कोई द्वेष नहीं है और यदि राय शरणार्थियों को मौत के घाट उतार दे या उन्हें उसे सौप दे, तो शाही सेनाएँ दिल्ली लौट जायेंगी।" (लाल पृष्ठ 83) हमीर ने इसका बडा नम्र व निडर उत्तर दिया कि—"वह अपने अतिथियों को वापस नही दे सकता।" अत: उलूग खाँ ने हमीर को परिणामों के लिए तैयार रहने को कहा और लड़ाई शुरू हुई।

युद्ध के पहले चरण में मुसलमानों ने किले को घेर कर आक्रमण किया। राजपूत चुनीदा जवान किले से निकल पड़े और घेरा डालने वालों को घेर कर मारना शुरू किया। फलस्वरूप अलाउद्दीन का एक योग्य सेनापति नसरत खाँ लड़ाई में मारा गया और उलूग खाँ ने यह समाचार दिल्ली भेजा और अलाउद्दीन स्वयं आक्रमण में भाग लेने आया। हमीर की सहायता के लिए चित्तौड़ के दो राजा कान्ह और बलन्सी भी अपनी सेना सहित आ गये थे। रास्ते मे अलाउद्दीन के भतीजे इकत खाँ ने अलाउद्दीन की हत्या करनी चाही किन्तु विफल रहा।

रणथम्भोर का घेरा एक दीर्घकालीन कार्य साबित हुआ। सेना को बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा। शाही सेना में निराशा की भावना फैल रही थी। अन्त मे किले की खाद्य सामग्री समाप्त हो गई और चारो तरफ अकाल फैल गया। हमीर काव्य के अनुसार—"चावल का एक 'दाना' सोने के दो 'दानो' के बदले ही खरीदा जा सकता था।.........मनुष्य प्रत्येक पीड़ा सह सकता है किन्तु भूखे पेट की पीडा नही।" अतः हमीर ने निर्णायक युद्ध करने का फैसला किया। यह घेरा एक से तीन वर्ष तक रहा बताते हैं। जौहर की तैयारी की गई और रानी रंगदेवी के नेतृत्व में चिता सजाई गई। राजपूत द्वार खोलकर मुसलमानो पर टूट पड़े। एक बार उन्हें विजय प्राप्त हुई और हजारो मुसलमान हरे झण्डे लेकर किले की तरफ लौटे। रानियाँ जौहर कर चुकी थी अतः राजपूत फिर शत्रु पर टूट पड़े और अन्त में हमीर लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। रणथम्भोर पर 11 जुलाई, 1301 को अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। इस युद्ध का रोमांचकारी वर्णन श्री श्यामलदास ने 'वीर विनोद' के पहले भाग में पृष्ठ 72 पर किया है कि—"आखिर को हमीर देव ने यह सोचा कि अब ऐसा हमला किया जावे, कि जिसमें या तो मुसलमानों पर फतह हासिल हो या हम लोग मर मिटें, यह विचार दृढ़ करके किले के भीतर बारूद बिछा कर उसके ऊपर एक लम्बा चौड़ा फर्श बिछा दिया, जिस पर किले की औरतें बिठा दी गई और अपनी तरफ वाले लोगों को समझा दिया, कि अगर अपनी फतह हुई, तो पंचरंगी निशान की झण्डियाँ आगे होंगी और मुसलमानों की हुई तो नीली झण्डियाँ आगे को दिखाई देंगी, यदि नीली झण्डियाँ आगे दिखाई देवें तो बारूद मे आग लगा देना, ईश्वर की कुदरत इस बड़े भारी हमले में हमीर देव की फतह हुई और राजपूत लोग पीछे किले कि तरफ लौटे, उस वक्त गलती से मुसलमानों से छीनी हुई नीली झण्डियाँ आगे कर दी गई, जिनको आगे देखकर किले के लोगों ने बारूद में आग डाल दी जिससे किले की कुल औरतें जल मरी, हमीर देव ने यह देखकर अपना जीना भी बे फायदा समझा, और दुबारा अलाउद्दीन की फौज पर टूट पड़ा। उस वक्त किसी कवि ने एक दोहा कहा

राजपूतों को विजय की लूट में काफी माल मिला और मुसलमान सेना तितर बितर हो गई। भीमसिंह अपनी विजय की खुशियाँ मना ही रहा था कि उलुग खाँ ने शक्ति संग्रह कर पुन. भारी आक्रमण किया जिसमें हिन्दावट दर्रे के पास राजपूती सेना घिर गई। लड़ाई में भीमसिंह मारा गया और राजपूतों की पराजय हुई। यदि इस युद्ध में हमीर का मन्त्री धर्म-शिमा गद्दारी नही करता तो भीमसिंह कदापि नही मारा जाता। धर्म-शिमा के षड़यन्त्र से ही भीमसिंह की मृत्यु हुई। युद्ध के लिए धन की आवश्यकता थी और धर्म-शिमा से सबका विश्वास उठ गया था अतः उसे मन्त्री पद से हटा कर उसके भाई भोज देव को मन्त्री बनाया गया। किन्तु धर्म-शिमा प्रभावशाली व्यक्ति था। उसने पुन षड़यंत्र रचा और अपने भाई को हटा कर फिर मन्त्री बन गया। इस प्रकार पद से हटाये जाने पर भोज देव नाराज हो गया। उसकी प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात लगा। वह क्रोधित होकर अपने अपमान का बदला लेने अलाउद्दीन के दरबार में चला गया। दो भाइयों के आपसी झगड़े ने रणथम्भौर का सारा विवरण अलाउद्दीन तक पहुंचा दिया। अलाउद्दीन ने भोजदेव को जगरा की जागीर दी और उसकी सहायता से रणथम्भौर पर आखिरी व निर्णयात्मक आक्रमण करने का फैसला किया। न्यायचन्द सूरी का कहना है कि—"भोज ने खिलजी सुलतान को रणथम्भौर पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया।" इस कथन की पुष्टि हरविलास शारदा भी अपनी पुस्तक के पृष्ठ 19 पर करते हैं। स्पष्ट है कि धर्म-शिमा और भोजदेव की गद्दारी व स्वार्थ ने रणथम्भौर पर आक्रमण करवाया। इन कारणो से प्रेरित होकर, भोजदेव को साथ लेकर अलाउद्दीन ने 1300 ई० में रणथम्भौर पर स्वयं आक्रमण किया।

युद्ध—उलूग खाँ और नसरत खाँ की अधीनता में विशाल मुसलमान सेना झांई को जीतती हुई रणथम्भौर तक जा पहुँची। हमीर काव्य के अनुसार शाही सेना में 80,000 घुड़सवार थे और एक विशाल पैदल सेना भी थी। न्यायचन्द सूरी का कथन है कि अलाउद्दीन की सेना में एक लाख घुड़सवार थे। दूसरी तरफ फरिश्ता के अनुसार हमीर की सेना मे दो लाख सैनिक थे। यहय्या का अनुमान है कि—"राणा के पास 12000 घुड सवार अनेक प्रसिद्ध हाथी और अगणित प्यादे थे।".

रणथम्भौर पहुँच कर उलूग खाँ ने चौहान के राणा के पास संदेश भेजा कि—'उसके स्वामी के हृदय मे राय के प्रति कोई द्वेष नही है और यदि राय शरणार्थियो को मौत के घाट उतार दे या उन्हें उसे सौंप दे, तो शाही सेनाएँ दिल्ली लौट जायेंगी।" (लाल पृष्ठ 83) हमीर ने इसका बड़ा नम्र व निडर उत्तर दिया कि—"वह अपने अतिथियों को वापस नही दे सकता।" अतः उलूग खाँ ने हमीर को परिणामों के लिए तैयार रहने को कहा और लड़ाई शुरू हुई।

युद्ध के पहले चरण में मुसलमानों ने किले को घेर कर आक्रमण किया। राजपूत चुनीदा जवान किले से निकल पड़े और घेरा डालने वालों को घेर कर मारना शुरू किया। फलस्वरूप अलाउद्दीन का एक योग्य सेनापति नसरत खाँ लड़ाई मे मारा गया और उलूग खां ने यह समाचार दिल्ली भेजा और अलाउद्दीन स्वयं आक्रमण मे भाग लेने आया। हमीर की सहायता के लिए चित्तौड़ के दो राजा कान्ह और बलन्सी भी अपनी सेना सहित आ गये थे। रास्ते मे अलाउद्दीन के भतीजे इकत खाँ ने अलाउद्दीन की हत्या करनी चाही किन्तु विफल रहा।

रणथम्भोर का घेरा एक दीर्घकालीन कार्य साबित हुआ। सेना को बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा। शाही सेना में निराशा की भावना फैल रही थी। अन्त में किले की खाद्य सामग्री समाप्त हो गई और चारों तरफ अकाल फैल गया। हमीर काव्य के अनुसार—"चावल का एक 'दाना' सोने के दो 'दानों' के बदले ही खरीदा जा सकता था।"""""""मनुष्य प्रत्येक पीड़ा सह सकता है किन्तु भूखे पेट की पीड़ा नही।" अतः हमीर ने निर्णायक युद्ध करने का फैसला किया। यह घेरा एक से तीन वर्ष तक रहा बताते हैं। जोहर की तैयारी की गई और रानी रंगदेवी के नेतृत्व में चिता सजाई गई। राजपूत द्वार खोलकर मुसलमानो पर टूट पड़े। एक बार उन्हे विजय प्राप्त हुई और हजारो मुसलमान हरे झण्डे लेकर किले की तरफ लौटे। रानियाँ जोहर कर चुकी थी अतः राजपूत फिर शत्रु पर टूट पड़े और अन्त मे हमीर लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। रणथम्भोर पर 11 जुलाई, 1301 को अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। इस युद्ध का रोमांचकारी वर्णन श्री श्यामलदास ने 'वीर विनोद' के पहले भाग में पृष्ठ 72 पर किया है कि—"आखिर को हमीर देव ने यह सोचा कि अब ऐसा हमला किया जावे, कि जिसमें या तो मुसलमानों पर फतह हासिल हो या हम लोग मर मिटें, यह विचार दृढ़ करके किले के भीतर बारूद बिछा कर उसके ऊपर एक लम्बा चौड़ा फर्श बिछा दिया, जिस पर किले की औरतें बिठा दी गई और अपनी तरफ वाले लोगों को समझा दिया, कि अगर अपनी फतह हुई, तो पंचरंगी निशान की झण्डियाँ आगे होंगी और मुसलमानों की हुई तो नीली झण्डियाँ आगे को दिखाई देंगी, यदि नीली झण्डियाँ आगे दिखाई देवें तो बारूद मे आग लगा देना, ईश्वर की कुदरत इस बड़े भारी हमले में हमीर देव की फतह हुई और राजपूत लोग पीछे किले कि तरफ लौटे, उस वक्त गलती से मुसलमानों से छीनी हुई नीली झण्डियाँ आगे कर दी गई, जिनको आगे देखकर किले के लोगो ने बारूद मे आग डाल दी जिससे किले की कुल औरतें जल मरी, हमीर देव ने यह देखकर अपना जीना भी बे फायदा समझा, और दुबारा अलाउद्दीन की फौज पर टूट पड़ा। उस वक्त किसी कवि ने एक दोहा कहा

था, 'तिरियाँ तेल हमीर हट, चढ़े न दूजी बार' मुसलमानों ने भी बड़ी मजबूती और बहादुरी के साथ हमीर देव का मुकाबला किया, और आखीर में हमीर देव के मारे जाते पर अलाउद्दीन को फतह नसीब हुई।"

रणथम्भोर पर मुसलमानो का अधिकार हो गया और चौहानो का अन्तिम राजा भी वीरगति को प्राप्त हुआ।



7

राणा रतनसिंह

राजस्थान के 36 राजवंशों में मेवाड़ के राजवंश का श्रेष्ठ स्थान है। राणा यहां के राजाओं की उपाधि है और ये सूर्यवंशी क्षत्री हैं। सारे राजस्थान का इतिहास आठ भागों में बांटा जाता है। जिनमें से मेवाड़ पहला है और अपनी प्राचीनता के लिये प्रसिद्ध है। मेवाड़ के राणा अपने आप को राम के पुत्र लव का वंशज मानते हैं। मेवाड के सूर्यवंशी राजाओं में कनकसेन सबसे पहला माना जाता है। उसकी आठवीं पीढी मे शिलादित्य नाम का राजा हुआ। कनकसेन और उसके वंशज लव के वंशज थे और वल्लभीपुर पर राज्य करते थे। म्लेच्छ आक्रमणकारियों ने शिलादित्य को मार डाला। उसकी रानी पुष्पावती गर्भवती अवस्था में अपने पिता के घर गयी हुई थी जिसका राज्य विन्ध्य पर्वत के नीचे था। पति के मारे जाने पर रानी ने तपस्विनी जीवन शुरू किया और जंगल में गुफा में रहकर एक पुत्र को जन्म दिया। गुफा में जन्म होने के कारण लोग उस बालक को गोह कहने लगे। रानी गोह को एक ब्राह्मणी को देकर सती हो गई। गोह आस-पास के भील बालकों का नेता बना। उसकी वीरता व ख्याति से प्रभावित होकर दक्षिणी मेवाड़ के भील राजा मण्डलीक ने गोह को अपना राज्य दे दिया। इस प्रकार गोह मेवाड़ का राजा बना और उसका वंश उसी के नाम पर गहलोत कहलाया। ऐसा मत टाड महोदय का है (पृष्ठ 130)

गोह की आठवी पीढी में नागादित्य मेवाड का राजा हुआ जिसे भीलों ने मार डाला। नागादित्य की मृत्यु के समय उनके एक तीन वर्ष का पुत्र था जिसका नाम बापा था। बापा ने आगे चलकर सारे मेवाड़ पर अपना आधिपत्य जमाया और सौ वर्ष की अवस्था तक राज्य किया। बापा ने कन्धार, कश्मीर, ईराक, ईरान, तूरान आदि अनेक देशों को जीतकर वहां के राजाओं की लड़कियों से शादी की थी। उन्होंने 50 वर्ष की अवस्था में भी खुरासान को जीतकर वहां के म्लेच्छ राजा की कन्या से विवाह किया था। किन्तु अन्त में साधु जीवन व्यतीत किया। उनके 130 सन्तानें थी। हिन्दू स्त्रियों से उनके 98 पुत्र थे जो अग्नि उपासी और सूर्यवंशी नाम से विख्यात हुए। बापा सन् 728 ई० में चित्तौड़ के राज सिंहासन पर बैठा था। उसके समय में भारत पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये थे। उसने मुसलमानों को अनेक बार भारत की सीमा के बाहर जा जाकर हराया था।

बाप्पा के वंशजों मे ही लगभग 550 वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी के समय में चित्तौड़ के सिंहासन पर राणा रतनसिंह बैठे। कर्नल टॉड इन्हें भीमसिंह के नाम से सम्बोधित करते हैं और महान् रोमांचकारी पद्मिनी की कहानी का नायक भी

भीमसिंह को ही बताते हैं। जो वास्तव में रतनसिंह था। (देखें डा. ईश्वरी प्रसा द्वारा अनुवादित कर्नल टाड का राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 149)

1275 मे लक्ष्मणसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था छोटी थी इसलिये उसके चाचा रतनसिंह को उसका संरक्षक बनाया गया राजा के काम का सारा उत्तरदायित्व रतनसिंह पर ही था। कुछ लेखक व भा रतनसिंह को राणा ही नहीं मानते क्योंकि उसका राज्यकाल बहुत कम रहा है उसके स्थान पर लक्ष्मणसिंह को ही राणा मानते हैं। चित्तौड़ का वास्तविक शासक बनने से पहले रतनसिंह मालवे मे भी काफी रहा था। रतनसिंह के शासनकाल का एक लेख दरीवा से मिल चुका है। श्री रामवल्लभ सोमानी अपनी पुस्तक 'वीर भूमि चित्तौड़' के पृष्ठ 32 पर कहते हैं कि—"इस लेख की तिथि वि. सं. 1359 माघवदी 5 बुधवार है। यह तिथि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के लिये प्रस्थान होने के चार दिन पूर्व की है। अतएव आक्रमण के समय इसे ही शासक माना जाना चाहिये।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण के समय रतनसिंह वहा का शासक था। उसकी राज्य अवधि किसी भी दशा में पांच वर्ष से अधिक नही रही होगी किन्तु क्योंकि यह आक्रमण युग परिवर्तक था और इससे पद्मिनी की रोमांचकारी कहानी जुड़ी हुई है अतः राणा रतनसिंह का अध्ययन महत्वपूर्ण भी है।

राणा रतनसिंह का शासनकाल अल्पकालीन होते हुए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण दो कारणों से है। एक तो यह कि उसके समय में मेवाड़ पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था और दूसरा यह कि पद्मिनी की ऐतिहासिक कहानी उसी के समय की कही जाती है। अब हम इस कहानी की सत्यता और ऐतिहासिक महत्व को देखें।

राणा रतनसिंह—रतनसिंह के पिता का नाम समरसिंह था। समरसिंह ने इसे गोद लिया था। रतनसिंह शिशोदिया वश का था। श्री ओझा इसके वंश का कोई जिकर नही करते किन्तु अमरकाव्य वंशावली ग्रन्थ मे और नेणसी के वर्णन में इसका वर्णन मिलता है। टाड महोदय कहते है कि यह लक्ष्मणसिंह का चाचा और संरक्षक था किन्तु सोमानी उलटा ही वर्णन करते है कि—"समरसिंह के बाद उसे सिंहासन पर बिठाया गया था। उसका सारा कामकाज लक्ष्मणसिंह ही देखा करता था।" किन्तु इतना स्पष्ट है कि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के समय चित्तौड़ का राणा रतनसिंह ही था। समकालीन व अन्य मुसलमान लेखक रतनसिंह को ही मेवाड का राणा बताते हैं। अतः यह मान लेना चाहिये कि रतनसिंह कुछ समय के लिये मेवाड़ का शासक अवश्य था।

श्री कालिका रंजन कानूनगो अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री' में अपने अध्याय "ए क्रिटिकल एनेलिसिस आफ पद्मिनी लीजेंड" में एक विवाद खड़ा कर देते हैं। ये इस बात को एक रोमांचकारी कहानी मानते हैं और किसी भी रूप

में सत्य मानने को तैयार नहीं हैं। कानूनगो तो यहां तक कहते हैं कि रतनसिंह मेवाड़ के चित्तौड़ का राजा नहीं था। बल्कि इलाहाबाद के आस-पास एक चित्तौड़ का राजा था। इसी प्रकार श्री आर. सी. मजूमदार भी रतनसिंह के अस्तित्व और पद्मिनी की कहानी को नहीं मानते। इस शंका को मिटाने के लिये यहां दो ठोस प्रमाण प्रस्तुत है—(1) दरीबा का शिलालेख स्पष्ट कहता है कि अलाउद्दीन के आक्रमण के समय राणा रतनसिंह मेवाड़ का राजा था। (2) एकलिंगजी के मंदिर में राजवंश का जो वर्णन है उसमें श्लोक 75-76 व श्लोक 77-80 में यह स्पष्ट है कि अलाउद्दीन से युद्ध में पहले रतनसिंह की मृत्यु हुई फिर लक्ष्मणसिंह और उसके पुत्र मारे गये। अतः रतनसिंह मेवाड़ के चित्तौड़ का ही राजा था।

इन दो प्रमाणो के अतिरिक्त नागपुर का लेख, और कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में प्राप्त सामग्री की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह तो मानना ही पड़ेगा कि रतनसिंह मेवाड़ का राणा था। उसका शासनकाल चाहे एक वर्ष का ही रहा हो जैसा सोमानी महोदय कहते है।

रतनसिंह को हमीर चौहान का पुत्र भी बताया जाता है कि वह रणथम्भौर में पराजित होकर चित्तौड़ के राणाओं से आ मिला था और चित्तौड़ के द्वार पर लड़ता हुआ मारा गया था। हमीर चौहान के वंशज रणथम्भौर से गुजरात गये थे जहां उनके शिलालेख मिले हैं। उनमे रतनसिंह का नाम नहीं है। इस प्रकार रतनसिंह के बारे मे तीन विवाद हैं—(1) वह इलाहाबाद के पास किसी गांव का राजा था। (2) कि वह हमीर चौहान का वंशज था और (3) यह कि वह लक्ष्मणसिंह का संरक्षक चित्तौड़ का निवासी था। जहां तक अब तक के अनुसंधानों से पता चलता है, यही तथ्य निकलता है कि रतनसिंह के अस्तित्व पर गढी गई कहानियां निराधार हैं। राजस्थान में प्राप्त शिलालेखों से, कुम्भलगढ़ अभिलेख, एकलिंग शिलालेख श्लोक, दरीबा का शिलालेख, समकालीन जैन ग्रन्थ और मुसलमान लेखक और नागपुर का लेख इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि रतनसिंह चित्तौड़ का राणा, समरसिंह का दत्तक पुत्र था जिसने कम से कम एक वर्ष चित्तौड़ पर अवश्य राज्य किया था। अतः रतनसिंह की वास्तविकता को तो मानना ही पड़ेगा।

अब हम यह देखें कि रतनसिंह के अल्पकालीन शासनकाल में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण क्यों किया। पिछले सवा सौ वर्ष से चित्तौड़ पर गुहिल राजपूतो का शासन चला आ रहा था। सन् 1303 में उस पर आक्रमण कर चित्तौड़ की राजनीतिक स्वतन्त्रता और शान्तिमय जीवन का अन्त कर दिया। इस आक्रमण के मूल कारण निम्नांकित थे—

1. विश्व विजय का सपना—अलाउद्दीन खिलजी सारे संसार को जीतना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने एक विशाल सेना तैयार की थी। मुसलमान धर्म के उलेमा (पंडित) उसे प्रोत्साहन देते थे कि धर्म प्रचार के लिये उसे अन्य धर्मावलम्बी राज्यों का अंत कर अपने धर्म का प्रचार करना चाहिये। इस धार्मिक भावना

भीमसिंह को ही बताते हैं। जो वास्तव में रतनसिंह था। (देखें डा. ईश्वरी प्रसाद द्वारा अनुवादित कर्नल टाड का राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 149)

1275 मे लक्ष्मणसिंह ,चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था छोटी थी इसलिये उसके चाचा रतनसिंह को उसका संरक्षक बनाया गया। राजा के काम का सारा उत्तरदायित्व रतनसिंह पर ही था। कुछ लेखक व भाट रतनसिंह को राणा ही नहीं मानते क्योंकि उसका राज्यकाल बहुत कम रहा है। उसके स्थान पर लक्ष्मणसिंह को ही राणा मानते है। चित्तौड़ का वास्तविक शासक बनने से पहले रतनसिंह मालवे मे भी काफी रहा था। रतनसिंह के शासनकाल का एक लेख दरीवा से मिल चुका है। श्री रामबल्लभ सोमानी अपनी पुस्तक 'वीर भूमि चित्तौड़' के पृष्ठ 32 पर कहते है कि—"इस लेख की तिथि वि. सं. 1359 माघबदी 5 बुधवार है। यह तिथि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के लिये प्रस्थान होने के चार दिन पूर्व की है। अतएव आक्रमण के समय इसे ही शासक माना जाना चाहिये।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण के समय रतनसिंह वहां का शासक था। उसकी राज्य अवधि किसी भी दशा में पांच वर्ष से अधिक नहीं रही होगी किन्तु क्योकि यह आक्रमण युग परिवर्तक था और इससे पद्मिनी की रोमांचकारी कहानी जुड़ी हुई है अतः राणा रतनसिंह का अध्ययन महत्वपूर्ण भी है।

राणा रतनसिंह का शासनकाल अल्पकालीन होते हुए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण दो कारणों से है। एक तो यह कि उसके समय में मेवाड़ पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था और दूसरा यह कि पद्मिनी की ऐतिहासिक कहानी उसी के समय की कही जाती है। अब हम इस कहानी की सत्यता और ऐतिहासिक महत्व को देखें।

राणा रतनसिंह—रतनसिंह के पिता का नाम समरसिंह था। समरसिंह ने इसे गोद लिया था। रतनसिंह सिसोदिया वंश का था। श्री ओझा इसके वंश का कोई जिकर नही करते किन्तु अमरकाव्य वंशावली ग्रन्थ मे और नैणसी के वर्णन मे इसका वर्णन मिलता है। टाड महोदय कहते है कि यह लक्ष्मणसिंह का चाचा और संरक्षक था किन्तु सोमानी उलटा ही वर्णन करते हैं कि—"समरसिंह के बाद उसे सिंहासन पर बिठाया गया था। उसका सारा कामकाज लक्ष्मणसिंह ही देखा करता था।" किन्तु इतना स्पष्ट है कि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के समय चित्तौड़ का राणा रतनसिंह ही था। समकालीन व अन्य मुसलमान लेखक रतनसिंह को ही मेवाड का राणा बताते हैं। अतः यह मान लेना चाहिये कि रतनसिंह कुछ समय के लिये मेवाड़ का शासक अवश्य था।"

श्री कालिका रंजन कानूनगो अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री' मे अपने अध्याय "ए क्रिटिकल एनेलिसिस आफ पद्मिनी लीजेंड" में एक विवाद खड़ा कर देते हैं। वे इस बात को एक रोमांचकारी कहानी मानते हैं और किसी भी रूप

में सत्य मानने को तैयार नहीं हैं। कानूनगो तो यहां तक कहते हैं कि रतनसिंह मेवाड़ के चित्तौड़ का राजा नहीं था। बल्कि इलाहाबाद के आस-पास एक चित्तौड़ का राजा था। इसी प्रकार श्री आर. सी. मजूमदार भी रतनसिंह के अस्तित्व और पद्मिनी की कहानी को नहीं मानते। इस शंका को मिटाने के लिये यहां दो ठोस प्रमाण प्रस्तुत है—(1) दरीबा का शिलालेख स्पष्ट कहता है कि अलाउद्दीन के आक्रमण के समय राणा रतनसिंह मेवाड़ का राजा था। (2) एकलिंगजी के मंदिर में राजवंश का जो वर्णन है उसमें श्लोक 75-76 व श्लोक 77-80 मे यह स्पष्ट है कि अलाउद्दीन से युद्ध मे पहले रतनसिंह की मृत्यु हुई फिर लक्ष्मणसिंह और उसके पुत्र मारे गये। अतः रतनसिंह मेवाड़ के चित्तौड़ का ही राजा था।

इन दो प्रमाणो के अतिरिक्त नागपुर का लेख, और कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में प्राप्त सामग्री की भी उपेक्षा नही की जा सकती। यह तो मानना ही पड़ेगा कि रतनसिंह मेवाड़ का राणा था। उसका शासनकाल चाहे एक वर्ष का ही रहा हो जैसा सोमानी महोदय कहते है।

रतनसिंह को हमीर चौहान का पुत्र भी बताया जाता है कि वह रणथम्भौर में पराजित होकर चित्तौड़ के राणाओं से आ मिला था और चित्तौड़ के द्वार पर लड़ता हुआ मारा गया था। हमीर चौहान के वशज रणथम्भौर से गुजरात गये थे जहां उनके शिलालेख मिले है। उनमे रतनसिंह का नाम नही है। इस प्रकार रतनसिंह के बारे में तीन विवाद हैं—(1) वह इलाहाबाद के पास किसी गांव का राजा था। (2) कि वह हमीर चौहान का वंशज था और (3) यह कि वह लक्ष्मणसिंह का संरक्षक चित्तौड़ का निवासी था। जहां तक अब तक के अनुसधानों से पता चलता है, यही तथ्य निकलता है कि रतनसिंह के अस्तित्व पर गढ़ी गई कहानियाँ निराधार हैं। राजस्थान में प्राप्त शिलालेखो से, कुम्भलगढ़ अभिलेख, एकलिंग शिलालेख श्लोक, दरीबा का शिलालेख, समकालीन जैन ग्रन्थ और मुसलमान लेखक और नागपुर का लेख इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि रतनसिंह चित्तौड़ का राणा, समरसिंह का दत्तक पुत्र था जिसने कम से कम एक वर्ष चित्तौड़ पर अवश्य राज्य किया था। अतः रतनसिंह की वास्तविकता को तो मानना ही पड़ेगा।

अब हम यह देखें कि रतनसिंह के अल्पकालीन शासनकाल में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण क्यों किया। पिछले सवा सौ वर्ष से चित्तौड़ पर गुहिल राजपूतो का शासन चला आ रहा था। सन् 1303 में उस पर आक्रमण कर चित्तौड़ की राजनीतिक स्वतन्त्रता और शान्तिमय जीवन का अन्त कर दिया। इस आक्रमण के मूल कारण निम्नांकित थे—

1. विश्व विजय का सपना—अलाउद्दीन खिलजी सारे संसार को जीतना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने एक विशाल सेना तैयार की थी। मुसलमान धर्म के उलेमा (पंडित) उसे प्रोत्साहन देते थे कि धर्म प्रचार के लिये उसे अन्य धर्मावलम्बी राज्यों का अंत कर अपने धर्म का प्रचार करना चाहिये। इस धार्मिक भावना

के अतिरिक्त अलाउद्दीन, सिकन्दर महान की तरह विश्व विजय का सपना देखता था। वह इतिहास में अमर होना चाहता था। उसके सेनापति आदि ने उसे यह परामर्श दिया था कि पहले उसे सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार जमाना चाहिये। क्योंकि भारत पर पूर्ण अधिकार होने के बाद ही वह अन्य देशों को जीत सकेगा अन्यथा उसके बाहर जाने पर पीछे से आन्तरिक विद्रोह व अराजकता की पूरी सम्भावना थी। अत. अपने विश्व विजय के स्वप्न को पूरा करने के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह दिल्ली के निकटतम स्वतन्त्र शासक रतनसिंह को पराजित कर चित्तौड़ पर अपना अधिकार जमा ले।

2. राज्य विस्तार—पृथ्वीराज की पराजय और दिल्ली पर मुसलमानो के आधिपत्य से भारत मे एक विदेशी शक्ति का उदय हो गया था। अब तक राजपूत प्रायः शान्त से थे। किन्तु पृथ्वीराज के पतन के बाद मेवाड़ ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया। उधर दिल्ली के मुसलमान शासक भी राज्य विस्तार में लगे हुए थे। राणा रतनसिंह के तीन पूर्वजो के समय में अर्थात् जैत्रसिंह, तेजसिंह और समरसिंह के समय मे मेवाड़ का राज्य विस्तार कार्य बराबर चल रहा था। चित्तौड़ के राणा मालवा मे अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा रहे थे। स्वयं राणा रतनसिंह कई वर्ष मालवा में रहे थे। स्पष्ट है कि इस राज्य विस्तार की दौड़ में दिल्ली और मेवाड़ की टक्कर होनी स्वाभाविक थी। एक तरफ मुसलमान तलवार के जोर पर अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार माँग रहे थे और दूसरी तरफ मेवाड़ के राणा अपना राज्य विस्तार कर भारतीय धर्म व संस्कृति के रक्षक बन रहे थे। रतनसिंह के पूर्वज भी दिल्ली के मुसलमान शासकों से लड़ते झगड़ते रहे थे। इस विरोध के विपरीत मेवाड़ का मालवा में प्रभाव बढ़ता जा रहा था। यह प्रभाव वृद्धि अलाउद्दीन को एक करारी चुनौती थी। एक मियान में दो तलवारों का रहना सम्भव न था अतः अलाउद्दीन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मेवाड़ की राज्य विस्तार भावना को पूर्णतया दबाये बिना मुसलमान साम्राज्य का विस्तार सम्भव नही। मालवा में दोनो की राज्य विस्तार नीति युद्ध का एक कारण बन गई।

3 चित्तौड़ का महत्त्व—बिस्मार्क की यह कहावत प्रसिद्ध थी कि बर्लिन का मार्ग वियाना होकर है। अर्थात् उस समय यूरोप की राजनीति में वियाना एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। उसी प्रकार भारत मे मुसलमानी राज्य के समय चित्तौड़ एक अत्यधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। यह किला वह ठोस चट्टान थी जो दिल्ली और दक्षिण के सम्बन्धो के बीच अडी हुई थी। एक प्रकार से चित्तौड़ दक्षिण का द्वार था। दक्षिण में जाने वाले मुसलमानों की सबसे बड़ी बाधा था। बिना चित्तौड़ पर अधिकार किये दक्षिण से स्थाई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते थे अतः मार्ग की इस रुकावट को, तथा दिल्ली व दक्षिण के संगठन के बीच की इस कडी को प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक था। बिना चित्तौड़ जीते मालवा या गुजरात को जीतना सरल काम नही था।

सारे भारत पर अधिकार पाने से पहले मध्य भारत को जीतना आवश्यक था और यह तभी हो सकता था जबकि चित्तौड़ व राजस्थान पर पूर्ण अधिकार हो। भारत विजय का सपना देखने वाले किसी भी शासक को यह सहन नहीं हो सकता था कि उसके सीने पर चित्तौड का दुर्ग स्वतन्त्रता का आनन्द लेता रहे। सामरिक और राजनीतिक दृष्टि से चित्तौड विजय आवश्यक थी।

4. पद्मिनी का रूप—अधिकांश इतिहासकार इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि पद्मिनी के रूप की महक अलाउद्दीन के चंचल मन भँवरे को चित्तौड़ खेंच लाई और शक्ति का प्रतीक सुन्दरता का मतवाला बन उसे पाने को झूझ पड़ा। यह कोई नवीन बात नहीं थी। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी नन्द की लड़की पाकर उसके माता पिता की जान बक्श दी थी। गुप्त काल में राम गुप्त से भी शक आक्रमणकारी ने महारानी ध्रुवस्वामिनी की मांग की थी। अतः शक्तिशाली राजाओं द्वारा सुन्दर स्त्रियों का हरण एक सहज बात थी। अलाउद्दीन ने भी राघव नामक भिखारी से पद्मिनी के आकर्षक रूप-लावण्य की मन मोहक कथा सुनी और उसे प्राप्त करने लोहे की भांति-चुम्बक की तरफ खिचा चला आया। राणा रतनसिंह ने सुल्तान का प्रस्ताव ठुकरा दिया। टाड, जायसी, फरिश्ता, हाजी उद्बीर, और अन्य पाश्चात्य व फारसी लेखक पद्मिनी के रूप को राणा और सुल्तान के युद्ध का मूल कारण बताते हैं। अलाउद्दीन ने राणा को लिख भेजा कि अपनी रूपमति रानी पद्मिनी को उसके हरम (महलों) में भेज दो तो चित्तौड़ को स्वतन्त्र राज्य मान लेगा। राणा ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और दोनों में युद्ध हुआ।

चित्तौड़ विजय—अमीर खुसरो अलाउद्दीन के साथ था जब उसने चित्तौड़ का दुर्ग देखा तो प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। किले का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—"एक भीमकाय शिला को काटकर बनाया गया यह किला आश्चर्यजनक था। चित्तौड़ का राणा सारे हिन्दू राजाओं में श्रेष्ठ था और हिन्दुस्तान के सब शासक उसकी श्रेष्ठता मानते थे।" इसी प्रकार ए. एल. श्रीवास्तव अपनी पुस्तक दिल्ली सल्तनत के पृष्ठ 179 पर कहते हैं कि—"मेवाड़ के स्वतन्त्र रहते हुए अलाउद्दीन की समस्त भारत को एक राष्ट्र बनाने की महत्वाकांक्षा का स्वप्न पूरा होना असम्भव था।" अतः उसने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया।

सोमवार 28 जनवरी, 1303 को अलाउद्दीन एक विशाल सेना लेकर चित्तौड़ विजय को निकल पड़ा। चित्तौड़ पहुँचने पर सुल्तान ने गम्भीरी और बेराच नदियों के बीच शिविर गाड़ दिये। सेना ने किले को घेर लिया। श्री ओझा अभियान का विस्तार से वर्णन करते हैं (देखिये राजपूताने का इतिहास दूसरी जिल्द, पृष्ठ 463-68 तक) सुल्तान ने अपनी ध्वज चित्तौड़ी नामक एक टेकरी पर गाड़ दी, जहाँ वह अपना दरबार लगाता था और स्वयं घेरे की गतिविधियों का निर्देशन करता था। वीर राजपूतों ने अपने वीर नेता रतनसिंह की अधीनता में आठ महीने तक कड़ा प्रतिरोध किया। डा. श्रीवास्तव घेरे का समय सिर्फ पांच महीने बताते

हैं। श्री गहलोत घेरे की अवधि सात माह बताते हैं। वे आक्रमण का वर्णन अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 38 पर इस प्रकार करते हैं—"ई. सन् 1301 में रणथम्भौर हमीर से ले लेने के बाद उसने चित्तौड़ पर हमला किया चित्तौड़ के राणा रतनसिंह के धोखे से कैद कर लिया जाने पर उसकी रानी पद्मिनी ने बड़ी वीरता व कुशलता से युद्ध संचालन किया लेकिन लगभग सात मास के घेरे के बाद ई. सन् 1303 में पद्मिनी व हजारों स्त्रियों को जौहर करना पड़ा। चित्तौड़ गढ़ के बचे सैनिकों ने संग्राम कर वीर गति पाई। उस दिन लगभग 30,000 सैनिक काम आये।" लगभग 33 वर्ष तक चित्तौड़ पर मुसलमानों का राज्य रहा अन्त में 1336 ई. में सिसोदिया वंश के हमीर ने जो रतनसिंह के पूर्वजों के वंश का ही था, चित्तौड़ पर पुनः अधिकार कर लिया।

राजपूतों ने 26 अगस्त, 1303 ई. को अन्तिम युद्ध किया था। इसी दिन क्षत्राणियों ने जौहर किया था। अतः सात महीने का समय ही आक्रमण की वास्तविक अवधि लगती है। इस युद्ध में अन्य राजपूत राजाओं ने रतनसिंह का साथ नहीं दिया। उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित 1460 ई. के एक शिलालेख में स्पष्ट है सिर्फ एक अधीन राजपूत राजा सिसोदिया महाराणा लक्ष्मीसिंह अपने सात पुत्रों सहित मुसलमानों से युद्ध करते हुए मारा गया।

युद्ध के बारे में श्री टाड महोदय की राय भिन्न है। वे पृष्ठ 149 पर कहते हैं कि—"अपनी शक्तिशाली सेना के द्वारा चित्तौड़ को घेर कर अलाउद्दीन ने इस बात को जाहिर किया कि पद्मिनी को पाने के बाद मैं चित्तौड़ से लौट जाऊंगा। बहुत समय बीत जाने के बाद जब अलाउद्दीन को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली तो उसने यह जाहिर किया कि दर्पण में पद्मिनी के दर्शन करके मैं चित्तौड़ से लौट जाऊँगा।" टाड कहते हैं कि इस दर्शन की व्यवस्था की गई और सुल्तान को द्वार तक छोड़ने आये राणा को बन्दी बना लिया गया और पद्मिनी को पाने की मांग फिर दोहरा दी गई। गोरा व बादल की सहायता से पद्मिनी ने योजना बनाई, राणा को छुड़ा कर ले गई। अन्तिम युद्ध हुआ राणा रतनसिंह आदि केसरिया बाना पहनकर मर मिटे। पद्मिनी ने जौहर किया और चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। टाड फिर लिखते हैं कि—"भीषण युद्ध के बाद चित्तौड़ की सेना की पराजय हुई, अगणित संख्या में उनके सैनिक व सरदार मारे गये और चित्तौड़ की शक्ति का पूर्ण रूप से क्षय हुआ। युद्ध के कारण युद्ध का स्थल श्मशान बन गया। चारों ओर दूर तक मारे गये सैनिकों के शरीर से जमीन पटी पड़ी थी और रक्त बह रहा था।" (पृष्ठ 153) रतनसिंह का लड़का अरिसिंह चित्तौड़ छोड़ कर केलवाड़ा चला गया जो मेवाड़ से पश्चिमी भाग में अरावली पर बसा एक नगर है।

'वीर विनोद' में भी पद्मिनी की कथा थोड़े परिवर्तन के साथ मिलती है। लेखक श्यामलाल राजपूतों की पराजय का कारण बताते हुए पृष्ठ 288 पर

लिखते हैं कि—"रावल रतनसिंह ने सामान की कमी के सबब से लकड़ियों का एक बड़ा ढेर चुनकर राणी पद्मिनी और जनानखाने की कुल स्त्रियों तथा राजपूतों की औरतों को लकडियो पर बिठा कर आग लगा दी। हजारों औरत व बच्चों के आग में जल मरने से राजपूतों ने जोश में आकर किले के दरवाजे खोल दिये और रावल रतनसिंह मय कई हजार राजपूतों के बडी बहादुरी के साथ लड़ कर मारा गया। बादशाह ने नाराज होकर कत्ले आम का हुक्म दे दिया; छः महीने सात दिन तक लड़ाई रह कर 18 अगस्त, 1303 ई. को बादशाह ने किला फतह कर लिया।"

इस प्रकार रतनसिंह के जीवन व शासन का अन्त हुआ। अब उसके समय की दूसरी घटना पद्मिनी की कहानी की ऐतिहासिकता को आंकें।

पद्मिनी की कथा—मलिक मुहम्मद जायसी ने 1540 में 'पद्मिनी' नामक महाकाव्य लिखा। इस महाकाव्य में पद्मिनी के जीवन की यह कथा लिखी है कि दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी उसे पाने के लिये ही चित्तौड़ गया था। जायसी की कथा का सार इस प्रकार है कि—पद्मिनी लंका की राजकुमारी थी। राणा रतनसिंह ने एक तोते से पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुनी और उससे विवाह करने के उद्देश्य से भिक्षुक के वेष में लंका गया। पद्मिनी को पाने के लिये वह लंका में बारह वर्ष तक ठहरा। अंत में वह अपने प्रेम में सफल हुआ और पद्मिनी के साथ चित्तौड़ लौट आया। राघव नामक एक भिक्षु ने भिक्षा लेते समय पद्मिनी को देखा और उसका अपूर्व सौन्दर्य देख कर मूर्छित हो गया। इसी राघव ने पद्मिनी की कहानी दिल्ली जाकर अलाउद्दीन को सुनाई। पद्मिनी के सौन्दर्य से प्रभावित होकर अलाउद्दीन ने रतनसिंह को एक संदेश भेजा कि पद्मिनी को शाही हरम में भेज दिया जाय। रतनसिंह को इस बात पर बहुत क्रोध आया और इस बात को लेकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। पूरे आठ वर्ष तक घेरा डाले रहने के बाद भी अलाउद्दीन किले को नहीं जीत सका। यह देख कर अलाउद्दीन ने अपनी मांग में रियायत कर दी और पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दर्पण में देखकर ही दिल्ली लौट जाने का वचन दिया। अद्वितीय सुन्दरी पद्मिनी का रूप दर्पण में एक नजर देखकर किले से लौटते हुए सुल्तान को राणा द्वार के बाहर तक छोड़ने आया। सुल्तान ने उसे किले के बाहर आते ही कपटपूर्ण व्यवहार से धोखा देकर बन्दी बना लिया और अपने साथ दिल्ली ले गया। चित्तौड़ के लोगो को यह समाचार भेज दिया गया कि पद्मिनी को शाही हरम में भेजने के बाद ही रतनसिंह को क़ैद से छोड़ा जायगा। रानी ने जब रतनसिंह को दी जा रही यातनाओं का वर्णन सुना तो दिल्ली जाने को आतुर हो उठी। तभी गौरा और बादल ने कूटनीतिक परामर्श दिया और यह फैसला हुआ कि 1600 बन्द पालकियों में शस्त्रों से सुसज्जित राजपूत योद्धा बैठ जायेंगे। हर पालकी को आठ राजपूत सैनिक उठायेंगे। समाचार यह फैलाया गया कि पद्मिनी अपनी सखियों सहित शाही महल में जा रही है।

दिल्ली पहुँचकर पद्मिनी ने सुल्तान से प्रार्थना की कि उसेएक बार राणा से मिलने दिया जाय। अपनी सफलता की खुशी में सुल्तान ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। कैद से बाहर आते ही रतनसिंह और पद्मिनी चित्तौड़ को रवाना हो गये। जब सुल्तान को राणा के भाग जाने की खबर मिली तो उसने पीछा करने का आदेश दिया। गोरा और बादल ने सुल्तान की सेना का वीरता से मुकाबला किया तब तक रतनसिंह चित्तौड़ पहुँचा। इस युद्ध में गोरा मारा गया। राणा ने पड़ौसी राजा देवपाल की रियासत पर आक्रमण किया क्योंकि राणा की अनुपस्थिति में उसने पद्मिनी को ले भागने का प्रयत्न किया था। राणा ने देवपाल को मार डाला किन्तु युद्ध में खुद भी घायल हो गया और थोड़े समय बाद मर गया। उसी समय अलाउद्दीन ने चित्तौड जीता पर पद्मिनी अपने पति के लिये सती हो गई थी।

जायसी के इस रोमाचकारी काव्य में क्या नही है? अथाह प्रेम, अनन्त साहस, रोंगटे खड़े कर देने वाला विवाद, प्रेमिका का विरह, प्रियतम के लिये मिट जाने की चाह आदि भावनाओं को इस प्रकार संजोया गया है कि पढ़ते ही कथा सच्ची लगने लगती है। फलस्वरूप सावन की घटाओं की तरह यह कथा भारत के भूमंडल पर छा गई। इसका असर बाद के इतिहासकारों पर भी पड़ा और सभी फारसी के लेखकों ने इस कथा को थोडे हेरफेर के साथ सच मान लिया। फरिश्ता और हाजी उद्दबीर ने इसे मान्यता दी। यहाँ तक कि कर्नल टाड ने भी भाटों और चारणों से सुन कर इस कहानी को सच मानकर बडे प्रभावशाली शब्दों में वर्णन कर दिया जायसी के दस वर्ष बाद फरिश्ता ने अपनी कृति में इस कथन को दोहराया है। उद्दबीर हाजी भी इसे दोहराते हैं पर निश्चित न होने के कारण न रतनसिंह का नाम लेते हैं न पद्मिनी का। राजस्थान के चारण व भाट, राजपूतों का शौर्य बताने के लिये इस कथा को बड़े गर्व और चाव से दोहराते है और समय के साथ यह उसी प्रकार सच लगने लगी है जैसे एक झूठ को, बार बार दोहराने से वह सच बन जाती है।

घटना बहुत रोचक और सच सी लगती है, इसमे कोई झूठ नही और पुराने राजपूत लेखकों की इस मामले मे चुप्पी एक शक पैदा करती है कि शायद ऐसा हुआ हो! अतः सम्पूर्ण पुराना साहित्य व इतिहासकार जायसी के साथ इस घटना को सच मानते हैं। संक्षेप में जायसी, फरिश्ता हाजी उद्दबीर, चारण व भाट तथा राजपूत ग्रन्थों की चुप्पी इस कथानक के पक्ष मे गवाही देती है कि पद्मिनी के रूप पर मोहित अलाउद्दीन ने राणा को बन्दी बना कर उसे पाना चाहा था पर क्षत्राणी पहले तो पति को छुड़ा लाई फिर अग्नि मे जलकर राख हो गई किन्तु अपने प्यार को लान्छन नही लगने दिया। आधुनिक इतिहासकारों में डॉ० दशरथ शर्मा और डॉ० किशोरीलाल इस बात का कड़ा समर्थन करते है कि यह कहानी नही ऐतिहासिक सत्य है। कर्नल टाड भी इसे मानते हैं। इस प्रकार आधी दर्जन से अधिक विद्वान व चारण-भाट इसका समर्थन करते हैं। तीन मुसलमान, दो हिन्दू और एक

अंग्रेज लेखक पद्मिनी की ऐतिहासिकता को मानते है। ये विद्वान् है—मलिक मुहम्मद जायसी, फरिश्ता, हाजी उद्वीर, डॉ० दशरथ शर्मा, कर्नल टाड और श्री सोमानी।

इतने पर भी इस कथा को ऐतिहासिक न मानकर आज भी इसकी सत्यता की कसौटी पर कसा जा रहा है। इसे गलत मानने वाले विद्वानों में उल्लेखनीय है श्री जगदीशसिंह गहलोत, श्री ओझा और डॉ०कानूनगो। चारणों व भाटों द्वारा सुनकर जायसी इसे साहित्य व कल्पना का सुनहरा पुट देकर सत्य समान बनाने में सफल हुआ है। श्री गहलोत अपनी पुस्तक, 'राजपूताने का इतिहास' पहला भाग मे पृष्ठ 201 पर इस कथा को दोहराते हुए अन्त मे कहते है कि—' परन्तु यह कथा चारण भाटो ने मलिक जायसी के बनाये 'पद्मावत' काव्य से ही ली है जो कल्पित है। यह युद्ध चित्तौड़ जैसे किले और राज्य को लेने के लिये ही हुआ था।"

ओझाजी कहते हैं कि "ई० सं० 1303 में उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और छः महीने लड़ने के बाद वह किला फतह कर अपने बेटे खिजरखाँ को दे दिया। इस लड़ाई में रावल रतनसिंह व उसके कई सरदार मारे गये और रतनसिंह की रानी पद्मिनी ने राजपूत रमणियों के साथ जोहर से अपने सतीत्व की रक्षा की।" ओझाजी जायसी के आठ वर्ष के घेरे को सिर्फ छः महीने का बताते हैं। वास्तव में न तो रतनसिंह का शासनकाल इतना लम्बा था और न अलाउद्दीन के पास इतना समय था कि वह आठ साल तक पद्मिनी को पाने के लिये बुगले की तरह ताक लगाये बैठा रहता। उचित यही होगा कि हम विद्वानों के कथन का सत्य की कसौटी पर आँकें।

जायसी की जाँच—ऐतिहासिक शिलालेखों से प्राप्त सत्य और जायसी के कथन में कई स्थानों पर भिन्नता है जो कथा की सत्यता पर शंका उत्पन्न करती है यदि हम डॉ० दशरथ शर्मा, टाड, डॉ० लाल, सोमानी आदि के साथ जायसी के काव्य को ऐतिहासिक मान भी लें तो भी इन शंकाओ का समाधान नहीं होता—

1. रतनसिंह लंका में बारह वर्ष तक रहे और फिर चित्तौड़ लौट कर आये। जबकि रतनसिंह का कुल शासनकाल एक वर्ष के आस-पास माना जाता है जो युद्ध में बीता। अतः कवि सत्य है या दरीबा में मिला शिलालेख जो अलाउद्दीन के आक्रमण के चार दिन पहले लिखा गया था। स्पष्ट है कि काव्य में लंका का 12 वर्ष का निवास प्रेयसी को पाने के लिये कवि के मन की व्याकुल पुकार का प्रदर्शन मात्र है।

2. जायसी लिखता है कि रतनसिंह पद्मिनी को पाने लका या सिलोन गया। श्री सोमानी जो अन्यथा जायसी के समर्थक हैं, इस कथन को गलत बताते हैं। उनका कहना है कि "पद्मिनी को सिलोन की राजकुमारी मानना गलत है। मध्यकालीन कथाकारों में लंका जाकर नायक के विवाह करने का विषय प्रिय रहा है। इसके साथ ताल मेल बिठाने को कई विद्वान सिगोली को सीलोन मानते हैं। जो सर्वथा

अनुपयुक्त प्रतीत होता है। यह राजस्थान या मालवा के किसी भू-भाग की राजकुमारी रही होगी।" इस प्रकार जायसी की नायिका का घर ही गलत है।

3. नायिका से पिता का नाम भी फरक दिया है। जायसी लंका के शासक का नाम गोवर्धन बताता है, टाड महोदय उसका नाम हमीर. संक कहते हैं, ओझाजी उसे प्रकरम बाहु चतुर्थ लिखते हैं. ("राजपूताने का इतिहास"—दूसरी जिल्द - पृष्ठ 461)। इन तीन अलग अलग नामो से स्पष्ट हो जाता है कि यह नाम काल्पनिक है।

4. जायसी ने अलाउद्दीन व रत्नसिंह के युद्ध की अवधि आठ वर्ष बताई है जबकि सभी इतिहासकार यह तो मानते है कि युद्ध किसी भी दशा में आठ महीने से अधिक नही चला। श्री गहलोत के अनुसार युद्ध सात महीने तक चला। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'वीर भूमि चित्तौड़' के पृष्ठ 32 पर स्वयं यह मानते हैं कि "घेरा छै मास तक रहा था।" डा० लाल भी अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 97–99 पर लिखते है कि अलाउद्दीन सोमवार 28 जनवरी, 1303 को दिल्ली से चला और सोमवार 26 अगस्त, 1303 को चित्तौड़ ने एक खुले युद्ध के बाद समर्पण कर दिया। स्पष्ट है कि युद्ध पूरा सात महीने भी नही चला। फारसी के इतिहासकार फरिश्ता, हाजी उद्दबीर, बरनी आदि सभी युद्ध का समय सात महीने के लगभग बताते हैं। वीर विनोद के पृष्ठ 288 पर लिखा है कि "छै महीने सात दिन तक लड़ाई रहकर 18 अगस्त, 1303 को बादशाह ने किला फतह कर लिया।" स्पष्ट है कि यहाँ भी जायसी की कल्पना अति को पार कर गई है।

5. जायसी राघव को एक भिखारी बताते हैं जो पद्मिनी का रूप देख कर मूर्छित हो गया था किन्तु फारसी के ग्रन्थो से प्रमाणित हो चुका है कि राघव भिखारी नहीं एक ऐतिहासिक महत्त्व का राजपूत सामन्त था जो पहले चित्तौड़ की सेवा में था फिर अलाउद्दीन के पास चला गया था। जैन प्रबन्धो (धार्मिक ग्रन्थो) से भी पता चलता है कि मोहम्मद तुगलक के समय मे राघव को दिल्ली दरबार में बड़ा सम्मान प्राप्त था। जायसी का भिखारी राघव एक महत्त्वपूर्ण सामन्त था भिखारी नहीं। इसी एक सत्य से हम जायसी के कथानक की सत्यता को फाड़ कर रद्दी की टोकरी में डाल सकते हैं। जो लेखक महत्वपूर्ण सामन्त को भिखारी और जादूगर बना दे उसकी बातों पर विश्वास करना अच्छा तो लगता है पर सत्य नहीं हो सकता।

6. अन्य लेखों व ग्रन्थों में इस कथा का कहीं वर्णन नहीं मिलता। एक भी राजपूत लेख या शिलालेख ऐसा नही है जो इस कथन की पुष्टि करे और फारसी के इतिहासकार इब्नबतूता, इसामी और बरनी भी इस कथा का कहीं वर्णन नहीं करते अतः यह सिर्फ जायसी के दिमाग की उपज दिखती है। किन्तु सोमानी जी इन दोनों तथ्यों का खण्डन करते हैं कि राजपूत ग्रन्थ परम्परागत स्त्रियों का वर्णन नहीं ... । हाड़ी कर्मेती जिसने चित्तौड़ के युद्ध में वीर गति प्राप्त की थी तथा पन्नाधाय

जिसने उदयपुर के राजा की रक्षा की थी तक का नाम भी नहीं मिलता। फारसी के इतिहासकारों ने चित्तौड़ का बहुत संक्षिप्त वर्णन किया है अतः उनमें रानियों के वर्णन की आशा करना व्यर्थ है। सोमानीजी कहते हैं कि "पद्मिनी कथानक मध्यकाल में ही सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रचलित था अतएव उसे बिलकुल काल्पनिक नहीं कह सकते हैं। स्पष्ट है कि वे भी इसमें कल्पना या झूठ का पुट मानते हैं।

7. स्वयं जायसी ने अपनी पुस्तक के अन्त में स्पष्ट किया है कि कथा में चित्तौड़ तो देह का, राजा रतनसिंह मस्तिष्क का, सिंघल द्वीप हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का और अलाउद्दीन माया का प्रतिरूप है। स्पष्ट है कि जायसी एक काल्पनिक प्रेम कथा लिख रहा था कोई ऐतिहासिक घटना नहीं। उसके निजी शब्द इस प्रकार हैं—

'तन, चित्त, उर, मन राजा कीन्हा। हिम सिंघल बुद्धि पद्मिनी चिन्हा।
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाचा सोई न एहिचित बांधा॥

राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझ लेहु जो बूझै पारहु॥

स्वयं कवि मानता है कि यह काल्पनिक प्रेम-कथा है फिर उस पर इतना आवेश क्यों? कवि यदि रतनसिंह, पद्मिनी और अलाउद्दीन की जगह अन्य नाम रख देता तो आधुनिक शोधकर्त्ताओं के उत्साह पर घड़ों पानी गिर जाता। लेकिन डॉ० दशरथ शर्मा ने राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि यह कथा सत्य है। उन्होंने डॉ० कानूनगो के सभी विरोधी तर्कों का खण्डन किया है। अब हम उन तर्कों को भी देखें जो जायसी के पद्मावत के कथानक का समर्थन करते हैं। डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि—

1. जायसी के महाकाव्य से 14 वर्ष पहले 'गीता चरित' में भी पद्मिनी की कहानी को लिपिबद्ध किया है। जायसी ने पद्मावत अलाउद्दीन की मृत्यु के 224 वर्ष बाद और चित्तौड़ के घेरे के 237 वर्ष बाद लिखा था अतः उस पर समय या किसी शासक का कोई प्रभाव नहीं मानना चाहिए।

2. अन्तिम चार पंक्तियों के बारे में डॉ० शर्मा का मत है कि ये पंक्तियाँ बाद में लिखी गई हैं क्योंकि डॉ० माता प्रसाद तथा वासुदेव शरण अग्रवाल ने पद्मावत की जिस पाण्डुलिपि को वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित किया है उसमें ये पंक्तियाँ नहीं हैं।

इस प्रकार डॉ० दशरथ शर्मा ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जायसी का पद्मावत एक ऐतिहासिक रचना है।

डॉ० कानूनगो के तर्कों का खण्डन करते हुए सोमानीजी भी इस कथा को सच मानते है। उनका विश्वास है कि —"हमें मानना पड़ेगा कि पद्मिनी अवश्य चित्तौड़ में हुई थी। उसके महल आज भी यथावत् विद्यमान हैं।" उनका उल्लेख

समसामयिक ग्रन्थों में नहीं होने से इसे कल्पना नहीं मान सकते।" —'वीर भूमि चित्तौड़', पृष्ठ 41।

3. डॉ० शर्मा का कहना है कि इसामी, बरनी व निजामुद्दीन अहमद आदि ने इसका वर्णन नहीं किया। इसका यह मतलब नहीं है कि यह कथा सच नहीं है। फारसी की तवारिखों में चित्तौड़ का वर्णन संक्षेप में ही किया गया है।

लेकिन अमीर खुसरो के लिए उनके पास क्या उत्तर है जो अलाउद्दीन के साथ था? यह कैसे कहा जा सकता है कि पद्मिनी की तरह की घटना यदि वह घटी, तो उसकी भी लेखनी से कैसे चूक गई?

4. डॉ० शर्मा राघव भिखारी को भी सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि इस भिखारी का वर्णन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में भी मिलता है। किन्तु कसौटी पर यह सही नहीं हो सकता क्योंकि अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ उसे महत्त्वपूर्ण सामन्त बताते है।

कहानी में इतना सत्य है कि पद्मिनी राणा रतनसिंह की रानी थी जो राणा के युद्ध मे मारे जाने पर अग्नि में जल कर मर गई थी। राणा का पकड़ा जाना भी राजपूत मानते है। उसे नीति से छुड़ाया गया यह भी सत्य ही है किन्तु पद्मिनी का 1600 पालकियो में जाना, जिसे फरिश्ता सिर्फ 700 बताता है और उद्बीर 500 ही गिनता है। जायसी और फरिश्ता कहते हैं कि राणा को बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया जबकि हाजी उद्बीर का कहना है कि उसे चित्तौड के पास ही पहाड़ियो में रखा गया। ये सब कथा की कल्पना के अंग हैं। जायसी के आधार पर इतना बडा ऐतिहासिक सत्य नही मानना चाहिए। अभी अनुसन्धान की और आवश्यकता है जो वास्तविक सत्य को हमारे सामने रख सके।

□

8

राणा कुम्भा (1433-1468)

प्रारम्भिक जीवन

कुम्भा महाराणा मोकल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सौभाग्य देवी था। कुम्भा के छः भाई थे और एक बहन लालबाई थी। यह बहन कुम्भा से बड़ी थी और मोकल की पहली सन्तान थी। कुम्भा के जन्म के बारे में यह प्रसिद्ध है कि द्वारका के योगी नन्दिकेश्वर की इच्छा राजा होने की हुई और वे सौभाग्य देवी के गर्भ से कुम्भा के रूप में जन्मे। कीर्ति-स्तम्भ में इस कथा का वर्णन आता है। कुम्भा को 'शृंगार विश्वम्भरो' भी कहा गया है। अर्थात् वह शृंगारप्रिय था। कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में वह तीनों लोकों की रमणियों को मोहित करने वाला कहा गया है। संगीत राज में तो यहाँ तक लिखा है कि स्वप्न में भी किसी राजकन्या ने उसको देख लिया तो उसको वरण करने की जरूर इच्छा करेगी। स्पष्ट है कि कुम्भा सुन्दर व प्रभावशाली देहधारी था। कीर्ति-स्तम्भ के श्लोक 165 मे लिखा है कि "वह सभा मे धीरोदात्त, संसदों में धीरशान्त, मित्रों में उदारधीर और कान्ताओं में धीरललित था।" उसने कई राजकन्याओ को जबरदस्ती ब्याहा था। उसके कई रानियाँ थी जिनमें अजमेर, हमीरपुर और हाडाओं की लड़की विशेष उल्लेखनीय हैं। ख्यातों मे कुम्भा के 1600 रानियाँ लिखी है। राज रत्नाकर मे तो यहाँ तक कहा गया है कि वह प्रतिदिन महान् सुन्दर कन्या से विवाह करता था। यह सब कल्पना है। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'राणा कुम्भा' के पृष्ठ 39 पर कहते है कि—"कुम्भा के महलों में इतने अधिक कक्ष नही थे कि जिनमें 1600 रानियाँ अपनी सेविकाओं सहित रह सकें।" अन्य मध्यकालीन राजाओं के तो हजारों की संख्या में रानियों की कल्पना की जाती थी, आश्चर्य है कि कुम्भा के सिर्फ 1600 ही क्यो, 16000 का चिन्तन क्यों नहीं किया गया? यह कहना भी सत्य नही है कि कई राज-कन्याओं ने स्वयं उसे वर मान लिया था। इस समय स्वयंवर ही नही होते थे अतः इसकी भी सम्भावना नही हो सकती। कर्नल टाड ने तो मीरांबाई को भी कुम्भा की रानी बता दिया है जबकि यह राणा सांगा के पुत्र भोजराज की रानी थी।

कुम्भा के महल बड़े सादे थे। आश्चर्य इस बात का है कि कीर्ति-स्तम्भ का निर्माता कुम्भा अपने निवास के लिए साधारण महल ही बना सका। कुम्भा के ग्यारह पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा लड़का उदयसिंह था। उसी ने अन्त मे एक दिन

जब कुम्भलमेर के किले में मालदेव के मन्दिर के पास एक कुण्ड पर बैठे थे तो उदयसिंह ने पीछे से आकर महाराणा का काम तमाम कर दिया। यह वर्णन वीर विनोद की पहली जिल्द के पृष्ठ 334 पर दिया गया है। महाराणा कुम्भा को अन्तिम दिनों मे उन्माद रोग हो गया था। कुम्भा का जन्म 1460 वि. सं में हुआ और उसकी हत्या 50 वर्ष की अवस्था में माघ मास की दसमी को 1525 वि. सं. मे की गई थी। कुम्भा का राज्याभिषेक टाड महोदय के अनुसार 1478 ई० मे हुआ था। जब उसकी आयु केवल 15 वर्ष की थी। वास्तव में कुम्भा का राज्याभिषेक 1433 ई० मे हुआ था।[1] उसने 35 वर्ष तक मेवाड़ पर राज्य किया। उसकी हत्या 1468 ई० मे मेवाड़ में ही उसके बड़े लडके ने की थी।[2]

इन 35 वर्ष के शासनकाल में कुम्भा ने जो कार्य किये वे उल्लेखनीय हैं। गद्दी पर बैठते ही उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भाइयों का विरोध, चाचा चूंडा का विरोध, पिता की हत्या का बदला, मुसलमान सुल्तानो के आक्रमणों से चित्तौड की रक्षा आदि ऐसे अनेक कार्य थे जो कुम्भा के युवक कंधों पर आ बैठे। वास्तव में महाराणा हम्मीर के बाद कुम्भा ही ऐसा राणा था जिसके समय मे मेवाड़ ने प्रगति की। कुम्भा के प्रारम्भिक वर्ष वास्तव मे संघर्ष के रहे होंगे। वैसे तो उसे सारे जीवन भर सघर्ष करना पड़ा था। गद्दी पर बैठते ही चाचा का विरोध और भाई का विरोध और अन्त मे पुत्र का विरोध। ये आन्तरिक विरोध मेवाड के विकास में काफी बाधक रहे। अब हम मेवाड़ की आन्तरिक दशा का अध्ययन करें।

मेवाड़ की दशा—महाराणा कुम्भा मेवाड के सफल व योग्य राणाओं मे से एक हैं। ये राणा हम्मीर के पांचवें वंशज और राणा मोकल के बड़े लड़के थे। राणा हम्मीर जहां मेवाड के राज्य के संस्थापक व पराक्रमी वीर थे, वहां कुम्भा की गिनती मेवाड की कीर्ति को चारो ओर फैलाने वालों में की जाती है। इनकी माता का नाम महारानी सौभाग्य देवी था जो मारवाड़ की राजकुमारी थी। कुम्भा के छः भाई और एक बहन थी।[3] जब कुम्भा की आयु सिर्फ 15 वर्ष की थी तभी उसके पिता राणा मोकल को कुम्भा के चाचा रावत चूंडा ने मरवा दिया। चूंडा स्वयं मेवाड़ का शासक बनना चाहता था किन्तु उसी समय कुम्भा का मामा राव रणमल सेना सहित चित्तौड आया और अपने भानजे कुम्भा का सरक्षक बनकर राज्य कार्य सभालने लगा। राव रणमल ने प्रतिज्ञा की थी कि वह चूंडा को वंश सहित नष्ट करके चैन लेगा। इस प्रकार कुम्भा के राज्यारोहण के समय मेवाड़ आन्तरिक अशान्ति और गृह-क्लेश मे डूबा हुआ था। कुम्भा के सामने सबसे पहली समस्या यह

---

1. वीर विनोद पहला भाग, पृष्ठ-317.
2. वही पहला भाग, पृष्ठ-333.
3. कुम्भा, क्षेमकरण, शिवा, सत्ता, नाथसिंह, वीरमदेव और राजधर। बहन का नाम लालबाई था।

थी कि अपने पिता के हत्यारे से किस प्रकार बदला ले। अन्य छः भाइयों से सम्बन्ध भी कुम्भा के साथ अच्छे नहीं थे। विशेषतौर पर क्षेमकरण तो आ: पार. के क्षेत्र को जीतकर राजा बन गया था और कुम्भा ने उसे हराकर मालवा भगा दिया था। क्षेमकरण ने मांडू के सुल्तान से सहायता लेकर मेवाड़ पर आक्रमण किया और मेवाड़ की शक्ति व एकता को बड़ा धक्का पहुँचाया। क्षेमकरण या खेमा को मांडू के सुल्तान से जब सहायता नहीं मिली तो उसने गुजरात के सुल्तान मोहम्मद बेगड़ा को उकसाया और उसकी सहायता से मेवाड़ पर आक्रमण किया किन्तु कुम्भा की वीरता के कारण खेमा और गुजरात के सुल्तान को पराजित होकर भागना पड़ा। इतने पर भी खेमा को सन्तोष नहीं हुआ। उसने कुम्भा के युवराज उदयसिंह को भड़काना शुरू किया और अपने इस षड्यन्त्र में खेमा या क्षेमकरण सफल हुआ। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के पृष्ठ 46 पर कहते हैं कि "उसने मेवाड़ के युवराज उदा (उदयसिंह) को भड़काना शुरू कर दिया और मौका पाकर महाराणा कुम्भा की हत्या कराने में सफलता प्राप्त करली।" राज्य के लिए भाइयों के संघर्ष की यह कहानी मेवाड़ के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार का संघर्ष राणा सांगा के समय भी चला और कुम्भा के पिता की हत्या भी उसके चाचा चूंडा ने राज्य के लिए ही की थी। चूंडा और कुम्भा के सम्बन्ध हम अलग से देखेंगे किन्तु यहाँ इतना कहना उचित है कि कुम्भा का सिंहासन फूलों की सेज न होकर कांटों का ताज था। उसका चाचा चूंडा और उसका भाई खेमा उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। कुम्भा को इन दोनों आन्तरिक विरोधियों से बचा कर मेवाड़ का विकास करना था और समकालीन मुसलमानों से भी निपटना था। मेवाड़ आन्तरिक फूट और शत्रुता के विनाशकारी बादलों से घिरा था जबकि कुम्भा ने उसे सब प्रहारों से बचाकर कीर्तिवान बनाया यही कारण है कि कुम्भा की तुलना मेवाड़ के लेखक कृष्ण से करते हैं।[1]

इतिहासकार टाड का कहना है कि राजा मोकल के मरने के बाद मेवाड़ राज्य की परिस्थितियाँ एक साथ बिगड़ गई थीं। पिता के अचानक मारे जाने पर कुम्भा ने मारवाड़ के राजा से सहायता मांगी। "कुम्भा अपनी छोटी अवस्था से ही शूरवीर और प्रतापी था। राज्य में अनेक कमजोरियाँ रहते हुए भी उसने बड़े साहस से काम लिया। विरोधी परिस्थितियों की उसने कुछ परवाह नहीं की और बड़ी योग्यता के साथ उसने चित्तौड़ की शक्तियों का संगठन किया। थोड़े ही दिनों के भीतर मेवाड़ की निर्बल शक्तियाँ शक्तिशाली बन गई। जो विरोधी राज्य चित्तौड़ को खा जाने को तैयार थे, वे सब राणा कुम्भा को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे।"[2]

1. एकलिंग माहात्म्य के राजवंश वर्णन का श्लोक-91.
2. कर्नल टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 165.

चूण्डा और कुम्भा—कुम्भा के पिता मोकल को उसके चाचा और मेरा ने मिलकर बागौर के पास मारा था। चूण्डा जो कुम्भा का ताऊ था उसने अपने आपको मेवाड़ का राणा भी घोषित कर दिया था और कुछ सरदार भी उसके साथ मिल गये थे। कुम्भा ने अपने मामा रणमल से सहायता मांगी। रणमल ने रात्रि के भयानक आक्रमण में चित्तौड़ जीत लिया और चूण्डा व उसके साथी पहाड़ों में भाग गये। यहाँ यह कहना उचित होगा कि श्री रेऊ द्वारा लिखित मारवाड़ के इतिहास में इस बात पर जोर दिया गया है कि चूण्डा ने राज्य प्राप्ति के लिए मोकल को मरवाया था और वीर-विनोद में भी इस विचारधारा का समर्थन किया गया है[1] किन्तु श्री सोमानी इसे सत्य नहीं मानते। उनका विचार है कि—"चूण्डा के साथ महाराणा कुम्भा के सम्बन्ध बहुत ही अच्छे रहे थे। महाराणा सदैव उसकी बड़ी इज्जत करता था अतएव रेऊ की आलोचना में हमें अधिक बल दिखाई नहीं देता है।"[2]

श्री गहलोत भी इस बात को मानते हैं कि कुम्भा के पिता को मारने वाला उसका चाचा और मेरा ही थे। उनका कहना है कि "कुम्भा के मामा रणमल ने भीलों के मुखिया को नीति से अपनी तरफ मिलाकर चाचा और मेरा को मरवा डाला।"[3] इसी कथन का समर्थन टाड व ओझा भी करते हैं, केवल श्री सोमानी इस कथा को सच नहीं मानते। वीर विनोद में इस कथा का वर्णन बड़े रोमांचकारी ढंग से किया गया है। रणमल ने पई के पहाड़ों में छिपे चाचा और उसके साथियों को मारने के लिए गमेती नामक भील की विधवा और पाँच पुत्रों की सहायता ली। चाचा और उसका साथी मेरा इस प्रकार रणमल के हाथों मारे गये। उस समय चूण्डा मालवा के सुल्तान के पास था।

मुसलमानों से संबन्ध— राणा कुम्भा से सौ साल पहले 1303 में अलाउद्दीन खिलजी ने मेवाड़ पर आक्रमण कर चित्तौड़ को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। उसने अपने लड़के खिज्र खाँ को चित्तौड़ का शासक बना दिया था। खिज्र खाँ ने 1313 तक चित्तौड़ पर राज्य किया फिर 1316 में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद राणा हम्मीर ने निरन्तर आक्रमण कर 1340 ई० में चित्तौड़ वापस जीत लिया था। इस समय से लगाकर कुम्भा के गद्दी पर बैठने तक के समय के बीच में मुसलमानों ने चित्तौड़ को जीतने के अनेक प्रयास किये। गौरी के समय से लगाकर कुम्भा के समय तक के दो सौ छत्तीस वर्ष के समय में मेवाड़ भूमि ने अनेकों आक्रमणों का सामना किया था। राणा हम्मीर के समय से 1340 के आगे राणा राज्य विस्तार की बात सोचने लगे। अलाउद्दीन के बाद विजयनगर, गोलकुण्डा, मालवा, गुजरात, जौनपुर और कालपी जैसे अनेक राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। राणा हम्मीर के समय

---

1. वीर विनोद—पहला भाग—पृष्ठ 318.
2. सोमानी—महाराणा कुंभा—पृष्ठ 45.
3. गहलोत—राजपूताने का इतिहास—पृष्ठ 209.

दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, किन्तु उसे पराजित होना पड़ा। ओझाजी का ऐसा विचार है जबकि विदेशी लेखक ब्राउन यह मानते हैं कि—"मुहम्मद तुगलक ने राजपूताने के मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई।"

फीरोज तुगलक के समय मेवाड़ एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। तैमूर ने 1398 ई० में भारत पर भीषण आक्रमण किया और दिल्ली के सुल्तानों की रही-सही इज्जत को मिट्टी में मिला दिया। उसके सेनापतियों ने दिल्ली में नये सैयद वंश की नींव डाली जिसे देश के अन्य प्रान्तों के मुसलमान शासक अपना सुल्तान मानने को तैयार नहीं थे। यह वंश 1451 तक चलता रहा। निर्बल सैय्यदों के समय में मेवाड़ का राणा कुम्भा था। सन् 1451 से आगे 1526 तक दिल्ली में लोदी वंश का राज्य रहा। ये भी निकम्मे और अयोग्य शासक ही थे। अतः दिल्ली की डाँवाडोल परिस्थिति ने कुम्भा को राज्य विस्तार का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। उसका शासनकाल 1433 से 1468 तक का समय, मेवाड़ के राज्य विस्तार व संगठन का काल बन गया।

माना कि दिल्ली के सुल्तान निर्बल थे, किन्तु मेवाड़ के पास के दो मुसलमान शासक कुम्भा के कट्टर शत्रु थे। मालवा या मांडू और गुजरात के नवाब मेवाड़ की प्रगति नहीं देख सके। साथ ही उसके भाई ऊदा और चाचा चूण्डा ने इन मुसलमान राज्यों में शरण लेकर मेवाड़ और मालवा व गुजरात के सम्बन्धों को खराब कर दिया। कुम्भा अभी अपनी आन्तरिक दशा को ठीक भी नहीं कर पाया था कि गुजरात और मांडू (मालवा) के नवाबों ने 1440 ई० में मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। इन आक्रमणों का हम अलग से वर्णन करेंगे किन्तु यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि दिल्ली की शक्ति क्षीण होते हुए भी मेवाड को तंग करने के लिए पड़ौसी मुसलमान राज्य सदा तत्पर रहते थे और कुम्भा के समय उन्हें करारी मात खानी पड़ी। इतना स्पष्ट है कि कुम्भा ने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर मेवाड़ की महिमा को महान् बना दिया था। दिल्ली के सुल्तान मेवाड़ विजय का स्वप्न त्याग चुके थे और पड़ौसी मुसलमान राजा (मालवा का नवाब मोहम्मद खिलजी) मेवाड़ की जेलों का पानी पीकर राजपूतों की वीरता के गीत गाने लगा था। कुम्भा ने अपने समकालीन मुसलमान शासकों पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

उपाधियाँ—भारत के हिन्दू शासक अपने आपको अनेक उपाधियों से अलंकृत करते रहे हैं। अशोक को लोग देवनामप्रिय व प्रियदर्शी सम्राट के नाम से पुकारते थे। राजा, महाराजा, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती सम्राट आदि अनेक उपाधियों का हिन्दू राजा प्रयोग करते थे। कुम्भा भी एक सफल व प्रभावशाली शासक था। स्वयं कुम्भा ने एक ग्रन्थ लिखा था जिसका नाम 'रसिक-प्रिया' था, जो जयदेव की गीत गोविन्द की टीका के रूप में लिखा गया था। इसके अतिरिक्त कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति के श्लोक 232 में कुम्भा की उपाधियों का सविस्तार से वर्णन मिलता है। कीर्ति-

स्तम्भ के 148वें श्लोक में भी कुम्भा की उपाधियों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार उसकी उपाधियों का वर्णन तीन साधनों में मिलता है।

1. रसिक-प्रिया—इस ग्रन्थ मे कुम्भा द्वारा धारण की गई उपाधियाँ 'नरपति', 'छापगुरु', 'अखपति' और 'गैनपति' आदि हैं, जिनसे पता चलता है कि कुम्भा छापामार युद्ध नीति में प्रवीण था तथा एक शक्तिशाली विजेता और कुशल शासक था।

2. कीर्ति-स्तम्भ—चित्तौड़ में 1460 में बनवाये इस स्तम्भ पर कुम्भा की कुछ और उपाधियों का पता चलता है। इस स्तम्भ के 148वें श्लोक मे कुम्भा को 'राजगुरु', 'दीनगुरु', 'हालगुरु' और 'परमगुरु' की उपाधियों से सुशोभित किया गया है। अर्थात् वह महान् दानी था, कई पहाड़ी दुर्गों का स्वामी था, और अपने शासनकाल का सबसे अच्छा शासक था।

3. कुंभलगढ़ प्रशस्ति—1460 में कुम्भलगढ़ के अन्दर मामदेव के अन्दर कुम्भा ने अपने राज्य का वर्णन पाँच बड़ी-बड़ी चट्टानों पर खुदवाया था, जिनमे से दो नष्ट हो गई है और शेष तीन से काफी जानकारी कुम्भा के बारे में मिलती है। इन लेखों मे 232वें श्लोक में कुम्भा की उपाधियों का वर्णन है जिनमे उसे 'महाराजाधिराज', 'रायरायन', 'रणरासो', और 'महाराणा' कहकर पुकारा गया है। अर्थात् वह राजाओ मे महान् साहित्यकारों को आश्रय देने वाला पराक्रमी महाराणा था।

इन उपाधियों से स्पष्ट होता है कि कुम्भा के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये थे जब उसने अपने आपको नई-नई उपाधियों से सुशोभित किया था। उसकी ये उपाधियाँ उसके बढते वैभव और सफलताओं का प्रतीक हैं। जितनी उपाधियाँ कुम्भा ने धारण की थी उतनी अन्य राजाओं ने नहीं की। स्पष्ट है कि उसका काल अधिक महत्त्वपूर्ण था।

रणमल और कुंभा—राणा मोकल की हत्या का समाचार सुनकर जोधपुर (मडोवर) का राव रणमल राठौर अपने भानजे कुम्भा की सहायता के लिए चित्तौड़ आया। रणमल ने अपने बहनोई के हत्यारों को मारने की प्रतिज्ञा की थी। वह उन्हें मारने मे सफल हुआ। कुम्भा अभी नाबालिग था अतः राज्य का सारा काम रणमल के हाथ में आ गया। रणमल का बढ़ता हुआ प्रभाव स्वाभाविक रूप मे चित्तौड़ के दूसरे सरदारों को अखरता था। दो एक छोटी मोटी बातों को लेकर रणमल और कुम्भा के दूसरे चाचा राघवदेव मे मनमुटाव बढने लगी। यह चूण्डा और मेवा को मारने के बाद रणमल उसके साथियों की स्त्रियों को देखकर ले गया और उन्हें राठौरों के घर मे डाल देने का आदेश दिया। राघवदेव को यह व्यवहार बुरा लगा और वह इन औरतों को अपने साथ चित्तौड़ ले आया। यहीं से रणमल राघवदेव का शत्रु बन गया।

सोमानी जी कहते हैं कि—"राव रणमल को मारवाड़ की रेतीली भूमि की तुलना में मेवाड़ की सस्य श्यामला भूमि अच्छी दिखाई दी। उसकी ललचाई आँखें वहाँ राठौड़ राज्य के संस्थापन की कल्पना कर रही थी।"[1] राजदादी हंसाबाई जो जोधपुर की थी अभी जिन्दा थी। उसके संरक्षण में रणमल ने प्रमुख पदों पर राठौरों की नियुक्ति कर दी। भाटी सत्रुशाल को चित्तौड़ का किलेदार बनाया गया। यह बात सभी सरदारों को खटकती थी किन्तु रणमल कुम्भा को सदा यह समझाता रहता था कि राघवदेव भी विद्रोही है। अन्त में उसने एक दिन 'सिरोपाव' नामक वस्त्र (अंगरखा) कुम्भा की तरफ से दरबार मे राघवदेव को भेंट करवाया। इस कुड़ते की दोनो बाहें अन्दर मे सिली हुई थी और जब राघवदेव ने इसे पहनने को अपने हाथ उसमें डाले तो, रणमल के दो आदमियों ने कटार से उसे मार डाला। नेणसी ने अपनी ख्यात के भाग एक, पृष्ठ 30 पर लिखा है कि—"सिसोदिया राघवदेव राणा कुम्भा की धरती से बिगाड़ करता था। इसलिए राणा ने उसे मारने की सोची।" सकेतानुसार एक बाँह राणा कुम्भा ने और दूसरी बाँह रणमल ने पकड़ ली और दोनों बगलो में कटार घुसेड़ दी। राघवदेव ने खुले रूप में रणमल का विरोध किया था जिस कारण उसकी हत्या कर दी गई। स्पष्ट है कि रणमल मेवाड़ के सूर्य पर छा रहा था।

राघवदेव की मृत्यु के बाद रणमल का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। लेकिन चित्तौड के सरदार उस पर शक करने लगे थे। चित्तौड में दो दल बन गये। एक दल शिशोदियों का था जो राघवदेव की मृत्यु का बदला लेना चाहता था और राठौरों को मेवाड़ से निकाल देना चाहता था। चाचा का साथी महपा पंवार वापस चित्तौड़ आ गया था। इसे कुम्भा ने माफ कर दिया था। ये सभी लोग राणा को समझाने लगे कि, "राठौरों का दिल साफ नहीं है और धरती शिशोदियों के हाथ से गई और राठौरों ने ली।"

वीर विनोद के पहले भाग मे पृष्ठ 320-21 पर रणमल के बढ़ते प्रभाव का अन्त करने के प्रयत्नों का वर्णन किया है। कुम्भा को भी अनुभव होने लगा कि रणमल उसके आदेशों का पालन नही करता। कुम्भा को रणमल के बुरे इरादों की सूचना राजमहल की एक दासी भारमली ने दी। रणमल भारमली से प्रेम करता था और वह प्रतिदिन काम से निपट कर रणमल के महल में जाती थी इसी दासी ने रणमल को एक रात अधिक शराब पिलाकर पगड़ी से चारपाई पर बाँध दिया। उसी समय महपा पंवार और अन्य सरदारो ने उस पर आक्रमण कर दिया। नेणसी कहता है कि रणमल 16 आक्रमणकारियो को मार कर मरा। टाड ने वीर विनोद में कहा है कि सिर्फ तीन व्यक्तियों को मार कर रणमल मारा गया। साधारणतः रणमल पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह राज्य हड़पना चाहता

1 सोमानी—राणा कुम्भा—पृष्ठ 69.

था किन्तु यह सत्य नही है। यदि रणमल को राज्य लेना होता तो जब कुम्भा बालक था तभी वह उसे मार सकता था। वास्तव में रणमल पर लगाये गये आरोप मिथ्या हैं। उसे मरवा कर कुम्भा ने भारी भूल की। रणमल की हत्या से मेवाड़ और मारवाड़ के बीच युद्ध शुरू हो गये। रणमल का पुत्र और उत्तराधिकारी जोधा बडी कठिनाई से अपनी जान बचा कर मेवाड़ से भाग आया। रणमल की हत्या से पड़ोसी राजपूत राज्यों में उग्र वैमनस्य उत्पन्न हो गया। मेवाड़ और मारवाड़ अगले 75 वर्ष तक आपस में लड़ते रहे। परिस्थितियाँ चाहे जैसी रही हो, सम्भव है रणमल अहंकारी और स्वार्थी भी हो गया हो लेकिन यह मानने में कोई संकोच नही करना चाहिये कि रणमल ने कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाईयो को समाप्त कर उसे मेवाड़ का राणा बना दिया। उसी के मार्ग-दर्शन मे कुम्भा मेवाड़ की शासन व्यवस्था को सुदृढ़ बना सका। रणमल पर इसलिए शक किया जाता है कि उसने अपने पुत्र जोधा को चित्तौड़ की तलहटी में ही रक्खा था और कुम्भा के कहने पर भी चित्तौड़ दुर्ग में नही बुलाया। सोमानी जी की राय मे तो—"रणमल की मृत्यु राघवदेव की मृत्यु का बदला मात्र प्रतीत होती है।"[1]

रणमल दोषी था या नही किन्तु उसकी मृत्यु ने राठौड़ों और शिशोदियों के दीर्घकाल से चले आ रहे अच्छे सम्बन्धों को समाप्त कर दिया। राठौडो को जोधपुर पर अधिकार करने मे अगले 15-16 वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा। रणमल की मृत्यु होते ही एक डोम ने तलहटी में रहने वाले रणमल के पुत्र जोधा को संकेत किया कि रणमल तो मारा गया, जोधा भाग सके तो भाग।

सच तो यह है कि अनेक षड्यंत्र करने के बाद जब चूण्डा वापस मेवाड़ आया तो उसका चित्तौड़ में रहना रणमल को अच्छा नही लगता था। रणमल को यह भय था कि चूण्डा अब कोई नया षड्यंत्र रचेगा। उसी के भय से उसने अपने लड़के जोधा को चित्तौड़ की तलहटी में भेज दिया था। जब कुम्भा ने रणमल की इच्छा के विरुद्ध चूण्डा को वापस मेवाड़ में रहने की स्वीकृति प्रदान कर दी तो रणमल विरोधी हो गया था और अपना प्रभाव बढाने लगा था। चूण्डा को वापस घर मे रख कर कुम्भा ने दूसरी भूल की जो रणमल के लिए ही नही वरन् आगे चल कर उसके खुद के लिए घातक सिद्ध हुई और उसी के भड़काने पर ऊदा ने कुम्भा की हत्या कर दी।

रणमल के पुत्र जोधा का मेवाडी सेना ने पीछा किया और इसी युद्ध में जोधपुर पर भी मेवाड़ का अधिकार हो गया जो अगले 15-16 वर्ष तक रहा। चूण्डा ने अपने पुत्र कुन्तल, भानजा सूबा और झाला आदि को जोधपुर पर राज्य करने को छोड़ दिया और स्वयं चित्तौड लौट आया।[2]

---

1 सोमानी—राणा कुम्भा—पृष्ठ 95.
2 गहलोत—राजपूताने का इतिहास—पृष्ठ 210.

वीर विनोद में जोधपुर पर पुनः जोधा और राठौड़ों को अधिकार दिलाने वाली राणा मोकल की माँ और कुम्भा की दादी थी। जो रणमल की बहन भी थी। इन्हीं के आग्रह करने पर कुम्भा ने अपनी शक्ति को जोधपुर से हटा लिया और दादी माँ से कहा कि वे जोधा को लिख भेजें कि वह जोधपुर पर अधिकार कर ले।[1] कुम्भा की इस उदारता से मेवाड़ और मारवाड़ के बिगड़े सम्बन्ध फिर से ठीक होने लगे। किन्तु कठिनाइयों से उठाकर कुम्भा को मेवाड़ का राणा बनाने वाला मामा रणमल तो सिसोदिया की आपसी फूट का शिकार बन गया।

कुम्भा की विजय

महाराणा कुम्भा ने साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण किया। उसने अपने शासनकाल के प्रथम 20 वर्ष युद्ध और राज्य विस्तार में व्यतीत किये। उसने अपनी विजय का वर्णन कुम्भलगढ के पाँच शिलालेखों, रणपुर के शिलालेख व चित्तौड़ दुर्ग में कीर्ति स्थम्भ पर खुदवा दिया था। उसने लगभग सम्पूर्ण राजस्थान पर अधिकार कर लिया था। कुम्भा के पास राज्यारोहण के समय मेवाड़ का केन्द्रीय भाग मात्र था। उसके सगे भाई और चाचा तक उसके शत्रु थे। सबसे पहले उसने आंतरिक विद्रोहों का दमन किया और फिर सारे राजस्थान पर अपना अधिकार स्थापित किया। मेवाड़ का यह पहला शासक था जिसके पास इतना बड़ा राज्य था। इसके राज्य की सीमा देखें तो दक्षिण में आबू व मन्दसौर से उत्तर में पटोदी, गुड़गाँव तक और पूर्व मे आमेर, चाटसू आदि से पश्चिम में बसंतगढ़ व पिंडवाडा तक फैला हुआ था। वास्तव मे उसका राज्य एक विस्तृत साम्राज्य था।

कुम्भा ने जहाँ मांडू (मालवा) गुजरात, मेड़ता और दिल्ली के मुसलमान शासकों को परास्त किया वहाँ उसने राजस्थान के अनेक छोटे बड़े हिन्दू राजाओं को भी पराजित किया था। 'एकलिंग प्रशस्ति के राजवंश वर्णन के श्लोक संख्या 54 में दिल्ली से लेकर पश्चिमी समुद्र तक के राजाओं का कुम्भा की सेवा करना वर्णित है। वस्तुतः उत्तरी भारत का उस समय वह सबसे बड़ा प्रतिभासम्पन्न हिन्दू राजा था।"[2]

कुम्भा ने मालवा, गुजरात के अतिरिक्त सिर्फ राजस्थान में ही नौ महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी जिनका सविस्तार वर्णन तो यहाँ सम्भव नहीं किन्तु संक्षिप्त रूप से टिप्पणी किये बिना भी उसके व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं हो सकेगा। कुम्भा की राजस्थान विजय इस प्रकार है—

1. हाड़ौती विजय—बूंदी के राजा हाड़ा थे। कुम्भा के समकालीन महाराणा बैरीशाल और भाण थे। ये हाड़ौती राजा दीर्घकाल से मेवाड़ के अधीन थे किन्तु मोकल के अन्तिम दिनों मे ये स्वतन्त्र हो गये थे। इतना ही नहीं इन्होंने मांडलगढ़ और जहाजपुर के आस-पास का भू-भाग जीतकर अपने अधीन कर लिया

---

1 वीर विनोद—भाग एक—पृष्ठ 323-324

2 सोमानी—राणा कुम्भा—पृष्ठ 104

था। मालवा के सुल्तान ने जब मेवाड़ पर आक्रमण किया था तब ये हाड़ौती सुल्तान की तरफ से लड़े थे। मांडलगढ़ और जहाजपुर मेवाड के पूर्वी भाग हैं और सीमावर्ती दुर्ग हैं इनकी रक्षा आवश्यक थी अतः हाड़ाओं को इन दोनों स्थानों से दूर भगाने के लिये बूंदी विजय आवश्यक हो गई। इसके अतिरिक्त बूंदी के राजा भाण का भाई सांडा कोटा का राजा था जो भाण की इच्छा के विरुद्ध राणा सांगा की मुसलमानों के आक्रमण के समय छुप छुप कर मदद करता था अतः भाण ने मालवा के सुल्तान से कहा कि सांडा को हटाकर कोटा का राज्य भी उसे दिला दिया जाय। कोटा के बदले में भाण ने सुल्तान को एक लाख बीस हजार टंका कर के रूप में देना स्वीकार किया। सांडा ने अपनी रक्षा के लिये कुम्भा की सहायता मांगी। पूर्वी सीमा की रक्षा हेतु, मालवा के सुल्तान की सहायता करने के कारण बूंदी को पुनः मेवाड़ के अधीन करने के लिये और सांडा की सहायता करने के उद्देश्य से इन चार कारणों से कुम्भा ने बूंदी पर कई आक्रमण किये और उसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

बूंदी से 12 मील दूर खटकड़ गांव मे कुम्भा ने भाण को पराजित किया। शिलालेखों में बैरीशाल के पुत्र अर्खराज का कुम्भा के अधीन होना लिखा गया है। कुम्भा की यह नीति थी कि वह हिन्दू राजाओ को मुसलमानो की अधीनता व गुलामी करने से रोकता था। उसने खटकड़, बूंदी,जहाजपुर आदि स्थानों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार मांडलगढ, बिजोलिया, अमरगढ़, जहाजपुर आदि मेवाड़ के पूर्वी पठार सदा के लिये मेवाड़ राज्य के अंग बन गये।

2. गागरोण विजय—मेवाड़ के दक्षिण पूर्व मे गागरोण का किला था। राणा मोकल के समय में सन् 1343 मे मालवा के सुल्तान ने इस किले को जीत लिया था। इस आक्रमण मे बूंदी के राजा भाण ने सुल्तान की सहायता की थी। अतः कुम्भा के लिये यह आवश्यक था कि गागरोण को भी वापस जीतता। मालवा के सुल्तान ने गागरोण को जीतकर गजनी खां को वहां का सूबेदार बना दिया था। कुम्भा ने 1494 वि० सं० मे बड़ी सरलता से गागरोण को जीत लिया। किन्तु वह अधिक समय तक इसे अपने अधीन नहीं रख सका। सिर्फ छः वर्ष बाद ही मालवा के सुल्तान ने उसे वापस जीत लिया। इस युद्ध मे कुम्भा का योग्य सेनापति दाहिरा मारा गया और उसके बाद कुम्भा ने गागरोण को वापस जीतने की चेष्टा नही की। यह प्रदेश सिर्फ छः वर्ष तक मेवाड का भाग रहा फिर वापस मालवा में मिल गया।

3. नागौर विजय—यह रियासत राजस्थान के उत्तर पूर्वी भाग में है जिस पर राणा मोकल का अधिकार था किन्तु मुसलमानों ने मोकल के अन्तिम दिनों में इस प्रदेश को जीत लिया था। उस समय नागौर की गद्दी पर फीरोज खां बैठा था। फीरोज खां की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का शम्स खां नागौर की गद्दी पर बैठा लेकिन यह अयोग्य था। इसलिये इसका छोटा भाई मुजाहिद खां

उसे गद्दी से हटाकर खुद गद्दी पर बैठ गया। शम्स खाँ सहायता के लिये गुजरात के सुल्तान के पास गया तो मुजाहिद खाँ ने राणा कुम्भा से सहायता माँगी। राणा कुम्भा तो अवसर की तलाश में था ही। उसने मुजाहिद खाँ की सहायता करना इसलिये स्वीकार कर लिया कि इस बहाने उसे नागौर के मामले में हस्तक्षेप करने का मौका मिल जायगा।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि रणमल ने भी नागौर को जीता था और नागौर का शासक फीरोज व उसका भाई रणमल के हाथों मारे गये थे किन्तु इसमें सचाई का अभाव है। वास्तव में कुम्भा की सेना में ही रणमल की सेना भी सम्मिलित थी। संभवतः कुम्भा चित्तौड़ से अजमेर, मेड़ता, डेगाना होता हुआ पहुँचा था।

नागौर पर कुम्भा ने चार बार चढाई की थी। प्रथम विजय सन् 1439 में हुई जिसका वर्णन फारसी के इतिहासकार नहीं करते। इसी आक्रमण में रणमल भी नागौर गया था। दूसरा व तीसरा आक्रमण सन् 1456 व 1457 ई० में हुआ था। फीरोज के मरने पर उसके लड़कों में उत्तराधिकार युद्ध हुआ तो पहले बड़ा लड़का शम्स खाँ जिसे इसके छोटे भाई मुजाहिद खाँ ने गद्दी से उतार दिया था राणा के पास मदद के लिये आया। राणा ने इस शर्त पर शम्स खाँ को वापस मेड़ता की गद्दी पर बिठाया कि वह नागौर की किलेबन्दी भंग कर देगा और राणा को वार्षिक कर देता रहेगा। राणा के जाते ही मुजाहिद खाँ ने गद्दी वापस सौंप दी किन्तु शम्स खाँ ने अपने किले की एक भी बुर्ज नहीं तोड़ी। अतः राणा ने फिर आक्रमण किया और शम्स खाँ को पराजित कर उसके छोटे भाई मुजाहिद खाँ को गद्दी पर बिठा दिया। लौटते समय राणा ने खाटू, डीडवाणा, सीकर और खंडेला को भी जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार नागौर विजय के आधार पर उसने उत्तर पूर्वी राजस्थान के सभी महत्त्वपूर्ण प्रदेश जीत लिये। नागौर का चौथा आक्रमण सन् 1458 ई० में हुआ। इस आक्रमण में नागौर की सेना को राणा ने बुरी तरह हराया, सम्पूर्ण कृषि और नागरिकों को विनष्ट कर दिया। खाई को भर दिया, किले को नष्ट कर दिया और गुजरात के राजा का तिरस्कार करते हुए दुष्ट-यवनों को दंडित किया। इतिहासकार फरिश्ता भी इस बात को मानता है कि राणा कुम्भा ने नागौर की सेना को बुरी तरह हराया और नागौर को अपने राज्य में मिला लिया।

4. सिरोही विजय—मोकल के समय सिरोही के राजा मेवाड़ के विरोधी हो गये थे। सिरोही का राजा सहसमल्ल बड़ा प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। उसने वर्तमान सिरोही नगर की स्थापना की। मेवाड़ व नागौर के राजाओं के आपसी युद्धों से लाभ उठाकर उसने पिण्डवाड़ा से लगते हुए कई गाँव जीत लिये जो कोटड़ी तहसील के गाँव होंगे। राणा ने सिरोही पर सन् 1457 ई० में आक्रमण किया और सिरोही राज्य का पूर्वी भाग जीत कर अपने अधीन कर लिया जिससे गुजरात के विरुद्ध सीमा

सुरक्षा सुदृढ़ हो गयी । सिरोही राज्य की ख्यातों के अनुसार कुम्भा ने आबू को धोखे से जीता था । वीर विनोद के अनुसार महाराणा ने शत्रुशाल के बेटे डोडिया नरसिंह को सेना लेकर भेजा था ।[1] कीर्ति स्तम्भ के अनुसार 'कुम्भा ने शीघ्रगामी घोड़ों को भेजकर किले को अपने अधिकार में कर लिया । आबू विजय का बड़ा महत्व है। सिरोही के राजा सहसमल्ल ने इसे वापस पाने के अनेक प्रयत्न किये और गुजरात के सुल्तान से भी सहायता माँगी किन्तु वह आबू और पूर्वी सिरोही राज्य को वापस नहीं ले सका ।

5. मेरों का दमन—बदनोर के आसपास मेरों की बड़ी बस्ती थी । ये लोग महाराणा लाखा के समय से मेवाड के अधीन थे । कुम्भा के राज्यकाल में इन लोगों ने विद्रोह खडा कर दिया और स्वतन्त्र हो गये । कुम्भा ने इन्हें दबाने के लिये राव सुरत्ताण को भेजा जो पुर का जागीरदार था । मेरों का नेता एक मुसलमान सरदार मुनीर था । कुछ लोग यह भी मानते हैं कि मुनीर गुजरात के सुल्तान का एक सेनापति था जिसे डूंगरपुर आदि प्रदेश लूटने को व विद्रोह भड़काने को मेवाड़ में भेजा गया था । किन्तु मेरों का नेता मुनीर और गुजरात का सेनापति मुनीर कदाचित अलग अलग आदमी थे । कुम्भलगढ प्रशस्ति में इसका वर्णन है कि सुरत्ताण ने मुनीर के विद्रोह का कठोरता से दमन कर दिया ।

6. मंडोवर और सोजत विजय—रणमल की मृत्यु के बाद उसका लड़का जोधा जान बचाकर मारवाड मे भाग गया । चूंडा ने उसका पीछा किया । वह रणमल से चाचा, मेरा और राघवदेव की मृत्यु का बदला लेना चाहता था । उसने चित्तौड़ के समीप ही भागते हुए राठौड़ों पर आक्रमण कर दिया । इस युद्ध मे अनेक महत्वपूर्ण राठौड़ मारे गये । मांडल के पास दोनों दलों में फिर युद्ध हुआ और राठौड़ मारवाड़ मे भाग गये । चूंडा बराबर पीछा करता रहा और अर्बली के पास युद्ध मे जोधा पूर्ण रूप से हार कर भाग गया । चूंडा ने मंडोवर (जोधपुर) और सोजत पर अधिकार कर लिया और मंडोवर की व्यवस्था अपने लड़के कुन्तल को सौंप कर खुद चित्तौड़ लौट आया । इसके बाद 15 वर्ष तक मंडोवर पर कुम्भा का अधिकार रहा और अन्त मे जब उसकी माता ने उसे समझाया और रणमल के अच्छे कार्यो की तरफ कुम्भा का ध्यान आकर्षित किया तो कुम्भा ने जोधपुर, सोजत और मंडोवर जोधा को वापस लौटा दिये । इस प्रकार कुम्भा का राज्य एक लम्बे समय तक मारवाड़ पर भी स्थापित हो गया था ।

7. डूंगरपुर विजय—मोकल के समय डूंगरपुर, जावर आदि मेवाड़ के राज्य में थे । किन्तु डूंगरपुर का रावल गोपीनाथ या गोपाल, मोकल की दुर्बलता से लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गया था । कुम्भा ने 1446 ई० मे इस प्रदेश पर आक्रमण किया। गोपीनाथ या गोपाल राज्य छोडकर भाग गया और डूंगरपुर सदा के लिये मेवाड़

[1]वीर विनोद —भाग एक पृष्ठ 332

राज्य में मिला लिया गया। इस विजय का वर्णन वहाँ के जैन लेखों में किया गया है। गोपीनाथ के उत्तराधिकारी रावल सोमदासने भी इस घटना का वर्णन किया है।

8. पूर्वी राजस्थान विजय—चौहानों के पतन के बाद जयपुर, अलवर, टोंक, सवाई माधोपुर आदि स्थानों पर मुसलमानों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। बयाना और मेवात बहुत पहले से मुसलमानों के अधीन थे। राजस्थान के इस पूर्वी भाग को अपने अधीन करने के लिये मेवाड़ के सिवा मालवा, ग्वालियर के शासक और स्थानीय कछावा भी प्रयत्नशील थे। रणथम्भौर पर मालवा का अधिकार था। कुम्भा ने मालवा के सुल्तान महमूद से 1442 ई० में यह किला छीन लिया और वहाँ का मुसलमान शासक अलाउद्दीन हार कर भाग गया। जयपुर के कछावा राजा उद्धरण को कायमखानी मुसलमानों ने हरा कर आमेर पर अधिकार कर लिया था। कुम्भा ने आमेर को जीत कर वापस उद्धरण को दे दिया। कुम्भा ने टोंक के क्षेत्र को भी जीतकर अधीन कर लिया था। यह क्षेत्र मुसलमानों के अधीन हो चुका था। मेवात मे उसने स्वयं कोई विशेष प्रयास नहीं किये फिर भी उसने टोंक, जयपुर, अलवर और सवाई माधोपुर आदि क्षेत्रों को अपने प्रभाव मे कर लिया था।

9. अन्य विजय कुम्भलगढ़ प्रशस्ति के अनुसार कुम्भा ने कुछ अन्य नगरों को भी जीता था। उन नगरों के स्थानीय नामों का तो पता नहीं है किन्तु उनका संस्कृत में रूपान्तर किया गया है। ये नाम इस प्रकार है—नारदीयनगर, शोध्यानगरी, हमीरपुर, वायसपुर, धान्यनगर, बीसलनगर, और सिंहपुरी। कुम्भा इन नगरों को पराजित कर वहाँ की नारियों का हरण कर लाया था जिन्हें दासियाँ बना दिया गया। शोध्यानगरी को डा० दशरथ शर्मा सोजत बताते हैं और नारदीयनगर सिरोही का नन्दिया गाँव होगा जहाँ कुम्भा के लेख और दान पत्र मिले हैं। इसी प्रकार वायसपुर आबू प्रदेश का ही गाँव होगा। स्पष्ट है कि जोधपुर जीतने के बाद ही कुम्भा ने दक्षिण पश्चिमी राजस्थान के भू-भागों को भी जीता था। उसने मालवा में जनकाचल और गुजरात में बीसलपुर भी जीते थे। और जब गुजरात के सुल्तान ने जूनागढ़ पर आक्रमण किया तो कुम्भा ने अपनी सेना भेजकर जूनागढ़ की रक्षा की थी। पूरब में ग्वालियर के हिन्दू राजा डूंगरसिंह और पश्चिम में जैसलमेर के हिन्दू राजाओं से कुम्भा के मित्रतापूर्ण सम्बन्ध थे और इन दोनो राज्यों के बीच का क्षेत्र कुम्भा के पूर्ण प्रभाव में था। वास्तव में वह एक दिग्विजयी महाराणा था जिसने मेवाड़ को साम्राज्य बना दिया।

अब हम उसके मालवा व गुजरात से सम्बन्ध देखे।

10. कुम्भा और मालवा—राजपूत व मुसलमान शासकों मे सदा आपसी वैमनस्य बना रहता था। दिल्ली के दुर्बल शासक इन दोनो की शत्रुता का कारण बन गये। साम्राज्यवादी भावनाएँ तथा विद्रोहियों को शरण देना आदि ऐसी बातें थी जो दोनों के बीच मतभेद की दरार को और गहरी करती गई। यह स्पष्ट है कि मालवा

का सुल्तान महमूद खिलजी और कुम्भा के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। श्री हर विलास शारदा का विचार है कि महाराणा कुम्भा और महमूद खिलजी के बीच 1440 ई० से पहले पाँच युद्ध हो चुके थे और प्रत्येक में विजय श्री कुम्भा के हाथ लगी थी। जब कई बार महमूद हार गया तो उसने 1451 में गुजरात के सुल्तान से साँठ गाँठ कर मेवाड़ पर संयुक्त आक्रमण किया।

इस धारणा के विरुद्ध डॉ० उपेन्द्रनाथ ने अपने शोध प्रबन्ध 'मिडिवियल मालवा' में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि 1439 तक मेवाड़ और मालवा में कोई लड़ाई नहीं हुई। उनका कहना है कि, "महमूद 1440 ई० तक दूसरी ही बातों में अत्यधिक व्यस्त था, अतः मेवाड़ के साथ उसका संघर्षरत होना संभव नहीं था।" किन्तु इस विचार को मानने के लिये हमारे पास ठोस प्रमाण नहीं है जबकि चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ इस बात का गवाह और सबूत है कि कुम्भा ने महमूद को हराया नहीं बल्कि छ: महीने तक चित्तौड़ में बन्दी बनाकर रखा। टाड महोदय का कहना है कि सन् 1440 मे तो मालवा और गुजरात के सुल्तानों ने मेवाड़ पर संयुक्त आक्रमण कर दिया था। कुम्भा की विजय को मुसलमान इतिहासकार भी मानते हैं। अबुल फजल ने भी कुम्भा की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "राणा कुम्भा ने बिना किसी जुर्माने के अपने शत्रु मोहम्मद खिलजी को कैद से छोड़कर अपने श्रेष्ठ चरित्र का परिचय दिया था।"

इसी प्रकार टाड महोदय कहते हैं कि "मोहम्मद खिलजी पूरे छः महीने तक चित्तौड की जेल में रहा।"[1] राणा ने मोहम्मद का ताज अपनी विजय के प्रमाणस्वरूप अपने पास रखकर उसको छोड दिया। इस उदारता के बदले में महमूद खिलजी ने दिल्ली के बादशाह के आक्रमण के समय कुम्भा की मदद की थी। टाड महोदय तो यहाँ तक कहते हैं कि महमूद की सेनाऐं कुम्भा के साथ मिलकर दिल्ली के बादशाह से लड़ी थी जिसमें विजयश्री कुम्भा को मिली थी। अन्य इतिहासकारों मे श्री सोमानी, श्री ओझा और वीर विनोद के लेखक कवि श्यामलदास सभी इस मत को मानते हैं कि राणा कुम्भा ने महमूद खिलजी को कई बार पराजित कर मार भगाया था और एक बार तो छ: महीने तक चित्तौड़ मे बन्दी बनाकर रखा था। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि कुम्भा के गद्दी पर बैठने के बाद मालवा और मेवाड में दीर्घकालीन लड़ाई हुई थी चाहे वह 1433 के बाद ही शुरू हो गई या छः वर्ष बाद 1439 मे शुरू हुई हो। टाड महोदय का कहना है कि—"राणा कुम्भा जिस समय चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा, उसी वर्ष मालवा और गुजरात के नवाबो ने मेवाड़ पर आक्रमण करने का निश्चय किया और दोनों अपनी अपनी विशाल सेनाऐं लेकर सन् 1440 मे मेवाड़ की तरफ रवाना हुए।"[2] लड़ाई चाहे छः वर्ष पहले हुई या बाद मे इस मतभेद को छोड़ कर अब हम इस युद्ध के कारण देखें।

1 टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 166.

2 टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 166

कारण

1. दुर्बल दिल्ली—जिस समय तैमूर भारत को उजाड़ कर लौटा उस समय से (1399 ई) दिल्ली सल्तनत की टूटी कमर वापस नही जुड़ सकी थी। श्री ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि "दिल्ली सल्तनत तेजी से लड़खड़ा रही थी इसलिये इस तुर्क विजेता को उसकी दुर्बलता का लाभ उठा कर महत्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर मिल गया।"[1] दिल्ली की दशा बहुत खराब हो गई थी। लाशें सड़ने लगी थी, वायु दूषित हो गई थी और भयानक महामारी फैल गई थी। इतिहासकार बदायूँनी लिखता है कि—"जो लोग बच गये थे वे अकाल और महामारी के कारण मर गये और दो महीने तक दिल्ली मे किसी पक्षी ने भी पर नही मारा।"

तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली सल्तनत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये फिर जल्दी जल्दी शासक बदलने लगे और 1405 ई. खिज्र खां के देहान्त के बाद तो मालवा का शासक महमूद दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त हो गया और अपने राज्य का विस्तार करने लगा। कुम्भा को भी उचित अवसर मिल गया कि वह पड़ोसी छोटे राज्यों को अपने अधीन बनाकर मेवाड़ साम्राज्य को सुदृढ़ बना ले। दो महत्वाकांक्षी राजाओ को कमजोर दिल्ली ने खुली छूट दे दी। यदि तैमूर का आक्रमण न होता और दिल्ली सल्तनत का पतन न हुआ होता तो कुम्भा और महमूद का युद्ध कभी नही होता। अतः दोनों के संघर्ष का मूल कारण दुर्बल दिल्ली थी।

2. महमूद की नीति—मालवा के सुल्तान की मृत्यु के बाद उसके लड़कों में उत्तराधिकार युद्ध होने लगा। मोहम्मद शाहनगोरी को शराब में जहर देकर मार डाला तब उसका बेटा मसूद खा गद्दी पर बिठाया गया किन्तु महमूद खा मालवा का शासक बनना चाहता था। मसूद खां षड़यंत्रकारियों के डर से गुजरात भाग गया और मालवा की गद्दी फिर खाली हो गई। इस बार सुल्तान होशंगशाह के दूसरे लड़के उमर खां ने राणा कुम्भा से सहायता मांगी इसी बीच महमूद मालवा का सुल्तान बन गया और उसके मन में बदले की भावना जाग्रत हुई। उमर खा की सहायता करने के लिये कुम्भा ने वचन दे दिया। मसूद खां ने गुजरात के सुल्तान से सहायता मांगी, दुर्बल दिल्ली इस झगड़े में कुछ न कर सकी। अपने-अपने उम्मीदवार को मालवा की गद्दी पर बिठाने के लिये कुम्भा और गुजरात का सुल्तान सेना लेकर मालवा पर चढ़ गये। किन्तु महमूद खिलजी इससे बिलकुल नही घबराया। उसने छापामार युद्ध से उमर खां को अकेले में घेर कर पकड़ लिया और मार डाला। कुम्भा जिसका समर्थन करने जा रहा था जब वही न रहा तो कुम्भा को लौटना पड़ा किन्तु मेवाड़ और मालवा के सम्बन्ध बिगड़ गये। इसी प्रकार गुजरात की सेना में प्लेग फैल जाने से मसूद वापस गुजरात भाग गया और उसने

---

1. श्री वास्तव—दिल्ली सल्तनत—पृष्ठ 243

फिर कभी अपने पूर्वजों का राज्य मालवा पाने की चेष्टा नहीं की। मालवा में महमूद खिलजी का राज्य हो गया। अब उसने अपने पड़ोसी हिन्दू प्रतिद्वन्द्वी राणा कुम्भा को कमजोर करने के लिये धीरे-धीरे मेवाड़ के चारों तरफ के प्रदेशों पर अपना अधिकार करना शुरू कर दिया। उसने मन्दसौर, मांडलगढ़, गागरोल, अजमेर और बदनौर आदि को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इन राज्यों में से अधिकांश मोकल के समय मेवाड के अग थे। अतः राणा के लिये आवश्यक हो गया कि अपने प्रतिद्वन्द्वी महमूद खिलजी को राजस्थान से बाहर खदेड़ कर इन प्रदेशों को वापस प्राप्त करे। महमूद की मेवाड़ को क्षीण बनाने की नीति युद्ध का कारण बन गई।

3. महपा पंवार-चूंडा और खेमकरण—श्री सोमानी का कहना है कि—"मेवाड़ की ख्यातों में यह युद्ध महपा पंवार के लिये जो मोकल का घातक था होना वर्णित है।"[1] किन्तु सोमानीजी ख्यातों के इस वर्णन से सहमत नहीं हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मालवा के सुल्तान महमूद ने मोकल के खूनी महपा पंवार को अपने यहाँ शरण व जागीर दी थी। उसने विद्रोही खेमकरण व चूंडा को भी अपने राज्य में जागीरें देकर मेवाड़ की सैनिक शक्ति व आन्तरिक दशा का पता लगा लिया था। इन लोगों से मेवाड़ की आन्तरिक फूट का हाल जान कर वह स्वयं मेवाड़ पर आक्रमण करने लगा था। उसने राणा के सैनिक बल का पता लगाकर अपनी सेना को और शक्तिशाली बना लिया। इस प्रकार तीन महत्त्वपूर्ण विद्रोहियों को शरण देकर महमूद ने कुम्भा को अपना शत्रु बना लिया। इस कारण युद्ध होने का वर्णन हमें वीर विनोद में मिलता है श्री श्यामलदास लिखते है कि "1439 ई. में महाराणा कुम्भा ने राव रणमल से कहा कि उस हरामखोर महपा पंवार को उसके अपराध का दण्ड नही मिला, जिसने हमारे पिता को मारा था। तब रणमल ने अर्ज किया कि एक खत बादशाह महमूद मालवी को लिखिये, यदि वह महपा पंवार को सुपुर्द कर दे तो ठीक है, वर्ना लडाई करके लेंगे। महाराणा ने बादशाह को खत भेजा; लेकिन उसने खत का सख्त जवाब दिया, और कहा कि क्या कभी ऐसा हुआ है कि अपनी पनाह में आये हुए आदमी को बहादुर गिरफ्तार कर देवे? अगर आपको लडाई करना मंजूर है तो आइये, मैं भी तैयार हूँ। इस पत्र के देखते ही महाराणा कुम्भा ने फौजकशी का हुक्म दे दिया, और उधर से बादशाह महमूद भी फौज लेकर चढ़ा।"[2]

स्पष्ट है कि महमूद ने मेवाड़ के गद्दार महपा पंवार, चूंडा और खेमकरण को शरण देकर कुम्भा को भडकाया। फलस्वरूप दोनों में युद्ध अनिवार्य हो गया।

---

1. सोमानी-राणा कुम्भा-पृष्ठ—89.
2. वीर विनोद-भाग एक पृष्ठ—319-320.

4. विस्तारवादी नीति—इतिहासकार बेले ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ गुजरात' के पृष्ठ 150 पर महमूद की विस्तारवादी नीति को गुजरात-मालवा संधि का मूल कारण बताया है। उनके निजी शब्दों में—"महमूद और गुजरात के सुल्तान ने इसलिये सन्धि कर ली कि वे दोनों मिलकर महाराणा कुम्भा के प्रदेशों को अलग अलग लूटें।" इसी विस्तारवादी नीति का पालन मेवाड़ के कारण कर रहे थे राणा हम्मीर ने जो राज्य विस्तार का कार्य शुरू किया था, कुम्भा उसी को निभा रहा था। एक तरफ कुम्भा और दूसरी तरफ महमूद दोनों ही विस्तारवादी नीति के अनुयायी थे। मांडलगढ़, जहाजपुर, बीजोलियां, डूंगरपुर, बदनौर और राजस्थान के ऐसे भाग थे जिन पर दोनों ही अधिकार करना चाहते थे। कई बार ऐसा हुआ कि महमूद दुर्ग जीत कर लौटा ही था कि कुम्भा ने उसे वापस जीत लिया और कुछ समय बाद महमूद ने उसे फिर जीता। भूमि भूख दोनों के संघर्ष का कारण बन गयी। अलाउद्दीन खिलजी की तरह महमूद खिलजी चित्तौड़ पर अधिकार करना चाहता था जो कुम्भा के जीतेजी सम्भव नहीं था।

5. अजमेर का प्रश्न—एक बार पराजित होकर बन्दीगृह में छः महीने रहने के दस वर्ष बाद तक तो महमूद चुप रहा किन्तु उसके बाद नया बहाना लेकर उसने सिर उठाया। उसका कहना था कि अजमेर मुसलमानों का तीर्थ-स्थान है वहाँ का राजपूत सूबेदार मुसलमानों के धार्मिक कार्यों में बाधा डालता रहता है अतः अपने धर्म-स्थान को विधर्मियों से मुक्त कराने के लिये वह प्रयत्न करेगा अजमेर के मुसलमानों ने भी महमूद के पास संदेश भेज दिया कि आक्रमण के समय उसकी मदद करेंगे। महमूद ने राणा को धोखा देने के लिये सेना का कुछ भाग मन्दसौर की तरफ भेजा और खुद ने 1455 में अजमेर पर आक्रमण किया। अजमेर का सूबेदार गजाधर सिंह बड़ी वीरता से लड़ा और उसने कई दिन तक महमूद को किला नहीं जीतने दिया। श्री हर विलास शारदा अपनी पुस्तक 'अजमेर' के पृष्ठ 149-150 पर कहते है कि—"अजमेर के शासक गजाधर सिंह ने चार दिन तक तारागढ किले की रक्षा की और फिर बाहर आकर सुल्तान पर टूट पड़ा। युद्ध में यह वीर मारा गया।" राजपूत सैनिक सन्ध्या को वापस दुर्ग में लौट रहे थे तो मुसलमान सैनिक भी भेष बदल कर उनके साथ तारागढ में घुस गये और किले पर अधिकार कर लिया। सुल्तान ने ख्वाजा नियामुद्दौला को अजमेर का शासक नियुक्त किया और खुद वापस लौटने लगा तभी राणा ने उसे मांडलगढ के पास पराजित कर भगा दिया और कुछ ही महीने बाद राणा नागौर विजय को जा रहा था तो अजमेर को भी वापस जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार अजमेर का धार्मिक महत्व भी दोनों के युद्ध का एक कारण बन गया। महमूद ने कुम्भा की मृत्यु के बाद अजमेर को फिर जीत लिया था।

6. गुजरात मालवा सन्धि—मालवा का सुल्तान अपने खोये हुए प्रदेश, जिनमे मन्दसौर भी था, वापस लेना चाहता था। उसने कई आक्रमण अकेले करके देख लिया था और हर बार उसे मुँह की खानी पड़ी थी। अतः वह राणा कुम्भा

के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहता था। उसे यह भय बना रहता था कि जब यह कुम्भा से लड़ रहा हो उस समय गुजरात मालवा पर आक्रमण न कर दे। अतः उसने ताज खां की अधीनता में सन्धि का एक प्रस्ताव भेजा कि दोनों मिलकर मेवाड़ पर आक्रमण करें और जो प्रदेश गुजरात जीते वह गुजरात में मिला लिया जायगा। मेवाड़ का उत्तरी पूर्वी भाग मालवा को और आबू गुजरात को मिलेगा। इस प्रकार बँटवारा करने के बाद दोनों ने आक्रमण किया। स्पष्ट है कि इस सन्धि ने महमूद के हौसले बढ़ा दिये। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के पृष्ठ 135 पर कहते हैं कि—"इस सन्धि का बड़ा महत्त्व है। गुजरात और मालवे के शासक परम्परा से एक दूसरे के शत्रु थे। इतिहास में इनकी संधि के उदाहरण बहुत थोड़े है। इस संधि से मालवे के सुल्तान ने अपने राज्य को गुजरात के स्वाभाविक आक्रमण से रक्षित कर लिया एवं राज्य बढ़ाने का लोभ देकर गुजरात के सुल्तान को भी मेवाड़ के विरुद्ध आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया।" इन कारणों से दोनों में युद्ध हुए।

युद्ध —हम देखते हैं कि राणा कुम्भा और मालवा के सुल्तान महमूद के सम्बन्ध राज्याभिषेक से ही अच्छे नही थे। यदि उपेन्द्रनाथ का मत मान लिया जाय तो प्रथम छ वर्ष तक महमूद ने मेवाड पर कोई आक्रमण नही किया, फिर भी दोनों के सम्बन्ध अच्छे नही थे जहां कुम्भा ने उमर खां को सहायता दी वहां महमूद ने मोकल के हत्यारे महपा पंवार, चूंडा और खेमकरण को अपने यहाँ शरण देकर आपसी सम्बन्ध बिगाड़ लिये थे। दोनो में लड़ाई के कारण उनके सम्बन्धों को बिगाड़ने के लिये पर्याप्त थे। धार्मिक शत्रुता, साम्राज्य पिपासा, गुजरात मालवा गठबन्धन, मेवाड़ पर महमूद के लगातार अभियान आदि बातें दोनों की मित्रता के बीच दीवार बनकर खड़ी थी अत. दोनो आजीवन लड़ते रहे।

मेवाड़ मुसलमानी राज्यों से घिरा हुआ था। उत्तरपूर्व में नागौर, पश्चिम दक्षिण में गुजरात और दक्षिण मे मालवा था।

सबसे पहले कुम्भा ने उमर खा को सहायता दी जो सागरपुर के पास लड़ाई में मारा गया। यह घटना लगभग 1435 की है। उसके बाद महमूद ने मन्दसौर, माण्डलगढ, गागरोल, अजमेर और बदनौर आदि को जीता। जिन्हे कुम्भा ने समय समय पर वापस जीत लिया। दोनो मे आमने-सामने लड़ाई 1440 के बाद शुरू हुई। किन्तु हर विलास शारदा के अनुसार महमूद और राणा में 1440 के पहले पाच युद्ध हो चुके थे। आधुनिक इतिहासकारों मे टाड, गहलोत यह मानते हैं कि 1437 मे सागरपुर के युद्ध मे महमूद हार कर मांडू भागा। राणा ने मांडू को घेर लिया और महमूद को पकडकर चित्तौड़ ले आये।" महमूद को छः महीने तक अपने यहा कैद रख कर बाद मे बिना किसी शर्त के छोड़ दिया।"[1]

---

1. गहलोत-राजपूताने का इतिहास-पृष्ठ 209

इस विजय की स्मृति में महाराणा ने चित्तौड में एक विशाल कीर्ति स्तम्भ बनवाया जो आज तक विद्यमान है।

वीर विनोद में महमूद की पराजय और कैद होने का समय 1439 बताया है। इसी ग्रन्थ के अनुसार—"महमूद पर लड़ाई करने के वक्त महाराणा कुम्भा के साथ एक लाख सवार और 1400 हाथियों की जमइयत होना मशहूर है। जब मेवाड़ की सरहद पर दोनों फौजों का मुकाबला हुआ, तो बड़ी सख्त लडाई होने के बाद बादशाह महमूद ने भागकर मांडू के किले में पनाह ली। महाराणा कुम्भा भी पीछे से वहाँ जा पहुँचे और किला घेर लिया। महपा पंवार तो पहिले ही किले से निकल कर भाग गया था, महमूद ने किले से निकलकर मेवाड की फौज पर फिर हमला किया, लेकिन राय रणमल ने बादशाह को गिरफ्तार कर लिया, उसकी कुल फौज तितर-बितर हो गई और महमूद को लेकर राणा चित्तौड़ आये जहाँ छः महीने तक कैद रखने के बाद कुछ दण्ड लेकर छोड दिया। यह जिक्र फरिश्ता वगैरह फारसी इतिहासकारों ने भी लिखा था। लेकिन इस फतह का चिह्न किले चित्तौड पर कीर्ति स्तम्भ अब तक मौजूद है, जो इस लडाई की यादगार वास्ते 1448 ई० में बनाया गया था, जिसकी प्रशस्ति भी वहां पर मौजूद है।"[1]

टाड महोदय का मत है कि—"राणा कुम्भा ने महमूद खिलजी के ताज को अपनी विजय के प्रमाण में अपने पास रखकर उसको छोड़ दिया।"[2]

महमूद ने कुछ समय तक शक्ति संगठन किया और गुजरात से सन्धि करने के बाद 1442 में कुंभलगढ पर आक्रमण किया। महाराणा इस समय बूंदी की तरफ गया था। महमूद ने केलवाडा के पास रीछेड और पांवा गांवों को पूर्ण रूप से नष्ट कर कुंभलगढ़ को घेर लिया किन्तु सफल नहीं हो सका। राणा चित्तौड लौट आया था अत महमूद ने चित्तौड़ पर भी आक्रमण किया किन्तु सफल न हो सका। वर्षा के कारण उसे घेरा उठाना पड़ा और वह वापस मांडू चला गया।

यहाँ से निराश होकर उसने सीमा प्रदेशों पर आक्रमण किये। सन् 1443 में गागरोन विजय की। उसी वर्ष मांडलगढ़ का घेरा भी डाला, सफल न हो सका, तीन साल बाद 1445 में मांडलगढ़ को फिर घेर लिया। उसके बाद महमूद ने बयाना और ग्वालियर के राजाओं पर आक्रमण किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। सुल्तान जब दक्षिण भारत की घटनाओं में व्यस्त था तो कुम्भा ने रणथम्भोर वापस जीत लिया अतः 1454 में महमूद ने चित्तौड़ पर फिर आक्रमण किया, उसका लडका गयासुद्दीन रणथम्भोर विजय करने गया किन्तु उसकी भी हार हुई। मुसलमान इतिहासकार महमूद की हार को छिपाने के लिए कहते हैं कि कुम्भा से अपने

1 वीर विनोद-भाग 1, पृष्ठ 320.

2. टाड, राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 166.

राज्य की रक्षा के लिए सुल्तान को भारी रकम देकर लौटा दिया। किन्तु तवारीख-ए-फरिश्ता' की यह कहानी मनघड़न्त है। उसके बाद 1455 में महमूद ने अजमेर जीता जिसे कुछ ही महीने बाद राणा ने वापस जीत लिया। अन्त में 1457 ई० में कुम्भा को मालवा और गुजरात की संगठित सेना का सामना करना पड़ा जिसे उसने हरा कर भगा दिया। यह शत्रुता कुम्भा और महमूद की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारियों को पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली।

परिणाम—निरंतर युद्धों के बावजूद कुम्भा राज्य विस्तार में सफल हुआ और मेवाड की मुख्य भूमि के अतिरिक्त गोड़वाड़, आबू, बसंतगढ, पिंडवाड़ा, मारवाड़ राज्य के पाली, जोधपुर जिलों का भू-भाग, अजमेर, गागरोल, मन्दसौर, नराणा आदि जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिये।[1]

महमूद को अपनी राजनीतिक पैंतरेबाजी में कोई सफलता नहीं मिली। कुम्भा ने उससे मांडलगढ व अजमेर आदि वापस छीन लिये। उसकी ख्याति को काफी ठेस लगी और उसने राणा की मृत्यु के बाद अजमेर आदि को वापस जीत लिया, दोनों परिवारों में स्थाई शत्रुता का आरम्भ हो गया।

कुम्भा और गुजरात

अलाउद्दीन के समय से गुजरात दिल्ली सल्तनत का एक सूबा था। अलाउद्दीन ने उसे 1297 में जीता था। किन्तु तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली सल्तनत का ढांचा ढीला पड गया था और दूर दक्षिण व पूरब के प्रान्त स्वतन्त्र होने लगे। फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठने वाले तुगलक वंश के सभी शासक नितान्त अयोग्य थे। उन्हें तैमूर के आक्रमण ने मिट्टी में मिला दिया। दिल्ली सल्तनत सिकुड़कर राजधानी तक सीमित रह गई। तीन महीने तक राज्य का कोई सुल्तान नहीं था। नसरतशाह ने 1401 में दिल्ली पर वापस अधिकार कर लिया किन्तु टूटते शासन को एक न कर सका। उसी समय गुजरात के सूबेदार खाँ ने 1421 ई० में अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया और गुजरात का सुल्तान बन गया। उसके बाद उसका पोता अहमद गुजरात का सुल्तान बन गया। अहमद ने 31 वर्ष तक शासन किया और अहमदाबाद का सुन्दर नगर बसाया। उसके बाद उसका पुत्र मुहम्मद 1442 में गद्दी पर बैठा और उसने नौ वर्ष तक गुजरात का राज्य किया। उसके बाद गुजरात का महान् पराक्रमी शासक अब्दुलफतह खाँ गद्दी पर बैठा जिसने 53 वर्ष तक शासन किया। फतेह खाँ के पहले 1451 से 1458 तक दो राजा हुए कुतुबुद्दीन अहमद और फिर दाऊद। फतेह खाँ ने 1458 से

1. सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृष्ठ–121.

1511 तक राज्य किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राणा कुम्भा के समय में 1433 से 1468 के बीच में गुजरात में पाँच सुल्तानों ने राज्य किया। जिनमें अहमद सबसे योग्य था और अब्दुल फतेह खाँ ने अनेक युद्ध किये और महमूद बेगडा की उपाधि धारण की। इस प्रकार कुम्भा के समय गुजरात के सुल्तान ये थे—

1. अहमदशाह—1411–1442 ई०
2 मुहम्मदशाह—1442–1431 ई०
3 कुतुबुद्दीन अहमद और दाऊद—1451 से 1458 ई०
4 अब्दुलफतेह खाँ 1458 से 1511 ई०

राणा कुम्भा और अहमदशाह के बीच कोई लड़ाई नही हुई और 1442 तक का समय गुजरात-मेवाड़ के सम्बन्धों में शान्ति का युग है। यहाँ तक कि मुहम्मदशाह के समय में भी गुजरात की हरकतें नही के बराबर हैं। कुम्भा को 1451 से आगे गुजरात से लगभग 15 वर्ष तक निरंतर संघर्ष करना पड़ा। यह संघर्ष मूल रूप से कुतुबुद्दीन अहमद और दाऊद के समय में हुआ और फतेहखाँ या मोहम्मद बेगड़ा ने भी गद्दी पर बैठते ही 1458 में मेवाड पर आक्रमण किया था।

ये आक्रमण तीन बार हुए या तीन परिस्थितियों में किये गये—(1) नागौर के प्रश्न को लेकर (2) मालवा-गुजरात की सन्धि के बाद और (3) अब्दुल फतेह-खाँ 'मेहमूद बेगडा' की राज्य विस्तार की नीति के अधीन। मूल रूप से ये ही तीन कारण हैं जिनके कारण गुजरात-मेवाड़ युद्ध हुए।

कारण

राणा कुम्भा और गुजरात के सुल्तानों के बीच युद्ध के मूल कारण निम्नांकित हैं—

नागौर उत्तराधिकार प्रश्न—वीर विनोद के पहले भाग में पृष्ठ 327 पर नागौर के उत्तराधिकारी का प्रश्न दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार नागौर का स्वतंत्र राज्य फीरोज खाँ के अधीन था। फीरोज खाँ का देहान्त 1455 ई० में हो गया। उसके छोटे भाई मुजाहिद खाँ ने नागौर पर अधिकार करलिया और फीरोज खाँ का लडका शम्स खाँ भाग कर राणा कुम्भा के पास सहायता लेने आया। महाराणा कुम्भा ने मुजाहिद खाँ को सजा देने के लिए शम्स खाँ के साथ अपनी फौज भेजी। जब राणा नागौर के पास पहुँचे तो मुजाहिद खाँ डर कर गुजरात की तरफ भाग गया। महाराणा ने शम्स खाँ को गद्दी पर बैठा दिया परन्तु गद्दी पर बैठने के बाद वह उस एहसान को भूल गया और महाराणा पर शक करने लगा कि वह नागौर छीन लेंगे। तवारीख फरिश्ता मे लिखा है कि "महाराणा ने शम्स खां से कहा कि

नागौर के किले के तीन कांगरे (बुर्ज) हमको गिराने दो लेकिन शम्स खाँ के सरदारों ने इसे अपमान समझा और स्वीकार नहीं किया और राणा का विरोध शुरू कर दिया। उसने बुर्ज को गिराने के बजाय उसकी मरम्मत करवानी शुरु कर दी। राणा को बडा क्रोध आया और उसने नागौर पर आक्रमण कर दिया। शम्स खाँ जान बचा कर परिवार सहित अहमदाबाद (गुजरात) भाग गया। श्री सोमानी गिराई जाने वाली बुर्जों की संख्या सिर्फ एक बताते हैं। शम्स खाँ ने सुल्तान को प्रसन्न करने के लिए अपनी लड़की सुल्तान को ब्याह दी। गुजरात के सुल्तान ने राय रामचन्द्र और मलिक गदई को एक बड़ी सेना देकर नागौर विजय के लिए भेजा। भयानक युद्ध के बाद राणा की विजय हुई। गुजराती हार कर भाग गये। इस पर सुल्तान खुद नागौर विजय के लिए निकला। इस पर दोनों के सम्बन्ध बिगड़ गये और नागौर के प्रश्न को लेकर युद्ध आवश्यक हो गया।

2. गुजरात-मालवा सन्धि—मालवा के शासक महमूद को हर मोर्चे पर राणा कुम्भा से मार पड़ रही थी। मन्दसौर, मांडलगढ आदि जीतने के उसके प्रयास विफल हो गये थे। उसे पश्चिम से गुजरात के सुल्तान के आक्रमणों का भी भय बना रहता था अत. महमूद ने अपने पश्चिमी मोर्चे की सुरक्षा और मेवाड़ पर दो तरफ संयुक्त आक्रमण के लिए गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन से सन्धि करना उपयुक्त समझा। उसने अपने वजीर ताज खाँ को सन्धि का प्रस्ताव लेकर भेजा और 1451 ई० में दोनों के प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। राज्य बढ़ाने के लालच से दोनों सुल्तानों ने मिलकर मेवाड़ पर आक्रमण करने का निश्चय किया। सन्धि के अनुसार आबू और पश्चिमी मेवाड़ गुजरात को मिलेगा और मेवाड़ व अजमेर के भाग मालवा को मिलेंगे। यह सन्धि स्वयं एक आक्रमण की योजना थी जिसकी पूर्ति के लिए मेवाड और गुजरात के बीच युद्ध होना स्वाभाविक हो गया।

3. राज्य विस्तार नीति—गुजरात का सुल्तान फतेह खाँ जो 1458 में गद्दी पर बैठा, बडा महत्त्वाकांक्षी और विस्तारवादी नीति का अनुयायी था। उसने महमूद बेगडा की उपाधि धारण की और अपने 53 वर्ष के शासनकाल में अनेको युद्ध लड़े। मेवाड उसकी विस्तारवादी नीति में सबसे बड़ा बाधक था अत. उसने अपनी सैनिक शक्ति का विस्तार किया और मेवाड़ से भागे हुए लोगो को अपने यहाँ शरण दी ताकि उसे मेवाड की आन्तरिक स्थिति, सेना, दुर्ग आदि का ज्ञान हो सके। इधर राणा कुम्भा भी कम महत्त्वाकांक्षी न था, वह भी गुजरात और मालवा दोनों क्षेत्रों मे अपनी राज्य सीमा बढाना चाहता था, फलस्वरूप युद्ध अनिवार्य हो गया, दोनों में नागौर के प्रश्न पर वैमनस्य हो चुका था। अतः 1455 से 1460 के बीच दोनों राज्यों मे कई भयानक टक्करें हुई जो निम्नांकित है—

1 नागौर का युद्ध (द्वितीय) 1456 ई०

2. गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन का आक्रमण 1456 ई०

3. मालवा गुजरात का सम्मिलित आक्रमण 1457 ई०

4. कुम्भा की नागौर विजय 1458 ई०

5. कुम्भलगढ़ पर आक्रमण 1458 ई०

6 महमूद बेगड़ा का आक्रमण 1459 ई०

1. नागौर युद्ध—नागौर के शासक फीरोज खाँ ने कुम्भा के पिता मोकल को पराजित करने की खुशी में नागौर में एक बुर्ज बनवाई थी। इसी बुर्ज को राणा ने फीरोज के लड़के शम्स खाँ को पराजित कर गिरवा दिया था। नागौर के पहले युद्ध में गुजरात के सुल्तान ने अपने सेनापति राय रामचन्द्र और मलिक गदई को भेजा था जिन्हें राणा कुम्भा ने पूर्ण रूप में पराजित कर भगा दिया था। अपनी सेना का हार का बदला लेने के लिए और शम्स खाँ को गद्दी पर बिठाने के लिए सुल्तान कुतुबुद्दीन स्वयं फौज लेकर मेवाड़ पर चढ़ आया। उसने अपने सेनापति इमादुल्मुल्क को आबू विजय के लिए भेजा किन्तु वह हार कर भाग आया। इसी बीच कुतुबुद्दीन ने सिरोही पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। सिरोही के देवड़ा शासक पहाड़ों में भाग गये। सिरोही जीतकर सुल्तान कुम्भलगढ़ की तलहटी में आ गया। राणा नागौर जीतकर कुम्भलगढ़ आ गये थे। कुतुबुद्दीन ने कुम्भलगढ़ का घेरा डाला। राणा ने बार-बार बाहर निकलकर कई आक्रमण किये, किन्तु घेरा नहीं तोड़ सका। सुल्तान भी किला नहीं जीत सका और किले की मजबूती देखकर वापस लौट गया। इस प्रकार पहले युद्ध में नागौर पर राणा कुम्भा की विजय हुई और सुल्तान को खाली हाथ वापस लौटना पड़ा। कुम्भा ने नागौर के किले को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और गुजरात के राजा का तिरस्कार करते हुए दुष्ट यवनों को दंडित किया। इस विजय का वर्णन कीर्ति स्तम्भ के श्लोक 18-20 तक में है और श्री ओझा ने उदयपुर का इतिहास, भाग एक के पृष्ठ 302 पर इसकी पुष्टि की है।

2. गुजरात के सुल्तान का आक्रमण—सोमानी महोदय इस आक्रमण का कारण सिरोही के देवड़ा राजा को बताते हैं जो सुल्तान कुतुबुद्दीन के पास गया और उससे प्रार्थना की कि आबू को जीतकर वापस सिरोही को दें। सुल्तान देवड़ा की सहायता करने को तैयार हो गया और उसने अपने सेनापति इमादुलमुल्क को आबू जीतने भेजा जो स्थान से अपरिचित होने के कारण हारकर भाग आया। सोमानीजी अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के पृष्ठ 141 पर कहते हैं कि राणा ने आबू सिरोही के राजाओं से ही छीना था अतः आबू पर आक्रमण करना ही उपयुक्त है। आबू के पश्चात् सुल्तान ने कुम्भलगढ़ पर चढ़ाई की। सुल्तान का यह आक्रमण तीन दिन तक चला जिसमें प्रदेश के सारे जानवर तक मारे गए यहाँ राणा की पराजय का वर्णन भी मिलता है। इतिहासकार बेले अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ गुजरात' के पृष्ठ 152 पर कहते हैं कि "नर और पशुओं की बलि दे दी गई एवं राणा कुम्भा ने क्षमा माँग कर, फिर से नागौर पर चढ़ाई न करने का आश्वासन देकर एवं एक अच्छी रकम देकर आक्रमण से मुक्ति प्राप्त की।" लेकिन बेले का यह मत मुसलमान

इतिहासकारों के कथन पर आधारित है जो एकपक्षी है। आधुनिक लेखक श्री ओझा पृष्ठ 304 पर और हरविलास शारदा पृष्ठ 57-58 पर इस कथन का खंडन कर है। यदि सुल्तान जीतकर लौटता तो पुनः मालवा के साथ मिलकर आक्रमण न करता। सुल्तान का दूसरा प्रयास भी बेकार गया।[1]

3. मालवा गुजरात सम्मिलित आक्रमण—मालवा का सुल्तान तो पह गया था अब गुजरात का भी हार गया। इन दोनों के मन में पराजय खटकती रह अतः इस बार दोनों ने मिलकर मेवाड़ पर दो तरफ से आक्रमण करने की योजना बनाई। पहले ही वर्ष 1457 मे राणा को गुजरात और मालवा की संयुक्त शक्ति लड़ना पड़ा। यह मेवाड़ के लिए जीवन मरण का प्रश्न था। सिरोही के देवड़ा राज भी विद्रोही थे और आबू को वापस पाने के लिए गुजरात के सुल्तान से जा मिले थे इधर नागौर का सूबेदार शम्स खां, जिसने बड़ी मिन्नता के बाद राणा से नागौर का सूबेदार बनने की स्वीकृति पा ली थी, फिर भी पुनः स्वतन्त्र होने के लिए शक्ति संगठन करने लगा। राणा ने भी आसपास के राजपूत सरदारों को इकट्ठा किया और युद्ध के लिए तैयार हो गया। गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन ने पहले आ जीतना चाहा किन्तु विफल रहा। बाद में कुम्भलगढ़ पर आक्रमण किया। राणा पास 42,000 घुड़सवार और 222 हाथी थे। पांच दिन तक भयानक युद्ध चल जिसमें किसी की भी जीत नही हुई। पानी की भारी कमी के कारण गुजरात सुल्तान को वापस लौटना पड़ा। वेले कहता है कि राणा हार कर किले में चल गया। फरिश्ता कहता है कि राणा हार कर पहाड़ी क्षेत्रों में भाग गया और बाद कहता है कि राणा ने पराजित होने के बाद 14 मन सोना और दो हाथी देकर सन्धि कर ली। दूसरे मुसलमान लेखक चार मन सोना और दो हाथी देने की बात करते है। कुछ लोग इसे राणा की कूटनीति का खेल बताते है कि दो तरफ से आक्रमण होता देखकर राणा ने धन देकर गुजरात के सुल्तान को वापस लौटा दिया और फिर महमूद खिलजी को परास्त कर भगा दिया। किन्तु वास्तविकता यह है कि राणा ने कोई सोना या हाथी नहीं दिये थे। उसने अपने आक्रमण से सुल्तान को हराकर पानी के अभाव में लौटने पर बाध्य कर दिया था। राणा का हारना, या मार्ग मांगना या भेंट आदि देना असत्य है। राणा की विजय का वर्णन चित्तौड़ के शिला लेखों में है कि राणा ने मालवा व गुजरात के सुल्तानों को पराजित कर उनके घमण्ड को चूर कर दिया।

मालवे के सुल्तान महमूद ने पहले मदसौर और फिर रणथम्भोर पर आक्रमण किया और वह भी आगे बढ़ता हुआ चित्तोड़ के पास आ गया। इस प्रकार महमूद से अलग युद्ध होना चाहिये था, किन्तु वीर विनोद आदि मे दोनों सुल्तानों की संयुक्त सेना कुम्भलगढ के पास एक ही युद्ध होने का वर्णन मिलता है। इसमें भी राणा की विजय हुई। इसका प्रमाण कीर्ति स्तम्भ, रसिक प्रिया, और गीत गोविन्द में साफ मिलता है। इसी आधार पर ओझा व शारदा यह मानते हैं कि सुल्तान दूर

रह हार कर गया। कुम्भा ने मालवा से लौटते हुए सुल्तान की सेना को खूब लूटा ा। गुजरात के इतिहासकार इस युद्ध पर मौन हैं। यदि सुल्तान जीता होता तो स घटना का वर्णन अवश्य होता। जहाँ तक सोना आदि पाने का सवाल है तो यह गता है कि आबू और सिरोही के मन्दिरों को लूटकर गुजरात का सुल्तान कुछ धन वश्य ले गया होगा। उपलब्ध सामग्री के अनुसार यह सिद्ध होता है कि राणा कुम्भा बहुत ही शूरवीर नरेश था, जिसने अपने दो मुसलमान महत्वाकांक्षी शत्रुओं के घमण्ड को चूर-चूर कर अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया था।

4. नागौर विजय—यह आक्रमण 1458 ई० में कुम्भा ने किया इसके कई कारण थे—(1) वीर विनोद के अनुसार नागौर का हाकिम शम्स खाँ और मुसलमानों द्वारा गोवध बहुत होने लगा था। किन्तु जैन ग्रन्थ कहते हैं कि नागौर में धार्मिक स्वाधीनता थी। (2) जब मालवा के सुल्तान ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो शम्स खां ने उसे सैनिक सहायता दी थी। मालवा के सुल्तान को हरा देने के बाद यह आवश्यक हो गया कि विद्रोही सरदार को भी हराया जाय। (3) इसके साथ ही शम्स खां ने किले व बुर्ज की मरम्मत शुरू करवा दी थी। अतः राणा ने नागौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। गुजरात का सुल्तान शम्स खाँ की सहायता करना चाहता था किन्तु उससे पहले ही राणा जीत गया और सुल्तान की सेना रास्ते में वापस लौट गई। इस विजय का वर्णन कीर्ति स्तम्भ में भी है।

5. कुम्भलगढ़ आक्रमण नागौर युद्ध के कुछ महीने बाद 1458 ई० में ही कुतुबुद्दीन ने बदला लेने के लिये पहले सिरोही और फिर कुम्भलगढ पर हमला किया। सिरोही का राजा सुल्तान की पहली हार से राणा के पक्ष में हो गया था अतः सुल्तान ने सिरोही को जीतकर नगर को जला दिया। फिर वह कुम्भलगढ की तरफ बढ़ा किन्तु राणा ने उसे फिर पराजित कर वापस लौटने पर बाध्य कर दिया। सुल्तान को दूसरी बार राणा के हाथों मुँह की खानी पड़ी उसके सैंकडो सैनिक व घोड़े मारे गये। उसने गुजरात जाकर सैनिकों को बहुत से घोड़े खरीदने के लिये राजकीय धन दिया था जिसका समर्थन फरिश्ता भी करता है। इस आक्रमण से सुल्तान को अपनी सैनिक कमजोरी का पता चला गया। कुतुबुद्दीन मेवाड़ विजय का अधूरा सपना लिये 25 मई, 1458 को सदा के लिये संसार से कूचकर गया।

6. महमूद बेगड़ा का आक्रमण—कुतुबुद्दीन के बाद महमूद बेगड़ा गुजरात का सुल्तान बना। उसने 1459 ई० में जूनागढ़ पर आक्रमण किया। वहाँ का राजा कुम्भा का दामाद था अतः कुम्भा उसकी सहायता के लिये जा पहुँचा और गुजरात के सुल्तान को पराजित होकर वापस लौटना पड़ा। महमूद बेगडा को उकसाने वाला कुम्भा का एक छोटा भाई देवलिया था। इसी ने आगे चलकर षड़यन्त्र द्वारा कुम्भा को मरवाया था। इन सब लड़ाइयों से स्पष्ट है कि कुम्भा का गुजरात से सदा युद्ध होता रहा। दोनों राज्यों में कभी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध नहीं रहे। मुसल-

मानों से लड़ाई के कारण मेवाड़ का आबू, सिरोही, नागौर, मन्दसौर आदि स्थानों पर स्थायी आधिपत्य स्थापित हो गया। राणा ने अपने पराक्रम और शौर्य का परिचय देकर मालवा और गुजरात के शासकों को चुप बैठने पर बाध्य कर दिया। इन्ही दो राज्यों से निरंतर संघर्ष में कुम्भा की वीरता, धीरता और सैनिक सफलता निहित है।

कुम्भा का व्यक्तित्व

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 211-212 पर कुम्भा के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए लिखते है कि—"कुम्भाजी बड़े वीर और साहसी थे। उन्होने मुसलमानो से देश की रक्षा करने के लिये कुम्भलगढ़ आदि कई किले बनवाये। कुम्भलगढ़ के शिलालेख में उन्हें धर्म और पवित्रता का अवतार और उन्हे विद्वान और दानी राजा भोज व कर्ण से भी बढ़कर लिखा है। वे प्रजापालक और सब धर्मों को एक दृष्टि से देखने वाले नरेश थे। उन्होंने आबू पर जाने वाले जैन यात्रियों पर जो कर लिया जाता था उसे हटा दिया था।"

टाड महोदय 'राजस्थान के इतिहास' के पृष्ठ 166 पर कहते हैं कि—"राणा कुम्भा में लोकप्रियता का गुण था। मेवाड़ की प्रजा उस पर बहुत श्रद्धा रखती थी। राणा ने प्रजा की सुविधाओं और राज्य के हितों के लिये बहुत से अच्छे कार्य किये थे और उन्हीं कारणो से सम्पूर्ण राजस्थान में उसे बहुत ख्याति मिली।"

टाड महोदय आगे कहते हैं कि—कुम्भा ने अपनी ही जाति के शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। उसने अपने राज्य को सुदृढ़ दुर्गों द्वारा सम्पन्न बनाया और ख्याति अर्जित करके अपने नाम को चिरस्थायी बना लिया।"

यह स्पष्ट है कि महाराणा कुम्भा केवल वीर ही नहीं था। विजय श्री सदा उसके कवच में निवास करती थी। मृत्यु से भयंकर कठोरता रखते हुए भी उस दिल में कवियों सी सरसता और शासकों का संरक्षण निवास करते थे। वह कलाकारों का सरक्षक, विद्वानों का आश्रयदाता और संगीत, नाट्य, वास्तुकला आदि कलाओं का महान् प्रेमी था। उसके व्यक्तित्व के बारे में हम संक्षेप में इन बातो का उल्लेख करेंगे—

1. अपार साहसी—कुम्भा तो साहस की कसौटी पर शुरू से ही खरा पाया जाता है। वह जब छोटा सा था तो उसके पिता मेवाड़ पर चारो तरफ से मडराते विपदा के बादल छोड़ गये थे। उसने अपार धैर्य और साहस के साथ आन्तरिक विद्रोहों का दमन किया। विदेशी मुसलमानों की चुनौती का उत्तर दिया और मेवाड़ पर राठौड़ो के बढ़ते प्रभाव को समाप्त किया। उसने साहस की पराकाष्ठा का प्रदर्शन मालवा और गुजरात के संयुक्त आक्रमण के समय किया। दोनों सुल्तानों की सेना और शक्ति कुम्भा से कही अधिक थी। वे दोनों मेवाड के विभाजन का संकल्प लेकर आये थे किन्तु कुम्भा के साहस ने उन्हे निराश कर लौटने पर बाध्य कर दिया। कुम्भा के स्थान पर उस समय कोई और शासक होता तो बूंदी और

मेवाड़ दोनों पर मुसलमान राज्य स्थापित हो जाता। कुम्भा के अटूट साहस ने मेवाड़ के प्राण बचा लिये।

2 महान् वीर—कुम्भा महान् वीर था। उसने मेवाड़ भूमि के अतिरिक्त गोडवाड़, अजमेर, मन्दसौर, आबू, मंडोर, नागौर, मांडलगढ़, बूंदी, सांभर, रणथम्भौर, डूंगरपुर, जावरा आदि प्रदेश जीते थे। उसने बूंदी के हाड़ा, सिरोही के देवड़ा, सोजत और मंडोवर के राठौड़ आदि बड़े राजपूत ठिकाणो को पराजित कर अधीनता मानने पर बाध्य किया था। इतना बड़ा राज्य मेवाड़ में पहले किसी का नहीं था। यह कहना सत्य है कि सांगा के विशाल राज्य की नींव कुम्भा के हाथों से रखी गई थी।

3. कुशल राजनीतिज्ञ—कुम्भा अवसर से काम लेता था। वह अन्य राजपूतों की भांति केवल बहादुरी से मर जाने में विश्वास नहीं रखता था। आवश्यकता पड़ने पर पहाड़ों में छिपकर अचानक आक्रमण करता था। उसने अपने शुरू के समय मे गुजरात और मालवा की शत्रुता का लाभ उठाकर गुजरात के सुल्तान अहमदशाह को मेवाड़ पर कभी आक्रमण नही करने दिया। उल्टा दिल्ली और गुजरात के सुल्तानों ने हिन्दू सुरत्राण की उपाधि दी। गुजरात से उसके सम्बन्ध नागौर विजय के बाद ही बिगड़े थे। कुम्भा राज्य को आवश्यकता से अधिक बढ़ाने में विश्वास नही रखता था। यह जीते हुए प्रदेशों से सालाना कर लेकर उन्हें राज्य वापस दे देता था। इस प्रकार के राज्य बूंदी सिरोही, नागौर आदि थे। वह शत्रुओं मे फूट डाल कर भी उन पर शासन करता था। उसने राठौड़ों को सोजत आदि की जागीर देकर 15 वर्ष तक जोधपुर के राठौड़ों को अपने अधीन रखा। वह वीर सरदारों को जागीरें देकर उन्हें प्रसन्न रखता था। इस प्रकार जागीरें देना, फूट डालना, कर लेकर उत्तरदायित्व से मुक्ति पा लेना, शत्रुओं को सगठित न होने देना और छापामार युद्ध का प्रयोग आदि उसकी कुशल राजनीतिज्ञता प्रमाणित करते हैं।

4. प्रजापालक—जहाँ कुम्भा राज्य की रक्षा के लिये सजग था वहाँ वह प्रजा का पालक भी था। इतने वर्षों तक निरंतर युद्ध मे व्यस्त रहने के बाद भी कुम्भा अपने प्रजा के हितों को नहीं भूला था। उसने चित्तौड़ कुम्भलगढ़, आबू, पिंडवाड़ा और बसन्तपुर में सड़कें, तालाब, बावड़ियाँ, कुएं आदि बनवाये। उसने सिर्फ आबू के अचलगढ़ में एक सरोवर और चार बावड़िया बनवाई। बसन्तपुर में सात बावड़ियाँ और एक बाग लगवाया। वह महान् दानी भी था। उसकी तुलना भोज और कर्ण जैसे दानवीरों से की गई है। यही कारण है कि कवियो ने उसे कुम्भलगढ़ प्रशस्ति मे प्रजा पालक व विख्यात दानी कहा है।

5. साहित्य का संरक्षक—इसमें तो कोई दो राय नहीं हो सकती कि कुम्भा विद्वान था। वह स्वय अच्छी सस्कृत लिख और बोल सकता था। वह स्वय विद्वान ही नही विद्वानो का आश्रयदाता भी था। परमार राजा भोज और चौहान राजा विसलदेव की तरह वह भी संस्कृत का विद्वान था। उसे अन्य भाषाओं का ज्ञान भी

था जिनमें गुजराती, मराठी और कन्नडी उल्लेखनीय हैं। उसकी खुद की रचना 'रसिक प्रिया' इस बात का प्रमाण है कि कुम्भा स्वयं साहित्यकार था। जहां कुम्भा लक्ष्मी का उपासक था वहा वह सरस्वती का प्रिय पुत्र भी था। दोनों देवियों की उस पर समान कृपा थी। उसने 'संगीत राज' नामक एक ग्रन्थ लिखवाया जिसमें 16,000 श्लोक थे। कीर्ति स्तम्भ में कुम्भा द्वारा रचित चार नाटकों का भी वर्णन मिलता है। अत्रो और महेश मण्डन के द्वारा उसने कुम्भलगढ़ और कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति बनवाई थी। कुम्भा के दरबार में कई पंडित रहते थे। कन्हव्यास, अत्रो, महेश, एकनाथ और कुम्भलगढ़ के भृगु परिवार को उसने राजकीय सम्मान दिया था। परिणामस्वरूप मेवाड़ में शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछ गया और विद्या का विकास हुआ उसने खुद ने 'संगीत राज्य', 'संगीत मीमांसा', 'संगीतमृत' नामक ग्रन्थ लिखे थे। 'गीत गोविन्द' और 'चंडीशतक' की टीका में और चार नाटक लिखे थे। 'एकलिंग महात्म्य' का पिछला भाग सुन्दर व मधुर कविता में खुद ने रचा था। भवन निर्माण विद्या पर आठ पुस्तकें बनवाई थी। वह एक अच्छा कवि भी था।

6. **निर्माता कुम्भा**—कुम्भा के समय में जितना निर्माण कार्य हुआ उतना मेवाड़ के इतिहास में और किसी के समय में नहीं हुआ। उसने सिर्फ चित्तौड़ में ही कीर्ति स्तम्भ, कुम्भस्वामि का मन्दिर, वराह का मंदिर, शृंगार चवरी, जैनकीर्ति स्तम्भ के पास महावीर जी का मन्दिर आदि बनवाये थे। उसके बनवाये हुये मन्दिरों में कुम्भलगढ़ में मामदेवजी का मन्दिर अचलेश्वर में जैन और कुम्भस्वामी के मन्दिर विशेष आकर्षक और उल्लेखनीय हैं। उसे मूर्ति निर्माण का भी काफी शौक था। कीर्तिस्तम्भ को आज भी हिन्दू पौराणिक देवी देवताओं की मूर्तियों का संग्रहालय कहते हैं। उसने विष्णु की ही नहीं महावीर स्वामी की भी देलवाड़ा में विशालकाय मूर्ति बनवाई। श्री सोमानी का मत है कि "इस प्रकार कुम्भा के शासनकाल को वास्तुकला के क्षेत्र में मेवाड़ का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। उसने रणपुर और एकलिंगजी के मंदिरों को बनवाया। हरविलास शारदा का मत है कि "कुम्भलगढ़ और चित्तौड के कीर्ति स्तम्भ उन नमूनों में से है जो राणा कुम्भा की एक सेना-नायक व महान् शासक के रूप में सदैव याद दिलाते रहेंगे।"

मन्दिर और जनहित के निर्माणों के सिवा कुम्भा ने अनेक दुर्ग भी बनवाये। टाड महोदय का कहना है कि—"मेवाड राज्य में चौरासी दुर्ग हैं। उनमें 32 राणा कुम्भा ने बनवाये थे। इन 32 किलो में कुम्भलमेर का दुर्ग सबसे अधिक प्रसिद्ध है।" इस कथन का समर्थन कवि श्यामलदास 'वीर विनोद' के पृष्ठ 334 पर करते हैं। "इन महाराणा की बनाई हुई बहुत सी इमारतें अभी तक मौजूद हैं। कुम्भलमेर का किला""एकलिंगजी के मन्दिर का जीर्णोद्धार आदि मिलाकर 32 किले और बहुत से देवल व इमारतें वगैरह इनकी बनवाई हुई हैं। जिनको देखकर आश्चर्य होता है कि एक मुद्दत में इतनी इमारतें कैसे तैयार हुई होंगी।"

कुम्भलगढ का किला उसने अपनी पत्नी कुम्भलदेवी की स्मृति मे बनवाया ा। इस पहाड़ी दुर्ग मे सकटकालीन स्थिति मे 40 हजार व्यक्तियो को जल देने के लिये एक तालाब बना है। इस किले में बने मदिरो की प्रशसा कर कलापारखियों ा कुम्भा की महती प्रशंसा की है। कलापारखी फर्गुसन ने कुम्भा की इमारतों की शंसा करते हुए लिखा है कि—"चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ उसकी ख्याति के चिर-थाई स्मारक के रूप मे सदैव बना रहेगा।" फर्गुसन ने इस कीर्ति स्तम्भ को रोम ; टावर मे अधिक महत्वपूर्ण और कलापूर्ण बताया है। यह कीर्ति स्तम्भ राणा ने ालवा के सुल्तान महमूद को पराजित करने की खुशी में 1449 मे चित्तौड़ में नवाया था। जब तक यह कीर्ति स्तम्भ रहेगा, कुम्भा का गौरव नभ के सितारों ी भाँति हँसता चमकता रहेगा।

7. धर्म रक्षक—कुम्भा धार्मिक सहिष्णुता मे भी विश्वास रखता था। उसने सभी धर्मों की रक्षा की। आबू जाने वाले जैनी यात्रियों से धार्मिक कर लेना न्द कर दिया। वह बनारस, इलाहाबाद आदि धार्मिक स्थानों को भेंट भेजा करता ा और इतने पर भी ब्राह्मणो के शत्रुओं का नाश करने वाला था और उसने जैन ौर वैष्णव मंदिरों का निर्माण भी किया। शैव मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी कर-ाया। वह हिन्दू, जैन, शैव सभी मतों का संरक्षक था। इससे स्पष्ट है कि वह र्म रक्षक था। उसने अपने अधीन मुसलमान प्रजा पर भी कभी कोई आतंकमय त्याचार नही किया। नागौर मे जब गौ वध अधिक होने लगा तब कुम्भा ने उन पर आक्रमण किया था। अन्यथा धर्म उसकी राजनीति मे कोई बाधक नही था।

श्री सोमानी जी कहते हैं कि—"मेवाड़ के शिशोदिया राजाओं में साँगा को छोड़कर अन्य कोई राजा कुम्भा के समान इतना अधिक शक्तिशाली नही था जिसे वर्षों तक मुस्लिम सुल्तानों के साथ बराबर युद्ध करने को बाध्य होना पड़े और उसमे भी उसकी निरन्तर विजय हो। उसकी सफलता का कारण उसका विशिष्ट व्यक्तित्व था। उसके व्यक्तिगत गुण उसे मानव से अति मानव बनाते हैं। और इसी कारण पश्चात् कालीन लेखकों ने उसमें कई अलौकिक गुणों तक की कल्पना की है।"

☐

राव चूँडा

मारवाड़ राज्य के संस्थापक राठौड़, कन्नौज के शासक जयचन्द के वंशज हैं। कन्नौज के पतन के बाद जयचंद के पौत्र सियाजी और सेतराम अपने सुख और वैभव की खोज में दक्षिण पश्चिम की ओर चल दिये। कुछ लेखकों की धारणा है कि वे दोनों धार्मिक स्थानों के दर्शन की इच्छा से कन्नौज से चले थे। इस समय तक कन्नौज की शक्ति का पूर्ण अन्त हो चुका था। जब सियाजी ने कन्नौज छोड़ा तो उसके पास सिर्फ दो सौ राठौड़ घुड़सवार थे। शाहबुद्दीन गौरी ने जिस प्रकार दिल्ली और अजमेर के चौहानों को पराजित कर चौहानों का अन्त किया उसी प्रकार उसने कन्नौज पर आक्रमण कर जयचन्द का भी अन्त कर दिया। युद्ध के मैदान मे गौरी से हार कर जयचन्द भाग खड़ा हुआ और दुर्भाग्य से उसकी नाव गंगा मे उलट गई और वह डूब कर मर गया। जयचन्द की मृत्यु 1193 ई. में हुई। उसकी मृत्यु के बाद से 1212 तक उसके वंशज कन्नौज मे अपनी सत्ता स्थापित करने की व्यर्थ चेष्टा करते रहे और अन्त मे अपनी वास्तविकता का अनुमान लगाकर जयचन्द के पौत्र सियाजी ने कन्नौज छोड देना ही उपयुक्त समझा। स्पष्ट है कि मारवाड़ राज्य के संस्थापक राठौड़ कन्नौज के जयचन्द के वंशज थे। कन्नौज में अपमानजनक जीवन व्यतीत करने से तो यही अच्छा था कि सियाजी दूर मरुभूमि मे जा कर अपना राज्य बना लें ताकि पराजय की हार का कांटा सदा आँखो में खटकता न रहे। राजस्थान के इतिहास के दृष्टिकोण से तो हम यही कह सकते हैं कि कन्नौज छोड़ कर सियाजी ने अच्छा ही किया अन्यथा कि मारवाड़ के राठौड़ों का उत्थान होता या नही इसमे सदेह रह जाता।

1. मारवाड़ की दशा—जिस समय सियाजी ने मारवाड़ की मरुभूमि मे प्रवेश किया उस समय यद्यपि आमेर, सोमेर और अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था और कन्नौज की लडाई मे कछवाहों का पराक्रमी राजा पजोन कन्नौज के युद्ध मे जयचन्द की तरफ से लड़ता हुआ मारा गया था फिर भी अरावली के अनेक दुर्ग राजपूतों की अधीनता में अभी तक स्वतत्र थे। मरुभूमि में अन्य स्वतत्र राजाओं मे लगभग 12 विभिन्न राजपूत जातियो के प्रतिनिधि राज्य करते थे। मलंसी कछावा का पिता पजोन कन्नौज के युद्ध मे मारा गया था किन्तु मलंसी नाडोल पर राज्य करता था। दूसरे परिहार लोगों का राजा मानसिह मन्दोर नगर का राजा था। तीसरा औरिन्त के मोहिल जाति के राजा थे जो नागोर कोट पर राज्य करते थे। औरिन्त इनकी राजधानी थी और इनके राज्य में 1440 गाँव थे। चौथे जाट लोग थे। जिनका राज्य बीकानेर से लेकर भटनेर तक फैला हुआ था। पाँचवें लोग जैस-

लमेर के भाटी थे। छठे लोग जारीजा जाति के थे जिनका राज्य सिन्ध और कच्छ प्रदेश के बीच मे फैला था। सातवें सोलंकी लोग थे जो चन्द्रावती के पवारों के साथ रहते थे। आठवीं जाति गोहिल थी जो खेडधर मे रहते थे। इसी प्रकार अन्य चार जातियां, भिनली में साम्भा लोग, जालोर मे सोनगरा लोग, ओरिन्त में मोहिल लोग और सांचोर मे देवड़ा लोग रहते थे। ये सभी जातियां स्वतंत्र थी और अपने देश की रक्षा के लिये मर मिटने में मेवाड़ के गोहिल, अजमेर के चौहान या कन्नौज के राठौरों से किसी भी हालत मे कम न थे।

2. धूंडा के पूर्वजः—मारवाड मे राठोड़ राज्य की स्थापना भी एक रोचक घटना का परिणाम है। कहा जाता है कि जब सियाजी अपने 200 साथियो के साथ मरुभूमि पहुँचे तो बीकानेर से 20 मील पश्चिम मे कोलूमठ नामक स्थान पर रुके। कोलूमठ मे एक सोलंकी राजा राज्य करता था। इस राजा ने सियाजी का बड़ा आदर सत्कार किया और अपने नगर मे सियाजी को स्थान दिया। इस समय सतलज से समुद्र तक लाखा फूलाणी नामक एक राजपूत का बड़ा आतंक था। लाखा जारीजा वंश का राजपूत था और उसका मरु प्रदेश में एक दुर्ग भी था। लाखा के नाम से सारे मरुप्रदेश के राजा और प्रजा कांपते थे। यद्यपि लाखा गरीबो पर कोई अत्याचार नहीं करता था फिर भी सारे राजा उससे भयभीत रहते थे। कोलूमठ का सोलंकी राजा लाखा से डरता था और जैसे तैसे उसका अन्त देखना चाहता था। सियाजी को अपना शौर्य दिखाने का स्वर्ण अवसर मिल गया। सियाजी ने अपनी और सोलंकी राजा की सेना लेकर लाखा पर आक्रमण किया। लड़ाई में लाखा हार कर मैदान छोड़ भागा। इस युद्ध मे सियाजी का भाई सेतराम और कन्नौज के अनेक राठौड मारे गये। सोलंकी राजा ने सियाजी की वीरता से प्रभावित होकर अपनी बहन का विवाह सियाजी के साथ कर दिया। सियाजी कन्नौज से ही द्वारिका के दर्शन का इरादा लेकर चले थे इसलिये विवाह के बाद वे द्वारिका के लिये आगे बढे मार्ग में अनहिलवाड़ा पट्टम में कुछ समय के लिये रुके तभी उन्हें ज्ञात हुआ कि लाखा फूलाणी इस नगर पर आक्रमण करने वाला है। सियाजी ने अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिये अनहिलवाड़ा पट्टम मे लाखा से फिर युद्ध किया। इस युद्ध में लाखा मारा गया और सियाजी की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी। इस ख्याति के साथ सियाजी ने लूनी नदी की तरफ प्रस्थान किया और महवा नगर के राजा को मारकर महवा में अपना राज्य स्थापित किया। ख्यातों व भाटों के ग्रन्थ मे यह वर्णन नहीं मिलता कि महवा जीतने के बाद सियाजी तीर्थ-यात्रा को गया या नही। इस प्रकार तीर्थ-यात्रा का सफर और लाखा का अन्त दोनो घटनाओं के समावेश ने मारवाड में राठोड़ राज्य के बीज बो दिये।

प्रारम्भिक विजयो ने सियाजी के मन मे राज्य स्थापना की लालसा उत्पन्न कर दी। महवा पर अधिकार करने के बाद सियाजी ने खेडधर के गोहिल राजा

महेश दास को हराकर उसका राज्य अपने अधीन कर लिया। पाली के ब्राह्मणों की प्रार्थना पर मीना जाति पर आक्रमण कर उन्हें मार भगाया। फिर पाली ब्राह्मण सरदार को मार स्वयं पाली के शासक बन गये। इस प्रकार सियाजी ने महवा खेड़ धर, और पाली पर अधिकार कर मारवाड राज्य की स्थापना की। सियाजी के तीन लडके थे। जिन दिनों सियाजी ने पाली पर अधिकार किया था उन्हीं दिनों उनके योग्य पुत्र आसधाम ने ईडर पर अधिकार कर लिया। यह प्रदेश गुजरात की सीमा पर है। सियाजी के तीसरे पुत्र अजमल ने सौराष्ट्र के राजा भीमसिंह को मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। आज तक भी द्वारिका के आस-पास अजमल के ही वंशजों का राज्य है। इस प्रकार कन्नौज के निष्कासित राठौड़ों ने पाली, ईडर और सौराष्ट्र के प्रदेशों को जीत कर मारवाड राज्य का शुभारम्भ किया।

सियाजी के बाद आसधाम ने राज्य किया। आसधाम के लड़के दूंहड़ ने अपने पूर्वजों का देश कन्नौज वापस लेना चाहा किन्तु मन्दोर विजय अभियान में मारा गया। उसके लड़के रायपाल ने परिहार राजाओं से मन्दोर भी जीत लिया। राजपूतों का जीवन बडा अनिश्चित है। और पतन रात दिन की तरह उनके जीवन से बँधे हैं। सियाजी के बाद आसधाम, दूंहड़, रायपाल कनुहुल, जाल्हन, छाडा और टीडा आदि राजाओं ने राज्य किया। आठ पुश्त निकल जाने के बाद मारवाड़ के विस्तार और वास्तविक शासकों का नम्बर आता है। वैसे तो अगले अध्यायों में हम मारवाड़ के मुगलकालीन शासक, मालदेव, चन्द्रसेन, यशवन्तसिंह दुर्गादास और अजीतसिंह आदि विख्यात राजाओं का अध्ययन करेंगे किन्तु मारवाड़ का वास्तविक इतिहास जानने के लिये सियाजी, चूंडा, रायमल और जोधपुर नगर के निर्माता जोधा के बारे में भी संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। चूंडा, रायमल और जोधा इन्हीं तीनों ने मिलकर आधुनिक मारवाड राज्य को सुनिश्चित रूप, सीमाएँ और ख्याति प्रदान की है। मालदेव के समय से पहले और मुसलमानों के बढते हुए आधिपत्य के इन लगभग 250 वर्ष के मारवाड़ के इतिहास में (1273-1515 ई तक) चूंडा, रायमल और जोधा ही विशेष उल्लेखनीय है।

3. प्रारम्भिक विजय—सियाजी 1273 ई. में मुसलमानों के आक्रमण से रक्षा करते समय पाली में मारा गया था। उनके पुत्र आसधाम की अधीनता में राठौडों की शक्ति का संगठन दक्षिण पश्चिम मारवाड़ में हुआ था। मुसलमानों ने पाली पर अपना अधिकार कर लिया वैसे तो सारे देश में मुसलमानों की शक्ति बढ़ रही थी। और मेवाड पर उनकी नजर गडी हुई थी फिर भी पाली के व्यापारिक महत्व को ध्यान में रखकर कोई भी दिल्ली का शासक उसे अपने अधीन करने को लालायित हो सकता था। इसी पाली की रक्षा के चक्कर में सियाजी मारे गये। उसकी मृत्यु के साथ मारवाड़ व मुसलमानों का वह संघर्ष शुरु हुआ जो आगे बाद

कई शताब्दियों तक चलता रहा। एक तरफ दिल्ली मे मुसलमानों की शक्ति बढती जा रही थी और दूसरी तरफ राजस्थान में राजपूत अपनी शक्ति सुदृढ़ कर रहे थे। मेवाड के सिसोदिया भी तुर्कों का विरोध कर अपनी शक्ति बढा रहे थे। उसी प्रकार सिया के पुत्र आसधाम ने पाली से हटकर मूदोच नामक गाँव को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाकर राज्य विस्तार शुरू किया। उसने ईदर के भील सरदारों को पराजित कर ईदर का राज्य अपने छोटे भाई सोनंग को दे दिया। हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि सियाजी के तीसरे पुत्र ने सौराष्ट्र के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार दक्षिण पश्चिम मरुभूमि पर कन्नौज के राठोड़ों का अधिकार हो गया। अभी यह राज्य सुदृढ़ होने भी नही पाया था कि जलालुद्दीन खिलजी ने पाली पर आक्रमण किया और अपने पिता की तरह आसधाम भी पाली की रक्षा करता हुआ 1291 ई. मे वीर गति को प्राप्त हुआ। उसके लगभग 140 साथी भी युद्ध में मारे गये जिनका वर्णन नैणसी अपनी ख्यात के दूसरे भाग में पृष्ठ 55 से 57 तक करता है।

आसधाम के पुत्र व उत्तराधिकारी धूहड़ ने आस-पास के 150 गाँवों पर अधिकार कर लिया। इसके लिये उसे अन्य राजपूतों व तुर्कों से युद्ध करने पड़े। उसने एक बार तो परिहारों से मण्डोर भी छीन लिया किन्तु इसी मंडोर की रक्षा के चक्कर में 1309 ई में वह परिहारों के हाथ युद्ध मे मारा गया। उसके उत्तराधिकारी रायपाल ने जैसलमेर और मलानी आदि महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। किन्तु मंडोर पर स्थाई अधिकार नही हो सका। मारवाड़ के इस राठौड़ वंश के अगले दो राजा जैसलमेर के भाटियों की शत्रुता के कारण मारे गये। भाटी लोग जैसलमेर की पुनः प्राप्ति के लिये तुर्कों से जा मिले राठोड़ों व भाटियों के इस संघर्ष में राव कर्णपाल और उसका उत्तराधिकारी भीम दोनो भाटियो के हाथ से मारे गये। फिर भी सियाजी के वंशजों की राज्य सीमा काक नदी तक फैल गयी।

बाँकीदास री वार्ता में इस बात का पता चलता है कि राव जालणसी ने सोलंकियों से भीनमाल और यवनो से मुल्तान भी जीत लिया था और उसके पुत्र छाड़ा ने तो अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर अपने पूर्वजों के हत्यारों से पूरा-पूरा बदला लिया। उसके पिता को भी भाटी और तुर्कों की संयुक्त शक्ति ने पराजित कर मार डाला था। छाडा की ख्याति और वीरता उल्लेखनीय है। जैसलमेर के राव को हरा कर उसकी कन्या से विवाह कर लिया ताकि वे आगे से विद्रोह न करें। इसी प्रकार अमर कोट के सोढों को हरा कर उन्हें घोड़े देने पर बाध्य किया। जालौर तथा नागौर से तुर्कों को मार भगाया। रेऊ अपने मारवाड़ का इतिहास भाग एक के पृष्ठ 51-52 पर छाड़ा की विजयों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि उसने पाली, सोजत, भीनमाल, जालौर, नागौर, जैसलमेर और अन्य कई छोटे बड़े कस्बे जीत कर अपने अधीन कर लिये थे। उसकी इस विजय से जलकर सोनगेर और देवड़ा चौहानो ने मिलकर जालौर के रामा नामक गाँव में छाड़ा को अचानक घेर लिया। इसी युद्ध मे शत्रु का मुकाबला करते हुए 1344 ई. मे छाड़ा मारा गया। छाड़ा के पुत्र ने

अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और एक वार फिर से भीनमाल को जीत सोनगेर व देवड़ा चौहानों को हराया। भाटी व सोलंकियों को पराजित कर दण्ड वसूल किया और मरुभूमि पर राठौड़ों का पुन. अधिकार हो गया। तभी तुर्की सेना ने सिवाना पर आक्रमण किया। सिवाना की रक्षा करता हुआ छाड़ा भी मारा गया किन्तु राठौड़ प्रभाव कम न हो सका। मारवाड़ का राज्य काफी शक्तिशाली हो गया था। छाड़ा के उत्तराधिकारी मल्लिनाथ मे भी शौर्य की कमी न थी। उसने एक वार फिर से सभी पड़ोसियों को पराजित कर मारवाड़ राज्य को सुदृढ बनाया। सोलंकी, भाटी चौहान, देवड़ा, गोहिया, आदि मारवाड़ की अधीनता में आ गये। लगभग आठ पीढ़ी तक सियाजी के उत्तराधिकारी मारवाड़ की नीवें मजबूत करने में लगे रहे। इस संघर्ष के फलस्वरूप भीनमाल, अमरकोट, महेवा, पाली आदि प्रदेशों पर इनका स्थायी अधिकार स्थापित हो गया और मालवा, गुजरात, नागौर, जालौर आदि मुसलमान शक्तियाँ मारवाड़ से डरने लगी और यहाँ के राजाओं को सम्मान देने लगी। मल्लिनाथ की शक्ति इतनी सुदृढ थी कि मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र और सिन्ध के शासक उसको मान्यता देने लगे, और मल्लिनाथ अपने राज्य की रक्षा करने मे सफल रहा। वह मारवाड़ का पहला शासक था जिसने रावल की उपाधि धारण कर अपने वश की प्रतिभा को वढाया। ओझा जो 'जोधपुर राज्य का इतिहास' है भाग एक में पृष्ठ 185 से 191 तक रावल मल्लिनाथ की सफलताओ का वर्णन करते हुए इस उपाधि का वर्णन करते है। संक्षेप में यह कह देना पर्याप्त होगा कि सियाजी से मल्लिनाथ के वीच 1212 से 1381 ई० तक का समय मारवाड़ राज्य के जन्म और उथल पुथल घटनाओ का संघर्षपूर्ण समय है। लगभग 150 वर्ष के निरन्तर संघर्ष के वाद मरुभूमि में मारवाड़ का नक्शा नजर आने लगा।

राव चूंडा

मारवाड़ के शासको की वशावली को लेकर इतिहासकारो मे घोर मतभेद हैं। प्राय. सभी अलग-अलग तालिका देते हैं। छाड़ा के वाद तीडा मारवाड़ का शासक वना। उसके बाद कन्हड़दे त्रिभुवणसी, मल्लिनाथ आदि हुए। किन्तु सभी तालिकाओ मे वीरमदेव को चूंडा का पिता माना गया है। लेखको मे जो भी अन्तर हो यह तो स्पष्ट है कि रायपाल से वीरमदेव तक के शासक सदा संघर्ष में लगे रहे।

प्रारम्भिक जीवन—राव चूंडा के पिता का नाम वीरमदेव था। चूंडा अपने पिता का दूसरा पुत्र था। जब चूंडा सिर्फ छः वर्ष का था तब उसके पिता का 1383 ई० में देहान्त हो गया। पिता के देहान्त के समय चूंडा की आयु कम होने के कारण व शत्रुओं का भय होने से उसकी माता ने आल्हा नामक एक चारण के पास (कल्लू) कलाऊ नामक गाँव मे छिपा कर रखा। किन्तु यहाँ भी चूंडा के जीवन को सुरक्षित न पाकर उसकी माँ ने उसे उसके चाचा मल्लिनाथ के पास भेज दिया। चूंडा की माँ मोहिल वंश की लड़की थी। चूंडा के चाचा ने उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे सालोड़ी गाँव की जागीर दे दी। इसी गाँव में रहकर चूंडा

ने अपनी शक्ति बढ़ाई। उसने नागौर के पास ही चूंडासर नामक नगर बसाया। यह नया नगर चूंडा की शक्ति का केन्द्र था। इतिहासकार रेऊ 'मारवाड़ का इतिहास' में भाग एक के पृष्ठ 58-59 पर चूंडा के शक्ति संग्रह का वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि एक बार एक घोड़ों का अरब काफिला मारवाड़ से गुजर रहा था। मौका पाकर चूंडा ने इस काफिले को लूट लिया जिससे उसकी सैनिक शक्ति बहुत बढ गयी। चूंडा का प्रारम्भिक जीवन शिवाजी के समान है। उसे भी पिता और शासकीय शक्ति के समर्थन का अभाव था। उसका विवाह एक परिहार राजा की लड़की से हुआ था फलस्वरूप उसे परिहारों का समर्थन मिलने लगा। इस आधार पर उसने अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। चूंडा के चौदह लड़के और एक लडकी थी। लड़की का नाम हंसा था। चूंडा ने अपनी इस पुत्री का विवाह मेवाड़ के राजकुमार के साथ किया था जो आगे चलकर राणा कुम्भा के नाम से मेवाड़ का शासक बना था। इस विवाह से चूंडा का सम्मान और वैभव इतना बढ़ गया कि उसे अपने पूर्वजों के राज्य पर पुनः अधिकार करने में कोई विशेष कठिनाई नही हुई। चूंडा ने लगभग 41 वर्ष तक राज्य किया और 15 मार्च, 1423 ई० को भाटी और साखला लोगों के धोखे में आकर नागौर के किले के बाहर अपने एक हजार साथियों के साथ मारा गया। उसके शासन का समय (1382 से 1423 ई०) मारवाड़ के विकास व संगठन का समय है।

चूंडा की विजय—डा० वी० एस० भार्गव अपने शोध ग्रन्थ मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स के पृष्ठ 7 पर कहते हैं कि "1383 में मारवाड़ की गद्दी पर चूंडा के बैठने के साथ राठौड़ों की महत्ता एक नये युग में प्रवेश करती है जो फीरोज तुगलक और उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के कारण अपने राज्य विस्तार से प्रारम्भ होता है।"

चूंडा की वीरता व सफलता का वर्णन करते हुए टाड महोदय भी अपनी पुस्तक के दूसरे भाग के पृष्ठ 944 पर कहते हैं कि "इस ओर राठौड़ों ने अपने शौर्य और आक्रमणों से अपनी ओर ध्यान आकर्षित करा लिया था। उनका वंश ग्यारह शाखाओं में बिखर गया था और अब उन्हें ऊपर उठाने में कठिनाई नहीं थी।"

चूंडा का जीवन अनेक विजयों से प्रारम्भ होता है और इन्हीं विजयों के आधार पर उसने मण्डोर के आस-पास के सारे देश को अपने अधीन कर लिया। यहाँ तक की नागौर भी उसके राज्य की सीमा में आ गया। चूंडा की विजय की सबसे महत्वपूर्ण प्राप्ति मण्डोर था। अतः उसकी इस महत्वपूर्ण विजय को सबसे पहले देखें।

मण्डोर विजय—मण्डोर मारवाड़ का केन्द्रीय भाग है जो चूंडा के समय में मालवा के सूबेदार के अधीन था। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार चूंडा के कई पूर्वजों ने कई बार मण्डोर पर अधिकार किया था और उसकी रक्षा हेतु अपने प्राण गंवा दिये थे। एक महत्वाकांक्षी शासक होने के नाते चूंडा की भी यह इच्छा

थी कि वह मण्डोर पर अपना स्थाई अधिकार स्थापित कर अपने पूर्वजों की कुर्बानियों को सफल बनावे। साथ ही मण्डोर मारवाड़ का केन्द्र था और हाथ में न होने से चूंडा नागौर आदि दूर भू-भागों पर स्थायी अधिकार व नियंत्रण नहीं रख सकता था। हमें यह भी विदित है कि उसने परिहार राजाओं की लड़की से विवाह कर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया था और अपनी पुत्री हंसा का विवाह मेवाड़ के राजकुमार से कर चूंडा ने अपनी ख्याति और दबदबे को और भी बढ़ा लिया था। इन परिस्थितियों में दिल्ली के अयोग्य तुगलक उत्तराधिकारियों ने चूंडा के लिये स्वर्ण अवसर उपलब्ध कर दिया।

चूंडा की मण्डोर विजय भी उतनी ही रोचक है जितनी शिवाजी की पूना में शाइस्ता खां पर विजय। चूण्डा अवसर की तलाश में था तभी मण्डोर के सूबेदार ने इदा परिहारों से घोड़ों के लिए घास की मांग की। चूंडा ने एक योजना बनाई और परिहारों से मिल कर घास की गाड़ियों में हथियार बन्द सैनिकों को छुपा दिया। जब ये गाड़ियां मण्डोर दुर्ग में पहुँच गयी तो राठौड़ सैनिक बाहर में से निकल कर अचेत मुसलमान सैनिकों पर टूट पड़े। अचानक आक्रमण से मुसलमान सैनिकों की हिम्मत टूट गयी और दुर्ग पर राजपूतों का अधिकार हो गया। इदा परिहारों ने किले पर अधिकार होते ही चूंडा से समझौता किया। उन्हें यह भय था कि जो मुसलमान जान बचाकर मण्डोर से भाग गये थे वे राजस्थान में स्थित अन्य मुसलमान केन्द्र नागौर व अजमेर से सहायता लेकर मण्डोर वापस लेने की चेष्टा करेंगे। इसके साथ ही उन्हें यह भी भय था कि चूंडा भी अवसर से लाभ उठाकर उसके राज्य में लूटमार करेगा। अतः आने वाली कठिनाइयों का अंदाज लगाकर इंदा परिहारों ने मुसलमानों से बैर मोल लेना उचित नहीं समझा और मण्डोर का किला चूंडा को दे दिया। बदले में चूंडा ने यह वादा किया कि वह इंदा परिहारों के 84 गाँवों से लूटमार या हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसी अवसर पर इंदा परिहारों ने अपने सरदार की लड़की का विवाह चूंडा के साथ कर दिया और मण्डोर का किला दहेज में चूंडा को मिल गया। चूंडा के चाचा मल्लिनाथ ने भी चूंडा की इस सफलता को मान्यता देकर मण्डोर पर चूंडा का अधिकार मान लिया। वह स्वयं मण्डोर गया और चूंडा से आतिथ्य पाकर अपने आपको धन्य मानने लगा।

मण्डोर विजय का चूंडा की सफलताओं पर भारी प्रभाव पड़ा। अब तक इधर उधर बिखरी हुई राठौड़ों की शक्ति मण्डोर में चूंडा की अधीनता में केन्द्रित हो गयी। मण्डोर के राज्य में रेऊ के अनुसार 342 गाँव थे जो अब इंदा परिहारों के 84 गाँवों को छोड़कर चूंडा के अधीन आ गये। मण्डोर के अन्य जागीरदार जिन्होंने चूंडा का प्रभुत्व व संरक्षण स्वीकार किया वे बालेसों, आसायचों, भायलियों और काटेचों के घराने थे जिनके पास 84; 84; 55 और 35 गांव क्रमशः थे। यदि हम संक्षिप्त रूप से मण्डोर विजय के परिणाम देखें तो इस प्रकार होंगे :—

1. मण्डोर चूंडा की अधीनता में मारवाड़ की शक्ति का केन्द्र बन गया। इसी केन्द्र पर 1396 ई० में जब गुजरात के जफर खाँ ने आक्रमण किया तो चूंडा ने उसे सरलता से पराजित कर पीछे खदेड़ दिया।

2. इंदा परिहारों व राठौड़ों की पुरानी शत्रुता सदा के लिये समाप्त हो गयी। ये परिहार पिछली कई पीढ़ियों से राठौड़ों की पराजय और पतन के कारण बन गये थे।

3. परिहारों ने अपने 84 गाँवों का संरक्षण चूंडा को सौंप दिया जिससे अन्य जागीरदार भी उसकी अधीनता में आ गये और एक सामन्त प्रथा का विकास हुआ जो जोधा के समय तक पूर्णरूप से प्रचलित व संगठित हो चुकी थी।

4. मण्डोर को केन्द्र बनाकर चूंडा ने राज्य-विस्तार का काम शुरू किया जिसके फलस्वरूप अन्य प्रदेशों की विजय हुई।

: मण्डोर विजय ने चूंडा को राठौड़ों में सर्वोपरि व सर्वशक्तिमान बना दिया और राठौड़ों की शक्ति केन्द्रित हो गयी।

अन्य विजय—चूंडा की अन्य विजयों में नागौर व फलौदी की विजय अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वैसे तो उसने नागौर के बाद खाटू, डीडवाना, साँभर, अजमेर और नाडौल आदि को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था फिर भी नागौर के तुर्कों और फलोदी के राजा, उसके भाई जयसिंह पर उसकी विजय बड़ा महत्व रखती है। मण्डोर जीतने के बाद चूंडा ने अपनी शक्ति का संगठन किया और नागौर के तुर्की शासक जलाल खाँ खोकर पर अचानक आक्रमण कर दिया। जलाल खाँ तुगलक वंश का सूबेदार था। इस समय दिल्ली की शक्ति अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण क्षीण होती जा रही थी। दिल्ली के सुल्तान नागौर की, कोई सहायता नहीं कर सके। नागौर का सूबेदार जलाल खाँ लड़ाई में मारा गया और नागौर पर चूंडा का अधिकार हो गया। नागौर चूंडा को इतना पसन्द आया कि उसने मण्डोर तो अपने दूसरे पुत्र सत्ता को दे दिया और स्वयं नागौर में रहने लगा। इस समय से लेकर अपनी मृत्यु तक चूंडा नागौर को ही केन्द्र बनाकर रहने लगा।

नागौर जीतने के बाद चूंडा अपनी सेना लेकर दक्षिण की तरफ बढ़ा और गोडवाड़ राज्य की राजधानी नाडौल को जीतकर अपने अधीन कर लिया। नाडौल के किले में भी उसने अपनी सेना रखी। नाडौल - चौहानों की शक्ति का केन्द्र था। नाडौल जीत कर चूंडा ने चौहानों की शक्ति को पूर्णरूप से दबा दिया।

मण्डोर, नागौर, नाडौल जीतने के बाद चूंडा ने बिना समय गँवाये उत्तर पूर्वी राजस्थान के कुछ और भागो पर अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया। इस विजयाभिमान में खाटू, डीडवांणा साभर और अजमेर पर अधिकार कर अपने राज्य में मिला लिया। इन विजयो के बाद चूंडा ने अपने उन सम्बन्धियो को दबाया जो उसकी प्रगति और शक्ति से जलन रखते थे। इनमे उसका भाई

जयसिंह मुख्य था। अन्य सरदार तो सदा चूंडा का साथ देते थे लेकिन फलोदी का शासक जयसिंह जो उसका भाई था, चूंडा की सफलता से ईर्षा करता था और उसने कभी चूंडा का साथ नहीं दिया था। चूंडा ने अपने इस विरोधी भाई की शक्ति का अन्त करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के लिये स्वयं जयसिंह ने चूंडा को उत्तेजित किया था। अन्य आक्रमणों में अपने भाई की मदद करना तो दूर रहा जयसिंह भाटियों और तुर्कों से मित्रता बढ़ाकर उनकी सहायता से चूंडा की शक्ति का अन्त करना चाहता था। अतः चूंडा ने 1411 ई० में फलोदी पर अचानक आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। फलोदी मारवाड़ राज्य का अंग बना लिया गया और इस आक्रमण में भी चूंडा को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस समय से 1423 में अपनी मृत्यु के समय तक चूंडा ने कोई युद्ध नहीं लड़ा और 12 वर्ष तक मारवाड़ में सुख और शान्ति व्याप्त रही।

चूंडा 1383 से 1411 तक निरंतर युद्ध करता रहा था। इससे अनेक लोग उसके शत्रु हो गये थे। उसके बढ़ते हुए यश से जल कर पूंगल के भाटियों ने मुल्तान के शासक सलीम से सहायता लेकर नागौर पर आक्रमण कर दिया। किन्तु नागौर जीतना उनकी शक्ति के बाहर था। भाटी और सांखला सरदारों ने मित्रता का बहाना कर चूंडा को बात करने के लिये किले से बाहर बुलाया। चूंडा भाटियों की चाल में आ गया। किले के बाहर आते ही शत्रुओं की सेना उस पर टूट पड़ी और यह वीर धोखे से मारा गया। चूंडा और उसके कुछ साथी नागौर के बाहर लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुए।

चूंडा का व्यक्तित्व—चूंडा एक योग्य सेनापति, कुशल शासक, निपुण राजनीतिज्ञ और भाग्यशाली व्यक्ति था। जब वह छः वर्ष का था तभी उसके पिता का देहान्त हो गया था किन्तु भाग्य ने इस एक गाँव के मालिक को सारे मारवाड़ का मालिक बना दिया। चूंडा की सफलताओं का अवलोकन हम ऊपर कर चुके हैं उसने किस चातुर्य से मण्डोर पर विजय प्राप्त की, परिहारों की लड़की से स्वयं शादी कर हमेशा के बैर को समाप्त कर दिया और अपनी पुत्री हंसा का विवाह मेवाड़ के राजकुमार से कर अपना वैभव और बढ़ा लिया। इन विवाह सम्बन्धों में उसकी दूरदर्शिता और महत्वाकांक्षा छिपी है। वह एक सफल सेनापति भी था और जिस साहस व पराक्रम से उसने मण्डोर, नाडौल, खाटू, डीडवाना, नागौर, अजमेर, व फलोदी जीतें उससे स्पष्ट है कि वह महान विजेता भी था। राजपूत सामान्यतः वीर अवश्य होते है किन्तु उनमें दूरदर्शिता और कूटनीति का अभाव पाया जाता है। चूंडा में जहाँ पराक्रम था वहाँ नीति निपुणता भी कम न थी। उसने अपने पराक्रम से मारवाड़ के प्रभाव को बढ़ाया।

सामन्त प्रथा का प्रारम्भ कर उसने परिहारों, चौहानों, आसायचों, मांगलियों, काटेचों और बालेसों को राठौड़ों के अधीन कर लिया। ये सामन्त आगे चल कर राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था का अंग बन गये। चूंडा ने छोटे-छोटे

सामन्तों को संरक्षण प्रदान कर एक नई व्यवस्था का आरम्भ किया । इस प्रकार वह राजस्थान के प्रशासन आदर्शों का मार्गदर्शक भी बन गया ।

ओझाजी अपने 'जोधपुर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 210 से 212 के बीच इस बात से सहमत नहीं होते कि चूंडा ने नागौर जीता था । उनकी धारणा है कि उस समय नागौर पर शम्स खां तथा फीरोज खां बराबर शासन कर रहे थे । किन्तु जोधपुर राज्य की ख्यात से साफ पता चलता है कि नागौर की रक्षा करते समय चूंडा 15 मार्च, 1423 ई. को धोखे से मारा गया । टाड महोदय भी इस बात का समर्थन करते है । हो सकता है कि वह नागौर पर स्थाई अधिकार न कर सका हो । फिर भी यह मानना पड़ेगा कि चूंडा ने मारवाड़ के शासकों का मार्ग-दर्शन किया और एक सम्भावित सीमा बना दी जिसे उसके उत्तराधिकारियों ने आगे चल कर मारवाड़ राज्य को ठोस रूप प्रदान किया । डा० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 249 पर चूंडा की योग्यता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"कुछ भी हो, चूंडा ने कुछ भागों पर क्षणिक विजय को भी सस्थापित कर मारवाड़ के राजनीतिक प्रभाव में एक नवीन प्रगति अवश्य उत्पन्न की थी और भावी मारवाड़ के शासकों के कार्यक्रम का पथ प्रदर्शन किया था ।"

चूंडा केवल योद्धा, कूटनीतिज्ञ, या सफल शासक ही नही था । राजनीति से परे वह एक प्रगाढ़ प्रेमी भी था । उसे अपने परिवार से बहुत प्रेम था । उसके 14 लड़के और एक लड़की थी । अपनी रानियो में वह मोहिलाणी रानी से बहुत प्यार करता था । इसी प्यार मे अन्धा होकर उसने मोहिलाणी रानी के पुत्र कान्हा को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था । उसके इस व्यवहार से अप्रसन्न होकर उसका बड़ा लड़का रणमल मण्डोर छोड़ कर सोजत चला गया था । चूंडा के चरित्र की यह दुर्बलता थी वह मोहिलाणी रानी के प्यार मे इतना अन्धा हो गया था कि उसे उचित अनुचित का ध्यान तक न रहा । फलस्वरूप अन्य राजपूत उससे नाराज हो गये । चूंडा की मृत्यु के बाद भाइयों में फूट पड़ गयी और जब सांखला व भाटियों ने कान्हा पर आक्रमण किया तो रणमल ने उसकी सहायता नही की व मेवाड़ चला गया । कान्हा इस लड़ाई में मारा गया और लगभग चार वर्ष तक मारवाड़ की शक्ति डांवाडोल होती रही । अन्त में कान्हा के पुत्र रणधीर ने 1427 मे रणमल को मेवाड़ से वापस बुलाकर सम्बन्धों को सुधारा । चूंडा के बाद उसके उत्तराधिकारियों में रणमल और जोधा उल्लेखनीय है जिन्होंने ग्यारह और 51 वर्ष तक राज्य कर पूरी पंद्रहवी शताब्दी में मारवाड़ के राठौड़ वंश का प्रभुत्व चरम सीमा तक पहुँचा दिया एवं जोधा ने तो जोधपुर नगर भी बसाया । इस प्रकार चूंडा के इन योग्य उत्तराधिकारियो ने चूंडा के कार्य को पूरा किया ।

□

10
महाराणा साँगा

"महाराणा साँगा का मँझला कद, मोटा चेहरा, बड़ी आँखें, लम्बे हाथ, और गेहुँआ रँग था। यह दिल के बड़े मजबूत थे। इनकी जिन्दगी में इनके बदन पर चौरासी जख्म शस्त्रों के लगे थे। एक आँख बेकाम, एक हाथ कटा हुआ और एक पैर लँगडा, ये भी लड़ाई की निशानियाँ उनके अंग पर मौजूद थी।" राणा के प्रभावशाली व्यक्तित्व का यह रोचक वर्णन 'वीर विनोद' के पहले भाग में पृष्ठ 371 पर दिया है।

महाराणा साँगा का जन्म 24 मार्च, 1481 ई. को हुआ था। ये सत्ताईस वर्ष की अवस्था में मेवाड़ की गद्दी पर बैठे थे। इनका राज्याभिषेक 4 मई, 1508 ई० को हुआ था और बीस वर्ष शासन करने के बाद 30 जनवरी, 1528 ई० को बसवा नामक स्थान पर उनका देहान्त हो गया।

टाड महोदय 'राजस्थान के इतिहास' के पृष्ठ 178 पर लिखते हैं कि-"वह अत्यन्त साहसी और धैर्यवान था। पराजित शत्रु पर सदा रहम करता था और उसके साथ अपनी उदारता का परिचय देता था।"

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 217 पर राणा की प्रशसा करते हुए लिखते है कि—"मेवाड़ के महाराणाओ मे ये सबसे अधिक प्रतापी और योद्धा हुए। अपने पुरुषार्थ द्वारा इन्होंने मेवाड़ राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था। उनकी सेना मे एक लाख योद्धा और पाँच सौ हाथी थे। सात बड़े राजा, नौ राव और 104 रावत उनके अधीन थे। जोधपुर और आमेर के राजा उनका सम्मान करते थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकर, भोपाल, कालपी, चन्देरी, बूंदी, गागरौन, रामपुरा और आबू के राजा उनके सामन्त थे।""बाबर बादशाह का सामना करने से पहले भी इन्होंने 18 बार बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ दिल्ली और मालवा के सुल्तानों के साथ लड़ी।"

राणा साँगा अपने समय का पराक्रमी नेता था। उसके समान शक्तिशाली और वीर दूसरा राजा उस समय भारत मे नहीं था। इतिहासकार स्मिथ अपनी पुस्तक 'दी ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के पृष्ठ 322 पर राणा के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"वास्तव में सम्पूर्ण भारत मे ऐसा कोई राजा नहीं था जो राणा साँगा के सामने सिर उठाने का साहस कर सकता।"

लगभग सभी प्रसिद्ध इतिहासकारों ने, चाहे वे भारतवासी हो या विदेशी, राणा साँगा के व्यक्तित्व की सराहना की है। श्री आर. सी. मजूमदार भी अपनी ... एन एडवांस हिस्ट्री आफ इन्डिया के पृष्ठ 387 पर कहते हैं कि—"सौ

मैदानों के विजेता ने, दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये मालवा, गुजरात और दिल्ली को भी पराजित किया।" यदि राणा साँगा बाबर के विरुद्ध सफल हो जाता तो सारे भारत पर राजपूत राज्य पुनः स्थापित हो जाता।

साँगा के विषय में डा० ए.एल. श्रीवास्तव ने भी अपनी पुस्तक 'दिल्ली सल्तनत' के पृष्ठ 289 पर लिखा है कि—"राणा साँगा के समय में मेवाड़ अपने वैभव के शिखर पर पहुँच गया था।""उसमें असाधारण सैनिक योग्यता थी""राजस्थान के अन्य राज्य भी उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे।"

प्रारम्भिक जीवन—साँगा राणा कुम्भा के पोते और राणा रायमल के पुत्र थे। वीर विनोद के अनुसार इनके 13 भाई थे। पृथ्वीराज और जयमल इनके बड़े भाई थे। टाड महोदय केवल तीन ही भाइयों का वर्णन करते हैं जिनमें साँगा को बडा भाई मानते हैं। इनके दो बहनें भी थीं। तीनों भाई बचपन से ही आपस में बहुत लड़ते थे। पृथ्वीराज और साँगा दोनों एक ही माता से पैदा हुए थे और उनकी माता झाला वंश की लड़की थी। भाइयों के आपस के झगडे का यह परिणाम निकला कि जयमल जान से मारा गया। साँगा को राज्य छोड़कर भागना पडा और पृथ्वीराज को राणा रायमल ने अपने यहाँ से निकाल दिया। राज्य प्राप्ति के लिये एक दिन साँगा और पृथ्वीराज में लडाई हो गई दोनों लहूलुहान हो गये और साँगा की एक आँख भी जाती रही। साँगा जान बचाकर भागा और पृथ्वीराज को राणा ने देश से निकाल दिया।

चित्तौड़ के आस-पास मीनों ने अराजकता फैला रखी थी। पृथ्वीराज ने चुने हुए साथियों को साथ लेकर उनका निर्दयता से दमन किया और सारे मेवाड़ में पुनः शान्ति स्थापित हो गई। राणा ने प्रसन्न होकर पृथ्वीराज को वापस बुला लिया। पृथ्वीराज ने बदनौर के राव सुरथान को पठानों से उसका राज्य वापस दिलाकर उसकी सुन्दर लडकी ताराबाई से विवाह कर लिया। इसी ताराबाई को पाने के लिये जयमल मारा गया था। अब तक साँगा कहीं छुप कर एकान्त वास कर रहा था। तीनों भाइयों को आपस में लड़ाने वाला उनका चाचा सूरजमल था जो तीनों के मर जाने पर स्वयं मेवाड़ का राणा बनना चाहता था। सूरजमल ने मालवा के बादशाह मुजफ्फर को भडकाया और चित्तौड पर आक्रमण किया किन्तु हारकर भागना पड़ा। इस प्रकार साँगा की अनुपस्थिति में पृथ्वीराज ने मेवाड़ की रक्षा की।

पृथ्वीराज को उसके बहनोई जो सिरोही के राजा थे, ने भोजन में जहर देकर मार डाला। इस राजा का व्यवहार पृथ्वीराज की बहन के प्रति अच्छा था। उसकी बहन ने उसे पत्र लिखकर मिलने को बुलाया था। [illegible] बहनोई को समझा कर लौट रहा था उसके बहनोई ने मार्ग में खाने के [illegible]

लड्डू रख दिये थे जिनमें जहर था। इन लड्डूओं को खाते ही पृथ्वीराज मर गया। राणा रायमल इस सदमे को नहीं सह सके और उनका भी देहान्त हो गया।

जब सांगा को यह पता चला तो वह फौरन चित्तौड़ आ पहुँचा और जो कमजोरियाँ राज्य में पैदा हो गई थी वे सांगा के आते ही अपने आप समाप्त हो गई। टाड महोदय का कहना है कि—"संग्रामसिंह न केवल शूरवीर और दूरदर्शी था, बल्कि वह एक सुयोग्य शासक भी था। राणा कुम्भा के बाद मेवाड़ राज्य ने जो कुछ खोया था, राणा संग्रामसिंह के अधिकार पाते ही राज्य ने उसे फिर पा लिया।"

भाइयों के इस आन्तरिक क्लेश का कारण कदाचित रायमल की विभिन्न रानिया थी जो अपनी सन्तान को मेवाड़ का राणा बनाना चाहती थी। एक तरफ तो मेवाड़ आन्तरिक लड़ाइयों का शिकार बन रहा था और दूसरी तरफ पड़ोसी राज्य शक्ति संचय कर रहे थे। मारवाड़ और आमेर की शक्ति बढ़ती जा रही थी। बूंदी के हाड़ा भी मेवाड़ के अधीन रहकर भी अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। कुम्भा की मृत्यु के बाद उदयसिंह ने अपना प्रभाव बढाने के लिए आबू सिरोही को लौटा दिया। अजमेर में तारागढ़ का किला जोधपुर को दे दिया। मेड़ता के सामन्त दूदा ने सांभर पर अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रकार राजस्थान के सौ से अधिक राजा भी मेवाड़ के प्रभाव से मुक्त होकर मेवाड का अस्तित्व मिटाने को उत्सुक थे।

हिन्दू राजा ही नहीं पड़ोसी मुसलमान राजाओं ने भी मेवाड़ को अपना आखेट मैदान बना रखा था और आये दिन मेवाड पर चढ आते थे। मालवा और गुजरात के सुल्तान मेवाड़ के घोर शत्रु थे। दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को भी मेवाड़ की वढती हुई शक्ति की भारी चिन्ता थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक जीवन में ही सांगा को अपने भाइयों का विरोध, पड़ोसी हिन्दुओं की ईर्ष्या मालवा और गुजरात के सुल्तानों की बढ़ती राज्य पिपासा और दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना था। यह सांगा का ही अदम्य साहस था कि वह इन सब विरोधों को समेटने में तो सफल रहा किन्तु बाबर के विरुद्ध जीवन में पहली और आखरी बार उसकी पराजय हुई जिसके कुछ दिन बाद उसी के सरदारों ने उसे जहर देकर मार डाला। उसका सारा जीवन युद्धों में बीता. उसके शरीर के विभिन्न घाव उसके तगमे थे और कटा चढ़ा शरीर भी उसके आकर्षक व्यक्तित्व का प्रतीक था।

महाराणा के 28 रानियाँ थीं और कुल सात पुत्र और चार राजकुमारियाँ थीं। उनके बाद जोधपुर की रानी धनबाई से उत्पन्न रतनसिंह मेवाड़ का राणा बना। अपने 20 वर्ष के शासन में सांगा सदा युद्धों में व्यस्त रहे अतः भवन, मंदिर या किले आदि का निर्माण नहीं कर सके। सांगा बहुत विनम्र और नीतिकुशल थे। दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी से युद्ध में एक हाथ कट जाने और घुटने में तीर

लग जाने से उन्होंने अपने आप को अपाहिज समझकर दरबारियों से आग्रह किया कि सिंहासन पर किसी योग्य व्यक्ति को बिठा दें। उनकी घोषणा इस प्रकार थी– "जिस प्रकार एक टूटी मूर्ति प्रतिष्ठा-पूजने के योग्य नही रहती, इसी प्रकार मेरी आँख, भुजा और पाँव निकम्मे हो गये हैं। इसलिये मैं राजसिंहासन पर न बैठकर जमीन पर ही बैठूंगा। इस स्थान पर जिसे उचित समझें विठावें।' इस विनीत भाव से दरबारी बहुत प्रभावित हुए और सबने राणा से सिंहासन पर बैठने का आग्रह किया। सब बोले कि—"रण क्षेत्र में अंग भंग होने से राजा का गौरव बढ़ता है न कि घटता।" और सबने मिलकर उन्हें सिंहासन पर बिठा दिया। जिस सिंहासन के लिये साँगा को अपने भाइयों से युद्ध करना पड़ा था उसी सिंहासन पर दरबारी उन्हें आग्रह कर बिठा रहे थे। यह राणा की योग्यता व नीति की पराकाष्ठा है।

उनके अन्तिम प्रतिद्वन्द्वी बाबर के हृदय में भी राणा के लिये पर्याप्त श्रद्धा थी। उसने अपनी जीवनी में स्वयं राणा के शौर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि, "राणा साँगा अपनी वीरता और तलवार के बल पर बहुत बड़ा हो गया था। मालवा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हराने में असमर्थ था। उसने लगभग दो सौ शहरों की मसजिदें गिराई और बहुत से मुसलमानों को कैद किया। उसके राज्य की वार्षिक आय दस करोड़ थी। उसकी सेना में एक लाख सैनिक थे। महाराणा साँगा के तीन उत्तराधिकारी वैसे ही योग्य होते तो मुगलों का राज्य भारत में जमने ही नही पाता।"

अब हम यह देखें कि बीस वर्ष के शासनकाल में कौन-कौन सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई जिन्होंने राणा को भारत के इतिहास में अमर बना दिया।

1. हिन्दूपद—भारतीय इतिहास में केवल दो ही ऐसे हिन्दू राजा हैं जिन्होंने ऐसे समय भारतीय धर्म, संस्कृति और परम्पराओं की रक्षा करते हुए हिन्दू धर्म को विनाश से बचा लिया। एक शिवाजी और दूसरे राणा साँगा ने ऐसे समय देश को विनाश से बचाया कि यदि ये दोनों नहीं होते तो उस समय सारा भारत मुसलमानों के प्रभाव में आ जाता और कदाचित् हिन्दुत्व के अस्तित्व को भारी आघात पहुँचता। शिवाजी ने मुगल बादशाह औरंगजेब की दमनकारी नीति का कड़ा विरोध किया और 'हिन्दू पद बादशाही' की स्थापना की। मराठा इतिहासकार सरदेसाई अपनी पुस्तक 'छत्रपति शिवाजी' में उन्हें हिन्दू सम्राट् के समान मानता है। उसी भावना से प्रेरित होकर श्री हरबिलास शारदा अपनी पुस्तक, महाराणा साँगा' में मेवाड़ के इस महाराणा को हिन्दू धर्म का रक्षक, भारतीय संस्कृति का रखवाला और मुसलमान धर्म के बढ़ते प्रचार को रोक लगाने वाला मानकर हिन्दू सम्राट् मानते हैं, जिसने हिन्दूपद की रक्षा कर भारत में एक हिन्दू राज्य स्थापित किया। साँगा को हिन्दू सम्राट् बनाने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं—

1. आशावादी सन्देश—पृथ्वीराज के पतन के बाद से हिन्दू धर्म पर निरंतर अत्याचार हो रहे थे। मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बना देना, नौकरी व जागीर का लालच देकर धर्म परिवर्तन कर देना आदि ऐसी अनेक घटनाएँ हो रही थी कि सभी हिन्दू भविष्य की आशंका से भयभीत थे कि यदि यही गति रही तो सारा देश मुसलमान धर्म का अनुयायी हो जायगा। ऐसे संकट में जब मेवाड़ पर मालवा, गुजरात और दिल्ली के मुसलमान सुल्तान निरंतर आक्रमण कर मेवाड़ को समाप्त कर देना चाहते थे उस समय राणा साँगा ने आम जनता को धर्म और राज्य की रक्षा का नया आश्वासन देकर उनकी निराशा को समाप्त किया। इतिहासकार ईसकिन का कहना है कि —"उसके देशवासी यह जानकर प्रसन्नता का अनुभव करते थे कि मेवाड़ की दुर्गम घाटी का निवासी जो भारत माता की सन्तान है, एक स्थानीय शासन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है।"

2. हिन्दू परम्परा—हरविलास शारदा अपनी पुस्तक 'महाराणा साँगा' के पृष्ठ 57 पर कहते हैं कि "महाराणा साँगा ने 16वी शताब्दी में एक ऐसा हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जो प्राचीन भारत की परम्पराओ पर आधारित था।" "राणा साँगा अपने पैतृक राज्य को प्राचीन भारतीय सम्राटों के राज्य के समान बनाना चाहते थे जिसमें प्रजा का सुख ही राज्य व राजा का एकमात्र लक्ष्य होता था। युद्ध मे घायल होने के बाद एक हाथ, एक टांग व एक आँख न रहने पर उन्होंने गद्दी छोड़ देने का आग्रह भी किया था। स्पष्ट है कि साँगा राज्य अपने सुख के लिये नही, जनता के लाभ के लिये समझते थे। राज्य पर निजी अधिकार के साथ-साथ साँगा जन-कल्याण को प्राथमिकता देते थे। उन्हें जनता के हित के लिये राज्य त्यागने मे कोई संकोच नही था। अपने पूरे शासनकाल मे राणा यही चेष्टा करते रहे कि प्राचीन हिन्दू राज्य परम्परा का पुनरुद्धार हो। इस दृष्टिकोण से भी वे हिन्दू राज्य स्थापना का समर्थन करते हैं।

3. हिन्दू राज्य—हर बिलास शारदा लिखते हैं कि—"मेवाड के महाराणाओं में साँगा सर्वाधिक प्रतापी शासक हुए है। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से मेवाड़ को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था। यद्यपि वे भारत से तुर्कों को निकालकर एकछत्र हिन्दू राज्य स्थापित करने में असफल रहे थे।" हिन्दू पद कहने का अभिप्राय यह है कि देश में हिन्दू राज्य स्थापित करने की चेष्टा। यही कारण है कि उन्होंने मालवा, गुजरात, दिल्ली, जौनपुर, बंगाल, उड़ीसा आदि शक्तिशाली मुसलमान राज्यों के विरुद्ध भारत के बीच एक हिन्दू शक्तिशाली राज्य स्थापित कर दिखाया। उन्होंने मालवा के सुल्तान को पराजित कर उसका आधा राज्य छीन लिया। दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को दो बार हराया और गुजरात के शासक के भी दाँत खट्टे कर दिये। इन शक्तिशाली शासकों की कभी मेवाड़ पर आक्रमण करने की हिम्मत न पड़ी। अतः साँगा सफल हिन्दू राज्य संस्थापक था।

4. संस्कृति की रक्षा—राणा साँगा मुसलमानों और हिन्दू संस्कृति के बीच क दीवार बनकर खड़े थे । दिल्ली और मालवा आदि के सुल्तान यहाँ वहाँ अवसर मलने पर हिन्दू संस्कृति को मिटा देते थे । राणा ने इसकी प्रतिक्रिया शुरू की । क ही उदाहरण द्वारा उन्होंने यह बता दिया कि वे भी मुसलमानों के स्थान ष्ट कर सकते हैं उन्होंने ईडर की मस्जिद को नष्ट करके उसके स्थान पर क मन्दिर बनवा दिया । श्री शारदा का मत है कि वे भारत से तुर्कों को निकाल र हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहते थे । वैसे उनकी सेना व झण्डे के नीचे भार-तीय अफगान लोग बाबर के विरुद्ध लड़े थे किन्तु फिर भी साँगा का हर युद्ध भार-तीय संस्कृति की रक्षा के लिये और हिन्दू राज्य की स्थापना के लिये था । उन्हें आशा थी कि बाबर भी अन्य आक्रमणकारियों की तरह दिल्ली की शक्ति नष्ट करके चला जायगा और उसके बाद वे दिल्ली पर हिन्दू राज्य स्थापित करेंगे । किन्तु जब बाबर नहीं गया तो साँगा ने उससे भी युद्ध किया, यदि जीत जाते तो भारत में हिन्दू राज्य स्थापित होता और संस्कृति की रक्षा होती । कुछ इतिहास-कार खानवा के युद्ध को धर्म युद्ध नही मानते किन्तु साँगा ने समस्त हिन्दू राजाओं को साथ लेकर हिन्दू राज्य व धर्म की रक्षा के लिये तथा विदेशी आक्रमणकारी को भारत माता से बाहर निकालने के लिये ही यह युद्ध बाबर से लड़ा था । संस्कृति की रक्षा के यत्न में साँगा ने अपना राज्य व जीवन खो दिया ।

5. सीमित अधिकार—प्राचीन हिन्दू परम्परा यह थी कि पड़ौसी राज्यों पर अपना प्रभुत्व थोपा नहीं जाता था । दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी दक्षिण भारत के राज्यों को जीतकर वापस उनके राजाओं को दे दिया था । साँगा ने भी मेवाड़ की परम्पराओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने वाले राजाओं पर थोपा नही था । अधीन राजाओं के लिये यह भी आवश्यक नही था कि वे प्रतिवर्ष निश्चित कर या भेंट लेकर चित्तौड़ हाजिर हों या युद्ध के समय अपनी सेना सहित राणा के अधीन खडे रह कर युद्ध करें । राणा की सेना का खर्च भी अधीन राजाओं पर नही थोपा गया था । यह किसी दुर्बलता या भय का परिणाम न होकर साँगा की सीमित अधिकार नीति का परिणाम था जो पूर्ण रूप से हिन्दू राज्यों की परम्परागत थी । इस दृष्टिकोण से भी साँगा हिन्दू पद का रक्षक था ।

6. साम्राज्यवादी भावना—राणा साँगा एक विशाल साम्राज्य के स्वामी थे । उनके अधीन सात बड़े राजा, नौ राव और 104 रावत थे । टाड महोदय अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 174 पर कहते हैं कि—"राणा संग्रामसिंह के शासनकाल में मेवाड़ राज्य की सीमा बहुत दूर तक फैल गयी थी । उत्तर में बीना, पूर्व में सिन्ध नदी, दक्षिण में मालवा और पश्चिम में मेवाड़ की दुर्गम शैलमाला उसकी सीमा बन गयी थी । मेवाड के राज्य की यह उन्नति राणा संग्रामसिंह की योग्यता, गम्भीरता और दूरदर्शिता का परिचय देती है ।" पूरे राजस्थान पर साँगा का अधिकार था। टाड महोदय पृष्ठ 173 पर कहते हैं कि—

"संग्रामसिंह के सिंहासन पर पैर रखते ही मेवाड़ राज्य ने उन्नति आरम्भ की और कुछ समय के बाद वह भारत का चक्रवर्ती राजा माना गया।" इस वाक्य से सांगा की साम्राज्यवादी भावनाएँ स्पष्ट हैं। सांगा अन्य राज्य को अपने साथ मिलाकर रखने में भी विश्वास रखते थे जो संघात्मक शासन का रूप होता है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने विश्वासपात्र चतुर सामन्त डूंगरसी बालावत (चौहान) को अनेक राजाओं के पास भेजकर 'पातीपेखन' अर्थात् पत्र पाकर सहायता देने की परम्परा को अपनाया। बाबर के विरुद्ध युद्ध से पहले भी सांगा ने इसी व्यक्ति को भेजकर अन्य राजाओं से सहायता व संगठन प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि समकालीन राजा सांगा की शक्ति का लोहा मानते थे और उसके सैनिक बल व शक्ति से प्रभावित थे। उनका संगठन भावनाओं और सिद्धान्तों का था। अतः अप्रत्यक्ष रूप से सांगा साम्राज्यवादी भावनाओं का पालन कर रहे थे। पड़ोसी उसके आधिपत्य को स्वीकार कर सदा आज्ञा मानने को तैयार थे। इसी साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित होकर राणा सांगा ने पड़ोसी बड़े राजवंशों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किये। मारवाड़, बूंदी और अन्य कई रावतों को मेवाड़ से विवाह सम्बन्ध मे बांधकर सांगा ने अपने साम्राज्य को और अधिक सुदृढ़ बना लिया। राणा सांगा के 28 रानियां थीं। ग्वालियर, अजमेर, सीकर, राईसीन, कालपी, चन्देरी, बूंदी, गागरोन, रामपुर और आबू आदि कितने ही राज्यों के राजा मेवाड़ के सामन्त होकर चलते थे। सांगा ने एक हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की थी।

मालवा और सांगा

डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' का प्रारम्भ इस वाक्य से करते हैं कि—"वीर गहलोतो का मेवाड़ एक रोमांचकारी इतिहास रखता है जिसकी बराबरी करने वाला अन्यत्र नहीं मिलता।"

डॉ० गोपीनाथ जी सांगा के हिन्दू राज्य स्थापित करने के प्रयत्न के लिये उसे मान्यता देते हुए कहते हैं कि—"सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में हिन्दू भारत का नेतृत्व उसके भाग्य मे लिखा था।" हिन्दू राज्य की कामना करने वाले को पड़ोसी मुसलमानों से लड़ना स्वाभाविक ही था। सांगा का पहला प्रतिद्वन्द्वी मालवा का मुसलमान शासक महमूद खिलजी द्वितीय था। मालवा से सांगा के सम्बन्धों का अध्ययन करने से पहले हमे मालवा की दशा जान लेना आवश्यक है।

मालवा की दशा—1401 ई० से मालवा के तुगलक सूबेदार स्वतन्त्र हो गये थे। मालवा को महमूद तुगलक की अधीनता से मुक्ति दिलाने वाला दिलावर खाँ था। उसके समय से 130 वर्ष तक अर्थात् 1530 ई० तक उसके उत्तराधिकारी पूर्ण स्वतन्त्र रूप से मालवा का शासन करते रहे थे। इस बीच मेवाड़ के मालवा के सुल्तानों के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। राणा कुम्भा ने भी मालवा के सुल्तान को कई बार लड़ाई मे हराया था और एक बार तो उसे बन्दी बना कर छह महीने तक चित्तौड़ की जेल में रखा था। मालवा मे रहने वाले हिन्दुओं पर

अनेक प्रकार के अत्याचार होते थे, जिन्हें रोकने के लिये मेवाड़ के हिन्दू राजाओं ने अनेक बार हस्तक्षेप कर धर्म रक्षा के लिये युद्ध किये थे।

फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद और तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की शक्ति को समाप्त कर दिया था। तभी कई मुसलमान सूबेदार स्वतन्त्र हो गये थे जिनमें से एक मालवा के सूबेदार भी थे। ये लोग धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहते थे। मेवाड़ का हिन्दू राज्य मालवा और दिल्ली के बीच में दीवार था। अतः मालवा के सुल्तान मेवाड़ को अपने अधीन कर अपनी शक्ति को उत्तर में बढाना चाहते थे। राणा साँगा के समय में भी इसी प्रकार की योजनाएँ चल रही थी। मुसलमानों में साधारणतः उत्तराधिकार के लिये युद्ध चलते रहते थे। साँगा के समय में भी यही युद्ध हुआ और यही उत्तराधिकार का प्रश्न मेवाड़ और मालवा के युद्ध का प्रमुख कारण बन गया। मालवा हिन्दू विरोधी, साम्राज्यवादी भावनाओं से ओत-प्रोत था। फलस्वरूप दोनों में युद्ध हुए।

युद्ध के कारण

1. मालवा और मेवाड़ की सदियों पुरानी शत्रुता थी। सन् 1401 ई० में अपने जन्म से लगाकर 1530 ई० मे अपनी स्वाधीनता के अन्त तक मालवा धार्मिक भिन्नता के कारण मेवाड़ का शत्रु बना रहा। मेवाड़ के राणा भी हिन्दुओं की रक्षा के लिए सदा मालवा से लड़ते रहे। यह शत्रुता एक उत्तराधिकारी को विरासत में मिलती थी।

2. साम्राज्य बढ़ाने की भावना से दोनों एक दूसरे के शत्रु थे। मेवाड़ की सीमावर्ती रियासतों को मालवा के सुल्तान हजम कर जाना चाहते थे। बूँदी, मांडलगढ़, जहाजपुर आदि क्षेत्रों पर अधिकार की अनेक चेष्टाएँ की गई। मेवाड़ में कुम्भा और साँगा जैसे पराक्रमी राणा हुए तो मालवा मे भी महमूद प्रथम व द्वितीय बड़े महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी सुल्तान थे। दो बराबर की शक्तियाँ एक साथ कैसे रह सकती थी अतः दोनों ही सदा एक दूसरे की दुर्बलता से लाभ उठाकर राज्य जीतने की चेष्टा करते रहे।

3. मालवा का उत्तराधिकार युद्ध इस लड़ाई का तत्कालीन कारण था। सन् 1511ई० मे मालवा के सुल्तान नासिरुद्दीन का देहान्त हो गया। उसका लड़का महमूद द्वितीय मालवा का सुल्तान बना किन्तु तभी महमूद के भाई साहिब खाँ ने सरदारों को अपनी तरफ मिलाकर षड्यन्त्र रचा और महमूद को हटाकर खुद सुल्तान बन गया। उस समय राजपूत सरदार मेदनीराय ने महमूद को अपनी शक्ति के बल से वापस गद्दी पर बिठा दिया। महमूद ने प्रसन्न होकर मेदनीराय को अपना सेनापति बना दिया। साथ ही उसे मालवा का वजीर भी नियुक्त किया। षड्यंत्रकारियों को अपनी असफलता का इतना अफसोस नहीं था जितना मेदनी राय के वजीर बनने का। अतः उन्होंने मेदनीराय को पद से हटाने के लिए महमूद के कान भरने शुरू कर दिये। उन्होंने गुजरात के सुल्तान से भी सहायता माँगी। जिस समय मेदनी

राय विद्रोहियों का दमन करने ही वाला था तभी गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण विद्रोहियों के आग्रह पर किया गया था। महमूद ने समझा कि यह सब परेशानी मेंदनीराय के कारण है अतः उसने मेंदनीराय को मरवाने का षड्यन्त्र रचा किन्तु असफल रहा। षड्यन्त्र में असफल रहने पर महमूद डरकर गुजरात के सुल्तान के पास सहायता के लिए भाग गया। गुजरात की सेना ने चन्देरी जीता और मालवा की राजधानी मांडू की तरफ बढ़ी। मेंदनीराय राजपूत था अतः राणा सांगा के पास सहायता के लिए आया। सांगा ने मेंदनीराय को अपनी सेना भी दी लेकिन उस समय तक महमूद गुजरात की सहायता से मांडू पर अपना अधिकार जमा चुका था अतः अभियान से कोई लाभ नहीं था। राणा सांगा ने मेंदनीराय को मेवाड़ में ही जागीर देदी। इससे भी महमूद चिढ़ गया और उसे मेवाड़ पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। महमूद अपने योग्य मन्त्री व सेनापति मेंदनीराय को इसलिए सजा देना चाहता था कि उसने उसे षड्यंत्र से बचाकर सुल्तान बनाया था। जबकि राणा सांगा उसकी इसलिए रक्षा करना चाहता था क्योंकि वह हिन्दू था। मेंदनीराय को लेकर दोनों में युद्ध हो गया।

4. नत्थू का मारा जाना भी मेवाड़ द्वारा मालवा पर आक्रमण का एक कारण था। नत्थू मेंदनीराय का लड़का था। वीर विनोद की पहली जिल्द के पृष्ठ 356 पर यह कारण दिया गया है कि जब महमूद गुजरात के सुल्तान की सहायता लेकर मांडू पर चढ़ आया तो मेंदनीराय दस हजार सवारों को साथ लेकर राणा सांगा से मदद लेने मेवाड में आया। उसी समय महमूद ने मांडू को घेर लिया। नत्थू को मेंदनीराय एक महीने में सहायता लेकर लौट आने की कह गया था। नत्थू ने महमूद को आत्मसमर्पण करने का आश्वासन दिया और एक महीने का समय मांगा किन्तु 20 दिन बाद ही महमूद ने मांडू का किला घेर लिया और चार दिन की लड़ाई के बाद रात्रि को उसके सैनिक किले पर चढ गये। रात्रि के युद्ध में 19,000 राजपूत और हजारों मुसलमान मारे गये। साथ में नत्थू भी मारा गया। मांडू पर महमूद का अधिकार हो गया। राणा की यह धारणा बन गई कि सहायता में विलम्ब हो जाने से शरणार्थी का पुत्र मारा गया। अतः उन्होंने इस हत्या का बदला लेने के लिए मालवा पर आक्रमण किया। गुजरात का सुल्तान इस समय वापस गुजरात चला गया था क्योंकि उसे खुद इस समय राणा सांगा के आक्रमण का भय था। नत्थू की मृत्यु ने युद्ध को और जल्दी शुरू करवा दिया।

युद्ध—इधर महमूद भी चुप नहीं था। जब उसने देखा कि सांगा मेंदनीराय की मदद को आते-आते रास्ते में से लौट गये तो उसकी हिम्मत बढ़ी और उसने अपनी पूरी शक्ति के साथ गागरोन पर आक्रमण कर दिया। गुजरात के सुल्तान ने उसे समझाया था कि आक्रमण करना हानिकारक सिद्ध होगा, किन्तु महमूद ने समझा राणा डर गया है जबकि राणा नत्थू की मृत्यु का हाल सुनकर लौट आये थे क्योंकि जिसकी मदद को जा रहे थे वही नहीं रहा तो जल्दी करने से क्या लाभ। किन्तु

महमूद ने एक के बजाय दूसरी विजय पाने को आक्रमण कर दिया। युद्ध में मुसलमानों की घातक पराजय हुई। इस लड़ाई में महमूद के 32 सेनापति और आसिफ खाँ आदि हजारों बहादुर मारे गये। सुल्तान महमूद बड़ी वीरता से लड़ा आखिरकार घायल होकर घोड़े से गिर पड़ा। राजपूतों ने उसे उठाकर महाराणा के पास पहुँचा दिया। महाराणा ने पालकी में बिठा उसको बड़ी इज्जत के साथ चित्तौड़ ले आये। वहाँ उसका इलाज करवाया और ठीक होने पर बहुत-सा धन और एक जड़ाऊ ताज लेकर एक हजार राजपूतों के साथ उसे मांडू भेज दिया। महमूद के एक लड़के को अपने पास जावते के लिए रख लिया कि फिर युद्ध न लड़े। निजामुद्दीन अहमद अपनी पुस्तक 'तबकाते अकबरी' में लिखता है कि—"लड़ाई में फतह पाने के बाद दुश्मन को गिरफ्तार करके पीछे उसको राज्य दे देना, यह काम आज तक मालूम नहीं कि किसी दूसरे ने किया हो।" वैसे सिकन्दर ने पोरस को बन्दी बनाकर राज्य वापस दे दिया था। जो हो राणा इस युद्ध में विजयी रहे और उन्होंने मालवा का आधा राज्य अपने राज्य में मिला लिया। हरविलास शारदा राणा साँगा के इस कार्य की कड़ी आलोचना करते हैं कि यह राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिणाम था।

डॉ० गोपीनाथजी इस विजय पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि—"सन् 1519 में उसने मांडू के सुल्तान महमूद को पराजित कर बन्दी बनाया और अपनी राजधानी ले आया और राजपूती शान-शौकत के साथ उसके घावों पर पट्टी बाँधी, स्वयं उसकी देखभाल की और स्वस्थ होने पर एक हजार सैनिकों के साथ उसे मांडू भेज दिया।"[1]

मालवा विजय का परिणाम अच्छा निकला। राणा को बहुत-सा उपजाऊ प्रदेश प्राप्त हुआ जो आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभदायक था। इस लड़ाई और विजय से राणा साँगा का हिन्दू साम्राज्य भी और विस्तृत हो गया। राणा की ख्याति बहुत बढ़ गई और इतिहासकारों ने राणा की विजय का वर्णन बड़ी श्रद्धा से किया है। मेवाड़ और मालवा के बीच इस राजनीतिक प्रभुत्व के संघर्ष में राणा साँगा की विजय हुई।

साँगा और गुजरात

मालवा के साथ-साथ तैमूर के आक्रमण के बाद गुजरात भी 1401 ई० में स्वतन्त्र हो गया था। यहाँ के सुल्तान जाफर खाँ ने अपने आपको सुल्तान बना लिया था। तब से 1535 में हुमायूँ द्वारा गुजरात की विजय तक गुजरात एक स्वतन्त्र राज्य रहा। इस बीच मेवाड़ और गुजरात के बीच सदा तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे। दोनों के बीच मनमुटाव के कारणों में प्रमुख राजनीतिक प्रतिस्पर्धा थी। दोनों ही

[1] डॉ० गोपीनाथ, मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स–पृष्ठ 17

राज्य विस्तार करना चाहते थे। जफर खाँ के पुत्र तातार खाँ ने सुल्तान बनने पर अपने चाचा शम्स खाँ को नागौर की जागीर दी थी। नागौर राजस्थान के राजपूत राजाओं के बीच में एक छोटी-सी मुसलमान रियासत थी जिसे राणा कुम्भा ने जीत कर अधीन कर लिया था, तब से नागौर के मुसलमान शासक मेवाड़ या मारवाड़ को सालाना कर देकर अपना अस्तित्व बनाये हुये थे। गुजरात के सुल्तान इस रियासत नागौर को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र करवाना चाहते थे। राजनीतिक द्वेष के सिवा नागौर भी दोनों के बीच संघर्ष का कारण था।

गुजरात से लड़ाई का कारण यह भी था कि गुजरात के सुल्तान ने नत्थू की हत्या और मेदनीराय को मालवा से बाहर निकालने में महमूद की सहायता की थी। अतः शत्रु के मित्र को भी सजा देना उचित था। जबकि महमूद से उसका आधा राज्य छीन लिया था और अब मालवा की तरफ से आक्रमण का कोई भय नहीं रहा था।

राजनीतिक शत्रुता, नागौर का प्रश्न, मेदनीराय और नत्थू के सिवा मेवाड़ गुजरात युद्ध का चौथा कारण था ईडर राठौड़ का राज्य। ईडर मेवाड़ के दक्षिण पश्चिम में सिरोही और डूंगरपुर के बीच में है और गुजरात और मेवाड़ की सीमा के बीच पड़ता है अतः बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। गुजरात के सुल्तान इस पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे ताकि मेवाड़ पर आक्रमण करने में सरलता रहे। ईडर के राव भाण के दो लड़के थे—सूर्यमल और भीम। भाण के बाद सूर्यमल राव बना जो 18 महीने राज्य करके मर गया। उसकी जगह उसका लड़का रायमल गद्दी पर बैठा लेकिन वह बालक था अतः उसके चाचा भीम ने उससे राज्य छीन लिया। रायमल भाग कर राणा सांगा की शरण में आ गया। थोड़े समय के बाद भीम का भी देहान्त हो गया और उसका लड़का भारमल ईडर का राव बना। इस पर सांगा ने सही हकदार रायमल की सहायता की और उसे गद्दी पर बिठा दिया। भारमल सहायता के लिए गुजरात के सुल्तान के पास गया। सुल्तान ने अपने सेनापति निज़ामुलमुल्क को भारमल की सहायता हेतु भेजा। बड़ी मुसलमान सेना देखकर रायमल ईडर छोड़कर पहाड़ियों में चला गया और मुल्मुल्क भारमल को ईडर की गद्दी पर बिठा कर उसकी सुरक्षा के लिए मुसलमान सेनापति जहीरुलमुल्क को ईडर में ही सैनिकों के साथ छोड़कर वापस लौट गया। तभी रायमल ने पहाड़ों से निकलकर ईडर पर आक्रमण किया। जहीरुलमुल्क 27 आदमियों के साथ मारा गया। इस पर गुजरात के सुल्तान ने स्वयं ईडर पर आक्रमण किया और उसे लूट लिया। मीर विनोद के अनुसार वहाँ उसने एक जानवर का नाम संग्राम सिंह रखकर ईडर के दरवाजे से बाँध दिया। सांगा को जब यह समाचार मिला तो वह फौज लेकर चढ़ आया। इन कारणों से दोनों में युद्ध हुआ।

युद्ध महाराणा ने 1518 में चालीस में कूच किया। एक ही दिन में ईडर को जीत लिया। मुसलमानों ने पहले ही ईडर छोड़कर अहमदनगर में शरण ले ली

। सांगा ने अहमदनगर को घेर लिया । थोड़े से युद्ध के बाद अहमदनगर के किले फाटक तोड़कर राजपूत अन्दर घुस गये । राजपूतों ने किले को लूटा और आगे गये । इसी अभियान मे राणा ने वड़नगर, वीसनगर और अन्य गुजरात के अनेक लूटा और वापस चित्तौड़ आ गया ।

अपने सेनापतियों की हार का बदला लेने को सुल्तान ने 1520 ई० में मेवाड़ आक्रमण किया जिसमें 30,000 सवार, सौ हाथियों ने भाग लिया । उसने वाड़ा को लूटा । सांगा भी फौज लेकर मन्दसौर के पास पहुँचा और घमासान द्ध हुआ किन्तु विजय किसी को नहीं मिली । राजपूतों की संख्या अधिक देख गुज-त के सुल्तान ने संधि कर ली और वापस चला गया ।

आगे चलकर 1524 मे गुजरात के सुल्तान का लड़का बहादुर खाँ अपने ई की शत्रुता और आमदनी की कमी के कारण नाराज होकर राणा सांगा के पास त्तौड़ चला गया । महाराणा की माता ने उसे अपना बेटा बनाया और वह बहुत ों तक चित्तौड़ में रहा । सांगा ने अपने सफल अभियान में गुजरात को लूटा, र पर अपना प्रभुत्व जमाया और गुजरात के उत्तराधिकारी को अपने यहाँ शरण र अपने प्रभुत्व की धाक चारों ओर फैला दी ।

सांगा और इब्राहीम लोदी

राणा सांगा का तीसरा मुसलमान प्रतिद्वन्द्वी दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम ो अपने पिता की नीति का अनुकरण करने वाला था । वह सारे भारत को अपने न करना चाहता था । इसलिए उसने राजस्थान के प्रमुख राज्य मेवाड़ पर आक्र-किया । मेवाड़ की पराजय के बिना सुल्तान को मध्यभारत पर प्रभुत्व स्थापित ी की आशा नहीं थी इसलिए उसने अपने सेनापति मक्खन मियाँ की अधीनता क सेना तैयार की । उसके साथ उस समय के विख्यात अफगान सेनापति मियाँ न को भी भेजा । इस प्रकार इब्राहीम लोदी की सम्पूर्ण भारत पर अधिकार की इच्छा ने उसे मेवाड़ से लड़ने पर बाध्य कर दिया ।

युद्ध का दूसरा कारण यह भी था कि राणा सांगा भी विस्तारवादी नीति में ास रखते थे । उन्होंने उत्तर में अपना राज्य बयाना तक बढ़ा लिया था जो मानों को एक चुनौती थी । आगरा के इतना नजदीक तक हिन्दू राज्य का स्तार किसी भी दिल्ली आगरा के सुल्तान के लिए एक चुनौती थी । श्री हर-ास शारदा अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में कहते हैं कि—"जब इब्राहीम ने भाई जलाल खाँ के विरुद्ध संघर्ष में लीन था उस समय राणा सांगा ने बयान के प्रदेश पर अधिकार कर आगरा के सुल्तान को राजनीतिक चुनौती दी थी ।" ा सांगा ने दिल्ली के आन्तरिक क्लेश से लाभ उठाकर बयाना जीत लिया था । आन्तरिक क्लेश समाप्त होने पर इब्राहीम लोदी के लिये आवश्यक था कि वह ना ही वापस नहीं ले वरन् अपने प्रतिद्वन्द्वी हिन्दू राणा को भी पराजित

कारण

1. हिन्दू राज्य—पृथ्वीराज को तराइन के युद्ध में हरा कर मुसलमान सरदार मुहम्मद गौरी ने भारत पर मुसलमान राज्य स्थापित कर लिया था। तब से अब तक मेवाड और राजस्थान के अन्य राजपूत सरदारों को निरंतर मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करना पड़ रहा था। मुसलमानों ने राजस्थान के हिन्दू राजाओ के राज्य को समाप्त कर मुस्लिम राज्य की नींव डाली थी अतः राजस्थान के ही हिन्दू राजा द्वारा इनका अन्त कर वापस हिन्दू राज्य स्थापित करना एक आदर्श कल्पना थी। सांगा के पहले कोई शक्तिशाली व प्रभावशाली राणा नहीं हुआ था जो सारे हिन्दू राजाओं को अपने झंडे के नीचे एकत्रित कर सके। इसका लोहा सभी हिन्दू राजा मानते थे। तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली के सिंहासन के मुकुट आसमान मे उछाल दिया था जिसे कोई भी शक्तिशाली हाथ में पकड़ कर पहन सकता था। सांगा ने अपने प्रतिद्वन्द्वियो को पराजित कर मालवा और गुजरात की इच्छाओं को दफना दिया था। दोनो राणा सांगा के नाम से कांपते थे। उसने दिल्ली के दुर्बल व अयोग्य शासक इब्राहीम लोदी को भी दो बार मैदान में धूल चटवादी थी। इन परिस्थितियों मे उसका दिल्ली के सिंहासन पर बैठ कर भारत को एक हिन्दू राज्य के सूत्र में बांधने का सपना सच्चा हो सकता था। तभी बाबर नाम की विदेशी बला कबाब में हड्डी की तरह आ फँसी। स्वाभाविक था कि राणा उसे भी पराजित कर अपने देश का सम्राट बनता अतः दोनों में युद्ध हुए बिना यह नहीं कहा जा सकता था कि भारत का शासक कौन होगा ? सांगा या बाबर। अनेक राजपूत सरदार और अन्य शासक यह आशा करते थे कि वह गिरते हुए मुसलमानों को हटा कर दिल्ली में हिन्दू राज्य स्थापित करेगा।

2. बाबर की कठिनाइयाँ—बाबर को राणा सांगा की तरह बचपन से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। बारह वर्ष की अवस्था में उसके पिता का देहान्त हो गया था और उसके मामा और चाचा ने उस पर आक्रमण कर दिया था। बारह वर्ष के बालक ने दोनों शत्रुओं को हराया और फिर अपने पूर्वज तैमूर की राजधानी समरकंद को जीता। वह समरकंद में ही था कि उसके पिता के नगर फरगना में विद्रोह हो गया। वह विद्रोह दबाने फरगना आया तो समरकंद हाथ से निकल गया और फरगना भी वापस नहीं मिला। वह 1500 से 1504 तक इधर-उधर भटकता रहा। घर छिन जाने के बाद बाबर ने पूरब की तरफ कदम बढ़ाया और भारत की सीमा काबुल पर अधिकार किया। 1504 से 1525 तक वह काबुल का शासक रहा और इस बीच उसने कई बार अपने घर और राज्य को जीतने की व्यर्थ चेष्टा की। काबुल भारत और खुरासान, समरकंद के बीच में है। पश्चिम से निराश होकर बाबर ने पूरब में राज्य विस्तार करने का निश्चय किया। उसने भारत की प्रशंसा सुन रखी थी। उसके पूर्वज तैमूर और चंगेज खाँ भारत को बेरहमी से लूटा था अतः अपनी कठिनाइयों का अन्त करने को बाबर

पश्चिम का विचार छोड़ भारत पर अपना राज्य जमाना चाहा। पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी को पराजित कर 21 अप्रेल, 1526 को बाबर दिल्ली और आगरे का बादशाह बन गया था किन्तु जब तक वह मूल प्रतिद्वन्दी राणा साँगा को पराजित नही कर देता उसका भारत में स्थाई रूप से रहना संभव नही था। एक तरफ राणा साँगा दिल्ली के सिंहासन पर बैठने को कटिबद्ध था और दूसरी तरफ बाबर ने उस सिंहासन को हथिया लिया था। बाबर की कठिनाइयों ने उसे भारत धकेल दिया और राणा साँगा के जीते जी इन कठिनाइयों का अन्त नही था। अतः दिल्ली को अपने राज्य में रखने के लिए तथा अपनी कठिन घड़ियों का अन्त करने के लिए बाबर के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने प्रतिद्वन्दी साँगा को रास्ते से हटा दे। राणा साँगा भी यह सोचता था अतः दोनों में लड़ाई आवश्यक हो गई। बाबर और साँगा में शत्रुता का यह एक बड़ा कारण था। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव कहते हैं कि—"इस देश में बाबर का वास्तविक कार्य पानीपत के युद्ध के पश्चात् आरम्भ हुआ"।[1] यदि वह पानीपत में इब्राहीम लोदी से ही हार जाता तो साँगा से उसका युद्ध ही नही होता।

3. साँगा की वादा खिलाफी—डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि—"जब बाबर काबुल में था तो कहा जाता है कि राणा साँगा का उससे यह समझौता हुआ था कि वह इब्राहीम पर आगरा की तरफ से आक्रमण करेगा और बाबर उत्तर की ओर से। जब आक्रमणकारी ने दिल्ली और आगरा को अधिकृत कर लिया, तो उसने राणा पर अविश्वास का अभियोग लगाया। उधर साँगा ने बाबर पर अभियोग लगाया कि उसने कालपी, धौलपुर और बयाना पर अधिकार कर लिया जबकि समझौते की शर्तों के अनुसार ये स्थान साँगा को ही मिलने चाहिये थे।"[2]

डॉ० श्रीवास्तव के कहने से ऐसा लगता है कि साँगा और बाबर में कोई समझौता हो गया था कि दोनों मिलकर इब्राहीम के राज्य को बाँट लेंगे। उत्तर-पश्चिम का राज्य, जिसमें दिल्ली भी शामिल थी, बाबर ले लेगा और आगरा, बयाना, धौलपुर, कालपी आदि पर राणा का कब्जा हो जायगा। किन्तु साँगा ने आगरा पर आक्रमण नही किया और बाबर क्रोधित हो गया। उसने साँगा पर अविश्वास का अभियोग लगाया। बाबर ने अपनी आत्म-कथा में भी लिखा है कि—"यद्यपि राणा साँगा ने, जब मैं काबुल में था तो, मेरे पास एक राजदूत भेजा था और मित्रता का बन्धन किया था, और मेरे साथ यह ठहरा था कि यदि मैं वहाँ से दिल्ली तक कूच करता आ जाऊँ तो वह दूसरी तरफ से आगरे पर चढ़ कर आवेगा। लेकिन मैंने इब्राहीम को हरा दिया और दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया तो भी वह काफिर हिला तक नही।"

1 डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव—मुगलकालीन भारत—पृष्ठ 24.

2 डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव—मुगलकालीन भारत पृष्ठ 26.

इस वाक्य से स्पष्ट है कि बाबर सांगा को वादा खिलाफी से अप्रसन्न था। बाबर ने साधारणतः अपनी आत्मकथा में सच बातें ही लिखी हैं। थोड़ी बहुत अतिशयोक्ति हो सकती है किन्तु सारा विवरण झूठ नहीं होना चाहिये। यही बात खटकती है कि राणा सांगा ने पहले तो उसे बुलाया क्यों और फिर सहायता क्यों नहीं दी? लेकिन बाबर के इस विवरण के विरुद्ध मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास नामक पुस्तक की पांडुलिपि में इस घटना का वर्णन दूसरी तरह मिलता है कि जब बादशाह बाबर काबुल में राज्य करता था तो उसने सोचा कि लोदी को हराकर दिल्ली में अपना राज्य स्थापित करे, किन्तु अपरिचित देश में किसी परिचित मित्र का होना अच्छा है। अतः उसने अपना एक सरदार चित्तौड़ भेजा। बाबर ने जो पत्र सांगा को लिखा था उसमें यह लिखा था कि—"मैं आकर दिल्ली पर अपना अधिकार करूँगा और आप उस तरफ से आगरा पर अपना राज्य स्थापित करें।" इस ग्रन्थ के लेखक पं० अक्षयनाथ के पूर्वज बागेश्वर खानवा के युद्ध में सांगा के साथ थे और सांगा के कार्यों को नोट करते रहते थे। अतः इस साधन को भी गलत नहीं माना जा सकता। डॉ० गोपीनाथ भी इसी कथन का समर्थन करते हैं अतः सत्य का पलड़ा राणा सांगा के पक्ष में लगता है।

बाबर का तर्क यों गलत लगता है कि सांगा तो अकेला ही दो बार इब्राहीम लोदी को युद्ध में हरा चुका था और चाहता तो अकेला फिर हरा कर स्वयं दिल्ली छीन लेता। फिर उसे काबुल दूत भेजने की क्या आवश्यकता थी? सांगा को इब्राहीम के विरुद्ध विदेशी सहायता मांगने की कोई आवश्यकता नहीं थी। बाबर को अज्ञात देश जीतने के लिए एक भारतीय मित्र की आवश्यकता पर विश्वास किया जा सकता है। फिर बाबर ने अपनी आत्मकथा में ऐसा क्यों लिखा? बाबर की आत्मकथा के सिवा और किसी ग्रन्थ में सांगा द्वारा काबुल राजदूत भेजने का वर्णन नहीं मिलता। परिस्थितियों को देखकर यह लगता है कि बाबर के सैनिक युद्ध से थक गये थे और अपने घर लौट जाना चाहते थे। किन्तु बाबर भारत के हरे-भरे देश से प्रभावित हुआ था और वह यहीं रहना चाहता था। उसने अपने सेनापतियों की युद्ध सभा में उन्हें यह कहकर उकसाया होगा कि अभी उसे एक विश्वासघाती को भी सबक देना है। कदाचित् इस बहाने से उसने अपने सैनिकों का समर्थन प्राप्त कर लिया। सारांश यह है कि राणा सांगा पर वादा खिलाफी का आरोप लगा कर बाबर ने उससे युद्ध करने का निर्णय किया। राणा को तो यह आशा थी कि बाबर भी अपने पूर्वजों की तरह दिल्ली को लूट कर वापस चला जायेगा।

4. बयाना का प्रश्न—राणा सांगा ने अवसर से लाभ उठा कर बयाना के मुसलमान किलेदार निजाम खाँ से किला छीन कर उसे बाहर निकाल दिया। निजाम खाँ ने बाबर से सहायता मांगी और अपनी सेवाएँ बाबर को अर्पित करने का वचन दिया। बाबर तो अवसर की तलाश में था ही उसने फौरन निजाम खाँ की सहायता करना स्वीकार कर लिया। बिना कुछ आगा पीछा सोचे उसने

ो हटाने के लिए अपनी सेना बयाना भेज दी। निजाम खाँ को फिर से बयाना का क़िलेदार बना दिया गया और आस-पास के परगने उसे दे दिये गये। इसके बदले निजाम खाँ ने 20 लाख रुपया सालाना देने का वादा किया। साँगा को बाबर का यह व्यवहार बहुत बुरा लगा और उसने युद्ध द्वारा बयाना को वापस जीतने का फ़ैसला किया।

5. पठान सरदार—पानीपत में इब्राहीम लोदी की पराजय के बाद कई पठान सरदार राणा साँगा से जा मिले। इनमें सबसे उल्लेखनीय सुल्तान इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी था। अन्य सरदारों में हसन खाँ मेवाती, सिलहदी भी थे। राणा ने महमूद लोदी को दिल्ली का सुल्तान मान लिया। विदेशी आक्रमण के विरुद्ध भारत के हिन्दू और मुसलमानों का यह संगठन स्वाभाविक था। पठानों से संधि करने के बाद राणा ने बयाना पर अधिकार कर लिया। बाबर ने कुछ तेज घुड़सवारों को बयाना की रक्षा के लिए भेजा जो बुरी तरह मार खाकर वापस भाग गये। बाबर इस समय आगरे से आगे फतहपुर सीकरी तक पहुँच गया था। उसने 1500 सैनिकों का दल शत्रु की स्थिति का निरीक्षण करने भेजा। राजपूत और पठानों ने इन्हें बुरी तरह मार कर खदेड़ दिया। बाबर यदि दिल्ली पर पूर्ण अधिकार चाहता था तो उसे पठानों की शक्ति का अन्त करना आवश्यक था। अब पठान राणा साँगा से जा मिले थे अतः साँगा से युद्ध प्रायः निश्चित हो गया।

6. साँगा की शक्ति—टाड के अनुसार—"80 हजार घुड़सवार, सात बड़े नरेश, नौ राव और 104 रावल तथा रावत हर समय उसके इशारे पर चलने को तैयार रहते थे।" साँगा असाधारण युद्ध सामग्री और साधनों से सम्पन्न था। साँगा की यह शक्ति बाबर के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा थी। वह भारत में अपना राज्य कायम करना चाहता था जो साँगा के जीते जी स्थापित नहीं हो सकता था। राणा भी पहले यह समझता था कि बाबर वापस लौट जायेगा और तब वह इब्राहीम की टूटी फूटी शक्ति का अन्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लेगा। लेकिन बाबर लौटा नहीं, तो राणा भी नींद से जागा। वह हिन्दू साम्राज्य का सपना देख रहा था। इस प्रकार दो महत्त्वाकांक्षी शक्तिशाली शासकों के दिल्ली पर राज्य स्थापित करने के सपने एक साथ जा टकराये और बिना समय नष्ट किये बाबर ने साँगा पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उत्तरी भारत को अफ़गानों के हाथ से मुक्त करने के उद्देश्य को लेकर साँगा ने राजस्थान के अधिक से अधिक राजाओं का संगठन तैयार किया था। यह संगठित शक्ति बाबर के लिए चिंता का महान् कारण थी। इन कारणों से दोनों के बीच, आगरा से 37 मील पश्चिम में भरतपुर के एक गाँव खानुवा में जो सीकरी से दस मील दूर है, युद्ध हुआ।

खानुवा का युद्ध 16 मार्च, 1526 ई०

युद्ध के कुछ समय पहले काबुल के एक ज्योतिषी ने घोषणा कर दी कि युद्ध

मे बाबर की पराजय होगी । बयाना से मार खाकर आये हुए सवारों पर भी राण का आतंक छाया हुआ था। बाबर ने जो 1500 सैनिकों की टुकड़ी राणा के अन्दाज लगाने भेजी थी वह भी बुरी तरह घायल होकर आई थी। जिससे बा सैनिकों मे आतंक फैल गया था । सभी डरकर वापस काबुल लौट जाना चाहते थे अपने हतोत्साहित सैनिकों को धर्म युद्ध या जिहाद का संदेश देकर बाबर ने ब नाटकीय ढग से सेना का नैतिक स्तर एक दम ऊँचा उठा दिया । वे धर्म और वि के लिए मर मिटने को तैयार हो गये । बाबर चाहे इसे धर्म युद्ध का नाम दे, कि पठानो ने साँगा के साथ मिल कर युद्ध किया था अत: इसे धर्म युद्ध कहना उ नही होगा । बाबर ने अपने सैनिकों को एकत्रित किया और बड़े नाटकीय ढग शराब के बर्तन फोड़ कर लड़ते लड़ते मारे जाने और धर्म पर शहीद हो जाने कसम खाई या विजयी होकर धर्म प्रचार की घोषणा की । उसके निजी श में—"मेरे साथी सरदारो ! क्या तुम जानते हो कि हमारे और हमारी जन्म भू के बीच कुछ महीनों की यात्रा है ? यदि हमारा पक्ष पराजित होता है । (परमा उस कुघड़ी से हमारी रक्षा करे), तो हमारी क्या दशा होगी ? ...... हर एक आद याद रखे कि जो कोई भी इस संसार में आता है, उसका विनाश अवश्य होता है ....कलंकित नाम के साथ जीवित रहने की अपेक्षा शान के साथ प्राण दे दे अधिक अच्छी बात है ।............यदि हमारी हार होती है तो हम शहीदों की मरेंगे और यदि हम विजयी होते है तो समझ लो हमने उस परमात्मा के पवि उद्देश्य पर विजय प्राप्त कर ली । इसलिए उस सर्व शक्तिमान के नाम पर हमें ग्रहण करनी चाहिये कि हम ऐसी शानदार मौत से मुख नही मोड़ेगे और जब हमारी आत्माएँ हमारे शरीर से पृथक् नही होंगी, हमारे शरीर संघर्ष के इन क्ष से कभी अलग नही होगे ।"

बाबर के इस जोशीले भाषण ने हताश सैनिकों में जान फूंक दी । प्रत्येक कुरान पर हाथ रखकर अपनी पत्नी के परित्याग की शपथ लेते हुए कहा कि वे अ तक लड़ेंगे और बाबर का साथ देंगे ।

बाबर के अनुसार राजपूतो सेना मे दो लाख सैनिक थे किन्तु वास्तव में संख्या 80,000 रही होगी । बाबर के पास 40,000 से कम सैनिक नहीं राणा को चाहिये था कि खानुवा पहुँचते ही आक्रमण कर देता किन्तु वहाँ व्यर्थ रह कर उसने बाबर को सभलने का समय दे दिया । साँगा की सेना चार भागों बंटी थी । अग्रगामी रक्षक, मध्य पक्ष, दाहिना पक्ष, और बाँया पक्ष । बाबर पानीपत का सा मोर्चा फिर जमाया । 16 मार्च, 1527 ई० शनिवार को प्रा $9\frac{1}{2}$ बजे युद्ध आरम्भ हुआ । लड़ाई का पहला गोला राणा की तरफ से करी की मारवाड़ की सेना ने छोड़ा था । दोपहर तक घमासान युद्ध होता रहा । ब की तुलुगमा ने दाहिनी तरफ से भयानक प्रहार किया मुस्तफा की इस गोलाबारी ने राजपूतों के हौसले उड़ा दिये तभी तुलुगमा की दूसरी टुकड़ी राजपूतों के बांये भाग पर प्रहार किया । मुगल तोपखाने द्वारा भयंकर मार

करने पर भी राजपूत बहादुरी से लड़ रहे थे। बाबर का हर प्रयास विफल जा रहा था। वह युद्ध की ओर से निराश हो चुका था तभी राणा साँगा एक तीर से घायल होकर गिर पड़े। आमेर के राजा पृथ्वीराज और जोधपुर के राजा मालदेव ने घायल अवस्था मे राणा को मैदान से हटा कर बसवा के स्थान पर पहुँचाया। राणा के बाद राजपूत बाबर की तोपों का सामना नही कर सके और बाबर हारा हुआ युद्ध जीत गया। वीर विनोद के अनुसार—"बाबर लिखता है कि मैं इस्लाम के लिए इस लड़ाई के जंगल मे आवाराह हुआ, और मैंने अपना शहीद होना ठान लिया था, लेकिन खुदा का शुक्र है कि गाजी बनकर जीता रहा।"[1]

बाबर के साथ युद्ध में राणा के अनेक साथी मारे गये। जिन दो मुसलमान सरदारों ने राणा का साथ दिया था वे भी लड़ाई में मारे गये। हसन मेवाती और महमूद लोदी मारे गये। डूँगरपुर, मारवाड़, मेड़ता, झालावाड़ आदि के भी राजा मारे गये। युद्ध का अन्त हो गया। टाड महोदय कहते है कि—"जिस समय वह पराजित हुआ उसी वर्ष बसवा नामक स्थान पर उसकी मृत्यु हो गई।"[2] शायद राणा को उसके मंत्रियों ने विष दे दिया अन्यथा वह पुनः अपनी शक्ति को इकट्ठा कर बाबर पर आक्रमण कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेता। कुछ इतिहासकारो का मत है कि राणा साँगा खानुवा के युद्ध के एक वर्ष बाद मांडलगढ मे स्वर्ग सिधारे थे। राणा 30 जनवरी, 1528 को परलोक सिधारे। मुगलो का राज्य भारत पर स्थापित हो गया।

परिणाम—खानुवा के युद्ध में राजपूतो की हार और राणा साँगा की मृत्यु अपने साथ राजपूतो की एकता को भी ले गई। प्राचीन भारत में अनेक जनपदों के नाम से सुप्रसिद्ध राजपूतों का यह प्रदेश अनेक राजघरानों में बँट गया। कुम्भा और साँगा के कारण मेवाड़ की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी जिसके फलस्वरूप अन्य हिन्दू राजाओ ने मेवाड़ के झण्डे के नीचे अपनी सुरक्षा का अनुभव किया था किन्तु इस पराजय से मेवाड़ का महत्त्व बहुत घट गया जिससे राजपूतों की ऊपरी एकता तथा राजनीतिक गठबन्धन सदा के लिए समाप्त हो गये।

राणा साँगा ने बाबर को निमंत्रित किया था उसकी यह भूल उसी को मँहगी नही पड़ी वरन् सारे देश के लिए एक महत्त्वपूर्ण परिणाम छोड़ गई। भारत मे भावी मुगल साम्राज्य की नीव इसी युद्ध के परिणामो पर रखी गई। डॉ० रघुबीरसिंह अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' के पृष्ठ 16 पर कहते है कि—"राणा साँगा की यह हार तथा तदनन्तर उसकी मृत्यु केवल मेवाड़ के लिए ही नही परन्तु राजस्थान के लिए भी बहुत घातक प्रमाणित हुई। राजस्थान की सदियो पुरानी स्वतन्त्रता तथा उसकी प्राचीन हिन्दू संस्कृति को सफलतापूर्वक बनाये रख सकने वाला अब वहाँ कोई भी नही रह गया।" मुगल साम्राज्य के उदय के साथ-साथ

1 वीर विनोद—पहली जिल्द—पृष्ठ 371

2 टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 178.

राजस्थान की स्वतन्त्रता, राजनीतिक शक्ति, विद्या और कला का भी ह्रास होने लगा। राजस्थान के इतिहास में पूर्व आधुनिक काल का प्रारम्भ इस निर्णायक युद्ध के दिन से ही माना जाना चाहिये। उस दिन खोई हुई यह स्वाधीनता तथा अपना वह विगत प्राचीन गौरव एवं महत्व कोई 420 वर्ष बाद अगस्त 15, 1947 ई० के दिन समूचे भारत के साथ ही राजस्थान को भी पुनः प्राप्त हुआ।

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि—"भारत वर्ष के इतिहास में खानुवा का युद्ध, जो दस घण्टे तक चला, अत्यन्त स्मरणीय युद्धों में से एक था।" राणा सांगा तो भग्न हृदय लेकर जनवरी 1528 में सदा के लिए सो गया। किन्तु उसके साथ राजपूतों की सैन्य शक्ति को भी कुछ समय के लिए कुचल दिया गया। विदेशी राज्य को मिटाने की राजपूतों की इच्छा समाप्त हो गई। बाबर के खानाबदोश जीवन का अन्त हो गया अब उसे अपने सिंहासन को खतरे में डाल कर युद्ध नहीं करना था अगले युद्ध केवल राज्य विस्तार के लिए लड़े गये। उसके भाग्य की खोज में घूमते फिरने के दिन समाप्त हो गये। भारत के नेतृत्व की बागडोर राजपूतों के हाथ से अब मुगलों के हाथ में चली गई जिन्होंने 1740 तक उसका संचालन किया। पिछले दस साल से मुसलमानों के सामने राजपूतों की शक्ति का खतरा मण्डरा रहा था वह सदैव के लिए समाप्त हो गया। इतिहासकार लेनपूल का कहना है कि—"खानुवा के युद्ध ने हिन्दुओं के महान् संगठन को कुचल दिया।"

बाबर ने अपनी जीत के बाद मारे गये राजपूतों के कटे हुए सिरों का ढेर लगा कर एक मीनार बनाई और राजपूतों पर अपनी विजय का प्रदर्शन किया। उन कटे सिरों में सैकड़ों मुसलमानों के भी थे। इस युद्ध में इतनी नर हत्या हुई कि खानुवा से बयाना तक सारी भूमि लाशों से ढक गई। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि राणा की पराजय और मृत्यु एक हृदय स्पर्शी शोक ही नहीं था वरन् एक राष्ट्रीय क्षति थी जिसकी पूर्ति आज तक नहीं हो सकी।



11

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रतापसिंह महाराणा उदयसिंह के दूसरे लड़के थे। इनका जन्म 9 मई, 1540 ई. को हुआ था। इनकी माता का नाम जैवता बाई था। ये 32 वर्ष की अवस्था में 1 मार्च, 1572 ई. को मेवाड़ के राणा बने। इन्होंने 25 वर्ष तक शासन किया। कुछ इतिहासकार इनके राज्यारोहण की तिथि 28 फरवरी, 1572 देते हैं जो प्राय गलत लगता है।[1] राज्याभिषेक की तिथि में एक दिन का अन्तर वैसे कोई अर्थ नहीं रखता। आजीवन कठिनाईयों का सामना करने के बाद इस स्वतन्त्रता के उपासक का देहान्त मेवाड़ की नई राजधानी चावण्ड में 19 जनवरी, 1597 ई. को 57 वर्ष की अवस्था में हुआ। राजधानी से 1½ मील दूर एक झरने के किनारे इस देश भक्त की समाधि आज भी उसकी स्मृति को सजीव कर रही है।

प्रताप को सिंहासन पर बैठते ही आन्तरिक व बाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनके पिता महाराणा उदयसिंह स्वयं अपने लड़के प्रताप के लिये फूट के काँटे बो गये थे। कोई 35 वर्ष के गौरवहीन असफल शासन के बाद उदयसिंह का देहान्त 28 फरवरी, 1572 ई. को गोगुंदा मे हुआ। उन्होंने मरने से पहले अपनी प्रिय रानी भटयाणी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था। किन्तु सरदारों ने जगमाल को हटाकर प्रतापसिंह को राणा बना दिया। डॉ० रघुवीरसिंह का कहना है कि—"राज्यारूढ़ होते ही राणा प्रताप ने स्पष्टतया मुगल विरोधी नीति अंगीकार की और यों मेवाड़ के ही नहीं राजस्थान के इतिहास में भी एक महत्वपूर्ण परम स्फूर्तिदायक अध्याय का प्रारम्भ हुआ जो कठोर पराधीनता के गहरे निराशापूर्ण दुखमय दिनों में राजस्थान के साथ ही समूचे भारत को स्वाधीनता के लिये सर्वस्व बलिदान कर उसकी निरंतर अडिग साधना का पाठ पढ़ाता रहा।"[2]

जगमाल नाराज होकर अजमेर गया। वहाँ के मुसलमान सूबेदार ने उसे शरण दी और बादशाह अकबर के दरबार में पेश किया। अकबर ने मेवाड़ के राजकुमार को जहाजपुर की जागीर दी और कुछ समय बाद सिरोही का आधा राज्य भी दे दिया जिससे सिरोही के राजा सुल्तान देवड़ा से उसकी शत्रुता हो गई और 1640 मे सुल्तान के हाथों एक युद्ध में जगमाल मारा गया। जगमाल आजीवन मेवाड़ का शत्रु और मुगल दरबार का एक मनसबदार बना रहा।

---

1. वीर विनोद भाग 2 पृष्ठ, 145
2. डॉ. रघुवीरसिंह-पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृष्ठ 49.

मेवाड़ की दशा—25 फरवरी, 1568 ई. को अकबर ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया था। तब प्रताप 28 वर्ष के थे। महाराणा उदयसिंह चित्तौड़ छोड़कर जगलों मे चले गये थे। राणा सांगा के समय जो प्रभाव व राज्य विस्तार मेवाड़ का था वह पिछले 20 वर्षों मे तीन राजाओं के प्रभावहीन शासनकाल मे घटता गया। राजस्थान के बाहर का क्षेत्र तो गया ही साथ में राजस्थान के अन्दर भी मेवाड़ का प्रभाव समाप्त हो गया। अकबर ने चित्तौड़ जीत कर तो मेवाड़ की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुंचाया था। मांडलगढ़, जहाजपुर और चित्तौड़ मेवाड़ के अधीन नहीं रहे थे। अकबर ने चित्तौड़ के किले को काफी तोड दिया था ताकि भविष्य मे यह दुर्ग मुगलो की परेशानी का कारण न बन सके। गुजरात और मालवा के स्वतन्त्र राज्य भी समाप्त हो गये थे और अब इन पर अकबर का साम्राज्य था। जोधपुर के राजा मालदेव की मृत्यु के बाद उनके तीन लड़कों मे उत्तराधिकार युद्ध शुरू हुआ। उत्तराधिकारी राव चन्द्रसेन के भाई उदयसिंह और राम, अकबर की शरण मे चले गये जिन्हें अलग-अलग जागीरें देकर अकबर ने अपनी तरफ मिला लिया और बीकानेर के राजा रायसिंह को जोधपुर का प्रशासक बना दिया। जोधपुर या मारवाड राज्य जो एक पडौसी मित्र व रिश्तेदार राज्य था अब मेवाड़ के शत्रुओं के हाथ में आ गया। राव चन्द्रसेन एक खानाबदोश राजा की तरह सारी उम्र जोधपुर की स्वतंत्रता के लिए लड़ता रहा और अन्त में निराश हो जनवरी 1581 मे अजमेर के पास पहाड़ों मे उसका देहान्त हो गया। राव चन्द्रसेन के बारे मे अलग से वर्णन करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मारवाड़ पर भी अकबर का आधिपत्य स्थापित हो गया था। आमेर के राजाओं ने अपनी लड़की अकबर को ब्याह दी थी। बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं ने भी अकबर की अधीनता नागौर में 1570 मे स्वीकार कर ली थी। प्रताप और जोधपुर के राव चन्द्रसेन को छोड़ राजस्थान के सभी राजाओ ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और चारो तरफ से मेवाड़ पर आघात होने लगे। सांगा को जहाँ 104 छोटे और नौ बड़े राजाओं का समर्थन प्राप्त था, वहाँ प्रताप को राजस्थान के राजाओं का विरोध व शत्रुता का शिकार बनना पड़ा। हल्दी घाटी के युद्ध मे उन्हें पराजित करने वाला मानसिंह भी आमेर का राजपूत राजा था। मेवाड़ चारो ओर से एक ही शक्तिशाली शत्रु के गुलामों से घिरा हुआ था। चित्तौड़ ही नहीं, मेड़ता, अजमेर, मांडलगढ़, जहाजपुर आदि मेवाड़ राज्य के अंग, जिन पर सांगा राज्य करता था अब शत्रु के प्रधान सैनिक केन्द्र थे। ऐसी परिस्थिति मे प्रताप ने आजीवन अकबर से लोहा लेकर मेवाड़ के गौरव को ही नहीं बढ़ाया चरम पराधीनता की बेड़ियों मे बँधकर स्वतंत्रता के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा समर्पित कर भारत के देश भक्तों में अपना स्थान सदा के लिये सुरक्षित कर लिया। प्रताप का लक्ष्य मेवाड़ के पराधीन भाग को स्वतंत्रता दिलाना और चित्तौड़ पर पुनः अधिकार करना था।

अकबर की महत्वाकांक्षा—अकबर काबुल से आसाम और कश्मीर से मदास के भारत का एक छत्र बादशाह था। या तो चन्द्रगुप्त मौर्य ने समस्त भारत को

जीता था और या फिर अकबर के अधीन सारा भारत था किन्तु मेवाड़ एक फोड़े की तरह उसके सीने पर दर्द पैदा कर रहा था। मेवाड़ की आजादी अकबर को रह रह कर अखरती थी। चित्तौड़ के किले के साथ मेवाड़ का अधिकांश भाग अकबर के अधीन था। वह अपने दरबार में अन्य सभी राजपूत राजाओं को सामने खड़ा पाता था किन्तु मेवाड के राणा को दरबार में न देखकर उसके मन में एक शूल सा चुभता था। वह सम्पूर्ण मेवाड़ को अपने अधीन और प्रताप को अपना दरबारी देखना चाहता था उसका उद्देश्य एक सुसंगठित राज्य स्थापित करना था। मालवा और गुजरात पर पूर्ण नियंत्रण के लिये मेवाड़ पर अधिकार आवश्यक था। मेवाड़ का अधिकांश भाग हाथ से निकल जाने पर भी राणा ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था। अकबर ने इस ओर कई प्रयत्न किये थे कि प्रताप भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर ले। अकबर ने 1573 में मानसिंह को प्रताप के पास भेजा जो डूंगरपुर जीत कर लौटते समय प्रताप से मिला और नाराज होकर चला गया। इसी वर्ष अकबर ने मानसिंह के पिता को फिर भेजा। राजा भगवन्त दास सितम्बर 1573 में राणा से मिले और प्रताप ने अपने चौदह वर्षीय पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ अकबर के दरबार में भेज दिया। शायद प्रताप उस समय मुगल सेना से टकराना नहीं चाहते थे क्योंकि न तो उनके पास इतनी शक्ति ही थी और न ही उन्हें अकबर की सैनिक शक्ति का आभास था। किन्तु महत्त्वाकांक्षी अकबर तो स्वयं राणा प्रताप को अपने सामने देखना चाहता था कुछ समय के लिये अकबर गुजरात में व्यस्त रहा तब जयमाल उसके पास गया था अतः उस समय भी अकबर मेवाड़ पर पूरा ध्यान केन्द्रित नहीं कर सका। उसके बाद कुछ समय के लिये वह बंगाल और बिहार जीतने में लग गया। अतः मेवाड़ पर मँडराते विपदा के बादल कुछ समय के लिये टल गये। कुंवर अमरसिंह को अपने दरबार में पाकर अकबर को कोई खास संतोष नहीं हुआ उसने कुछ समय बाद अमरसिंह को मेवाड लौट जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार प्रताप को अधीन करने की इच्छा अभी अधूरी थी। थोड़े समय बाद राजा टोडरमल, गुजरात जाते समय मेवाड़ से होकर गया और राणा को समझाने की चेष्टा की। उसे यही आभास हुआ कि राणा अकबर से झगड़ा नहीं करना चाहता किन्तु अकबर अपने अधूरे सपने को पूरा करना चाहता था। एक तरफ राणा प्रताप मेवाड़ को वापस लेना चाहते थे और दूसरी तरफ अकबर इस स्वतंत्र राज्य को पूर्ण रूप से अपने राज्य का एक अंग बनाने पर कटिबद्ध था अतः दोनों के बीच संघर्ष अवश्यंभावी था। आगे चल कर दोनों के बीच हल्दी-घाटी का महान् ऐतिहासिक युद्ध लड़ा गया जो 21 जून, 1576 ई. में हुआ। इस युद्ध के मूल कारण इस प्रकार हैं:—

कारण

ऊपर दिये गये दो कारण भी हल्दी घाटी के युद्ध से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। मेवाड़ की दशा और अकबर की महत्त्वाकांक्षा ने जहां युद्ध को अनिवार्य कर दिया

यहाँ अन्य कारणों का उल्लेख भी आवश्यक है।

1. प्रताप का चरित्र—अपने प्रारम्भिक जीवन में प्रताप को जंगलों और पहाड़ियों में भटकना पड़ा। इन कठिनाइयों ने प्रताप के जीवन को दृढ़ संकल्प और पवित्र बना दिया। कभी-कभी वह अपनी कठिनाइयों से ऊब कर कहा करता था कि—"अच्छा होता यदि सिसोदिया वंश में उदयसिंह का जन्म नहीं हुआ होता अथवा राणा संग्रामसिंह के बाद सिसोदिया वंश का कोई व्यक्ति चित्तौड़ के सिंहासन पर न बैठता।" राणा सांगा के बाद उदयसिंह ने मेवाड़ की मर्यादा को समाप्त कर दिया था। राज्य की इन दुर्बल परिस्थितियों में भी प्रताप का हृदय दुर्बल नहीं पड़ा। उसमें स्वाभिमान था, राजपूती गौरव था और साहस तथा पुरुषार्थ था। राज्य का अधिकार पाने के बाद वह चित्तौड़ के उद्धार का उपाय सोचने लगा। वह अपनी शक्तियों का संगठन करने लगा। सबसे पहले उसने अपने जीवन की विलासिता का अन्त किया। सोने चांदी के बर्तनों में भोजन करना छोड़ कर वृक्षों के पत्तों में भोजन करना शुरू किया। क़ीमती शय्या के स्थान पर कठोर भूमि पर सोना शुरू कर दिया। उसने अपने अनुयाइयों को भी यह आदेश दिया कि जब तक हम चित्तौड़ को स्वाधीन नहीं कर लेंगे, सिसोदिया वंश का कोई भी व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष सुख और विलासिता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा।[1]

उस समय के आदेशों की कितनी ही बातें आज दिन तक मेवाड़ के राजपूतों में प्रचलित हैं। सेना, जन और धन का अभाव होते हुए भी साहसी प्रताप ने अपने साथियों के साथ बैठ कर चित्तौड़ को स्वाधीन बनाने की प्रतिज्ञा की। प्रताप ने घोषणा की—"जिनको हमारी अधीनता में रहना स्वीकार हो, वे सभी अपने परिवारों के साथ अपने घर छोड़कर इस पर्वत पर आ जांय। जो लोग ऐसा नहीं करेंगे वे शत्रु समझे जायेंगे।"[2] थोड़े ही दिनों बाद मेवाड़ की जनता पहाड़ों पर आ गई और मेवाड़ राज्य सूनसान दिखने लगा। खेती करने वाले किसान भी खेत छोड़ छोड़कर प्रताप के सैनिक बन गये। ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ प्रताप अपने पूर्वजों की राजधानी चित्तौड़ को जीतने के लिये कटिबद्ध था अतः युद्ध आवश्यक हो गया। डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव का कहना है कि—"भौतिक साधनों और जन बल में बहुत हीन होते हुए भी, साहस, पुरुषोचित शौर्य, चारित्रिक दृढ़ता, देश भक्ति, सैनिक प्रतिभा और नेतृत्व के सभी गुणों में उसके ही जोड़ का था। लगभग समान आयु के अकबर और प्रताप दोनों ही असाधारण पुरुष थे और प्रत्येक अपनी अपनी तरह से अद्वितीय था।"[3] जिस सिसोदिया वंश ने सदियों तक भारत के राजपूत राज्यों का नेतृत्व किया था, राणा उसी वंश का प्रमुख होने के नाते अकबर की अधीनता स्वीकार कर अपने पूर्वजों के यश को कलंकित न करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ था। प्रताप हिन्दू धर्म

1. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 193.
2. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 194.
3. ए० एल० श्रीवास्तव—अकबर महान्, पृष्ठ 193.

के चक्कर में न होकर केवल स्वतन्त्रता की तलाश में था। क्योंकि अकबर से हिन्दुओं को किसी प्रकार की क्षति होने का कोई भय नहीं था।

2. विफल प्रयास—अकबर ने आमेर के राजा मानसिंह को भेजा, वह असफल रहा। फिर भगवन्तदास को भेजा, वह भी असफल रहा। गुजरात जाते समय राजा टोडरमल भी राणा से मिल कर गया था किन्तु इन सब वार्ताओं का कोई परिणाम नहीं निकला। अकबर ने स्वयं राणा के गद्दी पर बैठने के सिर्फ चार महीने बाद ही अपने योग्य व वाक्चतुर दरबारी जलाल खाँ को राणा के पास जुलाई के महीने में भेजा था। वह 27 नवम्बर को असफल लौट आया। इन सब प्रयासों के विफल हो जाने से अकबर का उत्तेजित होना स्वाभाविक था। उधर, राणा ने बादशाह से मित्रता प्रगट करने के लिये अपने चौदह वर्षीय पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ मुगल दरबार में भेज दिया था। राणा को यह आशा थी कि, इसके बदले में अकबर चित्तौड़ और मेवाड़ का जीता हुआ भू-भाग वापस लौटा देगा किन्तु अकबर राणा प्रताप की मुगल दरबार में व्यक्तिगत हाजरी के लिये हठ कर रहा था। विचारों के इस आदान-प्रदान से न राणा संतुष्ट हुआ और न अकबर ही। बार बार मित्रता की चेष्टा करने पर भी जब मेवाड़ से सम्बन्ध नहीं सुधरे तब विवश होकर अकबर को युद्ध की शरण लेनी पड़ी। अकबर राजपूतों की मनोवृत्ति से परिचित था। वह जानता था कि यदि राणा प्रताप ने अधीनता स्वीकार करली तो अन्य छोटे राजपूत विरोधी राजा अपने आप मुगल दरबार में हाजिर हो जायेंगे। प्रताप की स्वतन्त्रता से अन्य राजपूत राजाओं को नैतिक बल-प्रदान होता था। अकबर को यह ज्ञात था कि 1568 में चित्तौड़ के पतन के बाद दो वर्षों में अधिकांश राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। यदि राणा प्रताप अकबर की अधीनता मान लेते तो मारवाड़ का चन्द्रसेन तथा बूंदी, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और सिरोही के विद्रोही हिन्दू राजा फौरन अकबर की शरण में आ जाते। प्रताप की स्वतन्त्रता इन राजाओं को समर्थन प्रदान कर रही थी। विवश होकर अकबर को युद्ध करना पड़ा।

3. व्यापारिक महत्त्व—विदेशों से आने वाला माल अधिकतर सूरत बन्दरगाह पर उतरता था और फिर गुजरात, राजस्थान होता हुआ आगरा, दिल्ली और उत्तर भारत के अन्य व्यापारिक केन्द्रों को जाता था। इस मार्ग के बीच में पश्चिम राजस्थान का छोटा-सा स्वतन्त्र भाग बहुत बड़ी बाधा थी। व्यापारिक यातायात को राणा प्रताप और मारवाड़ का राव चन्द्रसेन बीच में ही रोक लेते थे। इस प्रकार की व्यापारिक क्षति और रुकावट कोई भी सफल शासक किसी भी कीमत पर सहन नहीं कर सकता था। और फिर उत्तर में हिमालय से पूर्व और पश्चिम में समुद्र तक फैले विशाल साम्राज्य के बीचों बीच पश्चिमी मेवाड़ के छोटे से स्वतन्त्रता अकबर को अखरती थी। इसे शान्तिप्रिय ढंग से अधीन करने प्रयत्न (कुछ लेखक केवल तीन ही प्रयत्न बताते हैं वे अकबर द्वारा भेजे

थों के प्रयत्न का उल्लेख नहीं करते)[1] विफल हो गये थे। इस प्रदेश का व्यापारिक महत्त्व भी कम नहीं था। इसके अतिरिक्त तीर्थयात्रा पर मक्का और मदीना जाने वाले लोग भी सूरत बन्दरगाह से जाते थे और उनका मार्ग भी मेवाड़ से होकर था। इन यात्रियों की सुरक्षा और सफल यात्रा के लिये भी मेवाड़ पर मुगल आधिपत्य आवश्यक समझा गया। इस प्रकार व्यापार, राजनीति और हज या तीर्थयात्रा के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों ने अकबर को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये बाध्य कर दिया।

4. मानसिंह का अपमान—ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अकबर ने राणा से मित्रता करने के चार प्रयत्न किये इनमें से दूसरा प्रयत्न मानसिंह का था। बादशाह ने अनुभव किया कि राणा की ही जाति और धर्म के किसी उच्चपदीय और प्रभावशाली राजपूत को दूत बनाकर इस नाजुक काम के लिये भेजा जाय। इसलिये अप्रैल 1573 ई० में आमेर के राजकुमार मानसिंह को उदयपुर जाने का आदेश दिया गया। राणा ने मानसिंह का मैत्रीपूर्ण सम्मान तो किया किन्तु उसके साथ आगरे दरबार में उपस्थित होना अस्वीकार कर दिया। मानसिंह निराश और अपमानित सा वापस लौट आया। उसे कदाचित यह आशा थी कि वह प्रताप को साथ आगरे ले जा सकेगा और जब अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण करने का फैसला किया तो मानसिंह ने आक्रमण का नेतृत्व स्वयं मांग कर लिया ताकि राणा को बन्दी बनाकर अकबर के सामने पेश कर सके। इस भावना का दूसरा अर्थ लगा कर टाड महोदय ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ 196 पर एक रोचक कथा का वर्णन किया है कि शोलापुर विजय के बाद राजा मानसिंह आगरा लौटते समय राणा से मिलने एक गये। प्रताप ने उदयसागर पहुँच कर मानसिंह का स्वागत किया किन्तु भोजन के समय खुद न आकर राजकुमार अजीतसिंह को भेज दिया। भोजन-स्थल पर प्रताप को न देखकर मानसिंह ने प्रताप के विषय में पूछा तो अमरसिंह ने कह दिया कि—"सिर पीड़ा के कारण पिताजी नहीं आ सकते।" यह सुनकर उसने रोषपूर्ण स्वर में कहा—"मैं उस पीड़ा को समझता हूँ। उस शूल की अब कोई औषधि नहीं हो सकती।" राणा प्रताप भीतर से मानसिंह की यह बात सुन रहे थे, बाहर आकर आवेश में बोले—"मैं उस राजपूत के साथ कभी भोजन नहीं कर सकता, जो अपनी बहन-बेटियों का विवाह एक तुर्क के साथ कर सकता है।"

मानसिंह ने इसे अपना अपमान समझा और बिना खाना खाये उठ गया। प्रताप की तरफ देखकर उसने कहा—"आपके सम्मान की रक्षा के लिये ही मुझे अपनी बहन और बेटियां तुर्कों को देनी पड़ी है। अगर आप इसका लाभ नहीं उठाना चाहते तो इसका अर्थ यह है कि आप स्वयं खतरों को अपने ऊपर ला रहे हैं। यह मेवाड़ राज्य अब आपका होकर न रहेगा।" घोड़े पर बैठते-बैठते उसने प्रताप से फिर कहा—"अगर मैंने आपके इस अपमान का बदला रणक्षेत्र में न दिया तो मेरा नाम मानसिंह नहीं है।" उत्तर देते हुए प्रताप ने कहा—"मैं हर्ष के

1. डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव—अकबर महान्, पृष्ठ 196.

साथ उसके लिये तैयार हूँ।" पास खड़े सरदार ने मानसिंह से कहा—"उस समय अपने फूफा अकबर को भी साथ लेते आना। उसे लाना भूल मत जाना।" जहाँ मानसिंह ठहरा था उसे खोद कर गंगा जल छिड़का गया। यह कथा वास्तव में रोचक है। मानसिंह के साथ प्रताप ने खाना नहीं खाया होगा और आवेश में इस प्रकार की छींटाकसी का हो जाना स्वाभाविक सा लगता है। इस कथन की पुष्टि 'वीर विनोद' की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 147 पर कविराज श्यामलदास भी करते हैं। श्री गहलोत भी अपनी पुस्तक 'राजपूतों का इतिहास' के पहले भाग के पृष्ठ 234 पर इस कथा की पुष्टि करते हैं। श्री ओझाजी भी मेवाड़ के इतिहास में इसे मान्यता प्रदान करते हैं किन्तु राजस्थान के आधुनिक विद्वानों में डॉ० रघुवीरसिंह अपनी पुस्तक पूर्व आधुनिक राजस्थान के पृष्ठ 51 पर इस कथा को काल्पनिक बता कर लिखते हैं कि—"अनेक युगों बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप सम्बन्धी अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।" न जाने किन विश्वस्त सूत्रों के आधार पर इसे काल्पनिक माना जाय यह डॉ० रघुवीर ने बताया। डॉ० गोपीनाथ शर्मा भी इस कथा को काल्पनिक बताते हुए अपनी पुस्तक 'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 89 के फुटनोट में लिखते हैं कि—"इस कहानी में सत्य का कोई स्पर्श नहीं है। राणा से भेंट और दरबार में जाने से मना करने पर यह रंगीन कथा घड़ ली गयी है।" किन्तु राजप्रशस्ति के 21 वें दोहे में भोजन पर मानसिंह और प्रताप के बीच मनमुटाव का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। वह मनमुटाव फिर क्या था? जो भी हो टाड, गहलोत, ओझा, वीर विनोद, राजप्रशस्ति आदि सभी इस घटना को लड़ाई का एक कारण मानते है। आधुनिक इतिहासकार इसको नहीं मानते किन्तु बिना किसी अनुसंधान के इस महत्त्वपूर्ण कथा को रद्दी की टोकरी में डालना भी ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ अन्याय होगा। अतः जब तक कोई हल्दीघाटी के कारणों पर पूरा अनुसंधान कर सत्य पर प्रकाश न डाले तब तक इसे मान लेना भावनाओं के विपरीत नहीं होगा। नैणसी मेहता ने भी अपनी 'ख्यात' में इस कथा का सही वर्णन किया है। सर्वोपरी बात तो यह है कि मानसिंह का प्रयास विफल गया और युद्ध आवश्यक हो गया। तीन प्रयासों की असफलता ने अकबर को युद्ध के लिये बाध्य कर दिया।

5. साम्राज्यवाद या स्वतन्त्रता—डॉ० गोपीनाथ शर्मा इस युद्ध का मूल कारण साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतन्तता का संग्राम बताते हैं। अकबर महान् साम्राज्यवादी था वह अपने समय के प्रारम्भ से पूर्ण साम्राज्यवादी था जबकि प्रताप मेवाड़ की स्वतन्त्रता चाहता था। एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती थी। अकबर अपने अधीन एक संयुक्त राष्ट्र देखना चाहता था, वह तभी हो सकता था जब प्रताप की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाय। प्रताप अपनी प्राचीन वंश परंपराओं के आधार पर और स्थानीय लगाव के कारण आगरे के दरबार में पराधीनता के पकवान खाकर जीने से वह जंगल में रहना, सूखी खाना अधिक पसन्द करता था।

यह सिद्धान्तों की लड़ाई थी जिसमें एक तरफ स्वतन्त्रता प्रताप को बलिदान के लिए प्रेरित कर रही थी और दूसरी तरफ अकबर का साम्राज्यवादी पौरुष उसे ललकार रहा था कि सारे भारत का स्वामी एक छोटे से महत्त्वपूर्ण पहाड़ी प्रदेश को नहीं जीत सका। प्रताप के मन में द्वन्द्व था कि क्या वह अपने अन्य राजपूत राजाओं की तरह अकबर के हरम में अपनी लड़की या बहन की डोली भेजकर दरबारी शान-शौकत प्राप्त करले या अपने घराने की इज्जत के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दे। यही कारण है कि उसने अपने वंश की परम्परा को बनाये रखने के लिए मुगल बादशाह से सुलह करना उपयुक्त नहीं समझा। डॉ० गोपीनाथ शर्मा कहते हैं कि—"प्रताप के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतन्त्रता का सैनिक था तथा आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं था।...वह इस इन्कार के परिणामों से परिचित था इसलिए विपदा का सामना करने की यथासम्भव तैयारियाँ कर ली।" (पृष्ठ 91) इसी समय अकबर भी बंगाल विजय से निपट चुका था अतः मेवाड़ पर आक्रमण उसका अगला कदम बन गया। इन्हीं कारणों को लेकर हल्दीघाटी का युद्ध लड़ा गया।

यहाँ अबुलफजल की एक पंक्ति दे देना उपयुक्त होगा। अकबर के दरबार का यह विद्वान् लेखक कहता है कि "राणा प्रताप के अभिमान को नीचा दिखाना आवश्यक हो गया था क्योंकि उसे अपने पूर्वजों के वंश की कीर्ति, स्थिति की दृढ़ता, अपने राज्य के विस्तार और सम्मान के लिए जीवन बलिदान करने को तत्पर राजपूतों की विशाल संख्या का अभिमान हो गया था। उसका दमन इसलिए आवश्यक हो गया था कि "उसकी अवमानना, गर्व, कपट और छल सभी सीमाओं को पार कर गये थे।"[1]

युद्ध की तैयारी—18 मार्च, 1576 को अकबर स्वयं अजमेर आया और बहुत सोच-विचार कर आखिरकार मानसिंह को अभियान का सेनापति नियुक्त किया। मानसिंह की गणना साम्राज्य के सबसे अच्छे सेनापतियों में होती थी। वह अकबर का पूर्ण विश्वसनीय भी था और "पुत्र" की उच्च उपाधि से भी विभूषित था। मानसिंह की सहायता के लिए चुने हुए सैनिक दिये गये। उसके साथ आसफ खाँ, सैयद अहमद, गाजी खाँ, सैयद राजू, खंगार, मिहतर खाँ, मजाहिदबेग, हाशिम बरहा, जगन्नाथ कछवाहा, माधोसिंह, राय लूनकरन आदि थे। 1 अप्रेल, 1576 को मानसिंह को पंचहजारी मनसबदारी दी गई और 5,000 छँटे हुए घुड़सवारों का सेनापति बनाया गया और दो दिन बाद वह अजमेर से चल पड़ा। इतिहासकार बदायूनी भी मानसिंह के साथ आया था। अजमेर से चलकर वह मांडलगढ़ पहुँचा और इस स्थान पर वह दो महीने तक ठहरा। इस विलम्ब का कारण क्या हो सकता है? मानसिंह अतिरिक्त युद्ध सामग्री की राह देखता रहा। वह आगरा और अपने बीच मार्ग को सुरक्षित बना लेना चाहता था। वह स्वयं आक्रमण न करके

1. अबुलफजल—'अकबरनामा' जिल्द 3, पृष्ठ 173.

चाहता था कि प्रताप आक्रमण करे इसलिए रक्षात्मक स्थान ग्रहण कर सेना चाहता था।

इन तीनों विलम्ब के कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण चौथा कारण यह था कि अकबर को यह आशा थी कि मुगल सेना का जमाव देखकर राणा प्रताप स्वयं मिलाप कर लेगा। इसलिए वह मानसिंह को विशेष आदेश देकर आगरा चला गया था कि मांडलगढ में ठहर कर फिर आक्रमण करे। किन्तु जब दो महीने तक प्रताप ने मांडलगढ़ पर आक्रमण नहीं किया तो मानसिंह आगे बढ़ा। गोगुंडा होता हुआ वह बनास नदी के किनारे मोलेला नामक गाँव में जाकर रुका। प्रताप भी कुम्भलगढ़ से निकल कर हल्दीघाटी से आठ मील दूर लोहसिंह नामक गाँव तक आ पहुँचा।

दोनों के सैन्य बल के बारे भी विद्वानों में मतभेद है। ख्यातो के अनुसार मेवाड़ की सेना में 20,000 घुड़सवार थे और मुगल सेना में 80,000। 'मुहणोत नैणसी के अनुसार मानसिंह की सेना 40,000 थी और प्रताप के पास 9–10हजार सैनिक थे। टाड का मत है कि राणा के 22,000 सैनिकों ने युद्ध में भाग लिया जिनमे से 8 हजार मारे गये और 14,000 वापस लौट आये थे। युद्ध के मैदान में उपस्थित मुगल इतिहासकार बदायूनी और अन्य मुगल इतिहासकार मानसिंह के पास सिर्फ पाँच हजार सवार बताते हैं। प्रताप के पास इन लेखको के अनुसार सिर्फ 3,000 सवार थे। ये सब आँकड़े डॉ० श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'अकबर महान' के पृष्ठ 201 पर दिये हैं। मानसिंह के पास तोपें थी मगर राणा के पास कोई तोप नहीं थी। दोनों ही पक्षों के पास निपुण हाथी थे। राणा की सेना पहाड़ियों के अन्दर थी और मानसिंह उसका बाहर हल्दीघाटी के मैदान में इन्तजार कर रहा था। आखिरकार प्रताप को ही सुरक्षित स्थान छोड़कर मैदान मे आना पड़ा। इस स्थान तक जाने के लिये एक बहुत सँकड़े रास्ते से जाना पड़ता था जिसमें से एक समय में एक ही आदमी जा सकता था। मानसिंह ने अन्दर न जाकर समझदारी की।

हल्दीघाटी का युद्ध—मेवाड़ के भाग्य निर्णय का यह युद्ध एक दिन का था। डॉ० श्रीवास्तव का कहना है कि राणा ने 18 जून, 1576 को प्रातःकाल दर्रे से निकल कर मुगल सेना पर आक्रमण किया।[1] तिथि का समर्थन वे 'अकबर नामा' जिल्द 3 पृष्ठ 174 से करते हैं। जब कि डॉ० गोपीनाथ युद्ध शुरू होने की तारीख 21 जून बताते हैं। वे अपनी तिथि के समर्थन में बदायूनी, अबुलफजल और जगन्नाथ राय अभिलेख का हवाला देते है।[2]

तीन दिन के फरक से घटनाचक्र नही बदलने का। प्रारम्भिक आक्रमण में प्रताप की सेना ने मुगलों की अग्रिम पंक्ति को धूल में मिला दिया और जगन्नाथ

1 डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव—अकबर महान्, पृष्ठ 203

2 डॉ० गोपीनाथ शर्मा—मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स, पृष्ठ 97

कछावा और आसफ खाँ को भाग कर पीछे शरण लेनी पड़ी दूसरा आक्रमण बायें और दाहिने भाग पर हुआ और उसे भी हराकर पीछे हटा दिया। साभर के लूनकरण की सेना जो बांये पक्ष में थी भेड़ों की तरह भाग गई। फतहपुर सीकरी के शेख मँसूर भी डर कर भाग गये। भागते-भागते एक तीर शेख मसूर के अंगूठे को काटता हुआ निकल गया और दूसरा उसके चूतड़ों में घुस गया और वह यह चिल्लाता हुआ भागा कि—"घोर आपत्ति के समय भाग जाना मुहम्मद साहब की उक्तियों में से एक है।" डॉ० श्रीवास्तव कहते हैं कि—"राजपूतों के इस पहले हमले में ही मुगलों की पीठें मुड़ गयीं और वे अपनी बागें खींचना भूल कर बनास नदी के उस पार 10–12 मील तक भाग गये।" ..

राणा ने अब मुगलों के मध्य भाग पर आक्रमण किया। यहीं से युद्ध का पलड़ा बदला। मानसिंह ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। आपसी कटुता से यह युद्ध भीषण हो उठा था। दोनों तरफ द्वन्द्व युद्ध हो रहे थे। हाथियों के युद्ध में राणा की पराजय हुई क्योंकि उसके कई महावत गोली या तीर से मारे गये थे और खाली हाथियों पर मुगलों ने अपने महावत कुदाकर अपना अधिकार कर लिया था। प्रताप का युद्ध में निपुण श्रेष्ठ हाथी 'रामप्रसाद' जिसे पाने को अकबर बहुत बेचैन था, मुगलों के हाथ पड़ गया। अमर काव्य वंशावली और राज रत्नाकर में चारण कथा है कि चेतक भूखे चीते की तरह मानसिंह के हाथी के मस्तक पर जा कूदा। राणा के भाले के वार को मानसिंह ने होदे में झुककर बचा लिया। तभी माधोसिंह कछावा और अन्य मुगल सरदारों ने राणा पर धावा बोल दिया। यह कथा सत्य न हो, किन्तु मानसिंह और प्रताप का सामना अवश्य हुआ था। कई सरदारों से घिरा राणा तीरों से घायल हो गया था। उसके घोड़े की टाँग से खून बराबर बह रहा था। यदि राणा ने कुछ सुरक्षित सैनिक इस समय के लिये रख दिये होते तो वह युद्ध में अवश्य जीत जाता। राणा के सैनिक सुबह चार बजे से तैयार खड़े थे अतः थक गये थे।

उसी समय मुगल सुरक्षित सेना का नायक महेतर खाँ नगाड़े पीटता और अकबर के मैदान में आ पहुँचने की घोषणा करता राजपूतों पर टूट पड़ा। उसकी इस घोषणा से मुगल सेना में नया जोश आ गया और पीछे हटते हुए राजपूत घिरने लगे। राणा भी शत्रुओं से घिर गया था। उसी समय बड़ी सादड़ी के झाला बीदा ने स्वामीभक्ति से प्रेरित होकर राणा का राजकीय छत्र खींच लिया और अपने आप को राणा घोषित कर मानसिंह के सैनिकों पर झपटा। प्रताप पर दबाव कम हो गया। वह हकीम सूर के साथ हल्दी घाटी के दर्रे में से होकर गोगुण्डा जा पहुँचा। झाला बीदा युद्ध में मारा गया। वह ऐसी ही मृत्यु के लिये लालायित था जहाँ अपने स्वामी की रक्षा के लिये अपने प्राण दे सके। उसके गिरते ही मेवाड़ी सेना ने पीठ फेर ली। मुगल सेना यकायक हारा हुआ युद्ध जीत गयी। उसमें पीछा करने की शक्ति नहीं थी। युद्ध सुबह आठ बजे से दोपहर तक चला जिसमें मानसिंह की,

विजय हुई । इस युद्ध में 150 मुगल मारे गये और 300 से अधिक घायल हुए। राणा के 500 प्रसिद्ध सैनिक मारे गये । घायलों की संख्या दुगुनी थी ।

प्रताप को मैदान से भागता देखकर दो मुगल सरदारों ने उसका पीछा किया । उनमें से एक शक्तिसिंह था जिसने चेतक के मरने पर अपना घोड़ा राणा को दे दिया । क्षमा माँगी और साथ हो लिया । इतिहासकार इस कथा को एक नाटकीय तत्वों से भरपूर कवि की अनोखी कल्पना मानते हैं। क्योंकि शाही सेना के सरदारों के नाम में अबुलफजल ने शक्तिसिंह का नाम कहीं नहीं दिया । डॉ० गोपीनाथ, डॉ० रघुवीरसिंह और श्री ओझा भी इस कथा को सच नहीं मानते ।

परिणाम—डॉ० रघुवीरसिंह कहते हैं कि—"पराजित होने पर भी हल्दीघाटी के इस युद्ध ने राणा प्रताप की कीर्ति को अधिक समुज्जवल बना दिया तथा राजस्थान की स्वाधीनता के एकमात्र क्रियात्मक समर्थक राणा प्रताप की गौरवमय स्मृति वाला वह युद्ध क्षेत्र भी स्वतंत्रता देवी की बलिवेदी पर मर मिटने वाले उन स्वामीभक्त देश प्रेमी वीरों के पुनीत रुधिर से सींचा जाकर राजस्थान की थर्मोपली और समूचे भारत के स्वाधीनता प्रेमियों के लिये पुण्य पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया ।"[1]

अधूरी विजय—श्री गहलोत का कहना है कि—"मुगल सेनापति मानसिंह जीत कर भी मेवाड़ राज्य पर पूर्णतया कब्जा नहीं कर सका ।" मुगल सेना को पहाड़ों में पानी और खाद्य सामग्री का बहुत अभाव था । बंजारे अनाज लेकर भी नहीं आते थे । राजपूतों ने यातायात के सब मार्ग काट दिये थे । इसलिये मानसिंह तौरन ही हल्दीघाटी से पीछे लौट आया । उसने गोगुण्डा नगर पर अधिकार कर लिया । वहाँ केवल 20 राजपूत रहते थे, उन्हें मार डाला गया । पहाड़ी प्रदेश पर खेती कम होती थी रसद पाने के मार्ग सँकड़े और दुर्गम थे अतः मुगल सेना गोगुण्डा में पशुओं का मांस और अधिकता से पाये जाने वाले आम खाकर जी रही थी । निराश होकर मानसिंह सितम्बर 1576 ई. में वापस लौट आया । वह पूरे मेवाड़ को अधीन नहीं कर सका । उसने सिर्फ गोगुण्डा जीता था जिस पर प्रताप ने मानसिंह के लौटते ही वापस अधिकार कर लिया ।

असंतोष—हल्दीघाटी के युद्ध के परिणाम संतोषजनक नहीं थे । बादशाह अकबर भी इससे संतुष्ट नहीं था । वह चाहता था कि मानसिंह जैसे भी हो जिन्दा या मृत अवस्था में प्रताप को पकड़ कर लाता । जब मानसिंह असफल रहा तो अकबर ने उसे बुरा भला भी कहा, किन्तु बाद में उसकी समझ में आ गया कि जून की कड़कड़ाती धूप में पहाड़ियों पर छिपे भीलों का पीछा करना सरल ही नहीं असम्भव था । इस युद्ध में असफल रहने के कारण मानसिंह और आसफ खाँ ने

---

1 डॉ० रघुवीरसिंह 'पूर्व आधुनिक राजस्थान', पृष्ठ 57-58

कछावा और आसफ खाँ को भाग कर पीछे शरण लेनी पड़ी दूसरा आक्रमण बायें और दाहिने भाग पर हुआ और उसे भी हराकर पीछे हटा दिया। सांभर के लूनकरण की सेना जो बांये पक्ष में थी भेड़ों की तरह भाग गई। फतहपुर सीकरी के शेख मंसूर भी डर कर भाग गये। भागते-भागते एक तीर शेख मंसूर के अंडू को काटता हुआ निकल गया और दूसरा उसके चूतड़ों में घुस गया और वह यह चिल्लाता हुआ भागा कि—"घोर आपत्ति के समय भाग जाना मुहम्मद साहब की उक्तियों में से एक है।" डॉ० श्रीवास्तव कहते हैं कि—"राजपूतों के इस पहले हमले में ही मुगलों की पीठें मुड़ गयीं और वे अपनी बागें खींचना भूल कर बनास नदी के उस पार 10-12 मील तक भाग गये।"

राणा ने अब मुगलों के मध्य भाग पर आक्रमण किया। यही से युद्ध का पलड़ा बदला। मानसिंह ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। आपसी कटुता से यह युद्ध भीषण हो उठा था। दोनों तरफ द्वन्द्व युद्ध हो रहे थे। हाथियों के युद्ध में राणा की पराजय हुई क्योंकि उसके कई महावत गोली या तीर से मारे गये थे और खाली हाथियों पर मुगलों ने अपने महावत कुदाकर अपना अधिकार कर लिया था। प्रताप का युद्ध में निपुण श्रेष्ठ हाथी 'रामप्रसाद' जिसे पाने को अकबर बहुत बेचैन था, मुगलों के हाथ पड़ गया। अमर काव्य वंशावली और राज रत्नाकर में चारण कथा है कि चेतक भूखे चीते की तरह मानसिंह के हाथी के मस्तक पर आ कूदा। राणा के भाले के वार को मानसिंह ने हौदे में झुककर बचा लिया। तभी माधोसिंह कछावा और अन्य मुगल सरदारों ने राणा पर धावा बोल दिया। यह कथा सत्य न हो, किन्तु मानसिंह और प्रताप का सामना अवश्य हुआ था। मुगल सरदारों से घिरा राणा तीरों से घायल हो गया था। उसके घोड़े की टाँग से खून बराबर बह रहा था। यदि राणा ने कुछ सुरक्षित सैनिक इस समय के लिये रख दिये होते तो वह युद्ध में अवश्य जीत जाता। राणा के सैनिक सुबह चार बजे से तैयार खड़े थे अतः थक गये थे।

उसी समय मुगल सुरक्षित सेना का नायक महतर खाँ नगाड़े पीटता और अकबर के मैदान में आ पहुँचने की घोषणा करता राजपूतों पर टूट पड़ा। उसकी इस घोषणा से मुगल सेना में नया जोश आ गया और पीछे हटते हुए राजपूत घिरने लगे। राणा भी शत्रुओं से घिर गया था। उसी समय बड़ी सादड़ी के झाला बीदा ने स्वामीभक्ति से प्रेरित होकर राणा का राजकीय छत्र खींच लिया और अपने आप को राणा घोषित कर मानसिंह के सैनिकों पर झपटा। प्रताप पर दबाव कम हो गया। वह हकीम सूर के साथ हल्दी घाटी के दर्रे में से होकर गोगुण्डा जा पहुँचा। झाला बीदा युद्ध में मारा गया। वह ऐसी ही मृत्यु के लिये लालायित था जहाँ अपने स्वामी की रक्षा के लिये अपने प्राण दे सके। उसके गिरते ही मेवाड़ी सेना ने पीठ फेर ली। मुगल सेना यकायक हारा हुआ युद्ध जीत गयी। उसमें पीछा करने की शक्ति नहीं थी। युद्ध सुबह आठ बजे से दोपहर तक चला जिसमें मानसिंह की

विजय हुई। इस युद्ध में 150 मुगल मारे गये और 300 से अधिक घायल हुए। राणा के 500 प्रसिद्ध सैनिक मारे गये। घायलों की संख्या दुगुनी थी।

प्रताप को मैदान से भागता देखकर दो मुगल सरदारों ने उसका पीछा किया। उनमें से एक शक्तिसिंह था जिसने, चेतक के मरने पर अपना घोड़ा राणा को दे दिया। क्षमा माँगी और साथ हो लिया। इतिहासकार इस कथा को एक नाटकीय तत्त्वों से भरपूर कवि की अनोखी कल्पना मानते हैं। क्योंकि शाही सेना के सरदारों के नाम में अबुलफ़ज़ल ने शक्तिसिंह का नाम कहीं नहीं दिया। डॉ० गोपीनाथ, डॉ० रघुवीरसिंह और श्री ओझा भी इस कथा को सच नहीं मानते।

परिणाम—डॉ० रघुवीरसिंह कहते हैं कि—"पराजित होने पर भी हल्दीघाटी के इस युद्ध ने राणा प्रताप की कीर्ति को अधिक समुज्जवल बना दिया तथा राजस्थान की स्वाधीनता के एकमात्र क्रियात्मक समर्थक राणा प्रताप की *पराजयपूर्ण स्मृति वाला वह युद्ध क्षेत्र भी स्वतंत्रता देवी की बलिवेदी पर मर* मिटने वाले उन स्वामीभक्त देश प्रेमी वीरों के पुनीत रुधिर से सींचा जाकर राजस्थान की धर्मावली और समूचे भारत के स्वाधीनता प्रेमियों के लिये पुण्य पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया।"[1]

अधूरी विजय—श्री गहलोत का कहना है कि—"मुगल सेनापति मानसिंह जीत कर भी मेवाड़ राज्य पर पूर्णतया कब्जा नहीं कर सका।" मुगल सेना को पहाड़ों में पानी और खाद्य सामग्री का बहुत अभाव था। बजारे अनाज लेकर भी नहीं आते थे। राजपूतों ने यातायात के सब मार्ग काट दिये थे। इसलिये मानसिंह फ़ौरन ही हल्दीघाटी से पीछे लौट आया। उसने गोगुण्डा नगर पर अधिकार कर लिया। वहाँ केवल 20 राजपूत रहते थे, उन्हें मार डाला गया। पहाड़ी प्रदेश पर खेती कम होती थी रसद पाने के मार्ग सँकड़े और दुर्गम थे अतः मुगल सेना गोगुण्डा में पशुओं का मांस और अधिकता से पाये जाने वाले आम खाकर जी रही थी। निराश होकर मानसिंह सितम्बर 1576 ई. में वापस लौट आया। वह पूरे मेवाड़ को अधीन नहीं कर सका। उसने सिर्फ गोगुण्डा जीता था जिस पर प्रताप ने मानसिंह के लौटते ही वापस अधिकार कर लिया।

असंतोष—हल्दीघाटी के युद्ध के परिणाम संतोषजनक नहीं थे। बादशाह अकबर भी इनसे संतुष्ट नहीं था। वह चाहता था कि मानसिंह जैसे भी हो जिन्दा या मृत अवस्था में प्रताप को पकड़ कर लाता। जब मानसिंह असफल रहा, तो अकबर ने उसे बुरा भला भी कहा, किन्तु बाद में उसकी समझ में आ गया कि जून की कड़कड़ाती धूप में पहाड़ियों पर छिपे भीलों का पीछा करना सरल ही नहीं असम्भव था। इस युद्ध में असफल रहने के कारण मानसिंह और आसफ खाँ ने

1 डॉ० रघुवीरसिंह 'पूर्व आधुनिक राजस्थान', पृष्ठ 57–58

का दमन आवश्यक हो गया। इसलिए अकबर ने अपने श्रेष्ठ सेनापति शाहबाज खाँ को प्रताप के दमन के लिये भेजा। अबुलफजल लिखता है कि—"राजनीतिक एकता में कोई दरार न पड़े और विश्व का खुशनुमा संसार गृह अनेकता की हलचल से कलंकित न हो।" इसलिये बादशाह ने कोई आधा दर्जन योग्य सेनापतियों को शाहबाज खाँ के साथ राणा को नष्ट करने भेजा।

शाहबाज खाँ ने पाँच महीने के अन्दर उदयपुर से 40 मील उत्तर में कुम्भलगढ़ को घेर लिया। उसने भगवतदास, मानसिंह आदि हिन्दू सेनापतियों को इसलिये दिल्ली वापस भेज दिया ताकि वे कुम्भलगढ़ के घेरे को असफल न बना दे। किले में एक भारी तोप फट जाने से सारी युद्ध सामग्री नष्ट हो गयी। राणा सन्यासी का भेष बनाकर किले से निकल गया। तीन अप्रेल 1578 को किले पर शाहबाज खाँ का अधिकार हो गया। उसने एक ही दौर में गोगुण्डा और उदयपुर पर भी पुनः अधिकार कर लिया। राणा ने इन प्रदेशों को जीत लिया था। इस विजय के बाद वह फतहपुर सीकरी लौट आया। उसके जाते ही राणा ने फिर अपने प्रदेशों पर अधिकार करना शुरू कर दिया। इस प्रकार की विजय पराजय तीन बार हुई। शाहबाज खाँ ने तीन बार मेवाड़ पर भयानक आक्रमण किये किन्तु उसके लौटते ही राणा प्रताप ने अपना प्रभुत्व वापस स्थापित कर लिया। शाहबाज खाँ भी राणा को पकड़ने या नष्ट करने में असफल रहा।

प्रताप की सफलता—शाहबाज के आक्रमणों के बाद अकबर ने जगन्नाथ कछावा को फिर भेजा। जिसने कई छापामार युद्धों में राणा के गुप्त स्थानों पर आक्रमण किया किन्तु यह भी उसे पकड़ या अधीन नहीं कर सका। जगन्नाथ भी 1585 में वापस लौट गया। तब से 1597 तक बारह वर्ष के समय में अकबर ने राणा पर कोई आक्रमण नहीं किया और इस समय में राणा ने शक्ति संगठन किया और पश्चिमी आधे मेवाड़ पर पुनः अपना अधिकार कर लिया उदयपुर, मांडलगढ़, जहाजपुर आदि महत्त्वपूर्ण स्थानों पर राणा ने वापस अधिकार कर लिया। अकबर ने हर किले में एक थानेदार और हजार सैनिक छोड़ रखे थे।[1] राणा ने एक एक कर इन्हें पराजित कर अपना राज्य वापस ले लिया। शासन संगठन किया और चावंड में नई राजधानी बसाई। चावंड में एक धनुष की कठोर प्रत्यंचा खींचते समय राणा की एक आंत फट गई और वह अपने नवनिर्मित महल में 19 जनवरी, 1597 को परलोक सिधार गया।

अकबर प्रताप के बीच 25 वर्ष तक संघर्ष रहा जिसमें अकबर के अनुचित उद्देश्य पूरे नहीं हो सके। डॉ० श्रीवास्तव कहते हैं कि "अकबर असफल रहा प्रताप सफल हुआ। एक महान और सर्वशक्तिमान सम्राट् उसका विरोधी था और उसके महान साम्राज्य की पूरी शक्ति उसके विरुद्ध लगी हुई थी, पर फिर भी प्रताप ने

1 वीर विनोद—जिल्द, 2, पृष्ठ 163.

परतन्त्र होना स्वीकार नहीं किया। इस पूरे युद्ध में अपने राज्य की स्वतन्त्रता और वंश का सम्मान बनाये रखने की सर्वग्रासी लालसा ने ही महान राणा को जीवित रखा था। वह फुसलावे और शक्ति के आगे न झुका और न लड़खड़ाया ही।"[1]

प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रताप ने अकबर के भारत की एकता के कार्य मे सम्मिलित न होकर गलती की ? इस असहयोग के लिये अकबर ही अधिक दोषी है। अकबर राणा प्रताप की उपस्थिति अपने दरबार मे चाहता था जो उसे प्राप्त न हो सकी। प्रताप हमेशा अकबर के दूतों का सम्मान करता था। प्रताप हमेशा हर दूत से यही कहता था कि मुगल दरबार में उसकी उपस्थिति को माफ कर दिया जाय किन्तु अकबर जैसा महान शासक भी इस छोटी सी बात को नही मान सका। यह मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिये कि राणा एक सही कारण के लिये लड़ रहा था और अकबर सिर्फ अपने अहम् और जिद की पूर्ति चाहता था। अकबर ने अपनी धर्म निरपेक्षता का प्रदर्शन प्रताप पर क्यो नही किया ? उसकी यह नीति सिर्फ 80 वर्ष तक चल सकी।

राणा प्रताप एक महान हिन्दू नायक ही नही बल्कि हिन्दू सम्मान और प्रतिष्ठा का सफल रक्षक भी था। राजस्थान पर होने वाले निरन्तर आक्रमणों का प्रभाव वहाँ के साहित्य, कला और सस्कृति के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा जिसका वर्णन अलग किया जायगा। प्रताप ने अपने निर्वासित काल मे अनेक कष्ट सहे जिनसे उसका चरित्र और गौरव दोनो आज भी शोभान्वित हैं।

"प्रताप के पुत्र के समय मे लिखे 'अमर सार' से विदित होता है कि राणा ने राज्य में शान्ति स्थापित कर ली थी। प्रजा को किसी प्रकार का भय नही था। उसने शिक्षा की व्यवस्था की थी और उसके राज्य में दूध की बहुतायत थी और कई प्रकार के फलों के पेड़ लगाये गये थे। समृद्धि के इस युग में कई नये नगरों का निर्माण हुआ जिनमें स्वामी भक्त और धनी प्रजा निवास करती थी। डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"

"प्रताप के भाग्य मे अगले बारह वर्ष, सुख शान्ति और विदेशी आक्रमणों से मुक्ति लिखी थी।"[2]

☐

1 डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव—'अकबर महान', पृष्ठ 217.
2 डॉ० गोपीनाथ शर्मा—'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स', पृष्ठ 118.

12

राव मालदेव (1531–1562)

मारवाड़ के इतिहास में मालदेव का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जितना मेवाड़ के इतिहास में राणा साँगा या प्रताप का है। विदेशी लेखक फरिश्ता और बदायूनी मालदेव को "भारत का महान् पुरुषार्थी राजकुमार कहा है।" वास्तव में विदेशियों का यह वर्णन सत्य ही है। राणा साँगा को तो सिर्फ बाबर का ही सामना करना पड़ा था और प्रताप भी एकमात्र अकबर का प्रतिद्वन्द्वी था, किन्तु मालदेव को आन्तरिक वैमनस्य और विदेशी आक्रमणकारियों का एकसाथ सामना करना पड़ा। गुजरात का बहादुरशाह, दिल्ली का हुमायूँ और बिहार का शेरशाह तो उसकी प्रगति मे बाधक थे ही किन्तु राजस्थान के राजपूत राजा भी मालदेव के मार्ग मे बड़ी रुकावट थे। उसे जिस प्रकार शेरशाह से उलझना पडा उसी प्रकार उसने बीकानेर, जैसलमेर, मेड़ता आदि 48 राजस्थानी स्थानो पर विजय प्राप्त कर अपने पुरुषार्थ का प्रमाण दिया। उसके 31 वर्षीय शासन काल मे मारवाड़ का जो राज्य विस्तार हुआ तथा जिस विजय को अपना कर मालदेव ने मारवाड़ को सुदृढ़ और शक्तिशाली राज्य बनाया, उससे वह मारवाड़ के ही नही सारे राजस्थान के इतिहास मे अमर हो गया है। सन् 1531 मे जब मालदेव मारवाड़ की गद्दी पर बैठा तो जोधपुर के अतिरिक्त उसके राज्य मे सोजत और मडोर मात्र दो राज्य ही और थे। मालदेव के शासनकाल में जोधपुर का राज्य अपनी चरम सीमा तक जा पहुँचा था। समय मालदेव के अनुकूल था और परिस्थितियाँ उसका मार्ग-दर्शन कर रही थी। मालदेव को किन परिस्थितियों ने महान बना दिया, यह देखने से पहले यदि हम उसके पूर्वजो की स्थिति और उसके पिता राव गगा का सक्षिप्त अवलोकन कर लें तो मालदेव की प्रगति पर आश्चर्य नही होगा।

1. पूर्व स्थिति—मालदेव ने स्वयं मुगलो से शत्रुता मोल नही ली थी। उसके पिता राव गगा ने राणा साँगा से मित्रता कर ली थी और ईडर के उत्तराधिकार युद्ध में रायमल की मदद करने के लिए राणा साँगा को सात हजार सैनिको की सहायता दी थी। बाबर के विरुद्ध खानवा के युद्ध मे भी चार हजार मारवाड़ी सैनिक साँगा की तरफ से लड़े थे। नैणसी अपनी ख्यात की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 144-45 पर कहता है कि—"साँगा जैसे शक्तिशाली शासक के साथ रह कर राव गाँगा ने अपने राज्य का राजनीतिक स्तर ऊपर उठा दिया।" साँगा तो परलोक सिधार गये और बाबर, शेरशाह हुमायूँ व गुजरात के बहादुरशाह जैसे

शक्तिशाली शासकों के बीच में मारवाड़ का छोटा सा राज्य हाथियों के बीच छोटे से पेड़ की तरह खड़ा रह गया। जोधपुर राज्य के विस्तार में सबसे बड़ी बाधा मेवाड़ राज्य था। साँगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ अयोग्य व नाबालिग शासकों के हाथ में आ गया। हुमायूँ और बहादुरशाह के बीच दीर्घकालीन संघर्ष ने मालदेव को राज्य विस्तार का स्वर्ण अवसर प्रदान कर दिया। चार वर्ष के थोड़े से समय में साँगा, बाबर और राव गांगा की मृत्यु से मालदेव को राज्य विस्तार का अच्छा अवसर मिल गया। हुमायूँ गुजरात के बहादुरशाह और बिहार के शेरशाह से युद्ध मे व्यस्त था अतः उसे मारवाड के छोटे मोटे राज्यों की तरफ ध्यान देने का अवसर ही नही था। मारवाड़ को दबाकर रखने वाले मेवाड़ के राणा भी अयोग्य व क्षीण थे। समय ऐसा उपयुक्त था कि मालदेव अपने पूर्वजों के शत्रुओं को पराजित कर अपना राज्य विस्तार कर सकता था। साँगा का देहान्त 1528 में हुआ, बाबर 1530 मे चल बसा, और 1531 में राव गांगा की सदेहात्मक मृत्यु हो गई। तैमूर वंशी हुमायूँ चरित्र से अकर्मण्य था। चारों तरफ से पठान सूबेदार उसके विरुद्ध सर उठा रहे थे। अन्यथा मेवाड़ के बाद बाबर का बेटा मारवाड पर अधिकार करता। भारत पर राजनीतिक अधिकार के लिए जब मुगल और पठान आपस में झूझ रहे थे तब मालदेव ने अवसर का लाभ उठा कर मारवाड़ का राज्य विस्तार किया। परिस्थितियाँ भयानक होते हुए भी चतुर मालदेव के लिए सर्वथा अनुकूल हो गई क्योंकि वह एक चतुर, दूरदर्शी, साहसी, योग्य और अवसर से लाभ उठाने की क्षमता रखने वाला शासक था। डॉ० भार्गव अपने अनुसंधान ग्रंथ 'मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 21 पर लिखते हैं कि—"ईश्वर प्रदत्त सैनिक और एक चतुर कूटनीतिज्ञ मालदेव सतर्कता से बढ़ता गया और परिस्थिति को आवश्यक चातुर्य व निश्चय से संचालन करता गया।"

मारवाड़ में ही जालोर, सिकन्दर खाँ के अधीन स्वतन्त्र था। मालदेव के पिता गांगा ने जालोर को अपने अधीन करना चाहा था किन्तु सिकन्दर खाँ ने उसको सेना का व्यय देकर वापस लौटा दिया था। मारवाड़ की दूसरी शक्ति नागौर पर भी खानजादा दौलत खाँ राज्य करता था। राव गांगा के समय दौलत खाँ ने राव गांगा के चाचा से मिलकर जोधपुर पर चढ़ाई की थी। राव गांगा ने बीकानेर नरेश राव जैतसी की सहायता से दौलत खाँ और अपने चाचा की सम्मिलित सेना को सेवकी गाँव के युद्ध मे पराजित कर दिया। चाचा शेखा तो मारा गया किन्तु दौलत खाँ नागौर भाग गया। इस प्रकार जालोर व नागौर के शासक जोधपुर से डरते तो थे किन्तु आन्तरिक शत्रुता रखते थे। मेड़ता का जागीरदार वीरमदेव भी राव गांगा की अवहेलना किया करता था। उसने सेवकी के मैदान से भागे दौलत खाँ के हाथी को पकड़ लिया और जब राव गांगा ने इस हाथी की माँग की तो वीरमदेव ने देने में आनाकानी की। फलस्वरूप राव गांगा और मालदेव ने मेड़ता पर आक्रमण किया। वीरमदेव ने दोनों का स्वागत किया और

हाथी देने का भी वादा किया। यह हाथी बाद में जोधपुर भेजा गया जिसकी मार्ग में ही मृत्यु हो गई। इस घटना से मेड़ता और जोधपुर के सम्बन्ध भी खराब हो गये। सोजत का जागीरदार वीरम भी स्वतन्त्र होना चाहता था। अतः राव गांगा ने उसे गद्दी से हटा कर अधिकांश भाग अपने अधीन कर लिया व वीरम को कुछ गाँवों की जागीर मात्र दे दी। इससे सोजत का जागीरदार भी जोधपुर व राव गांगा का शत्रु बन गया।

इस प्रकार यदि हम 1531 ई० में जोधपुर की राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होगा कि मारवाड़ के आन्तरिक राज्य सोजत, मेड़ता, जालौर, व नागौर, मारवाड़ के कट्टर शत्रु थे, जिन पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना था।

गुजरात का सुल्तान बहादुरशाह भी ईडर के प्रश्न को लेकर मारवाड़ से चिढ़ गया था। मेवाड़ की आन्तरिक शक्ति डावाँडोल थी। बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ स्वयं डावाँडोल स्थिति में था। मालदेव ने उसे सहायता का प्रलोभन देकर एक शत्रु कम कर लिया तो बिहार का शासक शेरशाह नाराज हो गया। इस सब उथल-पुथल के बीच मालदेव ने जिस नीति निपुणता से आधुनिक मारवाड़ का राज्य संगठन किया वह सराहनीय है। सारा देश अनिश्चित वातावरण में घुट रहा था। ऐसे समय मे मारवाड़ को शान्ति और समृद्धि प्रदान करने वाला मालदेव वास्तव मे राजस्थान के प्रभावशाली शासकों में अपना स्थान सुरक्षित कर लेता है।

2. प्रारम्भिक जीवन—मालदेव राव गांगा का ज्येष्ठ पुत्र था। वह बाल्यावस्था से ही हर अभियान में अपने पिता के साथ रहता था। नागौर, जालौर और मेड़ता के अभियानों मे वह अपने पिता के साथ था। बचपन से ही उसे युद्ध और नीति के दाँवपेच आ गये थे। वह एक महत्त्वाकांक्षी युवराज था। टाड महोदय का कहना है कि मालदेव ने "लूनी के आसपास के प्रदेश जिन पर उसके पूर्वजों ने सर्वप्रथम अधिकार किया था और जो प्रदेश स्वतन्त्र हो चुके थे, उन्हें पुनः अपने अधिकार में किया और उनको अपना आधिपत्य स्वीकार करने और सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य किया।" उसने अपने शासन के प्रारम्भिक दस वर्ष पड़ौसियों को दबाने और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे व्यतीत किये।

राव मालदेव के राज्य प्राप्ति पर इतिहासकारों मे संदेह की भावना है। ऐसा माना जाता है कि राव मालदेव अपने पिता राव गांगा की हत्या कर राज्य प्राप्त किया था। डॉ० रघुवीरसिंह जी अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' के पृष्ठ 27 पर लिखते हैं कि—"आपसी झगड़ों और बाहरी आक्रमणों के फलस्वरूप मेवाड़ राज्य की शक्ति क्षीण हो रही थी, तब राजस्थान के ही एक दूसरे कोने मे राठौड़ों के मारवाड़ राज्य की सत्ता का उदय हो रहा था। मई 1532 ई० के

प्रारम्भ में मालदेव ने बहुत ही नरम और शान्तिप्रिय स्वभाव वाले अपने अफीमची पिता, मारवाड़ के शासक राव गांगा को ऊपर की मंजिल के झरोके में से गिरा कर मार डाला, तथा स्वयं मारवाड़ का शासक बन गया।" इतिहासकार रेऊ 'मारवाड़ के इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 115 पर राव गांगा की मृत्यु अकस्मात् झरोके से गिर जाने के कारण बताते हैं उनका कहना है कि—"1531 ई० के एक दिन राव गागा अफीम की पीनक में झपकी लेने के कारण अपने महलों की एक खिड़की से गिर कर मर गया।" ओझाजी 'जोधपुर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 180-81 पर कहते हैं कि—"कुंवर मालदेव बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसने अफीम की पीनक में बैठे हुए राव गांगा को ऊपर खिड़की से नीचे गिरा दिया।" इसी प्रकार मुण्डियार ख्यात में एक दोहे में गांगा की हत्या का वर्णन इस प्रकार किया है कि मालदेव ने गांगा के अंगरक्षक भांण और मूला पर आक्रमण किया। स्पष्ट है कि मालदेव षड्यंत्र में शरीक था। रेऊ मालदेव पर यह कलंक नहीं लगाना चाहते अतः अचानक नशे में झपकी आने से गिर जाना बताते हैं किन्तु स्थिति को देखते हुए मालदेव का घटना में सम्मिलित होना सामान्य बात लगती है। जोधपुर राज्य की ख्यात भाग एक के पृष्ठ 33 पर स्पष्ट लिखा है कि मालदेव ने झरोके से गांगा को गिराया। डॉ० गोपीनाथ और रघुवीर सिंह भी इसी मत से सहमत हैं। अतः स्पष्ट है कि मालदेव अपने पिता को मार कर मारवाड़ की गद्दी पर बैठा था।

मालदेव 5 जून, 1531 ई० के दिन गद्दी पर बैठा। उसने 31 वर्ष राज्य किया और सात नवम्बर 1562 को उसका देहान्त हो गया। जोधपुर में उसने अपने पिता की हत्या की थी अतः जोधपुर में ही राज्याभिषेक करवाने की उसकी हिम्मत न हो सकी। जोधपुर उस समय षड्यंत्रों का केन्द्र हो रहा था अतः मालदेव ने विरोध को टालने के लिए सोजत में अपना राज्याभिषेक किया। समय के साथ वह जोधपुर आने जाने लगा और फिर जोधपुर में रहने लगा। मालदेव ने अपने पड़ौसी राज्यों से सम्बन्ध सुधारे। उसने वणवीर के विरुद्ध उदयसिंह को राणा घोषित किया और जब गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो राणा विक्रमादित्य की सैनिक सहायता की। उसने अपने योग्य सरदारों को मेवाड़ भेज कर वणवीर को बाहर निकाल कर उदयसिंह को चित्तौड़ की गद्दी पर बिठाया। बदले में महाराणा उदयसिंह ने चार लाख रुपया और बसन्तराय नामक हाथी मालदेव को भेजे। इस कथानक में अतिशयोक्ति लगती है और ओझा जी इसे सत्य नहीं मानते। लेकिन नैणसी और रेऊ इसका समर्थन करते हैं। जो भी हो मालदेव ने मेवाड़ के उत्तराधिकार प्रश्न में सक्रिय भाग लेकर जोधपुर का सम्मान बढ़ा लिया। इससे मालदेव का सम्मान भी बढ़ा। 'राम रूपक' नामक ग्रन्थ में मालदेव की प्रारम्भिक विजयों का वर्णन करते हुए चारण वीरभाण लिखता है कि—

'माल गंग गादी राव मारू
सबला किया आपरै मारू ।।'

3. मालदेव की विजय—मालदेव को गुजरात के शासक बहादुरशाह का सदा भय बना रहता था किन्तु 1537 में उसका भी देहान्त हो गया । हुमायूँ तो शेरशाह से उलझा था अतः इन दोनों का भी शुरू में कोई भय नहीं था । सब ओर से निश्चित होकर मालदेव ने राज्य विस्तार कार्य शुरू किया । उसकी विजय में प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण, भद्राजण, नागौर, मेड़ता, अजमेर, सिवाना और जालौर विजय हैं ।

(क) भद्राजण विजय—मालदेव राज्य विस्तार की नीति में विश्वास रखता था । उसने सबसे पहले 1539 में भद्राजण पर अधिकार किया । भद्राजण जोधपुर के दक्षिण में स्थित है । भद्राजण का स्वामी वीरा कई दिनों के युद्ध के बाद मारा गया । भद्राजण के सिंधली शासक जोधपुर के विरोधी थे । वीरा के मारे जाने पर मालदेव ने भद्राजण की जागीर अपने लड़के रतनसिंह के नाम कर दी । इस विजय से उसका एक प्रबल शत्रु समाप्त हो गया । इस अभियान में मेड़ता के जागीरदार वीरमदेव ने भी मालदेव का साथ दिया । इस प्रथम विजय ने मालदेव के हौंसले बढ़ा दिये और वह अन्य विजय की योजनाएँ बनाने लगा । लगे हाथ उसने रायपुर पर भी आक्रमण कर दिया । रायपुर में भी सिंधली वंश का शासक था । मालदेव ने 1541 में उसे भी पराजित कर मार डाला और रायपुर भी अपने लड़के रतनसिंह को दे दिया । रेऊ अपनी पुस्तक मारवाड़ के इतिहास के पहले भाग के पृष्ठ 116 पर इस विजय का वर्णन करते हैं ।

(ख) नागौर विजय 1536—भद्राजण और रायपुर जीतने के बाद मालदेव ने अपना ध्यान दूसरी तरफ की सीमा पर दिया । नागौर पर दौलत खाँ का अधिकार था और दौलत खाँ मालदेव के पिता के समय से मेड़ता लेने का प्रयत्न कर रहा था । मालदेव ने उपयुक्त समय देखकर नागौर पर आक्रमण कर दिया । दौलत खाँ ने मालदेव के चाचा शेखा के साथ जोधपुर पर भी आक्रमण किया था । *उस समय दौलत खाँ जान बचाकर भाग गया था ।* दौलत खाँ ने हीरावाड़ी के मैदान में मालदेव का सामना किया किन्तु हार गया । नागौर पर मालदेव का अधिकार हो गया । दौलत खाँ ने अपनी सारी सेना को एकत्रित कर एक बार फिर मालदेव पर आक्रमण किया किन्तु इस बार भी पराजित हुआ । मालदेव ने वीरम मांगलियोत को नागौर का हाकिम नियुक्त किया और स्वयं जोधपुर लौट आया । कवि श्यामलदास, रेऊ और ओझाजी सभी मालदेव की इस विजय को महत्त्वपूर्ण बताते हैं ।

(ग) मेड़ता व अजमेर विजय (1535)—यद्यपि मेड़ता में जोधपुर का ही एक हाकिम राज्य करता था किन्तु राव गाँगा के समय से मेड़ता और जोधपुर के सम्बन्ध बिगड़ रहे थे । मेड़ता के हाकिम राव वीरमदेव ने दौलत खाँ का हाथी

पकड़ लिया था और राव गांगा के मांगने पर भी नहीं दिया था। फलस्वरूप गांगा और मालदेव ने मेड़ता पर चढ़ाई की थी। अपनी दुर्बलता को समझ कर वीरमदेव ने जोधपुर नरेश का स्वागत किया था और हाथी लौटाने का वादा भी। किन्तु हाथी मार्ग में ही मर गया था और मालदेव इस व्यवहार से असंतुष्ट था। मालदेव इस प्रकार के हाकिमों को हटा देना चाहता था। उसने तेजा और कूंपा नामक योग्य सेनापतियों की अधीनता में एक सेना मेड़ता भेजी जिसने वीरमदेव को मेड़ता से निकाल दिया। वीरमदेव अजमेर भाग गया और वहां से उसने मेवड़ा और रीयां पर पुनः अधिकार करने के लिये छापे मारे। फलस्वरूप तेजा और कूंपा ने आगे बढ़ कर अजमेर पर भी आक्रमण किया। वीरमदेव को अजमेर भी छोड़ना पड़ा और वह रायमल शेखावत के पास गया। एक वर्ष तक युद्ध की तैयारी करने के बाद उसने मेड़ता पर फिर से आक्रमण किया किन्तु मालदेव के योग्य सेनापति तेजा और कूंपा ने उसे फिर मार भगाया। निराश होकर वीरमदेव रणथम्भोर के मुसलमान हाकिम से मिला जो उसे शेरशाह के पास ले गया। आगे चल कर शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया और यही वीरमदेव मारवाड़ की पराजय का बड़ा कारण बन गया। मारवाड़ के इस हाकिम ने मालदेव के लिये बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी। जो भी हो अपने प्रारम्भिक काल में मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता और अजमेर छीन कर अपने राज्य में मिला लिया।

(घ) सिवाना और जालोर विजय :—कृष्ण पक्षी आसाढ़ वि० सं० 1594 (1537) का एक लेख सिवाना के काले द्वार के बाहर प्राप्त हुआ है जिसके अनुसार मालदेव ने सिवाना विजय 1537 में की थी। टाड महोदय का यह मत कि मालदेव ने सिवाना 1539 में जीता था असत्य सिद्ध होता है। उस समय सिवाना पर राणा डूंगरसी राज्य करता था। मालदेव ने पहले अपनी एक सेना भेजी जिसे राणा डूंगरसी ने परास्त कर वापस लौटा दिया तब स्वयं मालदेव अपनी पूरी शक्ति के साथ सिवाना पर चढ़ आया और उसने सिवाना के किले को घेर लिया। डूंगरसी के पास रसद की कमी थी अतः वह किला खाली कर चुपचाप निकल गया और इस प्रकार बिना विशेष कठिनाई के मालदेव ने सिवाना का दुर्ग जीत लिया। डॉ० गोपीनाथ मालदेव की सिवाना विजय 1838 में लिखते हैं। इस वर्ष में कुछ सन्देह हो सकता है किन्तु यह स्पष्ट है कि मालदेव ने डूंगरसी को भगा कर सिवाना पर अधिकार कर लिया।

इसी प्रकार जब उसे मालूम पड़ा कि जालोर का शासक सिकन्दर खाँ उसके विरुद्ध षडयंत्र रच रहा है और उसे मारने का अवसर ढूंढ़ रहा है तो उसने जालौर पर आक्रमण कर सिकन्दर खाँ को बन्दी बना लिया। सिकन्दर खाँ मालदेव की कैद में ही मर गया। इस प्रकार सिकन्दर खाँ को अपने किये का फल मिल गया और उसके पतन के साथ मालदेव की प्रारम्भिक विजय का कार्य पूरा हो गया।

(ण) अन्य विजय :—मालदेव को अपनी पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में मंडोर,

सोजत और जोधपुर मिले थे। धीरे-धीरे राज्य विस्तार कर उसने अड़तालीस जिलों पर अधिकार कर लिया। ऊपर हम उसकी भद्राजण, नागौर, मेड़ता, अजमेर, सिवाना और जालोर विजय का वर्णन कर चुके हैं। इस प्रकार उसका नौ जिलों पर अधिकार हो गया बाकी के 39 जिलों पर विजय प्राप्त करने में उसे विशेष कठिनाई नहीं पड़ी। उसकी अन्य विजय के प्रदेश सांभर, खाटू, बिदनौर, लौनू, लोहागढ़, झागलगढ़, बीकानेर, भीनमाल, पोकरण, बाड़मेर, करौली, जोजावर, बंवली, मलार, नाडौल, फलौदी, सांचोर, डीडवाना, चाटसू, लोहान, मलारना, देवरा, फतहपुर, अमृतपुर, फावर, भीनापुर, टोंक, टोडा, जहाजपुर, उदयपुर(शेखावटी मे), मालपुर, बिलाड़ा, जैतारण, पचभदरा आदि के शासकों को पराजित किया। इस प्रकार मालदेव ने सिर्फ दस वर्ष के समय में 48 जिलों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसके राज्य की सीमा दिल्ली और आगरे को छूने लगी। जिस समय शेरशाह ने 1540 में हुमायूँ को निर्णयात्मक रूप से पराजित किया उस समय मालदेव उत्तरी भारत का एक शक्तिशाली शासक बन चुका था और इस स्थिति में था कि उसकी सहायता भगोड़े हुमायूँ को पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठा सकती थी। उसने हुमायूँ को निमंत्रण भी दिया था। स्पष्ट है कि मालदेव में शेरशाह को चुनौती देने की शक्ति थी। उसके अधीन अनेक राठौर आ गये थे। इन्हीं में से जयमल हुआ जो मेवाड़ के इतिहास में काफी ऊँचा स्थान रखता है।

श्री मनोहर प्रभाकर अपनी पुस्तक 'राजस्थान की ऐतिहासिक विभूतियाँ' के पृष्ठ 84 पर यहाँ तक लिख देते हैं कि "अपने परिवार को साथ लेकर हुमायूँ राजा मालदेव के पास शरण मांगने आया। परन्तु राणा सांगा की ओर से बाबर के विरुद्ध लड़ता हुआ मालदेव का लड़का खानवाह के युद्ध में मारा गया था, अतः हुमायूँ की सहायता करना अस्वीकार कर दिया और फलतः हुमायूँ को मारवाड़ से निराश ही लौटना पड़ा।" किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है कि सहायता का प्रस्ताव राव मालदेव ने भेजा था न कि स्वयं हुमायूँ ने। इस बात पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि मालदेव इतना शक्तिशाली हो गया कि भारत का मुगल सम्राट भी उससे सहायता की आशा करने लगा। मालदेव के लिये इससे बढ़कर मान्यता क्या हो सकती थी।

4. मालदेव व बीकानेर :—बीकानेर को उस समय जांगल देश के नाम से जाना जाता था और मालदेव के समय इस जांगल देश का राजा राव जैतसी था। मालदेव जब मेड़ता, नागौर और शेखावाटी पर अपना अधिकार कर चुका तो राज्य विस्तार की लालसा से प्रेरित होकर उसने अपने सेनापति कूंपा की अधीनता में एक विशाल सेना जांगल देश की विजय के लिये भेजी। बीकानेर का राजा राव जैतसी अपनी सीमित शक्ति से पूर्णतया परिचित था फिर भी उसने आत्म-समर्पण करने से मर जाना अच्छा समझा। उसने अपने परिवार की सुरक्षा के लिये सिरसा नगर भेज दिया और स्वयं अपनी पूरी शक्ति के साथ मालदेव की सेना का

मुकाबला करने आगे बढ़ा। साहेबा के मैदान में उसने मालदेव के सेनापति का कड़ा मुकाबला किया और लड़ता हुआ अपने साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। लड़ाई के मैदान में आने से पहले जैतसी ने अपना दूत शेरशाह के पास भेज कर उससे मालदेव के विरुद्ध सहायता की मांग की किन्तु पूर्व इसके कि शेरशाह जैतसी की सहायता को आता, यह वीर युद्धभूमि में मारा गया। कूंपा को इस विजय से प्रसन्न होकर मालदेव ने उसे डीडवाना तथा झुंझुनू की जागीर दे दी और साथ ही बीकानेर का प्रबन्ध भी सौंप दिया। इस प्रकार मालदेव ने 1542 ई० में सिर्फ राज्य विस्तार की भावना से प्रेरित होकर जांगल देश को भी अपने अधीन कर लिया।

5. **मालदेव और जैसलमेर:**—अपने पड़ोसी राज्यों से संबन्ध सुधारने के लिये मालदेव ने 1536 ई० में जैसलमेर की राजकुमारी उमादे से विवाह किया। लेकिन अज्ञात कारणों से पति पत्नी में अधिक समय तक मेल नहीं रह सका। कदाचित अन्य रानियों के प्रभाव में मालदेव जैसलमेर की राजकुमारी से रुष्ठ हो गया। जब यह समाचार जैसलमेर के रावल लूणकरण को मिला तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा और उसने मालदेव की हत्या करवाने का षड़यंत्र रचा। किन्तु उसकी खुद की रानी यह सहन नहीं कर सकी कि उसकी बेटी विधवा हो जाय। अतः उसने अपने पुरोहित राघवदेव के द्वारा मालदेव को सतर्क कर दिया। मालदेव को जब अपने ससुर लूणकरण की नीयत का पता चला तो उसका क्रोध और भड़क गया। रानी उमादे भी किसी प्रकार से झुकने को तैयार नहीं थी। मालदेव ने नाराज होकर उमादे को अजमेर के तारागढ़ में रहने को भेज दिया। उमादे मारवाड़ के इतिहास में रूठी रानी के नाम से विख्यात है। उमादे अजमेर में रहने लगी और शेष सारी उमर उसने वियोग में काट दी किन्तु मालदेव के बुलाने पर भी वापस जोधपुर नहीं गयी।

जिस समय शेरशाह ने अजमेर पर आक्रमण किया उस समय मालदेव ने अपना दूत ईश्वरदास रूठी रानी को मनाकर जोधपुर लाने को भेजा। अन्य रानियों को यह भय हो गया कि यदि उमादे जोधपुर आ गयी तो मालदेव अपना सारा स्नेह उसी पर न्योछावर कर देगा और अन्य रानियों का महत्त्व कम हो जायगा। अतः दूसरी रानियों ने आसा नामक बारेठ को अजमेर भेजा ताकि वह उमादे को जोश दिलाकर जोधपुर लौटने से रोक दे। मालदेव के दूत ईश्वरदास के मनाने पर रानी जोधपुर लौटने को तैयार हो गयी किन्तु उसी समय अन्य रानियों के दूत आसा ने रानी उमादे को एक ऐसा दोहा सुनाया जिसे सुनकर रानी का आत्म-स्वाभिमान जाग उठा और उसने जोधपुर आने से मना कर दिया। यह दोहा रेऊ ने अपनी पुस्तक मारवाड़ का इतिहास के भाग एक में पृष्ठ 121 पर दिया है। दोहा इस प्रकार है—

"मान राखे तो पीव तज, पीव रखे तो मान।
दोय गयंद न बन्ध ही, एकण खम्भे ठाँण ॥"

अपना शेष जीवन रानी ने अपने दत्तक पुत्र राम के साथ गूंदाज में रह कर काट दिया और जब मालदेव का देहान्त हुआ तो वह भी सती हो गयी। स्वाभिमान और स्नेह का ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। इस आपसी क्लेश से जैसलमेर और जोधपुर के सम्बन्ध दीर्घकाल के लिये खराब हो गये और जब मालदेव पर विपत्ति आई तो जैसलमेर ने कोई सहायता नहीं की।

6. मालदेव और उदयसिंह—प्रारम्भ में मेवाड़ और जोधपुर के सम्बन्ध अच्छे थे। हम अध्याय के प्रारम्भ में देख चुके हैं कि वणवीर के विरुद्ध राव मालदेव ने राणा उदयसिंह की सहायता की थी। रेऊ आदि इतिहासकार तो यहाँ तक मानते हैं कि वणवीर को चित्तौड़ से भगाकर उदयसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर मालदेव ने ही बैठाया था और उदयसिंह ने उपहार स्वरूप मालदेव को हाथी और चार लाख रुपये आदि दिये थे। इस सारी कथा का सार इतना अवश्य है कि मालदेव और उदयसिंह आपस मे मित्र थे। दो राज्यों की मित्रता एक रूपमती कन्या के प्रश्न को लेकर छिन्न भिन्न हो गयी। ओझाजी अपनी पुस्तक 'जोधपुर राज्य का इतिह स' के पहले भाग मे पृष्ठ 292-93 पर इस रोचक कथा का वर्णन करते हैं। झाला सज्जा का पुत्र जैतसिंह, महाराणा उदयसिंह से नाराज होकर, अपनी उदयपुर की जागीर छोड़कर मारवाड़ आ गया। मालदेव ने इस असंतुष्ट सामान्त को अपने यहाँ शरण दी और खैरवा की जागीर दे दी। बदले में जैतसिंह ने अपनी पुत्री स्वरूपदेवी का विवाह मालदेव के साथ कर दिया। कुछ समय बाद जब मालदेव एक दिन अपने ससुराल गया तो उसने जैतसिंह की छोटी लड़की को देखा और उसके रूप पर मोहित हो गया। मालदेव ने जैतसिंह की छोटी लड़की से भी विवाह करने की इच्छा प्रकट की। जैतसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने तत्काल प्रयत्न कर अपनी छोटी लड़की का विवाह राणा उदयसिंह से कर दिया। इस विवाह से झाला जैतसिंह और उदयपुर के सम्बन्ध तो ठीक हो गये लेकिन मालदेव को अच्छा नहीं लगा। उसने नाराज होकर कुम्भलगढ़ पर आक्रमण किया किन्तु गढ को जीत नहीं सका। एक कन्या के लिये उसने मेवाड़ से सम्बन्ध बिगाड कर अच्छा नहीं किया। वह अपने जीवन काल के लिये मेवाड़ जैसी शक्ति का सहयोग खो बैठा।

7. विजय नीति—मालदेव साम्राज्यवादी नीति का अनुयायी था। अतः उसकी विजय नीति दृढ़ और कठोर थी। जिन शत्रुओं को उसके पिता राव गांगा नष्ट नहीं कर सके थे उन सभी को एक एक कर मालदेव ने समाप्त कर दिया। इतिहासकारों ने उसकी इस साम्राज्यवादी नीति को विजय नीति, दमन नीति, विस्तार नीति, आदि नामों से सम्बोधित किया है। अध्ययन की सरलता के लिये हम मालदेव की विजय नीति को दो भागो मे बाँट सकते हैं– (1) मारवाड़ के सुदृढ़ किलों पर अधिकार करना। (2) सामन्तों की शक्ति को कुचल कर सारे मारवाड़ पर एकछत्र शासन करना।

सबसे पहले मालदेव ने मारवाड़ के सभी सुदृढ़ किलों पर अपना अधिकार जमाना उचित समझा। इस नीति की पूर्ति के लिये उसने भद्राजण, नागौर, मेड़ता, अजमेर, सिवाना, जालोर आदि किलों पर अधिकार स्थापित किया। वह अपनी इस नीति में पूर्णतया सफल रहा।

सामन्तों की शक्ति को भी उसने बिना किसी रहम के कुचल डाला। राज्य-विस्तार में सबसे बड़े बाधक छोटे सामन्त ही होते हैं, जो अपने स्वार्थ के लिये देश में फूट के बीज बोकर बड़े-बड़े राज्यों का अन्त करवा देते हैं। मालदेव ने मेवाड़ के छोटे-बड़े 48 सामन्तों को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया। नीति के इस दूसरे भाग में भी वह पूर्णतया सफल रहा। साधारणतः जोधपुर के सामन्त अपने आप को मारवाड़ के शासक से किसी तरह कम नहीं मानते थे। अतः राज्य को शक्तिशाली व संगठित बनाने के लिये दमन की नीति ही एक मात्र सिद्ध शस्त्र था, जिसका प्रयोग मालदेव ने सफलता से किया।

इस प्रकार देखने से मालदेव की विजय-नीति सफल लगती है, किन्तु जहाँ उसमें दो विशेषता थी वहाँ एक भारी कमी या त्रुटि भी थी। प्रारम्भिक सफलताओं ने मालदेव को अभिमानी बना दिया। वह जोश में सामन्तों को पूरी तरह नष्ट करने लगा। मेड़ता का शासक वीरमदेव उसके आतंक से भयभीत होकर मदद के लिये शेरशाह के पास भागा था। यदि मालदेव उससे मेड़ता व अजमेर लेकर कोई छोटी जागीर देकर अपनी सेना में रख लेता तो वह शेरशाह की शरण में नहीं जाता। इसी प्रकार मालदेव ने बीकानेर पर आक्रमण कर रावल जैतसी को मार कर उसके पुत्र कल्याण को अपना शत्रु बना लिया। कल्याण भी सहायता के लिये शेरशाह के पास जा पहुँचा और मालदेव के लिये कठिनाई खड़ी हो गयी। मालदेव ने मेवाड़ और जैसलमेर से भी व्यर्थ शत्रुता मोल ली यदि वह एक कन्या के लिये मेवाड़ से लड़ाई मोल नहीं लेता तो शेरशाह के आक्रमण के समय उसे मेवाड़ जैसी शक्ति से सहायता मिल सकती थी। केवल राज्य विस्तार से ही काम नहीं चलता, राज्य की सुरक्षा के लिये अच्छे व शक्तिशाली मित्रों की भी आवश्यकता पड़ती है। यदि मालदेव जैसलमेर की राजकुमारी उमादे को भी प्रसन्न रखता तो चारों ओर उसके मित्र ही होते। इसलिये यह कहने में कोई संकोच नहीं कि जहाँ मालदेव विजय में सफल था वह विजय नीति में स्वाभाविक अभिमान का शिकार बन गया और उसने स्वयं अपने लिये कठिनाईयाँ मोल ले ली जिन्होंने उसे आपत्ति के समय अकेला रख दिया। मारवाड़, मेवाड़, जैसलमेर और बीकानेर की आपसी फूट ने शेरशाह का मारवाड़ अभियान सफल व सरल कर दिया। यदि मालदेव इन पड़ोसी राज्यों से मित्रता बनाये रखता तो उसके लिये शेरशाह का सामना करना कदाचित इतना कठिन नहीं होता। उसकी विजय-नीति सफल होते हुए भी दोषपूर्ण थी।

8. मालदेव और हुमायूँ—1540 ई. तक मालदेव मारवाड़ पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर चुका था। उसी समय बाबर का लाड़ला भाग्यहीन उत्तराधिकारी

हुमायूँ 17 मई, 1540 को कन्नौज के युद्ध में अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी शेरशाह से हार कर खानाबदोश की तरह भाग खड़ा हुआ था। शेरशाह की सेना उसका पीछा करने लगी और हुमायूँ ने सिन्ध में भक्कर नामक स्थान पर शरण ली जहाँ चार महीने तक वह बेकार पड़ा रहा। हुमायूँ की सुस्ती से लाभ उठाकर शेरशाह ने अपने नये राज्य को व्यवस्थित व संगठित बनाना शुरु किया। उसने पंजाब, बिहार, मालवा आदि देशों में अपनी सैनिक टुकड़ियाँ भेजी और स्वयं बंगाल विजय को चल दिया।

शेरशाह दिल्ली से एक हजार मील दूर बंगाल में व्यस्त था। उसकी सेना के अन्य भाग भी पंजाब, मालवा और सिन्ध आदि प्रदेशों में बिखरे पड़े थे। हुमायूँ के लिये वापस दिल्ली जीत लेना इस समय सरल था। मालदेव भी इस नवीन परिस्थिति से पूरी तरह परिचित था। शेरशाह की सेना दूर-दूर प्रदेशों में उलझी पड़ी थी और उसका एक दम लौट आना सरल नहीं था। ऐसी दशा में मालदेव ने हुमायूँ को निमंत्रण भेजा और 20,000 सेना से सहायता देने का वचन दिया। हुमायूँ स्वभाव से आलसी था। उसने थट्टा के शासक शाह हुसैन की सहायता से गुजरात विजय की नई योजना बना डाली। इसकी धारणा थी कि इस प्रकार वह शेरशाह से दूर रहकर गुजरात में अपनी शक्ति का संगठन कर लेगा और फिर शेरशाह का सामना करेगा। किन्तु सात महीने तक शेवाने के किले को व्यर्थ घेरे रह कर वह निराश थट्टा लौटा तो थट्टा के शासक शाह हुसैन ने भी अपने दुर्ग के द्वार बन्द कर दिये और लगभग 300 सवार मात्र की सेना लेकर हुमायूँ इधर-उधर भटकने लगा। अब तक एक वर्ष बीत चुका था और कन्नौज की पराजय के ठीक एक वर्ष बाद 7 मई, 1542 ई० को जोगी तीर्थ (मारवाड़) में आ गया। उसे अब मालदेव की सहायता का प्रस्ताव याद आया। एक साल में सारी परिस्थिति बदल चुकी थी। शेरशाह ने ग्वालियर पर अधिकार कर जीते हुए राज्य का संगठन कर लिया था। मालदेव ने इस अवसर पर हुमायूँ की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। हुमायूँ को मूल्यवान उपहार भेजे गये, बीकानेर पर परगना भी देने का प्रस्ताव रखा गया किन्तु सैनिक सहायता देने से इन्कार कर दिया।

मालदेव और हुमायूँ के इस सम्बन्ध पर फरिश्ता और हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम मालदेव पर विश्वासघात का आरोप लगाते है लेकिन आधुनिक मध्यकालीन इतिहासकार डॉ० कानूनगो, डॉ० ईश्वरीप्रसाद और डॉ० ए एल. श्रीवास्तव आदि इसे कपट या धोखा नहीं मानते। प्रश्न यह उठता है कि क्या मालदेव हुमायूँ की सहायता करने के लिये बाध्य था? यदि नहीं तो एक साल पहले स्वयं निमंत्रण देने वाला मालदेव, एक साल बाद बदल क्यों गया? इस सम्बन्ध को समझने के लिये हमें मूल रूप से यह देखना होगा कि पहले किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर मालदेव ने हुमायूँ को निमंत्रण दिया, उसके बाद यह देखेंगे कि उसने सहायता देने से मना क्यों किया?

मालदेव द्वारा हुमायूँ को मदद करने के कारण इस प्रकार आंके जा सकते हैं—(1) मालदेव राजपूत शक्ति की सहायता से हुमायूँ को दिल्ली के सिंहासन पर बिठाना चाहता था ताकि दिल्ली का सम्राट उसका मित्र और समर्थक बना रहे। इसमें मालदेव की महत्त्वाकांक्षा ही नहीं वरन् साम्राज्य की सुरक्षा भावना भी छुपी हुई है। जिस हुमायूँ के पिता ने खानुवा के युद्ध में उसके राड़के को मार डाला था उसी को वह दिल्ली के सिंहासन पर बिठाना चाहता था। वह मारवाड़ को उसी स्थान पर आसीन करना चाहता था जिस पर सांगा के समय मेवाड़ बैठा था। हुमायूँ को उसके निमंत्रण का पहला कारण उसकी महत्त्वाकांक्षा थी।

(2) मालदेव की यह धारणा थी कि हुमायूँ का दिल्ली से निकाला जाना एक अस्थाई कार्य है और अन्त में हुमायूँ की ही विजय होगी। वह शेरशाह को एक राज्य हड़पने वाला मात्र मानता था और उसके व शेरशाह के बीच युद्ध की कोई सम्भावना नहीं थी। अपने पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिये वह हुमायूँ को राजपूतों का मित्र बना लेना चाहता था। कानूनगो के शब्दों में "शेरशाह के साथ खेले गये प्रभुसत्ता के खेल में वह हुमायूँ को पैदल की तरह काम में लेना चाहता था। (3) मेड़ता का वीरमदेव और बीकानेर का कल्याणमल भाग कर शेरशाह के पास सहायता के लिये पहुँच गये थे। मालदेव उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप शेरशाह के शत्रु हुमायूँ को मित्र बना कर दिखाना चाहता था। उधर शेरशाह ने वीरमदेव और कल्याण को राज्य दिलाने का वादा किया होगा, इसी धारणा से मालदेव ने हुमायूँ को उसका खोया हुआ सिंहासन दिलाने का आश्वासन दिया।

ये तीन कारण सामान्यतः मध्यकालीन इतिहासकार बताते हैं, जिनका उल्लेख डॉ० भार्गव ने अपने अनुसंधान ग्रन्थ 'मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 23-24 पर किया है। वे आगे और भी कारण बताते हैं जो इस प्रकार हैं:—

(4) डॉ० भार्गव का कहना है कि वास्तविक सत्य इन तीनों कारणों में नहीं है। मालदेव ने सहायता का प्रस्ताव सारी स्थिति का पूर्ण अध्ययन करके दिया था। शेरशाह की दिल्ली की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। वह स्वयं बंगाल में था और उसकी सेना का अधिकांश भाग उसके साथ था। बची हुई सेना का बड़ा भाग घगड प्रदेश में बन्द था। सौजात खान के अधीन ग्वालियर अभी उसका विरोधी था और मालवा के मुखिया उसका खुला विरोध कर रहे थे। उस समय शेरशाह को भी मालदेव पर लेशमात्र भी शक नहीं था और वह मालदेव पर नजर भी नहीं रख रहा था। अतः सारी परिस्थितियों को शेरशाह के विरुद्ध पाकर मालदेव हुमायूँ की सहायता करने को तैयार हो गया था।

लेकिन मालदेव की सहायता का प्रस्ताव व्यर्थ गया। हुमायूँ अवसर से लाभ न उठा सका। उसने सिन्ध में 12 महीने व्यर्थ नष्ट कर दिये। इस बीच शेरशाह ने अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली और जून 1547 तक वापस आगरे में आ गया। वहाँ से वह राजपूताने पर सूक्ष्म नजर रखने लगा। ऐसी स्थिति में हुमायूँ का वापस

मारवाड़ लौटना, जोगीतीर्थ में पड़ाव डाल कर मालदेव से सहायता माँगना दूसरी बात थी। जोगीतीर्थ पहुँचने में बादशाह को पानी और रसद की कमी का सामना करना पड़ा। कभी-कभी भटक भी गया। जोगीतीर्थ में मालदेव के दूत ने हुमायूँ का स्वागत किया और अशर्फियों की भेंट दी व रसद पहुँचायी किन्तु मालदेव स्वयं मिलने नहीं आया। मालदेव ने इस बार सहायता की बात न कर हुमायूँ को उसके कठिन समय में बीकानेर का परगना देने का वादा किया।

हुमायूँ ने बारी-बारी से तीन दूत मालदेव के पास भेजे। ये दूत मीर समन्दर, रायमल सोनी और अतका खाँ थे। हुमायूँ का एक पुस्तकालयाध्यक्ष मुल्ला सुर्ख पहले से मालदेव की सेवा में काम कर रहा था। इन चारों व्यक्तियों ने यही राय दी कि मालदेव केवल बातों से बहला रहा है, सहायता आदि कुछ नहीं देगा। मुल्ला सुर्ख ने तो यहाँ तक कह डाला कि हुमायूँ को जल्दी मालदेव के राज्य से चला जाना चाहिये। हुमायूँ को भी मालदेव पर संदेह होने लगा था। अपने दूतों की राय पर हुमायूँ उतावला हो गया और बीकानेर लेने से मना कर अमरकोट की तरफ चल दिया। यदि हुमायूँ ने स्वयं मालदेव पर विश्वास नहीं किया तो इसके लिये मालदेव को दोषी ठहराना कहाँ तक उचित है।

मालदेव के पक्ष में दूसरा तर्क यह है कि उसने बादशाह को उसकी तात्कालिक स्थिति के अनुसार तो सहायता दे ही दी थी। स्वयं हुमायूँ के पास सिर्फ 300 सवार थे। यदि मालदेव उसे 20,000 सैनिकों की सहायता दे भी देता तो भी इतनी सी सेना से हुमायूँ किसी भी दशा में शेरशाह को पराजित नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में मालदेव ने हुमायूँ को सैनिक सहायता न देकर दूरदर्शिता का परिचय दिया। अबुल फजल और गुलबदन की धारणा ठीक ही है कि मालदेव का इरादा बदल चुका था। हुमायूँ के पास जो थोड़ी बहुत शक्ति थी वह भी उसने सिन्ध विजय के झूठे अभियान में नष्ट कर दी। इस स्थिति में तो मालदेव को अपनी सारी शक्ति लगा कर हुमायूँ के नाम से युद्ध लड़ना बाकी था। यदि वह शेरशाह को पराजित करने की शक्ति रखता तो यह भी कर लेता किन्तु मालदेव के पास इतनी शक्ति भी नहीं थी कि वह अकेला शेरशाह से टक्कर लेता। अत शक्तिहीन को सहायता देना राजनीति के किसी भी तर्क के विरुद्ध है। मालदेव पर गुलबदन आदि जिन मुगल लेखकों ने धोखा देने का आरोप लगाया है वह सही नहीं कहा जा सकता।

मालदेव के पक्ष में तीसरा तर्क यह है कि एक वर्ष में राजनीतिक स्थिति बदल चुकी थी। शेरशाह ने शक्ति संगठन कर लिया था और आगरे लौट आया था। मालवा, ग्वालियर, गुजरात, बिहार, बंगाल, आगरा और पंजाब के महत्त्वपूर्ण प्रदेशों पर उसका अधिकार हो चुका था। ऊपर उठते, शक्ति सम्पन्न दिल्ली के शासक से अकारण झगड़ा मोल लेना, उसके शत्रु को शरण देना और उसकी सैनिक सहायता करना इस समय मालदेव की सबसे बड़ी भूल होती। वैसे ही, मेवाड़,

जैसलमेर, मेड़ता और बीकानेर से उसका वैमनस्य चल रहा था। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखना व शेरशाह से छेड़-छाड़ न करना ही इस समय मालदेव के लिये उचित था। सहायता उसकी की जाती है जो समर्थ हो। हुमायूँ को उसके भाइयों और सरदारों तक ने छोड़ दिया था फिर मालदेव से बड़ी-बड़ी आशा लगाना मरु-भूमि में पानी खोजना मात्र था।

मालदेव के पक्ष में चौथा तर्क यह है कि इसी समय शेरशाह ने एक व्यक्ति मालदेव के पास भेजा और यह इच्छा प्रगट की कि वह हुमायूँ को बन्दी बनाकर शेरशाह को सौंप दे। उस समय हुमायूँ के दूत भी जोधपुर में थे। यदि मालदेव चाहता तो पलक भर के समय में हुमायूँ को बन्दी बना लेता। तीन सौ सवारों की चटनी बनाने में उसे एक दिन भी नहीं लगता। हुमायूँ को बन्दी बनाकर यदि वह शेरशाह को सौंप देता तो आगे चलकर उसे शेरशाह के हाथों पराजित नही होना पड़ता। किन्तु मालदेव ने हुमायूँ के साथ विश्वासघात नहीं किया। उसका इरादा हुमायूँ को धोखा देने का होता तो इससे बढ़िया अवसर क्या हो सकता था? फलोदी या जोगीतीर्थ तक आये हुमायूँ को बन्दी बनाकर शेरशाह के सामने पेशकर वह शेरशाह का विश्वास-पात्र बन सकता था किन्तु मालदेव ने राजपूती शान को रख कर हुमायूँ को सकुशल वापस सिन्ध लौट जाने दिया। शेरशाह को दिखाने के लिये मालदेव ने लौटते हुए हुमायूँ के पीछे एक छोटी सी सैनिक टुकड़ी भेजी थी। जिससे उसे धोखेबाज नही कहा जा सकता। मालदेव द्वारा भेजी गयी फौजी टुकड़ी का बहाना लेकर उस पर यह आरोप लगाना कि उसने जाते हुए हुमायूँ को तंग किया और धोखा दिया, सर्वथा अन्याय होगा। उसने तो शेरशाह को दिखावे के लिये एक सैनिक जत्था हुमायूँ के पीछे भेजा था ताकि वह मारवाड़ की सीमा से बाहर चला जावे।

इस विषय में विभिन्न इतिहासकार भी यही दृढ़ मत रखते है कि मालदेव ने हुमायूँ के साथ कोई धोखेबाजी नही की। ओझाजी जोधपुर राज्य के इतिहास भाग एक के पृष्ठ 299 पर कहते हैं कि "वास्तविकता तो यह प्रतीत होती है कि मालदेव का उद्देश्य हुमायूँ को गिरफ्तार करके शेरशाह के हवाले करने का कभी नहीं था।"

डॉ० ईश्वरी प्रसाद भी अपनी पुस्तक 'दी लाईफ एण्ड टाइम्स आफ हुमायूँ' के पृष्ठ 214-15 पर इसी बात की पुष्टि करते हैं कि—"मालदेव का धोखा देने का कोई इरादा नहीं था, बल्कि जो व्यवहार उसने हुमायूँ के साथ किया वह न्यायोचित था।"

डॉ० कानूनगो अपनी पुस्तक 'शेरशाह और उसका समय' के पृष्ठ 359 पर कहते है कि—"निश्चित धोखेबाजी का जो आरोप वे मालदेव के चरित्र पर लगाते हैं, वह अप्रमाणित आकांक्षा मात्र है। उसके बरताव को धोखेबाजी न कहकर

नैतिक दुर्बलता मात्र कहा जा सकता है।" यह स्पष्ट है कि मालदेव अपने बिन बुलाये मेहमान को बदली हुई परिस्थितियों में सहायता देने को बिलकुल तैयार नहीं था।

कवि श्यामलदास, वीर विनोद के पृष्ठ 809 पर मालदेव के मुकर जाने का एक और कारण देते है कि—"हुमायूँ के कुछ अफसरों ने मालदेव के राज्य में गायें काटना शुरू कर दिया था। इस कर्म ने राजपूतों की धार्मिक भावना को गहरा आघात पहुँचाया था। परिणामस्वरूप मालदेव को हुमायूँ के प्रति पूर्ण अरुचि दिखानी पड़ी।"

यह स्पष्ट है कि हुमायूँ अपना अस्तित्व खो चुका था और उसके दिल्ली के सिंहासन पर पुनः बैठने की कोई सम्भावना नजर नहीं आ रही थी अतः मालदेव ने ऐसी बेरुखी दिखाई और परिस्थिति पैदा कर दी कि मालदेव को सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता नहीं पड़ी और हुमायूँ वैसे ही मारवाड़ छोड़ कर चला गया।

शेरशाह व मालदेव

शेरशाह और मालदेव का संघर्ष दो उदीयमान शक्तियों का संघर्ष था। बाबर ने राणा साँगा को हरा कर राजस्थान में राजपूतों के प्रभुत्व को भारी चुनौती दी थी किन्तु बाबर की मृत्यु के साथ मुगलों के अस्तित्व को शेरशाह ने चुनौती दी और भगोड़ा हुमायूँ दरदर की ठोकरें खाता जोधपुर के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी मालदेव की शरण से निराश होकर विदेश भाग गया। दिल्ली और आगरे पर शेरशाह का आधिपत्य स्थापित होते ही वही समस्या खड़ी हो गयी कि भारत का एक छत्र शासक कौन और कैसे होगा? शेरशाह दिल्ली आगरे का शासक था और मालदेव मारवाड़ का। मालदेव ने नागौर और अजमेर मुसलमान अधिकारियों से छीन लिये थे। मरुदेश के स्वतंत्र शासकों ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। जैसलमेर भाटियों को हराकर उसने विक्रमपुर छीन लिया था। आमेर के राजा से चाटसू छीनकर और बीकानेर पर अधिकार जमाकर मालदेव राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया था। इतिहासकार फरिश्ता ने मालदेव को "हिन्दुस्तान का अत्यन्त शक्तिशाली राजा" बताया है। उसके शासनकाल में मारवाड़ की बड़ी उन्नति हुई थी। उसने दस वर्ष के अनिश्चितता के समय में, जब हुमायूँ और शेरशाह दिल्ली-आगरा के आधिपत्य के लिये लड़ रहे थे, तो लगभग चालीस विभिन्न महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर अपने आपको राजस्थान की श्रेष्ठ शक्ति बना लिया था। उसकी शक्ति का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि हुमायूँ उसके पास सहायता के लिये गया था। जब शेरशाह ने दिल्ली पर अधिकार स्थापित कर लिया तो उसके लिये मालदेव से संघर्ष करना आवश्यक हो गया क्योंकि बिना मालदेव की शक्ति का दमन किये वह पूर्ण रूप से उत्तर भारत का स्थाई शासक नहीं हो सकता था अतः मालदेव और शेरशाह के संघर्ष का प्रथम कारण

मालदेव की बढ़ती हुई शक्ति थी जिसका दमन पठान राज्य की स्थापना के लिये अत्यंत आवश्यक था।

शेरशाह और मालदेव की लड़ाई का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण हुमायूँ था। हुमायूँ सहायता के लिए मारवाड़ राज्य में गया और मालदेव से सहायता माँगी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि स्वयं मालदेव ने हुमायूँ को अपने यहाँ निमंत्रित कर सहायता देने का आश्वासन दिया था किन्तु हुमायूँ समय पर मालदेव के पास न जाकर सिन्ध मे अपना समय नष्ट करता रहा और जब उसके पास कुछ भी नहीं रहा तो असहाय अवस्था मे मालदेव की शरण में गया। लेकिन मालदेव एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था जो समझता था कि अब भारत का वास्तविक शासक शेरशाह है हुमायूँ नहीं इसलिये वह इस अवस्था में हुमायूँ की मदद कर शेरशाह को मारवाड़ पर आक्रमण का अवसर नहीं देना चाहता था। मालदेव ने स्थिति को देख कर ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि हुमायूँ को मारवाड़ की सीमा छोड़कर जाना पड़ा। शेरशाह यह आशा करता था कि मालदेव अपनी सीमा में आये हुमायूँ को बन्दी बनाकर शेरशाह के हवाले कर देगा। किन्तु मालदेव ने ऐसा नहीं किया, वह न तो शेरशाह को प्रसन्न ही कर सका और न हुमायूँ को। शेरशाह मालदेव से पूर्ण अधीनता और स्वामी-भक्ति की आशा रखता था और उसे एक स्वतंत्र राजा न मानकर मामूली जागीरदार मानता था जिसने अजमेर और नागौर के मुसलमान प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया था। अत हुमायूँ को बन्दी न बनाकर, मालदेव ने शेरशाह को अप्रसन्न कर लिया और यह दोनों के बीच संघर्ष का दूसरा कारण बन गया।

मालदेव की स्वतंत्र सत्ता और बढती हुई शक्ति शेरशाह के संगठन कार्य का सबसे बड़ा रोड़ा थी। उसके राज्य की सीमा दिल्ली से सिर्फ पचास मील दूर रह गयी थी। शेरशाह स्वयं मालदेव को अपना भयानक व गंभीर प्रतिद्वन्द्वी मानता था। जिस प्रकार एक मियान मे दो तलवार नही रह सकती है उसी प्रकार शेरशाह भी अपने दिल्ली राज्य के सीने पर असीम मालदेव की शक्ति से जलता था। जब उसे उसके सेनापतियों ने दक्षिण मे विद्रोह का दमन करने के लिये सुझाव दिया तो शेरशाह ने स्वयं कहा था कि 'मैं किसी और देश में नहीं जाऊँगा। मेरे लिये यह आवश्यक है जो देश मैंने जीते है उनका संगठन करूँ। सबसे पहले मैं अजमेर, नागौर और मारवाड़ के उस चालाक व महत्त्वाकांक्षी जागीरदार मालदेव को उखाड़ फेंकूँगा जो पहले नागौर और अजमेर के शासकों का नौकर था लेकिन जिसने अपने मालिक को मारकर अजमेर और नागौर हड़प लिये हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि शेरशाह भारत में मुस्लिम राज्य को सुदृढ बनाने के लिये यह आवश्यक समझता था

1. डॉ० वी० एस० भार्गव—मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स—पृष्ठ, 28
उद्धत अब्बास पृष्ठ, 138.

कि मारवाड़ में मालदेव की शक्ति का दमन किया जाय। उसके राज्य की सुरक्षा के लिये मालदेव की निरन्तर स्वतंत्रता सबसे बड़ी बाधा थी। समय आने पर मालदेव दिल्ली की सुरक्षा को भी चुनौती दे सकता था। इसलिये दिल्ली की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए शेरशाह ने अपने प्रबलतम विधर्मी मालदेव की शक्ति को समाप्त कर देना उचित समझा और दोनों के संघर्ष का तीसरा कारण दिल्ली की सुरक्षा का प्रश्न बन गया।

राजस्थान के हिन्दू राजा, मालदेव और शेरशाह के संघर्ष का चौथा कारण बन गये। मालदेव ने बीकानेर जीतकर कल्याणमल को और मेड़ता जीत कर वीरमदेव को दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दिया था। इन दोनों हिन्दू राजाओं ने अपने दूत शेरशाह के पास भेजे और आग्रह किया कि वह मालदेव पर आक्रमण करे। ऐसी दशा में वे दोनों शेरशाह का साथ देंगे। इन दोनों राजाओं ने मालदेव के विरुद्ध शेरशाह से मदद माँगी थी। शेरशाह ने अवसर से लाभ उठाकर मालदेव के दमन का उपयुक्त अवसर पाकर उस पर आक्रमण किया ताकि बीकानेर और मेड़ता की तरह मारवाड़ भी उसके अधीन हो जाय। यदि वीरमदेव और कल्याणमल ने शेरशाह से सहायता नहीं माँगी होती तो शायद शेरशाह मारवाड़ विजय की योजना नहीं बनाता। उसने राजस्थान के पराजित हिन्दू राजाओं को अपने शिविर में पाकर इस आपसी फूट से लाभ उठाया और मारवाड़ पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अतः हिन्दू राजाओं की आपसी फूट और बदले की भावना ने शेरशाह और मालदेव के संघर्ष को अनिवार्य कर दिया।

मुसलमानों की हार का बदला लेने के लिये भी शेरशाह ने मालदेव पर आक्रमण किया था। मालदेव ने नागौर और अजमेर के मुसलमान शासकों को पराजित कर इन दोनों स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया था। मुस्लिम लेखक अब्बास और अब्दुल्ला इस बात पर विशेष जोर देते हैं कि भारत का मुसलमान सम्राट होने के नाते शेरशाह के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि वह मुसलमान सूबेदारों को पराजित करने वाले विधर्मी राठौड़ मालदेव को हराकर उन क्षेत्रों पर वापस अपना अधिकार करे जो सुल्तानियत काल में लगभग तीन शताब्दी से भी अधिक समय तक मुसलमानों के अधीन थे। यदि शेरशाह सारे उत्तर भारत का एकछत्र मुसलमान शासक बनना चाहता था तो उसे मालदेव को अपने अधीन करना था क्योंकि मालदेव ने नागौर के शासक दौलत खाँ को हरा कर नागौर छीन लिया था। इसी प्रकार वीरमदेव से मालदेव के सेनापति जेता और कूँपा ने अजमेर भी छीन लिया था जो सदियों से मुसलमान शक्ति का केन्द्र था। अतः अपने पराजित मुसलमान साथियों की हार का बदला लेने की इच्छा, शेरशाह और मालदेव के संघर्ष का पाँचवाँ कारण बन गया था।

युद्ध की योजना—शेरशाह यह जानता था कि मालदेव भारत के रावों का नेता मात्र नहीं है वरन् एक महान शक्तिशाली राजा है जिसके पास पचास हजार

जवानों की संगठित सेना भी है। सभी मुसलमान लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि शेरशाह मालदेव की शक्ति से परिचित ही नहीं सचेत भी था अतः उसने मालदेव पर अचानक आक्रमण करने का निश्चय किया। शेरशाह को यह भी ज्ञात था कि अजमेर, मेड़ता, नागौर और आस-पास के स्थानों पर मालदेव ने सुदृढ़ किलेबन्दी कर ली है। वह इस सत्य से भी सजग था कि बीकानेर से होकर जाना भी आसान नहीं था क्योंकि लम्बे रेगिस्तान को पार करना मुसलमान सेना की आदत व परिस्थिति के अनुकूल नहीं था। अजमेर होकर मारवाड़ पर आक्रमण किया जा सकता था परन्तु इस तरफ से भी मार्ग में रणथम्भौर और नागौर के सुदृढ़ किले पड़ते थे। एक तरफ रेगिस्तान और दूसरी तरफ सुदृढ़ किले। अतः शेरशाह ने दोनों मार्गों को छोड़कर तीसरा ही मार्ग ढूंढ निकाला। उसने फतहपुर को अपना केन्द्र बनाया। इस फतहपुर के बारे में इतिहासकारों में मतभेद हैं। कानूनगो का कहना है कि यह फतहपुर, झुंझुनूं है किन्तु अव्वास आदि अन्य लेखक इसे आगरे के पास वाला फतहपुर सीकरी मानते हैं जहाँ आगे चलकर अकबर ने अपना सांस्कृतिक केन्द्र बनाया था। जो भी हो शेरशाह दिल्ली और आगरे के बीच शिकार के बहाने घूमता रहा। यहाँ से वह सीकर होकर मारवाड़ पर आक्रमण कर सकता था। यह मार्ग मालदेव की कल्पना के बाहर था। झुंझुनूं पहुँच कर शेरशाह ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये आगरा और रणथम्भौर के पास से अपनी सेना और मंगा ली। रणथम्भौर से आने वाली सेना को उसने आदेश दिया कि वह अजमेर पर आक्रमण का दिखावा करे किन्तु मालदेव इस योजना से घबराया नहीं। उसने भी अपनी सेना का संगठन किया और जैतारण में डेरा डाला। शेरशाह ने आखिरकार सामेल में आकर डेरे डाले। यहाँ पानी भी काफी था और खाइयाँ आदि आसानी से बनाकर सुदृढ़ मोर्चा बनाया जा सकता था। शेरशाह ने खुले भाग को रेत के बोरों से बन्द कर दिया और खाइयाँ खुदा कर सुदृढ़ मोर्चा बना लिया। मालदेव ने जेतारण के पास गिरी गाँव में डेरा डाला। वह शेरशाह के भुलावे में नहीं आया और न ही अजमेर की रक्षा के लिये सेना भेजकर अपने पक्ष को दुर्बल बनाया। लगभग एक महीने तक शेरशाह और मालदेव की सेना सामेल में एक दूसरे के सामने पड़ी रही किन्तु किसी ने किसी पर आक्रमण नहीं किया।[1]

अपने ही राज्य में छावनी डाले पड़े रहना मालदेव के लिये सरल काम था, वह शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा मात्र करता रहा। उसे जेतारण में रसद या मदद की कोई कठिनाई नहीं थी लेकिन शेरशाह अधिक समय तक दिल्ली से इतनी दूर निराधार नहीं पड़ा रह सकता था। समय के साथ उसकी स्थिति शोचनीय और

---

1. तारीख-ए-शेरशाही—इलियट जिल्द चार पृष्ठ 405 कानूनगो शेरशाह हिज टाइम्स, पृष्ठ 395-98.

रसद सीमित होती जा रही थी। दुविधा तो यह थी कि मालदेव की जागरुकता के कारण न तो वह पीछे हट सकता था और न आगे ही बढ़ सकता था। उसके और मालदेव के सैन्यबल में भी विशेष अन्तर नही था। शेरशाह का विश्वास डिगने लगा और वह मालदेव पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर सका।

डॉ० बी० एस० भार्गव, जोधपुर की ख्यात भाग एक पृष्ठ 69 के आधार पर शेरशाह का मार्ग दूसरा बताते हैं। उनका कहना है कि शेरशाह आगरे से चल कर डीडवाणा पहुँचा जहाँ मालदेव के सेनापति कूँपा से उसे जमकर लड़ाई करनी पड़ी। कूँपा ने ही मालदेव को शेरशाह के आगमन का समाचार दिया था। डीडवाणा से अजमेर होता हुआ शेरशाह जैतारण आया जहाँ आगे मालदेव उसके स्वागत के लिये तैयार था। मालदेव ने अजमेर से दक्षिण-पश्चिम मे 28 मील दूर बारां गाँव मे डेरा डाला। ऐसा वर्णन कविराज ख्यात के दूसरे भाग में पृष्ठ 52 पर दिया गया है। छावनियों के स्थान में चाहे मतभेद हो किन्तु युद्ध के समय दोनों सामेल और गिर्री गाँव में आ गये थे। सामेल आकर शेरशाह को अपनी निर्थक योजना पर पश्चाताप होने लगा। वह मालदेव से उसके राज्य में लड़ने से हिचकिचाता रहा। उसका साहस उस समय और भी टूट गया जब उसे यह ज्ञात हुआ कि इस क्षेत्र मे खाइयें खोदना सर्वथा असम्भव है। परिस्थितियो से घिर कर शेरशाह ने एक षड़यंत्र रचा।

शेरशाह का षड़यंत्र—सामान्य तरीके से लड़ाई लड़ने मे उसे विजय की कोई सम्भावना नही दिख रही थी.अतः उसने मालदेव के मन में शंका उत्पन्न करने के लिये स्वयं एक पत्र लिखा और उसे किसी प्रकार मालदेव के हाथ में पहुँचा दिया। इस पत्र में मालदेव के सामन्तों ने शेरशाह को विश्वास दिलाया था कि वे ऐन मौके पर मालदेव का साथ छोड देंगे। जब मालदेव को यह पता चला तो वह विचलित हो गया और आधी सेना लेकर बिना युद्ध किये ही जोधपुर की तरफ लौट गया। शेरशाह की चाल सफल हुई और दूसरे दिन युद्ध मे उसे विजय आसानी से मिल गयी।

इस षड़यंत्र की कथा के विषय में इतिहासकारों में भारी मतभेद है। नेणसी, रेउ, कानूनगो और मुस्लिम इतिहासकार अब्बास व फरिश्ता आदि पृथक्-पृथक् तरह से इस षड़यंत्र की गाथा को दोहराते हैं। नेणसी अपनी ख्यात के दूसरे भाग में पृष्ठ 157-58 पर इस कथा का वर्णन इस तरह करता है कि शेरशाह ने वीरमदेव के माध्यम से मालदेव के सेनापति कूँपा के पास बीस हजार रुपये भेजकर उसके लिये कम्बल खरीद देने का आग्रह किया और इसी प्रकार जेता के पास बीस हजार रुपये भेजकर सिरोही की तलवारें मांगी। साथ ही मालदेव को अपने गुप्तचरों से यह सूचना भिजवा दी कि उसके मुख्य सेनापति रिश्वत लेकर शेरशाह से मिल गये हैं। जब मालदेव ने उनके डेरों की जाँच करवाई तो रुपया बरामद पाया और वह अपनी बचत का प्रबन्ध करने लगा।

वृत्तान्त जान लिया था। कूंपा के आक
रात ही में अपने तम्बू उठवा दिये और
के मैदान में आ गया। राजपूतों ने 5 ज
मण किया।

सामेल का युद्ध—लड़ाई से पह
बराबर थी किन्तु मानदेव के लौट जा
जेता और कूंपा के पास सिर्फ 12,00
राजपूतों ने आगे बढ़कर शेरशाह पर
शेरशाह ने राजपूतों के घोड़ों के विरुद्ध
तीरंदाज और तोपखाना था। यद्यपि
बड़ी वीरता से लड़े और उनकी वि
जलाल खाँ जलवानी एक ताजी सेना
आ पहुँचा। शेरशाह ने युद्ध के बीच
जिससे उसके सेनापतियों में आत्मबल
कब तक लड़ सकते थे। एक-एक कर
जेता और कूंपा भी थे। इस युद्ध में
काम आये और मुसलमान लेखकों के
शेरशाह के भी भारी संख्या में पठान
की रही। शेरशाह ने मारवाड़ की सेन
उसने स्वयं स्वीकार किया कि—
बादशाहत खो दी होती।" इस वाक्य
बाल-बाल बचा था। यदि मानदेव की
कभी नहीं जीतता।

सामेल युद्ध का महत्त्व—स
इस युद्ध में हार जाता तो दिल्ली का
मुट्ठी भर बाजरा ही मिला हो उसने
लिये दिल्ली पर अफगान राज्य स्थापि

सामेल विजय से शेरशाह का
महीने में ही सारे मारवाड़ के अनेक
स्वयं अजमेर गया और सेना के दूसरे
जोधपुर गया और जोधपुर को जीता।
पोकरण, सोजत, पाली, फलोदी, न
गया। जोधपुर पर 524 दिन तक
पर्वतों में पीपलोद में रहने लगा। आ

मुसलमान इतिहासकार इस कथा को दूसरा रूप देते हैं कि शेरशाह ने मालदेव द्वारा तिरस्कृत एक राजपूत सामन्त से हिन्दी में पत्र लिखवा कर एक रेशमी थैली में बन्द करवा कर मालदेव के मन्त्री के शिविर के बाहर डलवा दिया और जब मालदेव के मन्त्री ने उसे उठाकर पढ़ लिया तो गुप्तचर वापस आ गया। इस पत्र में शेरशाह ने सामन्तों के आश्वासन की पुष्टि पर आभार प्रगट किया था। डॉ० कानूनगो इस कथा को एक दिलचस्प कहानी मानते हैं क्योंकि शेरशाह स्वयं अच्छी हिन्दी लिख लेता था तो उसने गोपनीयता का ध्यान न रखकर वीरम या अन्य असंतुष्ट हिन्दू सरदार की मदद क्यों ली? लगता है यह सारा काम शेरशाह ने खुद ही किया होगा। इसी प्रकार औरंगजेब ने भी दुर्गादास के विरुद्ध स्वयं पत्र लिखा था। "जो भी हो शेरशाह का यह काम जघन्य था और मालदेव का भी अपने स्वामी-भक्त सेनापतियों पर विश्वास न करना निन्दनीय और अशोभनीय था।"[1]

वीर विनोद के पृष्ठ 810 पर और रेऊ अपने मारवाड़ के इतिहास भाग एक में पृष्ठ 139 पर इस घटना को दूसरी ही तरह से रखते हैं कि वीरमदेव ने शेरशाह के जाली फरमानों को ढालों में सी कर अपने गुप्तचरों द्वारा सस्ते दामों में मालदेव के सरदारों को बेच दिया और साथ ही सरदारों के शेरशाह से मिल जाने की सूचना भी मालदेव को भिजवा दी और यह भी कहलवा दिया कि शेरशाह के आदेश उनकी ढालों में छिपे हैं। सन्देह हो तो ढालों का निरीक्षण कर देख लें। जाँच पर ये फरमान सरदारों की ढालों से निकले और मालदेव को अपने सरदारों पर विश्वास नहीं रहा।

सरदारों के विश्वासघात की बात मालदेव के मन में घर कर गयी और उसने युद्ध करना व्यर्थ समझा। इस विषय में राजपूतों में दो प्रबल धारणाएँ थीं। एक तो यह कि युद्ध किया जाय और इस धारणा के समर्थक जेता और कूँपा थे जो युद्ध भूमि में शहीद होकर अपनी स्वामी-भक्ति व देश-प्रेम का परिचय देना चाहते थे। ये लोग प्रातः काल ही शत्रु पर भूखे बाघ की भाँति टूट पड़ना चाहते थे और अपने माथे पर लगाये गये कलंक को धो देना चाहते थे। दूसरी तरफ मालदेव के मन में शंका घर कर गयी थी। वह गद्दारों के बीच में व्यर्थ मारा जाना उचित नहीं समझता था और जोधपुर लौट जाना चाहता था। शेरशाह अपने षड़यंत्र में सौ फी सदी सफल रहा। 4 जनवरी, 1544 ई० को प्रातःकाल वह जोधपुर की तरफ वापस लौट गया। उसके साथ में जोधपुर की सेना के बहुत से महत्त्वपूर्ण अधिकारी भी लौट गये किन्तु जेता और कूँपा अपने 12,000 घुड़सवारों के साथ मैदान में डटे रहे। शेरशाह ने अपने गुप्तचरों द्वारा मालदेव के शिविर का सारा

1. कानूनगो—शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृष्ठ 404

कि —"वह हिन्दुस्तान के मोतबिर जमीदारों में से था और उस जमाने में हिन्दू रईसों में ताकत और फौज में उसकी तुलना का कोई नहीं था।"

वह एक निर्माता भी था। उसने जोधपुर और राणीसर के किले बनवाये। नागौर के किले की मरम्मत करवाई यहाँ तक कि सोजत, रायपुर, भिवाना, मालकोट आदि 15 कस्बों के चारों तरफ परकोटे बनवाये। उसी ने तारागढ़ के किले में पानी के अभाव को समाप्त किया और नूर चश्मे से पानी ऊपर ले जाने की व्यवस्था की। स्पष्ट है कि वह एक महान् निर्माता था।

उसके पारिवारिक व व्यक्तिगत जीवन में वह कदाचित अपने उतावले स्वभाव के कारण लोकप्रिय नहीं था। एक छोटी सी उत्तेजना में आकर उसने अपने ससुर जैसलमेर के राव को अप्रसन्न कर लिया। थोड़े से शक में आकर अपने वीर व स्वामीभक्त सेनापति जैता और कूंपा को खो बैठा। अपनी दूसरी रानी के प्रभाव में आकर अपने बड़े लड़के राम का हक मार कर चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि मारवाड़ का उत्तराधिकार युद्ध मुगल हस्तक्षेप का कारण बन गया। इन सबसे दुखद कर्म तो पिता की हत्या थी जिसके द्वारा मालदेव ने मारवाड़ का राज्य प्राप्त किया था। स्पष्ट है कि उसका व्यक्तिगत जीवन आवेश, अदूरदर्शिता, शंका, स्वार्थ और क्षणिक लाभ से ओत-प्रोत था।

इतना होते हुए भी वह मारवाड़ का व राजस्थान का स्वतंत्रता सेनानी था, महान् विजेता था, निपुण सेनापति था, कुशल प्रशासक व उदार निर्माता था जिसने अन्तिम समय तक मारवाड़ की स्वाधीनता की रक्षा की।



और सोजत के प्रान्त मिले थे। जबकि उसके राज्य में एक बार 58 परगने सम्मिलित थे। उसने मारवाड़ की सीमा को हिन्डोन, बयाना, फतेहपुर सीकरी और मेवाड़ तक फैला दिया था। उसकी राज्य सीमा दिल्ली से सिर्फ 50 मील दूर थी। स्पष्ट है कि वह एक महान् विजेता था जिसने अपने जीवन में एक भी युद्ध नहीं हारा। सामेल की लड़ाई में राजपूतों की हार को मालदेव की हार मानना राजनीतिक निर्णय हो सकता है किन्तु सैनिक निर्णय नहीं क्योंकि मालदेव तो जोधपुर चला गया था। यदि अप्रत्यक्ष रूप से सामेल की लड़ाई को मालदेव की ही पराजय मानें तो भी वह कूटनीतिक दावपेचों में आकर सिर्फ एक बार ही हारा और ज्योंहि शेरशाह मरा, उसने अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। वास्तव में मालदेव अपने समय का महान् प्रतापी और वीर योद्धा था जिसके पास 50,000 शक्तिशाली वीरों की सेना थी।

मालदेव की प्रतिष्ठा दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसने अधिक महत्व की बात क्या हो सकती थी कि बाबर का बेटा उसके द्वार पर सहायता के लिये पड़ा रहा और शेरशाह जैसा बहादुर उससे यह आशा लगाये रहा कि वह हुमायूँ को पकड़ कर उसके हवाले कर देगा। यह बात उसके वैभव का प्रतीक नहीं वरन उसकी दूरदर्शिता का प्रमाण है कि उसने शक्तिहीन हुमायूँ की मदद कर राजपूतों का व्यर्थ खून नहीं बहाया। वह शक्ति सन्तुलन बनाये रखने के लिये कभी उदयपुर राणाओं से संधि करता था तो उसी राणा को हरमाड़ा के मैदान में हाजी खाँ के साथ मिलकर पराजित भी कर दियाथा। यह उसकी कूटनीति का द्योतक है। शेरशाह को शक्तिशाली पाकर उसने लड़ाई व्यर्थ समझी और पहाड़ों मे चला गया। और ज्योंहि शेरशाह मरा कि वापस अपना राज्य पठानों से छीन लिया।

मालदेव एक शक्तिशाली राजा था और उसके समय का मारवाड़, राजस्थान की सबसे बड़ी रियासत थी। यह मानना पड़ेगा कि उसने मुगलों के नवोदित राज्य के विरुद्ध राजपूत स्वतंत्रता को बनाये रखा। उसकी कमी सिर्फ इतनी थी कि वह बहुत महत्वाकांक्षी था। इसी कारण से उसने मरुदेश, बीकानेर और मेड़ता के शासकों को अपना शत्रु बना लिया था। जिसके फलस्वरूप मारवाड़ पर शेरशाह का आक्रमण हुआ। उसने अपने अन्तिम दिनों मे इस भूल को सुधार लिया था और जब मुगल सेनाओं ने जेतारण पर अधिकार कर लिया तो भी वह चुप रहा। उसकी दूसरी कमी यह थी कि उसमे दूरदर्शिता का अभाव था जिसके कारण उसने मेड़ता और बीकानेर से सम्बन्ध बिगाड़ कर एक बार तो जोधपुर ही खो दिया था।

इन कमियों के सिवा मालदेव अपने युग का एक महान् सेनानायक था जिसने न केवल जोधपुर को विस्तृत और उन्नत बनाया वरन् अपने जीते जी राजस्थान की स्वतंत्रता को बनाये रखा। उसके समय मे जोधपुर की काफी प्रगति व उन्नति हुई। मुसलमान इतिहासकार अबुल फजल ने उसे भारत के शक्तिशाली शासकों में से एक कहा है। इसी प्रकार निजामुद्दीन उसकी प्रशंसा में लिखता है

कि —"वह हिन्दुस्तान के मौतबिर जमीदारों में से था और उस जमाने में हिन्दू रईसों में ताकत और फौज मे उसकी तुलना का कोई नही था।"

वह एक निर्माता भी था। उसने जोधपुर और राणीसर के किले बनवाये। नागौर के किले की मरम्मत करवाई यहाँ तक कि सोजत, रायपुर, सिवाना, मालकोट आदि 15 कस्बों के चारों तरफ परकोटे बनवाये। उसी ने तारागढ़ के किले में पानी के अभाव को समाप्त किया और नूर चश्मे से पानी ऊपर ले जाने की व्यवस्था की। स्पष्ट है कि वह एक महान् निर्माता था।

उसके पारिवारिक व व्यक्तिगत जीवन में वह कदाचित अपने उतावले स्वभाव के कारण लोकप्रिय नही था। एक छोटी सी उत्तेजना में आकर उसने अपने ससुर जैसलमेर के राव को अप्रसन्न कर लिया। थोड़े से शक में आकर अपने वीर व स्वामीभक्त सेनापति जेता और कूँपा को खो बैठा। अपनी दूसरी रानी के प्रभाव में आकर अपने बड़े लड़के राम का हक मार कर चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि मारवाड़ का उत्तराधिकार युद्ध मुगल हस्तक्षेप का कारण बन गया। इन सबसे दुखद कर्म तो पिता की हत्या थी जिसके द्वारा मालदेव ने मारवाड़ का राज्य प्राप्त किया था। स्पष्ट है कि उसका व्यक्तिगत जीवन आवेश, अदूरदर्शिता, शंका, स्वार्थ और क्षणिक लाभ से ओत-प्रोत था।

इतना होते हुए भी वह मारवाड़ का व राजस्थान का स्वतन्त्रता सेनानी था, महान् विजेता था, निपुण सेनापति था, कुशल प्रशासक व उदार निर्माता था जिसने अन्तिम समय तक मारवाड़ की स्वाधीनता की रक्षा की।



13

राव चन्द्रसेन (1562-1581)

"राजा मालदेव की मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ"—टाड.

मारवाड़ में जहां राजपूतों का पचरंग झण्डा फहराता था वहां पर अब मुसलमानों का झण्डा फहराने लगा। जहां शासन व्यवस्था राठौड़ों के संकेत पर चलती थी। वहां मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया और मालदेव के अन्तिम दिनों में मारवाड़ के शहरों पर मुगलों का प्रभाव शुरू हो गया था। उसके देहान्त के बाद तो सारे मारवाड़ पर अकबर का आधिपत्य स्थापित हो गया। इस प्रकार अकबर के समय में जोधपुर के राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी। टाड महोदय अपनी पुस्तक के दसवें अध्याय में जोधपुर की इस बदलती हुई सत्ता का वर्णन करते हैं। वास्तव में मालदेव के देहान्त के बाद जोधपुर राज्य के बुरे दिनों का आरम्भ हुआ और राव चन्द्रसेन अपने शासन के पूरे 19 वर्ष तक अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए लड़ता रहा और अन्त में उसने अपने देश की आजादी के लिये अपने प्राणों की अहुति दे दी। जीवन भर अपने पूर्वजों के गौरव को प्राप्त करने के लिए छटपटाता रहा। किन्तु उसकी चेष्टाएं विफलता के अथाह सागर में डूबती गयी और भाइयों की आपसी फूट मारवाड़ की पराधीनता का कारण बन गयी। राव चन्द्रसेन का समय संघर्ष, देश भक्ति व पराजय का समय है, जिसमें आपसी फूट से लाभ उठाकर अकबर ने राजस्थान के इस महत्वपूर्ण भू भाग पर अपना अधिकार कर लिया। चन्द्रसेन की असफलताओं को देखकर उसकी गणना उच्चकोटि के शासकों में नहीं की जा सकती किन्तु यह ऐतिहासिक अन्याय मात्र है। उसके बारे में उपलब्ध सामग्री भी उसके शासक भाइयों के भय से अब तक छिपी रही और इसके प्रयासों को विफल मानकर सभी उसके व्यक्तित्व की अवहेलना करते रहे। किन्तु आधुनिक अनुसंधान कार्यों ने उसके ज्वलन्त प्रयत्नों को प्रकाश में लाकर मारवाड़ के स्वतन्त्रता संगठन को रंगीन बना दिया है। कुछ इतिहासकार चन्द्रसेन को मारवाड का भूला हुआ नायक "Forgotten Hero of Marwar" कहकर भी सम्बोधित करते हैं। चन्द्रसेन के काल की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इस प्रकार आकी जाती हैं :—

1. उत्तराधिकार संघर्ष—जोधपुर के राव मालदेव का देहान्त 1562 ई० में हुआ। वह हुमायूँ, शेरशाह और अकबर के प्रारम्भिक जीवन में मुसलमानों से

निरंतर संघर्ष करता रहा था। उसकी मृत्यु के बाद उसका तीसरा लड़का चन्द्रसेन मारवाड़ का शासक बना। मालदेव ने अपने राज्यकाल में अपने बड़े लड़के राम से अप्रसन्न होकर उसे राज्य से निकाल दिया था। राम मेवाड़ में केलवा नामक स्थान में जाकर रहने लगा था। उसका दूसरा भाई उदयसिंह भी अयोग्य था और उससे मालदेव की पटरानी भी अप्रसन्न थी। इसलिए उसे राज्य के अधिकार से वंचित कर मारवाड़ में ही फलोदी की जागीर दे दी गई थी और मालदेव ने अपने जीवन काल में ही अपने तीसरे पुत्र चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। चन्द्रसेन के एक छोटा भाई रायमल और था। मालदेव की मृत्यु के पश्चात् 1562 ई० में चन्द्रसेन मारवाड़ का राव बना जिससे उसके तीनों भाई उससे ईर्ष्या करते थे।

वैसे उत्तराधिकारी का कोई नियमित कानून नहीं था। साधारणत. बड़ा लड़का ही राज्य का स्वामी बनता था। मालदेव ने इस परम्परा को ठुकरा कर अपने लड़कों में आपसी संघर्ष का बीजारोपण किया था। यह लड़ाई भाइयों के बीच आजीवन चलती रही। डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' में कहते हैं—"वास्तव में चन्द्रसेन को गद्दी मिलना कई सरदारों और उसके अन्य भाइयों को अच्छा नहीं लगा। वे किसी अवसर की ताक में थे जिसको लेकर चन्द्रसेन का विरोध करे।"[1]

चन्द्रसेन ने भी गद्दी पर बैठते ही आवेश में आकर उदयसिंह के समर्थक एक नौकर को मरवा डाला। मारवाड़ का प्रमुख दरबारी पृथ्वीराज राठौड़ और अन्य सरदार जो उदयसिंह के समर्थक थे, इस बात से भड़क उठे। उन्होंने इस अन्यायपूर्ण कार्य का बदला लेने के लिए चन्द्रसेन के विरुद्ध गठबन्धन किया और उदयसिंह को विद्रोह के लिए निमन्त्रित किया।

इतिहासकार रेऊ अपनी पुस्तक 'मारवाड़ का इतिहास' में कहते हैं कि—"चन्द्रसेन के तीनों भाई जो पहले से ही अप्रसन्न थे इस सूचना को पाते ही विद्रोह के लिए तैयार हो गये।"[2] इस प्रकार मारवाड़ में गृह युद्ध शुरू हुआ। राम ने सोजत में आकर विद्रोह खड़ा किया। उदयसिंह ने गाँगाजी के पास लागड़ नामक गाँव में लूटमार शुरू की और तीसरे भाई रायमल ने भी दुनाड़े में उपद्रव खड़ा कर दिया। मारवाड़ के कई सरदार इन तीनों से जा मिले। विद्रोहियों का दमन करने के लिए चन्द्रसेन ने एक सेना भेजी। राम और रायमल तो डर कर अपनी जागीरों में भाग गये किन्तु उदयसिंह ने लौहट के गाँव में चन्द्रसेन का मुकाबला किया। दिसम्बर 1562 में यह लड़ाई प्रारम्भ हुई। उदयसिंह चन्द्रसेन की बर्छी से घायल होकर गिर पड़ा। जोधपुर राज्य की ख्यात के पहले भाग के पेज 86 पर इस युद्ध

1 डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 327

2 रेऊ—मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 148–49

का वर्णन किया गया है। उदयसिंह के साथी उसे युद्ध के मैदान से उठाकर सुरक्षित स्थान पर ले गये और वह बच गया। चन्द्रसेन विद्रोहियों का दमन करने में पूर्ण सफल रहा। किन्तु बात यहीं समाप्त होने वाली नहीं थी। सरदारों ने उदयसिंह को समझाया कि दिल्ली में बढ़ती हुई मुगल शक्ति का सहारा लेकर चन्द्रसेन को गद्दी से हटा सकता है। उदयसिंह ने इस राय के अनुसार नागौर के शासक हुसेन कुली बेग की शरण ग्रहण की। मारवाड़ की स्वतन्त्रता का अन्त करने का मुगलों को इससे अच्छा और क्या अवसर मिल सकता था? भाइयों की शत्रुता, सरदारों का स्वार्थ और गद्दी की भूख मारवाड़ की आजादी खा गई। आपसी लड़ाई से शक्ति क्षीण हो गई। इस अवसर से अकबर ने लाभ उठाना उचित समझा। अब तक वह कई राजपूत राजाओं से मित्रता कर चुका था। जैसलमेर और बीकानेर के राजा भी उसकी शरण में आ गये थे। जयपुर पहले ही अकबर का समर्थक हो चुका था। केवल जोधपुर और मेवाड़ के शासक अपनी स्वतन्त्रता की बीन बजा रहे थे। जोधपुर को अपने शिविर में पाकर अकबर के हाकिम बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उदयसिंह को मारवाड की गद्दी दिलवाने का वायदा किया।

उदयसिंह एक मोटे चरित्र का व्यक्ति था। उसने अपने स्वार्थ के लिए अपने देश की स्वतन्त्रता को बेच डाला।

इतिहासकार टाड का कहना है—"मालदेव के समय से ही उदयसिंह की जिन्दगी का रास्ता बिगड़ा हुआ था। वह स्वार्थी था और किसी प्रकार राजसिंहासन पर बैठकर राज्य-सुख का भोग करना चाहता था।.................................. उसका शरीर मोटा था और उसकी बुद्धि भी मोटी थी। उसे लोग मोटा राजा भी कहते थे।"

भाइयों का यह उत्तराधिकार युद्ध और उदयसिंह का मुगलों की शरण में जाना मारवाड़ को महंगा पड़ा। इसी समय से 19 वर्ष का संघर्ष शुरू हुआ और चन्द्रसेन की मृत्यु के बाद 1581 में उदयसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा।

2. **जोधपुर का पतन**—चन्द्रसेन के विरुद्ध अन्य तीनों राजकुमारों ने एक गठबन्धन बना लिया। अकबर इस समय राजस्थान विजय की सोच रहा था। 1564 ई० में राम अकबर के दरबार में पहुँचा और सहायता की प्रार्थना की। अकबर के हाकिम कुली बेग ने जोधपुर के राठौड़ों की आपसी फूट से लाभ उठाना चाहा और जोधपुर की ख्यात के अनुसार हुसेन कुली बेग ने जोधपुर पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। चन्द्रसेन के पास इतनी सेना नहीं थी कि वह मुगलों की शक्ति का सामना करता। अतः उसने जोधपुर का किला छोड़ दिया और स्वयं भद्राजण के किले में चला गया।

डॉ० वी. एस. भार्गव अपनी पुस्तक 'मारवाड़ और मुगल शासक' में 'जोधपुर की ख्यात' और रेऊ के 'मारवाड़ के इतिहास' में दिये हुए इस वर्णन को नहीं

मानते कि हुसेन कुली वेग ने जोधपुर जीत लिया। कहा जाता है कि मुगल सेना ने तीन वार जोधपुर पर आक्रमण किया और तीसरी बार 10 माह के घेरे के बाद वह जोधपुर को जीत सके। इससे पहले उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई।

ओझाजी ने भी जोधपुर राज्य के इतिहास के पहले भाग में इसी कथन का समर्थन किया है। किन्तु 'आईना ए अकवरी' मे स्पष्ट वर्णन है कि—"चन्द्रसेन को किला छोड़ना पड़ा और भद्राजण में शरण लेनी पड़ी।" डॉ० भार्गव कहते हैं कि "हुसेन कुली वेग ने सारे मारवाड को जीत लिया किन्तु वह जोधपुर के किले को नहीं जीत सका। जो भी हो मारवाड के महत्त्वपूर्ण दुर्ग मुसलमानो के हाथ में थे। मेड़ता और नागौर पर पहले ही कब्जा हो चुका था और ये दोनों दुर्ग मारवाड के द्वार कहलाते थे। इन्हें केन्द्र बनाकर हुसेन कुली वेग ने अकवर के शासन के आठवें वर्ष में जोधपुर को घेर लिया और जब चन्द्रसेन के पास कोई साधन नही रहा, उसकी सेना के लिए किले में खाद्य सामग्री नही रही तो उसने मुसलमान सरदारों को रिश्वत देकर किले से निकलने का अवसर पा लिया।

जोधपुर पर मुगलों के आधिपत्य ने चन्द्रसेन की शक्ति को क्षीण बना दिया और वह केवल मारवाड़ के दक्षिण भाग का स्वामी रह गया। तब से लगाकर 1583 तक जोधपुर पर मुसलमानों का अधिकार रहा। जब अकवर ने उदयसिंह को जोधपुर वापस सौंप दिया था। इस प्रकार चन्द्रसेन का जीवन पराजय से शुरू हुआ।

3. चन्द्रसेन नागौर में—जोधपुर छूटने के बाद चन्द्रसेन को आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी और उसने अपने राज्य के 6 वर्ष (1564–1570) में अपने पिता की कीमती-कीमती वस्तुएँ बेच कर काटे। चारों ओर अराजकता फैल गई थी। उसके दूसरे भाई उसे बहुत तंग कर रहे थे। लगान वसूल होना असम्भव हो गया था। वह अपने पूर्वजों के रत्न बेचकर सैनिकों का वेतन दे रहा था। महाराणा उदयसिंह ने चन्द्रसेन से एक हार एक लाख 60 हजार रुपये में खरीदा था। जिसका वर्णन 'अकवर' नामक पुस्तक में किया गया है। ऐसी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए चन्द्रसेन ने उचित समझा कि वह अकवर से मिलकर कोई संधि कर ले। 1570 में अकवर स्वयं नागौर मे आया। अत. चन्द्रसेन ने बिना समय गँवाये मुगल दरबार में प्रस्तुत होकर अपनी दशा सुधारनी चाही। अकवर के पास चन्द्र-सेन की स्थिति की सारी खबरें पहुंच चुकी थी। 3 नवम्बर, 1570 ई० को वह अकवर से मिला। उसे यह आशा थी कि, उसके दुःख के दिन समाप्त हो जायेंगे। किन्तु उसके भाई राम और उदयसिंह पहले ही अकवर के दरबार मे मौजूद थे। क्योंकि उदयसिंह पहले से ही मुगलो के साथ था, अत. चन्द्रसेन को अपनी आशाएँ धूमिल पड़ती नजर आई। अकवर ने चन्द्रसेन को राजा का सा स्वागत सम्मान दिया किन्तु कोई आश्वासन न दे सका। चन्द्रसेन अकवर की मन्शा समझ गया और अपने लड़के रायसिंह को अपनी तरफ से वार्ता के लिए पीछे छोड़ गया। अकवर को

गया था कि निकट भविष्य में उदयसिंह बादशाह का पुनः समर्थन प्राप्त कर लेगा। अतः उसने अपना समय व्यर्थ गँवाना उचित नहीं समझा।

(4) चौथा कारण यह था कि उदयसिंह ने मुगल दरबार में विरोधी वातावरण उपस्थित कर दिया था और शत्रुओं के बीच चन्द्रसेन अपने आपको बड़ी खिसियाई हुई स्थिति में पाता था। उसका एक भी मित्र दरबार में नही था अतः उसने वहाँ रहना व्यर्थ समझा।

(5) पाँचवा कारण यह था कि उसे ज्ञात हो चुका था कि अकबर की एक स्पष्ट राजपूत नीति थी। जिसमें स्वतन्त्र राज्य को कोई स्थान नही था और चन्द्रसेन अकबर की अधीनता मानने नहीं आया था वरन् उसकी मित्रता प्राप्त करने आया था। देश के सम्राट् और छोटे से राव के बीच मित्रता सम्भव नही लगती थी। अतः चन्द्रसेन अपनी स्थिति को समझ कर नागौर से चला गया।

5. अकबर की नीति—अकबर की राजपूत नीति मूल रूप से निम्न बातों पर आधारित थी—

(1) वह छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं को आपस में लड़ाकर उनमें फूट डालकर उन्हें अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था। जोधपुर में भी उसने उदयसिंह को मदद देकर चन्द्रसेन का अन्त किया।

(2) वह स्वतन्त्र हिन्दू राज्य नही देखना चाहता था और यथासंभव सभी हिन्दू राजाओं को किसी न किसी रूप मे अपने अधीन करना चाहता था। इसलिए उसकी इच्छा के बिना हिन्दू राजाओं के उत्तराधिकारियों को मान्यता नही दी जाती थी। वह बराबर का दूसरा हकदार खड़ा कर राज्य मे विद्रोह करवा देता था और इस प्रकार एक दूसरे को लड़ाकर राजपूतों की शक्ति समाप्त करवा देना चाहता था।

(3) शक्तिशाली राजाओ से वह खून का रिश्ता जोड़ना चाहता था। विवाह सम्बन्ध की नीति को अपना कर उन्हें वफादार दरबारी बनाना चाहता था। इसलिए उसने जयपुर, बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं की लड़कियों से विवाह किया। यह नीति इंग्लैण्ड के विख्यात शासक हेनरी सप्तम ने भी अपनाई थी। गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त प्रथम, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी इस नीति का अनुकरण किया था। 1570 में राजपूत शासकों के पिता, भाई, भान्जे अकबर के दरबार में उसके सालों के रूप में खड़े थे जिन्हें उसने महत्त्वपूर्ण स्थान देकर अपने राज्य को सुरक्षित बना लिया था।

(4) अकबर वफादार मित्र चाहता था। उसे राजपूतों पर अधिक विश्वास था। अतः उसने कुछ बड़े राजाओं को बिना पराजित किये, मित्र बना लिया और उन्हें दूसरे हिन्दू शत्रु राजाओं के विरुद्ध काम में लेकर अपनी शक्ति को सुदृढ़

बनाया। वह अपने मुसलमान साथियों पर कम विश्वास करता था। अतः राजपूत राजाओं में सच्ची मित्रता की फूंक भरना चाहता था।

(5) अकबर केवल राजधानी ही जीत कर सन्तुष्ट नहीं होता था। वह शत्रु राजपूत राजाओं से पूर्ण आत्मसमर्पण भी चाहता था। राम, उदयसिंह, चन्द्रसेन और रायमल में से कोई भी पूर्ण आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं था। यही कारण है कि अकबर ने 1570 मे उदयसिंह को जोधपुर का राजा नहीं बनाया बल्कि बीकानेर के राजा को वहाँ प्रशासन चलाने के लिए भेज दिया। वह इस क्षेत्र में शेरशाह की नीति का अनुसरण कर रहा था। संक्षेप में उसकी नीति विभाजन करो और राज्य करो' की थी।

6. भद्राजण का पतन. - जब चन्द्रसेन दरबार से असन्तुष्ट चला गया तो उसने अपनी शक्ति का संगठन करना शुरू किया। अकबर ने चन्द्रसेन का दमन करने के लिये और अपनी नीति का परीक्षण करने के लिये मारवाड़ भूमि को चुन लिया। उसने उदयसिंह को समावली की जागीर दे दी और अपनी तरफ मिला लिया। राम को अपने पैतृक राज्य से अलग रखने के लिये उसे मुगल सेना के साथ रखा गया और जोधपुर पर शाही अधिकार स्थापित कर दिया गया। बीकानेर का राजा जोधपुर में आकर रहने लगा फिर भी चन्द्रसेन को दबाया नहीं जा सका। इतिहास मे इससे पहले ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता कि एक राजपूत राजा के नगर मे प्रशासक रखा गया हो। जो राजपूत राजा शक्ति को ही 'सर्वेसर्वा' मानते थे उन्हें यह मानने के लिये बाध्य किया गया कि अकबर उससे भी शक्तिशाली है। जोधपुर के किले पर पुनः अधिकार किया गया। इस प्रकार अकबर ने मेवाड को छोडकर सारे राजस्थान पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु चन्द्रसेन अभी भद्राजण में स्वतन्त्र था। अतः अकबर ने भद्राजण पर आक्रमण किया। यह आक्रमण 1565 ई० मे हुआ। मुगल सेनापति खान कल्ला खाँ ने चन्द्रसेन को फिर घेर लिया। वह भद्राजण छोड़कर शिवाना के किले में चला गया। चन्द्रसेन अपने दिन बड़ी कठिनाई से निकाल रहा था। उसके पास सेना और युद्ध सामग्री दोनों की ही कमी थी। अतः अगले चार वर्ष उसने वनवास में काटे। अकबर ने भद्राजण जीतने के बाद शिवाना पर भी आक्रमण किया। इस आक्रमण मे बीकानेर का राजा रायसिंह भी सम्मिलित था। अकबर कदाचित शिवाना पर आक्रमण नहीं करता किन्तु चन्द्रसेन ने 4 वर्ष शिवाना मे रहकर लगातार पड़ौसी देशों को लूटा व नष्ट किया। अतः अन्त में रायसिंह, खान कुली बेग व अन्य मुसलमान अफसरों ने शिवाना पर भी अपना अधिकार कर लिया। अक्टूबर 1572 मे विवश होकर चन्द्रसेन को शिवाना छोड़कर सारज के पहाड़ों मे जाना पड़ा। मुगल सेना ने वहाँ भी उसका पीछा किया। हम देखते हैं कि 1564 से 70 का समय लूटमार और युद्ध का समय है जिसमें चन्द्रसेन की पराजय हुई और उसने महत्वपूर्ण दुर्ग भद्राजण और शिवाना खो दिये।

7. दुनाड़ा का पतन—चन्द्रसेन ने अपने आपको दुनाड़ा के पतन के बाद जोधपुर के आसपास ही रखा और मुगल सेना व प्रशासन को तंग करता रहा। मुगल सेना बराबर उसके पीछे लगी रही और उसका पीछा करते-करते उन्होंने सोजत पर भी अधिकार कर लिया क्योंकि राम के बेटे ने उसे सोजत में शरण दी थी। चन्द्रसेन मारवाड़ छोड़कर डूंगरपुर होता हुआ बाँसवाड़ा आ गया, किन्तु फिर भी मुगल सेना ने उसका पीछा नहीं छोड़ा अतः चन्द्रसेन ने एक बार फिर मारवाड़ जीतने के लिये आक्रमण किया और दुनाड़े के क्षेत्र से मुगल सेना के थानेदारों को मार भगाया। अकबर को चन्द्रसेन को दबाने के लिये तीसरा प्रयास करना पड़ा। 1576-1577 ई० में मीरबक्शी व शहबाजखान की अधीनता मे एक विशाल सेना भेजी गयी और लूनी नदी के उस पार दुनाड़ा के पत्थर के किले में चन्द्रसेन को घेर लिया गया किन्तु यहाँ से भी चन्द्रसेन अवसर पाकर पोकरण की तरफ निकल गया। *अब चन्द्रसेन के पास कोई किला नहीं रहा था। जोधपुर भद्राजण, दुनाड़ा* और शिवाना जाने के बाद वह एक गृहहीन भटकने वाला व्यक्ति रह गया। उसने पहाड़ों में शरण ली। इस प्रकार पोकरण के अतिरिक्त 1577 ई० में सारा मारवाड़ अकबर के अधीन हो गया।

8. दर-दर भटकना—3 वर्ष तक चन्द्रसेन सहायता के लिये इधर उधर भटकता रहा। वह अपना देश छोड़कर डूंगरपुर के रावल आसकरण के पास भी गया जो उसका बहनोई लगता था किन्तु आसकरण ने मुगल सेना के भय से उसे कोई सहायता नहीं दी। कहावत है कि जब विपत्ति आती है तब चारो तरफ से आती है। चन्द्रसेन के राजनैतिक अधिकार ही नहीं छिन रहे थे उसकी आर्थिक दशा भी दयनीय हो गयी थी। उसके रिश्तेदार और मित्र उसकी सहायता करते हुए डरते थे। डूंगरपुर से निराश होकर वह बाँसवाड़ा गया वहाँ भी मुगल सेना ने उसका पीछा किया और उसे वापस मारवाड़ मे आना पड़ा। चन्द्रसेन और मुगलों का आखरी मुकाबला पोकरण में हुआ। यहाँ जैसलमेर के राजा ने चन्द्रसेन पर आक्रमण कर उसे पूर्णरूप से पराजित कर दिया। उसकी सेना पूर्णरूप से छिन्न भिन्न हो गयी और वह अपने कुछ साथियों के साथ छिपकर अजमेर की पहाड़ियों मे जीवन व्यतीत करने लगा। अकबर वहाँ भी चैन से नहीं बैठा। उसने 1580 मे प्यादा खान को इसलिये नियुक्त किया कि वह चन्द्रसेन को तलाश कर पूर्णरूप से खत्म कर दे। इस भाग दौड़ मे 11 जनवरी, 1581 को चन्द्रसेन का सीरन के पहाड़ों मे सरेरी की घाटी में देहान्त हो गया। एक देश भक्त का इससे दुःखद अन्त और क्या हो सकता है?

9. चन्द्रसेन का व्यक्तित्व—डॉ० भार्गव का कथन है कि—'इस प्रकार *एक भुला दिये गये नायक के जीवन का अन्त हुआ जो अपनी मातृभूमि को अपना रक्त देकर भी स्वतन्त्र करना चाहता था और बढ़ती हुई मुगल शक्ति के विरुद्ध*

अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना चाहता था "[1]। राव चन्द्रसेन का अधिकांश समय पहाड़ियों में रहकर मुगल विद्रोह में बीता।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि—"वह मनस्वी और स्वतन्त्र प्रकृति का वीर होने से मुगल अधीनता स्वीकार करने को तैयार नही हुआ। अकबर की नीति मुगल सत्ता को राजस्थान मे स्थापित करने की थी तो चन्द्रसेन अपने राज्य की स्वतन्त्रता चाहता था। ऐसी स्थिति में दोनों का विरोधी रहना स्वाभाविक था। यह मुगल राठौड़ संघर्ष विचार और मान्यताओं के भेद का फल था।"[2]

इतनी बड़ी शक्ति से इतने बड़े समय तक लड़ना कोई सरल बात नही थी। किन्तु चन्द्रसेन की यह नीति उसी के राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई। उसके 19 साल के शासन मे मारवाड की जो क्षति हुई उसकी पूर्ति कभी नही हो सकी। फिर भी भारतीय स्वतन्त्रता के सेनानियों में इसका नाम भी लिखा जाना चाहिये क्योंकि धन का अभाव होते हुए भी उसने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये घर के रत्न आदि बेचकर भी अकबर जैसी समृद्ध शक्ति को आजीवन चैन से नही बैठने दिया। पडित रेऊ अपनी पुस्तक 'मारवाड़ का इतिहास' मे चन्द्रसेन की तुलना प्रताप से करते है और उसे "मध्यकालीन भारत का एक महत्त्वपूर्ण योद्धा" मानते हैं। फिर भी प्रताप से इसकी तुलना पूर्ण रूप से न्याय सगत नही है। सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि चन्द्रसेन साहसी और दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति था जिसने कुछ न होते हुए भी अकबर को चुनौती देकर इतिहास मे अपना नाम सुरक्षित कर लिया। वह समकालीन राजाओं मे प्रताप के बाद दूसरा स्थान रखता है। उसका जीवन, संघर्ष व असफलताओं का अध्ययन कर उसके प्रति सहानुभूति व श्रद्धा उत्पन्न होती है वास्तव मे वह उन राजपूत वीरो मे से था जिसे अकबर की शक्ति नही झुका सकी।

प्रताप से तुलना—महाराणा प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार नही करना चाहते थे। चन्द्रसेन भी स्वतन्त्र रहना चाहता था। प्रताप ने भी एक बार कठिन घड़ियों मे एक पत्र अकबर को लिख दिया था उसी प्रकार चन्द्रसेन भी अकबर से मिलने नागौर चला गया था। चन्द्रसेन के 2 भाई राम और उदयसिंह अकबर से मिल गये थे। मेवाड़ के जगमल और शक्तिसिंह का भी यही हाल था। अधिकाश मारवाड़ पर भी अकबर का अधिकार था और मेवाड़ पर भी। दोनों ही थोड़ी सी भूमि के भरोसे अकबर से लड़ रहे थे। प्रताप की हल्दीघाटी की पराजय चन्द्रसेन की भद्राजण की पराजय के समान थी। प्रताप भी अपने आजीवन चित्तौड़ व माण्डलगढ़ को नही ले सका और वैसे ही चन्द्रसेन भी भद्राजण और जोधपुर को वापस नही ले सका। प्रताप ने भी जगलों में शरण ली थी और चन्द्रसेन को भी पहाड़ियों में छिपना पड़ा। इन बातों को देखने से दोनो समान लगते है किन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। मोटे तौर पर ये सात अन्तर दिखते हैं :—

[1] डॉ० भार्गव—मारवाड एण्ड दी मुगल एम्परर्स

[2] डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 330-31

दोनों के राजनैतिक आदर्श भिन्न थे। चन्द्रसेन 1570 में अकबर से मिलने नागौर गया था किन्तु प्रताप ने अकबर की यह इच्छा कभी पूरी नहीं होने दी कि वह प्रताप को अपने दरबारियों में देखें। यदि अकबर चन्द्रसेन को जोधपुर दे देता और राजा मान लेता तो चन्द्रसेन शाही दरबार में आ सकता था।

दूसरा अन्तर यह था कि चन्द्रसेन ने मुगलों से खुलकर कभी युद्ध नहीं किया था। जबकि प्रताप ने हल्दीघाटी में खुला युद्ध लड़ा था।

तीसरा अन्तर यह था कि प्रताप ने अपने राज्य को व्यवस्थित भी बनाया। नई राजधानी चावण्ड की स्थापना की किन्तु चन्द्रसेन सदा मारवाड़ को लूटता ही रहा। उससे जन समुदाय व महाजन अप्रसन्न थे।

चौथा अन्तर यह था कि लूट की नीति के कारण ही चन्द्रसेन को मारवाड़ छोड़कर डूंगरपुर, बासवाड़ा और अजमेर जाना पड़ा। जबकि प्रताप ने पूर्ण रूप से मेवाड़ कभी नहीं छोड़ा।

पाँचवा अन्तर यह था कि जहाँ तक पारिवारिक विरोध का प्रश्न है चन्द्रसेन के बाद जोधपुर के राजा मुगल दरबार में रहने लगे किन्तु प्रताप के बाद उसका उत्तराधिकारी बहुत समय तक जहाँगीर से लड़ता रहा और उदयपुर के महाराणा मुगलों से लड़ने में अपना गौरव समझते थे। मारवाड में मुगलों का विरोधी चन्द्र-सेन के बाद सिर्फ दुर्गादास हुआ।

छठा अन्तर यह था कि अकबर ने राजा को मित्र बनाने के लिये चार प्रयास किये लेकिन उसने अकबर की मित्रता ठुकरा दी यदि चन्द्रसेन को ऐसा अव-सर मिलता तो वह सहर्ष संधि कर लेता।

सातवाँ अन्तर यह था कि जीवन के अन्तिम दिनों में प्रताप एक सफल सेनानी प्रतीत होता है, चन्द्रसेन असफलता और विनाश का शिकार बन कर असन्तुष्ट ही मर गया। वह एक हताश सेनानी की मृत्यु मरा अतः उसकी तुलना प्रताप से नहीं करनी चाहिये।

आठवाँ अन्तर यह था कि प्रताप ने अपने राज्य का बहुत सा भाग मुगलों से वापस छीन लिया था जबकि चन्द्रसेन एक भी गाँव वापस नहीं ले सका था। प्रताप पूर्णरूप से एक सफल विजेता था जबकि चन्द्रसेन एक पराजित सेना-पति। चन्द्रसेन ने अपने घर के रत्न बेचे थे जबकि राणा ने भामाशाह से सहायता ली थी।

□

14

राजा मानसिंह

"राजा मानसिंह के शासनकाल में आमेर राज्य की बड़ी उन्नति हुई। मुगल दरबार में सम्मिलित होकर मानसिंह ने अपने राज्य का विस्तार किया, और अनेक अवसरों पर अपने आपको संकटों में डालकर मुगल शासन का हित किया। खुतन से लेकर कितने ही राज्यों को अपनी तलवार से जीतकर वहाँ पर उसने मुगल पताका फहरायी। मानसिंह ने उड़ीसा और आसाम को जीत कर उनको अकबर बादशाह के अधीन बना दिया था, उससे भयभीत होकर काबुल ने भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अपनी इन्हीं सफलताओं के फल-स्वरूप मानसिंह बंगाल, बिहार, दक्षिण व काबुल का शासक नियुक्त हुआ था।"

मानसिंह के प्रभाव का वर्णन करते हुए टाड महोदय ने यह बताया है।

श्री ओझा कहते हैं कि—"अकबर ने राजपूतों से विवाह सम्बन्ध जोड़कर तथा आमेर के राजा भगवानदास के भतीजे मानसिंह को अपना विश्वासपात्र बनाकर मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर ली। मानसिंह अकबर के विश्वासपात्र स्तम्भों में से एक था।"

श्री गहलोत के शब्दों में—"आमेर के मानसिंह को 7 हजार जात व 6 हजार सवार का मन्सब भी प्रदान किया गया था। जो अकबर के शासनकाल में किसी भी हिन्दू या मुसलमान सरदार को प्रदान किया जाने वाला ऊँचा से ऊँचा मन्सब था।"

स्पष्ट है कि अकबर ने राजपूतों को अपना कर अपने शासन को सुदृढ बनाने के लिये जो नीति अपनायी उसमें आमेर के राजा और विशेष तौर पर मानसिंह का सबसे अधिक योगदान था। राजपूत राजाओं में मानसिंह ही एक ऐसा राजा था जिसने मुगल सम्राट् के साथ सबसे पहले मैत्रीपूर्ण व्यवहार को अपनाया और जीवन भर वह मुगल दरबार की वफादारी से सेवा करता रहा। मानसिंह के जीवन में निम्न महत्त्वपूर्ण बातें स्मरणीय हैं—

1. आरम्भिक जीवन—मानसिंह का जन्म 1550 ई० में मौजमाबाद गाँव में हुआ था। यह भगवन्तदास के भाई जगतसिंह का पुत्र था। किन्तु कुछ इतिहासकार इसे भगवन्तदास का ही पुत्र मान लेते हैं। जहाँगीर ने अपनी आत्म-कथा में इसे भगवन्तदास का भतीजा लिखा है। आमेर से प्राप्त शिलालेख व ख्यातों में इसे भगवन्तदास का पुत्र कहा गया है। जो भी हो 1589 ई० में इसे भगवन्तदास की

मृत्यु के बाद आमेर का राजा बनाया गया। फिर भी एक उलझन उत्पन्न हो जाती है कि मानसिंह के पिता भगवन्तदास थे या जगतसिंह। यदि मुसलमान लेखको को सच मान लिया जाय तो मानसिंह भगवन्तदास का ही पुत्र था। डॉ० गोपीनाथ शर्मा भी इसे भगवन्तदास का ही पुत्र मानते है क्योंकि निजामुद्दीन, बदायूनी व फरिश्ता जैसे विद्वान् भगवन्तदास को ही इसका पिता मानते हैं।

टाड महोदय इस घटना के विरुद्ध मानसिंह को भगवन्तदास का गोद लिया हुआ पुत्र मानते हैं। भगवन्तदास को कई जगह भगवानदास भी लिखा गया है।

स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक 'अकबर' मे टाड के मत का समर्थन किया है। श्री ओझा राजपूताने का इतिहास में लिखते हैं कि—"मानसिंह भगवन्तदास का दूसरा पुत्र था और उसे आमेर के राजा भगवानदास ने गोद लिया था।"

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकार मानसिंह के जन्म के बारे में अलग-अलग राय रखते हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि भारमल के बाद उसका पुत्र मानसिंह आमेर का शासक बना। मानसिंह ने 1589 से 1614 तक, अर्थात् 26 वर्ष तक आमेर पर राज्य किया। उसके शासनकाल मे आमेर जैसे छोटे से राज्य की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। मुगल दरबार मे आमेर का सम्मान बढ़ गया और अन्य राजपूत घरानों से कही अधिक समृद्धि व प्रतिष्ठा मानसिंह के समय आमेर की हुई।

2. **मानसिंह मुगल दरबार में**—12 वर्ष की अवस्था में मानसिंह मुगल दरबार मे आ गया था। अकबर के साथ रह कर ही उसने सैनिक शिक्षा मे निपुणता प्राप्त की थी वह 13 फरवरी, 1565 को आगरा पहुँचा था और तब से लगाकर 1574 ई० तक अर्थात 12 वर्ष तक वह अपने दादा के शासनकाल मे अकबर के दरबार में रहा उसके बाद वह अपने पिता के शासनकाल मे 1574-89 तक कुँवर मानसिंह के रूप मे अकबर की सेवा मे रहा। इन दोनों कालों के बीच मे अर्थात् भँवर तथा कुँवर मानसिंह ने अकबर की जो सेवाएँ की वे भी सराहनीय है। रणथम्भौर के आक्रमण के समय मानसिंह अपने पिता के समय अकबर के साथ था। अकबर ने जो सूरजहाड़ा पर विजय प्राप्त की थी उसमें भी मानसिंह का बहुत हाथ था। 1572 ई० मे गुजरात में होने वाले ईडर के विद्रोह मे मानसिंह ने विद्रोही शेर खाँ फौलादी के लड़कों को पराजित कर लूटा था। इसके अतिरिक्त गुजरात के अभियान में वह अकबर की सेना की अग्रिम पंक्तियो में था। गुजरात से लौटते समय मानसिंह ने डूँगरपुर विजय की थी और उदयपुर में प्रताप से भेंट की। इस प्रकार मानसिंह ने 24 वर्ष की अवस्था से पहले ही गुजरात, डूँगरपुर, हाड़ा, रणथम्भौर और ईडर के भयानक युद्धों मे भाग लेकर सफलता प्राप्त कर ली थी। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर जून 1573 में अकबर ने उसे अपना दूत बनाकर प्रताप के पास भेजा था। मानसिंह का स्वाभिमान हल्दीघाटी के युद्ध का एक कारण बन गया था।

इन सभी बातों से यह पता चलता है कि मानसिंह वीर व योग्य राजपूत था अतः अकबर ने इसे हर अभियान में अपने साथ रखना शुरू कर दिया। अपने भँवर काल में मानसिंह इस प्रकार अकबर का विश्वासपात्र बनने में सफल हुआ।

3. मेवाड़ और मानसिंह—मानसिंह के जीवन में मेवाड़ अभियान एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। पहली बार मानसिंह को मुगल सेनापति बनाकर एक ऐसे शासक पर विजय करने भेजा गया था जो किसी भी तरह मुगलों की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं था। गुजरात से लौटने पर अकबर ने उसे 1576 ई० में 5 हजार घुड़सवार देकर मेवाड़ विजय के लिये रवाना किया। हल्दीघाटी के युद्ध में उसने प्रताप जैसे वीर को पराजित कर पहाड़ों में शरण लेने के लिये बाध्य कर दिया। यद्यपि मानसिंह मेवाड के भूगोल से परिचित नहीं था और गोगून्डा मे मुगल सेना घिर गयी थी, फिर भी मानसिंह सफलतापूर्वक मेवाड़ से लौट गया था। मानसिंह अकबर की इच्छानुसार प्रताप को पकड़ कर दरबार में नही ले जा सका। हल्दीघाटी के अभियान में उसकी प्रतिष्ठा को कुछ चोट पहुँची और कुछ समय तक अकबर भी उससे नाराज रहा किन्तु थोडे ही समय में अकबर यह समझ गया कि मेवाड़ पर पूर्ण अधिकार पाना संभव नही है अतः उसने मानसिंह को अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों पर भेजना शुरू किया।

4. मानसिंह उत्तर-पश्चिमी सीमा पर—प्रताप पर विजय पा लेने के बाद अकबर यह समझ गया था कि मानसिंह एक उपयोगी सेनापति है। अतः जब काबुल में विद्रोह हुआ तो अफगानों को दबाने के लिये अकबर ने मानसिंह को भेजा। अफगानो का सरदार स्वतन्त्र होना चाहता था। साथ ही काश्मीर का शासक युसुफ खाँ उपद्रवियो से मिल गया था अतः मानसिंह को पजाब भेजा गया। मानसिंह ने एक ही दौर मे काश्मीर और काबुल के विद्रोहों का पूर्णतया दमन कर दिया। काबुल का शासक मिरजा हाकिम सिन्ध नदी के इस पार अपनी राज्यसत्ता बढाना चाहता था अतः मानसिंह ने न केवल काश्मीर के विद्रोह का दमन किया वरन् काबुल के शासक मिरजा हाकिम को भी हराकर मुगल साम्राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार मानसिंह ने पश्चिमी सीमा की अव्यवस्था को दूर कर मुगल साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया।

15 दिसम्बर, 1585 ई० को उसने काबुल पर विजय प्राप्त कर ली और मिरजा हाकिम के नाबालिक पुत्रों को बन्दी बनाकर अकबर के सामने प्रस्तुत किया। मानसिंह 1580-87 तक सीमा प्रदेशो मे रहा किन्तु उसे यहाँ की जलवायु पसन्द नही आयी, अकबर ने उसकी सहायता के लिये अन्य मुसलमान सूबेदार भी भेजे। मानसिंह को 1580 मे सिन्ध प्रदेश व पश्चिमी सीमा प्रदेशो का सूबेदार नियुक्त किया गया। पश्चिमी सीमा प्रदेश के सूबेदार के रूप मे मानसिंह ने अपने प्रदेशो में पूर्ण शान्ति स्थापित की। मिरजा हाकिम ने मानसिंह को उखाड़ फेंकने के लिये विद्रोह किया किन्तु मानसिंह ने उसे लाहौर के किले मे घेर लिया। इस प्रकार अपने

7 वर्ष के सीमा प्रदेशों की सूबेदारी के समय में मानसिंह ने विद्रोही मुसलमान सरदारों को दबाकर अपने अधीन कर लिया और जो पठान सिन्धु नदी के उस पार विद्रोह कर रहे थे उनका पीछा कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया। अकबर इस प्राप्ति से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने मानसिंह के मन्सब की वृद्धि कर उसे 5 हजारी मन्सबदार बना दिया। अत. अपने चौथे चरण में मानसिंह ने एक स्वतन्त्र सेनापति की हैसियत से कार्य कर सीमा प्रदेशों के विद्रोह का पूर्णतया दमन किया।

मानसिंह काबुल में – जिस समय मानसिंह पंजाब, काश्मीर, सिंध में विद्रोह दबा रहा था उस समय काबुल के शासक मिरजा हाकिम ने लाहौर पर आक्रमण किया था और मानसिंह ने उसे पराजित कर भगा दिया था। अब अकबर ने यह आदेश दिया कि वह काबुल पर भी अपना अधिकार कर ले। मिरजा हाकिम को दबाने के लिये जुलाई 1581 में शहजादा मुराद को काबुल भेजा गया। कुँवर मानसिंह भी उसके साथ था। दोनों ने मिलकर मिरजा को उत्तरी काबुल तक धकेल दिया और वापस पंजाब लौट आये। अकबर इस विजय से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने मानसिंह को सिन्ध प्रदेश का सूबेदार बना दिया। थोड़े समय बाद 30 जुलाई, 1585 ई० में काबुल के शासक मिरजा की मृत्यु हो गयी तथा स्थानीय सामन्तों ने काबुल पर अधिकार कर लिया। अकबर ने इस स्थिति से लाभ उठाकर मानसिंह को काबुल विजय का आदेश दिया। मानसिंह ने आसानी से काबुल जीत लिया और मिरजा हाकिम के नाबालिक बच्चों को अच्छे ढंग से दरबार में प्रस्तुत किया। दीर्घकाल से काबुल, पंजाब, सिन्ध में रहने से मानसिंह का स्वास्थ्य खराब होने लगा साथ ही 6 वर्ष तक इन प्रदेशों में रहकर ऊब गया था अतः अकबर ने मानसिंह को काबुल से वापस बुला लिया।

6. बिहार का सूबेदार मानसिंह—1587-94 मानसिंह को बिहार का सूबेदार बना कर भेजा गया। बिहार के जमीदार उपद्रव कर रहे थे और मुगल सत्ता की अवहेलना करते थे। राजा की अवहेलना मामूली बात थी। मानसिंह को विद्रोहियों का दमन करने का अनुभव था अतः उसने बड़ी निर्भीकता से यहाँ के जमींदारों से संघर्ष किया। अभी उसे बिहार में आये 2 वर्ष भी नहीं हुए थे उसके पिता का देहान्त हो गया। वह आमेर पहुँचा उसका औपचारिक राज्याभिषेक हुआ। अकबर ने भी उसका टीका भेजा और 5 हजारी मन्सबदारी पक्की कर दी। वापस लौट कर मानसिंह ने 1590-94 तक विद्रोहियों का निर्दयता से दमन किया। उसने गिधोर के राजा पूर्णमल को परास्त कर मुगल अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। पूर्णमल ने अपनी लडकी का विवाह मानसिंह के भाई चन्द्रभान से कर दिया। इसी वर्ष मानसिंह ने खडगपुर के राजा संग्रामसिंह को भी हराया। बंगाल के सुल्तान ने इसी समय बिहार के कुछ भागों पर अपना अधिकार कर लिया जिनमें ताजपुर, पूर्णीयाँ, दरभंगा आदि मुख्य थे। मानसिंह ने अपने दूत जगतसिंह की सहायता से इन लोगों को वहाँ से मार भगाया। वहाँ 1594 तक बिहार के सूबेदार की हैसियत से रहा और इस अवधि में उसने बिहार के सम्पूर्ण विद्रोहियों को समाप्त

कर मुस्लिम आधिपत्य स्थापित कर दिया। यह मानसिंह की तीसरी व्यक्तिगत सफलता थी।

7. उड़ीसा विजय—1580-83 के बीच अफगान लोग विद्रोह करने लगे थे और कुतुल खाँ ने उड़ीसा पर अपना अधिकार जमा लिया था। मानसिंह को यह आदेश दिया कि वह उड़ीसा पर आक्रमण कर उसे जीत ले। पिछले कुछ वर्षों से कुतुल खाँ बंगाल पर सशस्त्र छापेमारी कर रहा था बिहार की सीमा पर भी अफगान लूटमार कर रहे थे। कुतुल खाँ के लड़के नासिर खाँ ने भी इसी पद्धति को अपनाया। अफगानों से बिहार के कुछ हिस्सों के मुगल फौजदारों को मार भगाया था। अतः यह आवश्यक हो गया कि उड़ीसा के विद्रोह का दमन कर अफगानों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया जाय। मानसिंह इस समय आक्रमण के पक्ष में नहीं था क्योंकि उसके सैनिक बिहार में युद्ध लड़ते-लड़ते थक गये थे और बंगाल का सूबेदार भी मानसिंह को सैनिक सहायता देने को तैयार नहीं था अतः अकबर का आदेश मिलने के एक वर्ष बाद 1589 मे मानसिंह उड़ीसा पर आक्रमण करने के लिये रवाना हुआ। उसने आक्रमण का नेतृत्व जगतसिंह को दे दिया था किन्तु जगतसिंह अनुभव हीनता के कारण हार गया और उसने भाग कर बकुरा जिले में स्थित विशनगढ़ के दुर्ग में शरण ली। उसने कुतुल खाँ के लड़के नासिर खाँ से अगस्त 1589 में सधि कर ली। यह मुगलों के लिये अपमानजनक बात थी अतः 1590 में मानसिंह स्वयं 150 हाथी व विशाल सेना लेकर उड़ीसा पर टूट पड़ा। 2 वर्ष तक उसने अफगानों का दमन किया और जगह-जगह उनका पीछा किया अत में 1592 में अफगानों ने आत्मसमर्पण कर दिया और उड़ीसा पर मुगलों का अधिकार हो गया। इस विषय पर इतिहासकारों मे मतभेद है। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि मानसिंह ने केवल पुरी जिले व जलेसर के मुख्य स्थानों पर कब्जा किया था।

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव के शब्दों में—"अन्त में मानसिंह ने सफलता-पूर्वक यह विद्रोह दबा दिया और उड़ीसा तथा तेलीगंगा की सीमा पर विद्रोहियों का दमन कर सम्पूर्ण उड़ीसा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।"

उसने असंतुष्ट अफगानों को पूर्णरूप से पराजित किया और उड़ीसा के सभी नगरों पर अपना अधिकार जमाया। उड़ीसा अभियान पूर्णरूप से सफल रहा।

8. मानसिंह बंगाल में—मानसिंह की इस विजय से प्रसन्न होकर अकबर ने उसे 1594 मे बंगाल का सूबेदार बना दिया। इस समय मानसिंह एक राजा के ठाटबाट से रहा। बंगाल, बिहार व उड़ीसा की सूबेदारी मुगल साम्राज्य की सबसे बड़ी सूबेदारी थी। उसने बंगाल मे राज महल नगर भी बसाया। कुछ लोग इस राजधानी को राजप्रसाद भी कहते थे उसने पुरानी राजधानी टण्डा को छोड़ दिया। पूर्वी बंगाल में कुछ विद्रोही थे जो अकबर की अधीनता मानने को तैयार नहीं थे। मानसिंह ने ढाका पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। बिहार का राजा भी

अपने आपको स्वतंत्र गिनता था उसे भी पराजित कर मानसिंह ने उसकी लड़की से विवाह किया किन्तु बंगाल के उपद्रव पूर्णरूप से शान्त नहीं हुए थे और इन्ही उपद्रवों के दमन में मानसिंह ने अपने दो पुत्र हिम्मतसिंह और दुर्जनसिंह के प्राणों की आहुति दे दी। किन्तु अन्त में वह इन उपद्रवों को दबाने में पूर्णरूप से सफल हुआ। बंगाल में वह सिर्फ तीन वर्ष रहा। जलवायु ठीक न होने से उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा अतः सम्राट् ने उसे 1597 में वापस राजस्थान बुला लिया और अजमेर प्रान्त का सूबेदार बनाकर सलीम के साथ अजमेर भेज दिया। एक प्रशासक के रूप में मानसिंह ने बंगाल व उड़ीसा को संगठित शासन व्यवस्था प्रदान की।

9. सलीम और मानसिंह— श्री गहलोत के शब्दों में—"जीवनभर वफादारी से सेवा करने के बाद भी मानसिंह अपनी भुवा, बहिन व पोती का मुगल खानदान में विवाह करके भी बादशाह का पूर्ण विश्वासपात्र नहीं बन सका। जहाँगीर तो उससे घृणा करता था और उसे शायण्डी भेड़िया ही कहता था।"

सलीम आमेर की राजकुमारी का लड़का था। उसका विवाह भी मानसिंह की बहिन के साथ हुआ था लेकिन फिर भी मानसिंह ने विद्रोह के समय सलीम का साथ नहीं दिया। मानसिंह को सलीम का रहन-सहन पसंद नहीं था। साथ ही मानसिंह यह भी जानता था कि सलीम विद्रोह में सफल नहीं होगा उसने सलीम को विद्रोह करने के बजाय विद्रोही के दमन की राय दी लेकिन उसने नहीं मानी। फलस्वरूप मानसिंह ने विद्रोही शहजादे का दमन करने में बादशाह की मदद की। सलीम को अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी और वह हमेशा के लिये मानसिंह का शत्रु बन गया। विद्रोह का दमन हो जाने के बाद अकबर ने मानसिंह को सबसे बड़ी जागीर व मन्सब प्रदान की। मानसिंह को 7 हजार जात और 6 हजार सवार दिये गये। ऐसा लगता है मानसिंह जीवनभर विद्रोहों का दमन ही करता रहा। राजा होते हुए भी उसे राज करने का अवसर नहीं मिला और अन्त में 1614 ई० में इलीचपुर में मानसिंह का देहान्त हो गया। मानसिंह को अपने बेटे जगतसिंह की मृत्यु का बहुत सदमा पहुँचा। साथ ही अकबर की मृत्यु से मानसिंह का दिल और टूट गया था। धीरे-धीरे उसकी उम्र के सभी साथी परलोक सिधार गये थे और युवक सम्राट् जहाँगीर उसका सम्मान भी नहीं करता था। अतः 1614 ई० में मानसिंह भी परलोक सिधार गया।

10. मानसिंह का व्यक्तित्व—श्री टाड के शब्दों में—"भारतवर्ष के इतिहास में कच्छवाहा लोगों को शूरवीर नहीं माना जाता परन्तु राजा भगवन्तदास व मानसिंह के समय कच्छवाहा लोगों ने अपने बल, पराक्रम व वैभव की प्रतिष्ठा की थी। मानसिंह बादशाह की अधीनता में था लेकिन उसके साथ काम करने वाली सेना बादशाह की सेना से अधिक शक्तिशाली समझी जाती थी।"

डॉ० रघुवीरसिंह का मत है कि—"मानसिंह के शासनकाल में आमेर

राज्य की सीमायें पूर्ववत् बनी रही तथापि बंगाल विहार की सूबेदारी के समय में मानसिंह के निजी ऐश्वर्य व सम्पत्ति में महान् वृद्धि हुई। इस राजघराने की अटूट समृद्धि का तभी से आरम्भ हुआ था।"

इस प्रकार हम देखते है कि मानसिंह की अधीनता में कच्छवाहों की शक्ति राजस्थान मे सबसे अधिक हो गई थी। मानसिंह ने लगभग 24 वर्ष तक राजसत्ता का उपभोग किया और 13 वर्ष की आयु से लेकर अपने मृत्यु के समय तक 55 वर्ष तक वह मुगल दरबार में सेवा करता रहा। अकबर के दरबार में रहकर मानसिंह ने जो सम्मान व गौरव प्राप्त किया उससे उसके बाद आने वाले कई पीढ़ी तक के कच्छवाही शासकों को मुगल दरबार मे ऊँचे-ऊँचे पद प्राप्त होते रहे फिर भी जो मन्सब मानसिंह को प्राप्त थी वह और किसी हिन्दू को प्राप्त नहीं हुई। जिससे स्पष्ट है कि मानसिंह मुगलकालीन हिन्दू-राजाओं में उस समय का सर्वश्रेष्ठ प्रभावशाली राजा था।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा के शब्दो में—"उसमे सैनिक क्षमता और राजनीतिज्ञता का अच्छा सामजस्य था""अपने पद को सँभाले रखने की इतनी लगन थी कि बहुत कम समय अपने पैतृक राज्य के लिये दे पाया था।"

(क) शासक मानसिंह—मानसिंह एक सफल शासक था। उसने अकबर की शासन व्यवस्था को ही अपने सूबों मे लागू किया। पर अपने दरबार में विद्वान् व कवियों को भी सम्मानित करता था। मुंदरदास नामक प्रसिद्ध कवि अपनी कविताओं में मानसिंह के सुधारों पर कुछ प्रकाश डालता है। उसके शासन में ब्राह्मण, व्यापारियो व वनियों को अनुशासन मे रहना पड़ता था और वे सदा अपने बादशाह की आज्ञा मानते थे। कुछ व्यक्तियों को उसकी कठोरता से क्षति अवश्य पहुँची थी किन्तु उसकी अधीनता मे बंगाल का सूबा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। उसके राज्य मे गेहूँ एक रुपये के $2\frac{1}{2}$ मन, चना $1\frac{1}{2}$ मन, घी 10 सेर, चीनी 10 सेर, चावल 35 सेर मिलते थे। ये सब इस बात के प्रमाण है कि मानसिंह के शासन में गरीब व्यक्ति भी सुखी थे अतः मानसिंह एक सफल शासक था।

(ख) मानसिंह का परिवार प्रेम—मानसिंह अपने दादा व पिता का बहुत प्रिय बालक था। वह उन्ही के प्रभाव से एक सुयोग्य पुत्र बना तथा अपने परिवार को भी आजीवन पूर्ण स्नेह देता रहा। ताजुक-ए-जहाँगीर के पृष्ठ 29 पर मानसिंह की रानियों की संख्या 15 हजार बतायी है किन्तु वास्तव में उसके 15 रानियां थी। इसी पुस्तक मे मानसिंह के साथ 60 स्त्रियो के सती होने का वर्णन भी है। आमेर मे 24 और सैतास मे 15 रानियो के महल मिलते हैं। यदि एक-एक में चार पांच रानियां रहे तो भी इतनी रानियाँ नही हो सकती। डॉ० गोपीनाथ शर्मा का विचार है कि 2 दर्जन स्त्रियां और एक दर्जन बच्चे उसके अवश्य रहे होंगे। मानसिंह अपने पुत्रों से बहुत प्रेम करता था और जब दो पुत्र बंगाल मे मारे गये तो

उसका बंगाल से ऊब जाना स्वाभाविक था । उसकी रानियाँ विभिन्न प्रान्तों की थी अतः उसका व्यक्तिगत जीवन महल-कालीन विलासिता में लिप्त था ।

(ग) मानसिंह का धर्म—वह हिन्दू था और इतना कट्टर हिन्दू था कि उसने अकबर के आग्रह पर भी दीन इलाही की सदस्यता स्वीकार नहीं की । भक्त-माल के लेखक ने मानसिंह व उसकी स्त्री की गणना परम् भक्तों मे की है । मान-सिंह ने शिव, शक्ति, गणेश व विष्णु के अनेक मंदिर बनवाये । पटना जिले मे वेंकटपुर गाँव में उसने एक विशाल भवानी शंकर मंदिर का निर्माण किया । वह मंदिरों की व्यवस्था के लिये अपने पास से पैसा देता था । बंगाल में उस पर वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा तो उसने वृन्दावन के गोविंद जी का मंदिर बनवाया । आमेर में भी जगत शिरोमणि मंदिर की स्थापना इसी ने की थी । धर्म पर दृढ़ होते हुए भी उसमें धार्मिक सहिष्णुता थी । उसने अन्य धर्मों के प्रति आलोचना का दृष्टि-कोण नहीं अपनाया । वास्तव में वह एक सच्चा विकासवादी और उदार धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था ।

(घ) मानसिंह का विद्याप्रेम—इस राजा की प्रतिभा बहुमुखी थी । युद्ध-नीति, रणकौशल और शासनकाल में तो वह दक्ष था ही साथ ही संस्कृति के पृष्ठ भी इससे वंचित नही थे । बड़े राजाओं की तरह इसने शिलालेख खुदवाये । आमेर का शिलालेख रोहताज का लेख, वृन्दावन का लेख, संस्कृत भाषा के प्रति इसका प्रेम प्रदर्शित करते हैं । यह तलवार का धनी स्वयं कवि भी था इसके कुछ छंद मिलते हैं । लेखकों को प्रोत्साहन देना अपना कर्त्तव्य समझता था । कोई 2 दर्जन ऐतिहासिक पुस्तकें इसके 24 वर्षीय शासनकाल मे लिखी गईं । इसके समय में दादूदयाल ने वाणी की रचना की थी । मानसिंह के राजकीय आदेश भी साहित्यिक पुट से रगे होते थे । देश के विख्यात कवियों के साथ अकबर के दरबार में रहकर वह विद्वानों का सत्कार करना सीख गया था । वह कवियो को लाखों रुपये देता था । इतिहासकार फर्ग्युसन के शब्दों में—

"मानसिंह के पास कई कवि पंडित आश्रय पाते थे । वह कला पारखी व साहित्य संरक्षक था ।"

(ङ) मानसिंह और स्थापत्यकला—हम पहले वर्णन कर चुके है कि मान-सिंह ने कई मदिरों का निर्माण किया । यह उसकी धार्मिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया थी । आमेर गढ में तोरन द्वार अपने ढंग का अनूठा ही है । और जगत् शिरोमणि का मंदिर भी कला की दृष्टि से आकर्षक है । यह मंदिर जगतसिंह की स्मृति में बनवाया गया था । इसी प्रकार वृन्दावन के गोविंद मंदिर की निर्माण शैली में अपूर्व आकर्षण है । मानसिंह की कला का सबसे अच्छा नमूना आमेर के राज प्रासाद हैं । उसके बनाये हुये महल मुगल कला से प्रभावित हैं किन्तु हिन्दू शैली की छाप भी उन पर अंकित है । उसका बनाया हुआ शीश महल आज ,भी आमेर में

देखने योग्य है। मुगल दरबार का अनुकरण कर बनायी गयी बारहदरियाँ दर्शकों को विस्मय में डाल देती हैं। श्री फर्ग्यूसन के शब्दों में—

"नगरों तथा महलों, जलाशयों व मंदिरों के निर्माण में मानसिंह राजपूत राजाओं में सबसे आगे है।"

संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि मानसिंह जीवन में कभी नहीं हारा। वह अकबर का स्वामिभक्त सेनापति बना रहा। कई विद्रोहों का दमन किया। नये नगरों का निर्माण कर मंदिरों, मूर्तियों, राजप्रासादों का निर्माण कर उसने कला, साहित्य व शासन व्यवस्था और युद्ध नीति में अपूर्व ख्याति अर्जित की। अपने समय का वह अद्वितीय हिन्दू राजा था।



15

रायसिंह (1574–1612)

महाराजा रायसिंह ने बीकानेर पर लगभग अड़तीस वर्ष तक राज्य किया। उसके शासन का समय बीकानेर के विकास का समय है। अपने दीर्घकालीन शासनकाल में महाराजा रायसिंह ने बीकानेर को एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। रायसिंह अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। अपने बचपन से ही रायसिंह मुगल दरबार की सेवा में उपस्थित रहता था। मुगल दरबार में उसे 5000 मनसब प्राप्त थी। वह अपने जीवनकाल में मुगल सेना के साथ गुजरात विजय और मुहम्मद हुसैन आदि विद्रोहियों का दमन करने गया। अकबर ने उसे मारवाड़ के राजा चन्द्रसेन को दंडित करने भेजा था। वह ब्लूचिस्तान का विद्रोह दबाने में भी सफल रहा था और जयपुर के राजा भगवन्तदास कछवाहा के साथ लाहौर का प्रबन्धक भी रहा। उसने शहजादा सलीम के साथ 1603 में मेवाड़ अभियान में भी भाग लिया था। अपने जीवन के अनेक वर्ष उसने जूनागढ़ और अहमदनगर में व्यतीत किये। जिससे स्पष्ट है कि वह मुगल बादशाहों का विश्वासपात्र था। मुगल बादशाहों का विश्वास प्राप्त कर धीरे-धीरे अपने राज्य को काफी बढ़ा लिया। रायसिंह के निजी फरमानों के आधार पर उसके राज्य में 47 परगने थे। जिनमें अजमेर, हिसार, मुल्तान और भटनेर भी गिने जाते हैं।

मारवाड़ के राजा मालदेव ने रायसिंह के दादा राव जैतसी को मार कर बीकानेर राज्य को अपने अधीन कर लिया था। और रायसिंह का पिता कल्याणमल अपने राज्य को स्वतन्त्र कराने के लिये शेरशाह के चंगुल में जा फँसा। रायसिंह ने अपने दादा की मृत्यु का बदला मालदेव के पुत्र चन्द्रसेन से लिया और उसे जोधपुर से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि आपसी फूट से बीकानेर और जोधपुर के राठौड़ शासक आपस में वंशानुगत शत्रु हो गये और मुगल शासकों ने इस आपसी वैमनस्य का पूरा-पूरा लाभ उठाया। वैसे तो राव मालदेव के अध्याय में बीकानेर और जोधपुर के सम्बन्धों पर सूक्ष्म प्रकाश डाला जा चुका है किन्तु रायसिंह का इतिहास जानने से पहले बीकानेर का पूर्व इतिहास भी संक्षिप्त में जान लेना उचित होगा।

1. जैतसी और कल्याणमल—हुमायूँ जब शेरशाह से हार कर कभी सिन्ध, गुजरात और जोधपुर में शक्ति-संचय का प्रयत्न कर रहा था तब उसके

भाई कामरान ने बीकानेर पर आक्रमण किये लेकिन 1526 से 1542 तक राव जैतसी ने उसे निरंतर पराजित कर पीछे धकेल दिया। इस संघर्ष में बीकानेर की शक्ति क्षीण हो गयी। तभी राज्य विस्तार की लालसा से मालदेव ने अपने सेनापति कूंपा को जांगल देश (बीकानेर) की विजय के लिए भेजा। जैतसी साहेबा के मैदान में लड़ता हुआ मारा गया और उसके पुत्र कल्याणमल ने जांगल देश छोड़कर शेरशाह की सहायता के लिये कदम बढ़ाया। यदि जैतसी और मालदेव मिलकर शेरशाह का सामना करते तो कदाचित भारत का इतिहास ही बदल जाता। कल्याणमल सिरसा में रहकर अपने राज्य को पुनः पाने की चेष्टा करने लगा। उसने अपने मंत्री नागराज को शेरशाह के पास सहायता के लिये भेजा। जिस समय शेरशाह और मालदेव का युद्ध निश्चित हो गया और कूंपा तथा अन्य जोधपुरी सैनिक बीकानेर से वापस लौट आये तब अवसर से लाभ उठाकर कल्याणमल के सेनापति किशनसिंह ने बीकानेर पर वापस अपना अधिकार कर लिया और कल्याणमल को सौंप दिया। लगभग दो वर्ष तक बीकानेर पर मालदेव का अधिकार रहा। इस दो वर्ष की सत्ता ने दो पीढ़ी की शत्रुता को जन्म दिया। मालदेव की दुर्बलता और मुगलों की डाँवाडोल स्थिति के 31 वर्षों में बीकानेर राज्य की शक्ति का संगठन हुआ। कल्याणमल ने भटनेर का किला भी जीत लिया और मेड़ता के वीरमदेव को सहायता देकर राजस्थान में अपना प्रभाव बढ़ा लिया। किन्तु अकबर ने जब राज्य कार्य अपने हाथ में लिया तो परिस्थितियाँ बदलने लगी। डॉ० रघुवीरसिंह अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' के पृष्ठ 37 पर लिखते हैं कि "बारुद के प्रयोग के फलस्वरूप मुगलों की सेना को जो विशेष बल प्राप्त हुआ था, उसी कारण राजस्थानी शासक भी उनका सामना करने का एकबारगी ही साहस नहीं करते थे। अतएव अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के बाद जब मुगल सेनाएँ राजस्थान में बढ़ने लगी, तब वहाँ राजपूत शासकों की ओर से उनका कोई विशेष उल्लेखनीय विरोध नहीं हो सका।" अकबर कदाचित यह समझता था, कि कल्याणमल की शक्ति मुगल विस्तार में बाधक सिद्ध होगी अतः उसने हिसार के सूबेदार निजामुलमुल्क को भेज कर भटनेर पर अधिकार कर लिया। भटनेर का हाकिम ठाकुरसी लड़ता हुआ मारा गया। अकबर ने भटनेर का किला ठाकुरसी के लड़के बाघा को दे दिया। बाघा अकबर के दरबार में उपस्थित रहता था। यह कल्याणमल को चेतावनी थी। उसने समझदारी से काम लिया और 1570 ई० में जब अकबर नागौर में आया तो उसकी सेवा में उपस्थित होकर बीकानेर को आने वाली आपत्तियों से बचा लिया। इसी समय से मुगल बादशाह और बीकानेर में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गये। मुगल बीकानेर मैत्री एक सुदृढ़ चिंतन व स्पष्ट निर्णय का ही परिणाम थी। जिसमें भय या दासता की भावना मात्र नहीं थी। मेवाड़ जैसा शक्तिशाली राज्य अकबर के आगे नहीं टिक सका था। मारवाड़ का शक्तिशाली राजा चन्द्रसेन दर-दर भटकने लगा था।

जयपुर के कछवाहा घराने ने मुगलों को लड़की देकर राज्य को मिटने से बचा लिया था। अकबर की राजपूत नीति विवाह और उच्च पदों पर नियुक्तियों ने उसे सारे देश का स्वामी बना दिया था। राठौड़ों में फूट थी। ऐसी स्थिति में बीकानेर अपनी स्वतन्त्रता कैसे बनाये रख सकता था। उसके राज्य का एक महत्वपूर्ण भाग भटनेर का किला तो अकबर उससे छीन ही चुका था। यह चेतावनी पर्याप्त थी और अपने राज्य के कल्याण के लिए कल्याणमल ने अकबर से मित्रता कर अपनी समझदारी का परिचय दिया। ओझाजी अपनी पुस्तक 'बीकानेर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 133 से 135 तक इन्हीं परिस्थितियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"जिन मुसलमानों की सहायता से वह अपना गया हुआ राज्य वापस पा सका था, उनकी शक्ति को वह खूब अच्छी तरह से समझ गया था। वह समय मुगलों के उत्कर्ष का था, जिनका प्रबल प्रवाह बरसाती नदी के समान अपने आगे सबको बहाता हुआ बहुधा भारत में बड़े वेग से फैल रहा था।""ऐसी परिस्थिति में दूरदर्शी कल्याणमल ने मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति से मेल कर लेने में ही भलाई समझी और बादशाह अकबर के नागौर में रहते समय वह अपने पुत्र रायसिंह के साथ उसकी सेवा में उपस्थित हो गया। वास्तव में राव कल्याणमल का यह कार्य बहुत बुद्धिमानी का हुआ, जिससे अकबर और जहांगीर के समय शाही दरबार में जयपुर के बाद बीकानेर का ही बड़ा सम्मान रहा।"

कल्याणमल के इस कार्य का समर्थन करते हुए डॉ० गोपीनाथ भी अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 403 पर लिखते हैं कि—"भटिण्डा के बीकानेर के अधिकार से निकल जाने से राव कल्याणमल की सैनिक स्थिति निर्बल हो चली थी और उसकी भी मनोवृत्ति आश्रित रहने में राज्य का हित समझती थी। इसलिए पहले उसने पठानों का और तदनंतर मुगलों का आश्रय ढूंढना अपने तथा अपने राज्य के लिए श्रेयस्कर समझा।" उसने अपने छोटे पुत्र पृथ्वीराज को अकबर के दरबार में छोड़ दिया जिसे अकबर ने गागरोन का किला जागीर में दिया। ऐसी स्थिति में 1574 ई० में रायसिंह बीकानेर का महाराज बना। स्पष्ट है कि उसने अकबर और जहांगीर से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आतंकित मेवाड़ भयभीत जोधपुर और समयानुकूल जयपुर के तालमेल को देखकर, आपसी फूट का अन्दाज लगाते हुए एवं भटनेर से हाथ धोकर, बुद्धिमान कल्याणमल ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर बीकानेर के अनिश्चित भविष्य का अन्त कर, विकास और प्रतिष्ठा का शुभारम्भ किया। जब वह अकबर से मिलने 1570 में नागौर गया था तो अपने साथ युवराज रायसिंह को भी ले गया था। ऐसी परिस्थितियों में कल्याणमल की मृत्यु के बाद 1574 ई० में रायसिंह बीकानेर का राजा बना।

2. रायसिंह जोधपुर में—राजगद्दी पर बैठते ही रायसिंह ने म[illegible] धिराज और महाराज की उपाधि प्राप्त की। बीकानेर के लिये [illegible]

दरवाजे पर चढ़ी प्रशस्ति में रायसिंह की इन उपाधियों का वर्णन किया गया है। कल्याणमल ने भी इन्हीं उपाधियों को धारण किया था, किन्तु उससे पहले बीकानेर के शासक 'राव' कहलाते थे। महाराज बनने से पहले चार वर्ष तक रायसिंह अकबर के दरबारी की तरह जोधपुर में व्यवस्थापक बन कर रहा। जब कल्याणमल नागौर में अकबर से मिलने गया था तभी अकबर कुंवर रायसिंह के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ और उसे जोधपुर की देख-रेख के लिए भेजा। वैसे देश में चारों तरफ विद्रोह भड़क रहे थे। मालवा में मिर्जा बन्धु, सिरोही में देवड़े, गुजरात में अव्यवस्था और मेवाड़ के प्रताप का भय बढ़ता जा रहा था। अकबर जोधपुर के नरेशों से अपने पिता के अपमान का बदला लेना चाहता था। यदि मालदेव ने हुमायूँ की सहायता की होती तो अकबर कदाचित् मारवाड़ के राठौड़ों का सम्मान करता। शेरशाह से तो उसे वैसे भी युद्ध करना ही पड़ा। जो भी हो अकबर ने व्याप्त अराजकता और फूट से लाभ उठाकर रायसिंह को अपने राठौड़ भाई चन्द्रसेन के विरुद्ध अभियान के लिए चुन लिया। रायसिंह भी जोधपुर से वैमनस्य रखता था और अपने दादा की पराजय व मृत्यु का बदला लेना चाहता था। अकबर ने सारी परिस्थिति को समझ कर रायसिंह को ही जोधपुर जाने का आदेश दिया। यह उसकी भेद नीति का श्रेष्ठ उदाहरण है। हीरा ही हीरे को सरलता से काट सकता है और जहर ही जहर को मारता है। इसी आधार पर अकबर ने जहाँ प्रताप के विरुद्ध मानसिंह को आगे रखा वहाँ चन्द्रसेन के विनाश के लिए रायसिंह को 1572 में जोधपुर का हाकिम नियुक्त किया। रायसिंह तब युवराज ही था। सामान्यतः यह माना जाता है कि रायसिंह का जोधपुर पर सिर्फ चार वर्ष तक अधिकार रहा। फारसी तवारीखों में उसके जोधपुर से हटने या अधिकार खोने का वर्णन नहीं मिलता। सिर्फ दयालदास की ख्यात एक ऐसा साधन है जिसकी पहली जिल्द के पृष्ठ 30 पर रायसिंह की जोधपुर में अवधि का वर्णन किया गया है और अन्य ख्यातों के आधार पर यह ठीक भी लगता है कि रायसिंह का जोधपुर पर लगभग चार वर्ष तक अधिकार रहा। सारे जोधपुर पर उसका अधिकार अधिक समय तक न रहा हो किन्तु जोधपुर के महत्वपूर्ण भाग नागौर आदि पर उसका अधिकार लगभग सोलह वर्ष तक (1588 तक) रहा। दयालदास जी अपनी ख्यात में यह भी कहते हैं कि—"इस पद पर उसकी नियुक्ति कुंवर की हैसियत से हुई और राजा बनने के बाद भी कई वर्षों तक वह इस पद का उपभोग करता रहा।" जोधपुर में अपने शासनकाल में रायसिंह ने अपनी दानशीलता व संरक्षण का परिचय दिया। उसने अनेकों चारणों को उनकी लेखनी पर और अनेकों ब्राह्मणों को उनकी विद्वत्ता पर बहुत से गाँव व जागीरें दान में दीं। जिसने जोधपुर की ख्यातों में उसे सम्मानपूर्ण स्थान दिला दिया। इस प्रकार राजगद्दी पर बैठने से पहले ही रायसिंह ने अपने व्यक्तित्व का परिचय देकर न केवल मुगल दरबार में बीकानेर का सम्मान बढ़ाया बल्कि राठौड़ों में अपना स्थान

भी ऊपर उठा लिया। वैसे तो यह दासता और पराधीनता का प्रारम्भ है फिर भी बीकानेर जैसे देश के लिए भारत की श्रेष्ठ शक्ति से इस प्रकार गठबन्धन व जोधपुर पर रायसिंह का व्यापक प्रभुत्व इस बात के प्रमाण है कि आधुनिक बीकानेर का निर्माण रायसिंह के हाथों से हुआ था।

3. रायसिंह और मिर्जा बन्धु—गुजरात विजय के बाद मिर्जा लोग विद्रोही हो गये थे। रायसिंह भी 1572 में गुजरात विजय के लिए भेजी गई सेना के साथ था। गुजरात विजय को अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था कि इब्राहीम हुसैन, मिर्जा मुहम्मद हुसैन और शाह मिर्जा ने विद्रोह खड़े कर दिये। अकबर ने इन विद्रोहियों का दमन करने के लिए जो सेना भेजी उसमें रायसिंह भी जा मिला। विद्रोही इब्राहीम हुसैन मिर्जा जब मुगल सेना के आतंक से भाग कर नागौर चला आया तो रायसिंह ने उस पर आक्रमण कर मुगल सेना की सहायता की। नागौर इस समय रायसिंह के अधीन था। रायसिंह ने विद्रोही इब्राहीम मिर्जा को कठौती नामक गाँव में घेर लिया। दोनों के बीच भयानक युद्ध में पराजित होकर मिर्जा पंजाब की तरफ भाग गया। रायसिंह ने अपनी सीमा तक पीछा किया और इस प्रकार एक विद्रोही को अपने अधीन प्रदेश से मार भगाया। इस घटना से अकबर के प्रति वफादारी का परिचय मिलता है।

इसी प्रकार दूसरा विद्रोह मुहम्मद हुसैन मिर्जा ने गुजरात में किया। जब अकबर स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए गुजरात गया तो रायसिंह भी उसकी सेना में सम्मिलित हो गया। इस लड़ाई में रायसिंह ने बड़ी वीरता का परिचय दिया और अन्त में मुहम्मद मिर्जा को बन्दी बनाकर अकबर बादशाह के सामने पेश किया। बादशाह रायसिंह की वीरता से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने बन्दी मिर्जा को रायसिंह के हवाले कर दिया कि वह विद्रोही को जो चाहे सजा दे। अन्त में भगवानदास की सलाह से रायसिंह ने मुहम्मद हुसैन मिर्जा का वध करवा दिया। इस प्रकार मिर्जा बन्धुओं के दूसरे विद्रोह को शांत करने का श्रेय रायसिंह को मिला। ये दोनों ही विद्रोह तो दिसम्बर 1573 तक समाप्त हो गये। आगे चल कर 1581 में रायसिंह ने शाह मिर्जा और मिर्जा हकीम के विद्रोहों का भी सफलता से दमन कर दिखाया। इन सफलताओं ने रायसिंह के व्यक्तित्व और ख्याति को काफी ऊँचा उठाया। उसका मनसब बढ़ गया।

4. चन्द्रसेन और रायसिंह—अकबर 'बाँटो और राज्य करो' के सिद्धांत का अनुयायी था। उसने बड़े-बड़े राजपूत राज्यों को भाईयों में बाँट कर शक्ति कम कर दी थी। जोधपुर में भी उसने सभल की जागीर चन्द्रसेन के प्रतिद्वन्द्वी भाई उदयसिंह को दे दी थी। जोधपुर की व्यवस्था रायसिंह को सौंप दी थी। रायसिंह की नियुक्ति का मूल कारण तो यह था कि गुजरात व मारवाड़ पर मेवाड़ का आक्रमण न हो जाय। अकबर तो अपने मालवा और गुजरात अभियानों में व्यस्त हो गया और इस बीच चन्द्रसेन को अपनी शक्ति संगठन का अवसर मिल

गया। जोधपुर, पर रायसिंह का अधिकार मुगल भारत की पहली नई परम्परा थी। राजपूत राजा अब तक सिर्फ शक्ति के आधार पर ही राज्य करते थे, अकबर ने उन्हें यह पाठ पढ़ा दिया कि राज्य उपहार स्वरूप भी मिल सकते हैं। जोधपुर हाथ से निकल जाने पर राव चन्द्रसेन दक्षिण मारवाड़ में रह कर अपनी शक्ति का संगठन करने लगा था। अकबर मालवा व गुजरात में व्यस्त था। अकबर ने चन्द्रसेन को दण्डित करने के लिए 1571 में रायसिंह को कई अन्य मुगल अधिकारियों के साथ जोधपुर भेजा था। रायसिंह भी चन्द्रसेन से अपना बदला लेना चाहता था। रायसिंह ने पहले चन्द्रसेन के समर्थकों को अपने-अपने राज्य से निकाला। उसने कल्ला को पराजित कर सोजत से बाहर भगा दिया। कल्ला सोजत में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। रायसिंह ने उसे गोरम के पहाड़ों में भगा दिया। चन्द्रसेन भी अवसर से लाभ उठाकर जोधपुर के आस-पास मँडराने लगा। वह मुगल अफसरों को तंग करने लगा। जोधपुर और सिवाना के पास की प्रजा को लूटने लगा। अकबर ने शाह कुलीर खान, तय्यब खान, सुभान कुली खाँ आदि के साथ रायसिंह व मेड़ता के हाकिम जयमल के पुत्र केसुदास को दक्षिण मारवाड़ विजय करने भेजा। रायसिंह की अधीनता में सोजत और सिवाना के किले भी चन्द्रसेन से जीत लिए गये। रायसिंह ने अकबर से 1575 में अजमेर में यह आग्रह किया कि चन्द्रसेन के विरुद्ध निर्णयात्मक कार्य किया जाना चाहिये ताकि जोधपुर पर से उसका आतंक सदा के लिए समाप्त हो जाय। अकबर ने इस आग्रह पर जलाल खाँ को रायसिंह की सहायता के लिए भेजा। इस आक्रमण ने चन्द्रसेन को रायपुर से भी बाहर भगा दिया और वह कन्नौज के पहाड़ों में पलायन कर गया जहाँ अत्यधिक दयनीय दशा में दिन बिताने लगा। चन्द्रसेन का पहाड़ों में पीछा करते समय जलाल खाँ को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। किन्तु रायसिंह की प्रार्थना पर अकबर ने शाहबाज खान की अधीनता में और सेना भेजी जिसने अपने तीसरे और अन्तिम प्रयास में चन्द्रसेन के वफादार राठौड़ सैनिकों से दुनाड़ का दुर्ग भी छीन लिया और अन्त में चन्द्रसेन की यह दशा हो गयी कि उसके पास मुठ्ठी भर साथी मात्र रह गये और खानाबदोश जीवन व्यतीत कर चन्द्रसेन 11 जनवरी, 1581 को परलोक सिधार गया। रेऊ अपनी पुस्तक मारवाड का इतिहास के पहले भाग के पृष्ठ 158 पर लिखते है कि मृत्यु से पहले चन्द्रसेन ने मुगलो से जुलाई 1580 में सोजत वापस छीन लिया था। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि रायसिंह की शत्रुता ने उसका जीना दुर्लभ कर दिया था।

5. रायसिंह और सिरोही चन्द्रसेन के दमन के दो वर्ष बाद अकबर बादशाह ने रायसिंह को सिरोही के शासक सुरताण देवड़ा का दमन करने भेजा। सिरोही का यह शासक जालोर के ताज खाँ के साथ मिलकर मेवाड़ के राणा प्रताप की सहायता कर रहा था। देवड़ा प्रताप के साथ मिलकर उपद्रव मचा रहा था। रायसिंह ने नाडोल को अपना केन्द्र बना कर पहले जालोर पर आक्रमण किया।

यहां उसके अन्य अभियानों की शृंखला मात्र देना उपयुक्त होगा। जिन अभियानों में उसने सफलतापूर्वक भाग लिया वे निम्न हैं:—

1. काबुल का विद्रोह—कुंवर मानसिंह काबुल का विद्रोह दबाने की असफल चेष्टा कर रहे थे। अकबर ने रायसिंह को उसकी सहायता के लिये 1580 ई० में भेजा। रायसिंह ने विद्रोहियों का दमन कर दिखाया।

2. बलोचिस्तान का विद्रोह—1585 में इस देश के कुछ सरदारों ने विद्रोह खड़ा कर दिया। अकबर ने रायसिंह और इस्माइल कुली खाँ आदि को विद्रोहियों का दमन करने भेजा। रायसिंह ने बड़े धैर्य और वीरता से सभी विद्रोहियों को पकड़ कर अकबर के सामने पेश किया।

3. कन्धार विजय—नवम्बर 1591 ई० में अकबर ने रायसिंह को खानखाना के साथ कन्धार विजय के लिये भेजा। खानखाना इस समय पश्चिमी प्रदेश का सूबेदार था। उसने विद्रोहियों का दमन कर कन्धार विजय के लिये अकबर से सहायता माँगी थी। अकबर ने रायसिंह को भेजा और यहाँ भी रायसिंह पूर्णतया सफल रहा।

4. दक्षिण के अभियान—इसी प्रकार दक्षिण भारत के विद्रोहों का दमन भी रायसिंह ने किया। अहमदनगर विजय के बाद वह अधिकतर दक्षिण में ही रहा। दक्षिण में उसने 1593 ई० में बुरहानुलमुल्क का दमन कर शान्ति स्थापित की और 1601 में नासिक का विद्रोह दबाया। बादशाह अकबर ने प्रसन्न होकर उसे जूनागढ और समशाबाद आदि की जागीरें दक्षिण में दे दी। कन्धार जाने से पहले वह 4000 का मनसबदार था और 1605 में उसका पद सवा पाँच हजारी हो गया। 22 जनवरी, 1612 को उसका देहान्त बुरहानपुर में हुआ जिससे स्पष्ट है कि जहाँगीर के शासनकाल में भी उसे दक्षिण के अभियानों में भेजा गया।

7. जहाँगीर और रायसिंह—मुसलमान सत्ता शक्ति पर आधारित थी और शाहजादे अपने पिता के समय में ही राज्य पाने को उतावले होकर विद्रोह कर बैठते थे। जहाँगीर भी कोई अपवाद न था। उसने भी राज्य पाने के लिये विद्रोह खड़ा किया और इलाहाबाद में अपना आधिपत्य स्थापित किया। ऐसी स्थिति में अकबर भी उससे अप्रसन्न हो गया और मानसिंह आदि सरदार भी जहाँगीर के विरोधी हो गये थे। एक बार तो ऐसी सम्भावना हो गयी थी कि खान आजम और मानसिंह मिलकर जहाँगीर की जगह खुसरो को बादशाह बनाने की चेष्टा करेंगे। अकबर जब मृत्यु शय्या पर पड़ा था तो इस प्रकार की चर्चा चारों ओर थी। शाही दरबार में दो गुट बन गये थे और यह सम्भावना थी कि जहाँगीर का विरोध होगा। जहाँगीर ने अपने समर्थक रायसिंह को फौरन बीकानेर से बुला लिया इससे स्पष्ट है कि रायसिंह पूर्णरूप से जहाँगीर का समर्थक था। वैसे तो अकबर बादशाह के समय में ही जयपुर के बाद राजपूत राजाओं में रायसिंह दूसरे नम्बर पर आता था किन्तु जहाँगीर के

द्दी पर बैठते ही उसका नम्बर पहला हो गया। रायसिंह का स्थान अब मुगल दरबार के प्रभावशाली सामन्तों में था। जहाँगीर ने गद्दी पर बैठते ही पहले जलूस के समय उसका मनसब पाच हजार कर दिया। मानसिंह जो खुसरो का मामा और अकबर का सबसे प्रिय सरदार था अब रायसिंह से पीछे रह गया। जहाँगीर रायसिंह पर पूरा भरोसा करता था। रायसिंह ने जहाँगीर के समय के कुछ विद्रोहो का भी दमन किया, जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। ऐसा भी लगता है कि बीकानेर में हुए कुछ षडयंत्रों के कारण जहाँगीर कुछ समय के लिये रायसिंह से नाराज हो गया था किन्तु रायसिंह अपने जीवनकाल में पूर्ण रूप से जहाँगीर के प्रति वफादार रहा। वह अपनी मृत्यु के समय दक्षिण का सूबेदार था जो अत्यधिक महत्त्व का स्थान माना जाता था।

8 रायसिंह का व्यक्तित्व—रायसिंह अपनी योग्यता और चरित्र के बल पर मुगल साम्राज्य का स्तम्भ माना जाता था। इस छोटे से जागल देश के राजा ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव और योग्यता से भारत के बादशाहो को वशीभूत कर लिया था। अपने 38 वर्ष के शासनकाल में यह अधिकतर दूर देशों मे ही रहा। फिर भी बीकानेर मे उसका दबदबा इतना था कि सिर्फ एक असफल विद्रोह के और कभी उसके विरुद्ध किसी ने सर नही उठाया। रायसिंह वीर और स्वामीभक्त तो था ही साथ ही साहित्यकार और कला प्रेमी भी था तथा जहां उसमें कुशल शासक के गुण विद्यमान थे यहाँ वह प्रजा पालक, दानी और धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक भी था। सामान्यतः ये सभी गुण एक राजा में नहीं होते। उसके इन्ही व्यक्तिगत गुणों ने उसे मुगल दरबार में सम्मान और स्थान दिला दिया था। उसी के शासनकाल में बीकानेर राज घराने का मुगल बादशाहों से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ। उसके कार्यों से प्रभावित होकर अकबर और जहाँगीर, दोनों ने समय-समय पर उसका मनसब और जागीर बढाये जो उसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। अब हम उसके चरित्र की उन विशेषताओं को देखें जिन्होंने रायसिंह को बीकानेर का पहला विख्यात महाराजा बना दिया।

1. स्वामीभक्त वीर—अपनी कुँवर अवस्था से ही रायसिह मुगल सेवा में था अतः स्वतन्त्र रूप से युद्ध कर मैदान जीतने का अवसर तो उसे नही मिला, किन्तु जितने भी अभियानों में उसने भाग लिया, पूर्णतया सफल रहा। साथ ही वह अपने मित्र मुगल शासकों के प्रति पूर्णतया वफादार बना रहा। उसने जोधपुर के चन्द्रसेन को जिस प्रकार पराजित कर दर दर की ठोकरें खाने वाला बना दिया और सिरोही के देवडा, सोजत के कल्ला, और मारवाड़ के चन्द्रसेन के विरुद्ध सफल अभियानों द्वारा अपने शौर्य की धाक जमा दी। इसी सफलता से प्रेरित होकर अकबर ने उसे विद्रोह दमनी-सेनापति का रूप दे दिया और गुजरात, काबुल, कन्धार, बलोचिस्तान व दक्षिण भारत के विद्रोहों का दमन करने भेजा। जहां रायसिंह ने अपने सफल सेनापति होने का परिचय दिया। मानसिंह भी एक बार शाहजादा सलीम का

विरोधी हो गया था किन्तु रायसिंह सदा बादशाह का विश्वासपात्र बना रहा। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर अकबर ने उसे 4000 का मनसब और जागीरें प्रदान की थी जिनमें जूनागढ़, नागौर, शमशाबाद आदि उल्लेखनीय हैं। जब कभी मुगल साम्राज्य के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र होती, बादशाह रायसिंह की मदद से विद्रोहियों का सर कुचल देते थे। डॉ० गोपीनाथ शर्मा भी अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 406 पर उसकी वीरता और स्वामीभक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "अपने वीरोचित तथा स्वामीभक्ति के गुणों के कारण वह अकबर और जहाँगीर का विश्वासपात्र बना रहा"

2. कुशल शासक—वैसे तो मुगल दरबार में रहने और दूर-दूर प्रान्तों के विद्रोहों का दमन करने में ही रायसिंह आजीवन व्यस्त रहा किन्तु उसने बीकानेर में कभी अराजकता नहीं फैलने दी। समय के अभाव से वह अपने राज्य की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे सका फिर भी वह अपने लोकहित कार्यों के लिये बहुत प्रसिद्ध था। जब 1578 में भीषण और व्यापक अकाल पड़ा तो रायसिंह ने अपने सारे राज्य में तेरह महीने तक मुफ्त अनाज बँटवाया। इसी प्रकार महामारी के प्रकोप पर वह प्रजा को मुफ्त दवा बँटवाता था। रायसिंह उपद्रवी सरदारों पर कड़ी नजर रखता था। उसके 38 वर्ष के शासनकाल मे, सिर्फ एक बार, उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर उसके मंत्री कर्मचन्द ने रायसिंह के पुत्र दलपतसिंह को गद्दी पर बैठाने की चेष्टा की थी। रायसिंह ने समय पर पहुँच कर स्थिति पर काबू पा लिया और मंत्री कर्मचन्द जान बचाने को अकबर की शरण में भाग गया। इससे स्पष्ट है कि दूर रहते हुए भी वह अपने राज्य की गतिविधियों पर कड़ी नजर रखता था। दयालदास अपनी ख्यात के दूसरे भाग मे पृष्ठ 32 पर कहते हैं कि —"प्रजा के कष्टों के निवारण की ओर भी उसने समय-समय पर ध्यान दिया। राज्य के उपद्रवी सरदारों पर वह कड़ी नजर रखता था।"

3. निर्माता रायसिंह—रायसिंह केवल योद्धा ही नही था। उसे भवन निर्माण मे भी बहुत रुचि थी। बीकानेर का सुदृढ किला उसी ने बनवाया था। इस किले का निर्माण लगभग पांच साल मे हुआ और 1594 में यह बनकर तैयार हुआ। रायसिंह की आज्ञा से उसके मंत्री कर्मचन्द ने इसे बनवाया था। किले में महल, बगीचे और सुदृढ दीवारो के चारों तरफ चौड़ी खाई भी है। किले के महलों मे मध्यकालीन शिल्पकला का जो प्रदर्शन है वह आकर्षक ही नही चमत्कार से भरा है। किले के महलों का विवरण हमे रायसिंह की प्रशस्ति मे बड़े रोचक ढग से किया मिलता है। इस विशाल किले को देख कर रायसिंह के समय की समृद्धि का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। किले के अतिरिक्त उसने अनेक मंदिरों का भी निर्माण किया। मंत्री कर्मचन्द मदिरों के निर्माण मे बहुत रुचि रखता था और उसके प्रयत्नों से रायसिंह के शासनकाल मे अनेक जैन मंदिरों को फिर से बनवाया गया। इन मदिरों में बीकानेर का जैन मंदिर उल्लेखनीय है।

4. साहित्यकार रायसिंह—सामान्यतः तलवार कलम का मेल कम देखने ी मिलता है। किन्तु रायसिंह उन प्रबुद्ध शासकों मे से था जो युद्ध भूमि के बाहर लम के क्षेत्र में भी अपना अस्तित्व रखता था। उसे साहित्य से बडा स्नेह था। ह स्वयं एक अच्छा कवि था। उसे अपने देश से बहुत स्नेह था और जब दक्षिण में नयुक्ति के समय उसे 'फोग' का पौधा मिला तो उसका स्नेह और आश्चर्य उसने क दोहे मे व्यक्त किया जिसे ओझाजी ने बीकानेर राज्य का इतिहास के पहले भाग पृष्ठ 202 पर दिया है—

"तू संदेशी रूँखडा, म्हैं परदेशी लोग।
म्हाने अकबर तेडिया, तूँ क्यों आयो फोग॥

उसने स्वय वैद्यक के ऊपर 'रायसिंह महोत्सव' पुस्तक लिखी और 'ज्योतिष त्नमाला' नामक पुस्तक की टीका लिखी। इन पुस्तकों को देखकर हम उसका ाषा पर अधिकार और संस्कृत के ज्ञान का अन्दाज लगा सकते है। उसने अपनी योतिष की टीका का नाम 'बालबोधिनी' रखा था। उसके रायसिंह महोत्सव' न्थ में संस्कृत में उसके वंश का वर्णन मिलता है। एक अज्ञात कवि ने तो रायसिंह प्रभावित होकर उसी पर एक पुस्तक लिख दी जिसमें रायसिंह पर 43 गीत है। स पुस्तक का नाम 'राजा रायसिंह री वेल' है। इन गीतों में रायसिंह की वीरता ौर गुजरात विजय का वर्णन भी मिलता है। रायसिंह ने किले के अन्दर एक बृहद् शस्ति लिखवाई जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह साहित्यकारों का रक्षक भी था। राजस्थान में पहला वैद्यक ग्रन्थ उसी के समय मे लिखा गया। नि साधुओं ने भी उसी के समय में अपने ग्रन्थों का अनुवाद शुरू किया। प्रसिद्ध नि ग्रन्थ 'शब्द भेद' की टीका ज्ञान विमल ने इसी समय की थी। संक्षेप में हम यह ह सकते है कि उसके समय में ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास और धर्म पर पुस्तकों का हत्त्वपूर्ण अनुवाद हुआ।

5. उदार व दानी रायसिंह—रायसिंह साहित्यकारो का संरक्षक तो था ही ाथ ही दानी भी था। कवियों से प्रसन्न होकर वह उन्हें करोड़ सवा करोड़ पसाव ी देता था। ख्यात लिखने वालों ने भी इसकी दान शीलता की भारी प्रशंसा की । मुशी देवी प्रसाद ने तो उसे राजपूतो का 'कर्ण' कहा है। रायसिंह त्योंहार और ववाहों के समय ब्राह्मणो को खुले हाथ से दान देता था। धार्मिक उदारता के साथ समें सहिष्णुता भी थी। सिरोही विजय के समय जब उसका मुसलमान साथी रसम खाँ जैन मूर्तियो को नष्ट करने लगा तो अकबर की इजाजत से रायसिंह उन्हें ीकानेर ले गया और उन्हे संभाल कर रख लिया। ये मूर्तियाँ बीकानेर के जैन मदिर आज भी सुरक्षित है। स्पष्ट है कि वह क्षत्रीय होते हुए जैन धर्म का संरक्षक भी ा। वास्तव मे जागल देश को 47 परगनों का सम्भावित व शक्तिशाली बीकानेर ाज्य बनाने वाला रायसिंह ही था। उसे आधुनिक बीकानेर का ... ाय तो अतिशयोक्ति नही होगी।

16

मिर्जा राजा जयसिंह (1621-1667)

जयसिंह का जन्म 29 मई, 1611 ई० को हुआ था। 1614 में मानसिंह की मृत्यु के बाद उनका अयोग्य उत्तराधिकारी भावसिंह और उसके पुत्र ने केवल पाँच वर्ष तक राज्य किया। यह एक अयोग्य शासक था जिसके मरने के बाद आमेर की गद्दी के लिये उत्तराधिकार युद्ध की सम्भावना नजर आ रही थी। भावसिंह सदा मदिरा के नशे मे रहता था, उसमे बुद्धि भी अधिक नही थी। मदिरा ने उसे जल्दी ही मार डाला। भावसिंह का बेटा महासिंह गद्दी पर बैठा यह भी अयोग्य शासक था। इन पाँच वर्षो मे जोधपुर राज्य अपना प्रभाव बढ़ा रहा था और यह भय था कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर युद्ध होगा अतः जब जयसिंह दो वर्ष का ही था तो उसकी माता दमयन्ती जो उदयसिंह की पोती थी, अपने उत्तराधिकारी पुत्र जयसिंह की सुरक्षा के लिये आमेर छोड़ कर दौसा मे रहने लगी। वैसे भावसिंह का भी एक पुत्र था किन्तु वह भावसिंह के जीवनकाल मे ही मर गया था और जब 1621 में भावसिंह का देहान्त हुआ तो जयसिंह के सिवा और कोई उत्तराधिकारी नही था। भावसिंह की मृत्यु के बाद जयसिंह दौसा से आकर आमेर की गद्दी पर बैठा। मानसिंह और जयसिंह के बीच पाँच वर्ष मे दो अयोग्य उत्तराधिकारियो ने आमेर के राज्य को दुर्बल बना दिया था। जयसिंह के जीवन की महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों का अवलोकन हम निम्नांकित बातो से कर सकते है।

1. प्रारम्भिक जीवन—जयसिंह के पिता महासिंह, राजा मानसिंह का पोता और जगतसिंह का बेटा था। इस प्रकार मानसिंह और जयसिंह के बीच मे दो पीढ़ी जल्दी-जल्दी निकल गयी थी। मानसिंह—जगतसिंह–महासिंह और जयसिंह। जैसा ऊपर बताया जा चुका है। जयसिंह 1611 ई० मे जन्मा था। वह सिर्फ दस वर्ष की अवस्था में आमेर का राजा बना। उसने 46 वर्ष तक राज्य किया और 2 जुलाई, 1667 ई० को दक्षिण अभियान से लौटते समय 56 वर्ष की अवस्था मे बुरहानपुर के पास उसका देहान्त हो गया।

रानी दमयन्ती ने अपने पुत्र जयसिंह की शिक्षा दीक्षा आदि मे उसी प्रकार रुचि ली जिस प्रकार उसके समकालीन छत्रपति शिवाजी की माता जीजा बाई ने अकेले रह कर शिवाजी को योग्य बनाया था। बचपन से ही जयसिंह को अनेक भाषाओं का ज्ञान करवाया गया। अरबी, फारसी, हिन्दी, उर्दू और संस्कृत का ज्ञान उसे बचपन मे ही करा दिया गया। अपनी माँ के व्यक्तिगत संरक्षण से ही जयसिंह

आगे चलकर एक सफल शासक बन सका। राजकुमार जयसिंह को प्रारम्भ से युद्ध, घुड़ सवारी, शासन व्यवस्था और कूटनीति आदि मे पूर्ण निपुण बना दिया गया था। यही कारण है कि जब वह दस वर्ष की छोटी सी अवस्था मे गद्दी पर बैठा तो उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। उसको अपने जीवन काल मे तीन विख्यात मुगल बादशाहों की सेवा और सहायता करने का अवसर मिला। जयसिंह ने अपनी योग्यता, साहस और कूटनीति का परिचय देकर मुगल दरबार में अपना वही सम्मान व स्थान प्राप्त कर लिया जो राजा मानसिंह को अकबर के समय प्राप्त था। उसके समय मे जयपुर राज्य का सम्मान वापस उच्च राज्यो के समान हो गया और यह 46 वर्ष का समय जयपुर की प्रगति व प्रतिष्ठा का युग बन गया।

2. जहाँगीर और जयसिंह—मिर्जा राजा जयसिंह को जहाँगीर बादशाह की सेवा करने का भी अवसर मिला। उस समय मुगल दरबार दो दलों में बँटा हुआ था किन्तु जयसिंह ने जहाँगीर की सेवा निःस्वार्थ भाव से शुरू की। गद्दी पर बैठते ही बादशाह ने उसे 1500 सवार और तीन हजारी जात प्रदान कर अपनी स्वीकृति प्रदान की। जहाँगीर के शासनकाल के सात वर्षों के समय में जयसिंह ने दो अभियानों में सफलता प्राप्त कर अपनी योग्यता का परिचय दिया। अभी जयसिंह सिर्फ 12 वर्ष का ही था कि उसे 1623 ई० में अहमदनगर विजय का भार सौंपा गया। दक्षिण भारत का यह प्रदेश मलिक अम्बर नामक व्यक्ति के अधीन स्वतन्त्र था। मलिक अम्बर काफी समय से अपनी स्वाधीनता बनाये हुए था और मुगल बादशाह जहाँगीर इच्छा होते हुए भी अहमदनगर नही जीत पाया था। राजा जयसिंह की योग्यता की परीक्षा स्वरूप जहाँगीर ने उसे इस विजय के लिए भेजा। जयसिंह ने इतनी छोटी अवस्था में मलिक अम्बर को पराजित कर अपने साहस और योग्यता का परिचय देकर अहमदनगर पर अधिकार कर लिया। जहाँगीर जयसिंह की इस सफलता से प्रभावित हुआ और दो वर्ष बाद ही 1625 ई० में उसने जयसिंह को दूसरी महत्वपूर्ण विजय के लिये पठान दलेल खाँ के विरुद्ध भेजा। जयसिंह ने बिना किसी कठिनाई के दलेल खाँ को भी पराजित कर सिर्फ 14 वर्ष की उम्र में दूसरी विजय प्राप्त कर अपनी ख्याति का डंका सारे देश में फैला दिया। फलस्वरूप जहाँगीर ने राजा जयसिंह को अपने भरे दरबार मे सम्मानित किया और सन् 1627 ई० में जयसिंह को 4000 की जात और तीन हजार का मनसब प्रदान किया। साथ ही उसे डंका व झंडा भी दिया गया। इस प्रकार जयसिंह ने सिर्फ 16 वर्ष की अवस्था में तीन हजार मनसब और चार हजारी जात प्राप्त कर ली। जहाँगीरनामा के पृष्ठ 449 से 469 तक जयसिंह की इन प्रारम्भिक सफलताओं का वर्णन बड़े आदर से किया गया है। अपने पहले ही प्रयास मे जयसिंह ने अपनी प्रतिष्ठा की पताका फहरा कर बादशाह का विश्वास प्राप्त कर लिया। जयसिंह की इन दो सफलताओ से जोधपुर की बढ़ती प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा और आमेर का सम्मान बढ़ने लगा। जहाँगीर ने हर विजय के बाद जयसिंह को सम्मान और मनसब आदि दिया।

3. जयसिंह और शाहजहाँ—नूरजहाँ और शाहजहाँ में मनमुटाव होने के कारण मुगल दरबार की एकता समाप्त हो गयी थी किन्तु जयसिंह ने शाहजहाँ के प्रति पूर्ण वफादारी प्रदर्शित की और मुगलकालीन वैभव के लोकप्रिय बादशाह शाहजहाँ का सदा विश्वासपात्र बना रहा। शाहजहाँ के समय में सबसे पहले गद्दी पर बैठते ही शाहजहाँ ने जयसिंह को आगरा के पास महावन के जाटों का विद्रोह दबाने के लिये भेजा। इस विद्रोह के दमन में जयसिंह को 41 दिन लगे किन्तु विद्रोहियों का निरन्तर पीछा कर जयसिंह ने इनका पूर्ण दमन कर दिया। बादशाह ने प्रसन्न होकर जयसिंह की मनसब तीन से चार हजार कर दी।

दक्षिण में दो वर्ष तक रह कर जयसिंह ने विद्रोही मलिक अम्बर के बचे हुए सैनिकों का दमन किया। उस समय उसके साथ मुगल सेनापति खानेजहाँ था। खानेजहाँ शाहजहाँ का समर्थक नहीं था अतः 1628 में जयसिंह खानेजहाँ को अकेला छोड़ कर बादशाह के पास अजमेर आ गया। बाद में अपनी स्वामीभक्ति का परिचय देने के लिये बादशाह के कहने पर उसने खानेजहाँ लोदी को रीवा के पास नीमी स्थान पर घमासान युद्ध में एक ही दिन में पराजित कर मैदान छोड़ने पर बाध्य किया। इस विद्रोही सेनापति को दक्षिण के निजाम का समर्थन प्राप्त था। इससे पहले जयसिंह ने धौलपुर में भी खानेजहाँ को पराजित किया था। यह जयसिंह की दूसरी सफलता थी और शाहजहाँ इससे बहुत प्रभावित हुआ। उसने जयसिंह को अपना पूर्ण समर्थक व विश्वासपात्र बना लिया। खानेजहाँ लोदी के विरुद्ध अभियान में सैकड़ों राजपूत सैनिक मारे गये और पूर्ण दमन 1631 में जाकर हो पाया किन्तु इस अभियान से मुगल दरबार में जयसिंह का मान बहुत बढ़ गया। शाहजहाँ ने इस विजय पर फिर जयसिंह की पद वृद्धि की।

शाहजहाँ के समय जयसिंह की तीसरी सफलता उजबगों के विद्रोह के विरुद्ध थी। बादशाह को जब अजमेर में समाचार मिला कि उत्तर पश्चिमी सीमा पर उजबग लोग उपद्रव मचा रहे है तो उसने जयसिंह को 1628 ई० में पूर्ण सेनापति के अधिकार देकर सीमा क्षेत्रों में उजबगों का दमन करने भेजा। जाटों और लोदियों की भाँति यहाँ भी जयसिंह को विद्रोहियों के दमन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अनेक विद्रोही उजबग मारे गये और जो शेष रहे वह भी भाग गये। एक ही आक्रमण में जयसिंह ने उजबगों का सफाया कर अपने सैन्य संचालन का परिचय दिया। इसके बाद वह फिर खानेजहाँ के पीछे लग गया और 1631 ई० तक उसका पूर्ण दमन कर दिखाया।

शाहजहाँ के काल में चौथी महत्त्वपूर्ण घटना औरंगजेब की प्राण रक्षा थी। घटना बड़ी रोमांचकारी और प्रभावशाली थी। 28 मई, 1633 ई० को बादशाह और उसका परिवार आगरे में हाथियों की लड़ाई देख रहा था कि एक हाथी बिगड़ कर शहजादे औरंगजेब की तरफ झपटा। और लोग अभी किंकर्तव्यविमूढ़ से ही थे व हाथी औरंगजेब को अपने पैरों तले कुचलने ही वाला था कि जयसिंह ने दौड़

कर हाथी पर भाले का वार किया जिससे घायल होकर हाथी वापस लौट गया। इस घटना से शाहजहाँ और अधिक प्रभावित हुआ तथा उसने जयसिंह का पद और बढ़ा दिया।

पाँचवा महत्वपूर्ण अभियान परेण्डा का घेरा था। आदिलशाह का पुत्र इस्माइल और बीजापुर का किलेदार विद्रोही हो रहे थे। शाहजहाँ ने दक्षिण भारत के इन विद्रोहियों का दमन करने के लिये शाहजादा सूजा के साथ जयसिंह को भेजा। जयसिंह ने शत्रु को परेण्डा के किले में घेर लिया और रात्रि के आक्रमण में शत्रु को हथाहत कर भारी क्षति पहुँचाई। किन्तु अति दुर्गम पहाड़ों में मुगलो का भारी तोपखाना काम नही कर सकता था और रसद आदि पहुँचने मे भी भारी असुविधा रहती थी। इसलिये स्थिति को समझकर जयसिंह ने शत्रु को खुले मैदान में घेरने के लिये किले का घेरा उठाकर शत्रु को बाहर आकर युद्ध करने का अवसर दिया। परेण्डा के घेरे में जयसिंह ने अपने युद्ध कौशल का परिचय देकर सारे मुगल दरबार को प्रभावित किया था।

शाहजी भौंसले बीजापुर शाहजहाँ के योग्य सेनापति थे। बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतें स्वतन्त्र थी और मुगलों को सदा तंग करती थी। शाहजी भौंसले ने दौलताबाद के थाने को घेर लिया और मुगलों को तंग करना शुरू किया। परेण्डा से हट कर जयसिंह ने शाहजी का सामना किया। मराठे सैनिक लुक-छिपकर मुगल सेना पर आक्रमण करते थे। जयसिंह ने भी इसी विधि को अपनाया और मराठों की रसद रोक ली। अन्त में शाहजी की पराजय हुई और जयसिंह ने 3000 मराठा सैनिक और 800 बैल गाड़ियों को बन्दी बना लिया। बादशाह जयसिंह की इस विजय से बहुत प्रसन्न हुआ और विजय के तत्काल बाद 1636 मे जयसिंह को पांच हजारी मनसबदार बना दिया। शाहजी की शक्ति का दमन जयसिंह का छठा सफल अभियान था।

इसके बाद शाहजहाँ ने जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार बनाकर बीजापुर और गोलकुण्डा विजय के लिये भेजा। दक्षिण मे मराठे, बीजापुर व गोलकुण्डा और मलिक अम्बर आदि विद्रोहियो की संख्या बढ़ती जा रही थी। ये विद्रोही मुगल सेना के लिये सिर दर्द बन गये थे। इन विद्रोहियों का केन्द्र बीजापुर व गोलकुण्डा की रियासतें थी। बादशाह ने अपनी मुगल सैना के अग्रभाग का सेनापति व दक्षिण का सूबेदार बनाकर जयसिंह को भेजा जो दौलताबाद मे रह कर सारे विद्रोहियों को दबाने भेजा गया था। जयसिंह ने बड़ी दृढ़ता से सारे विद्रोहियों का दमन कर दक्षिण में अमन कायम कर दिखाया। उसने अपनी नीति निपुणता और युद्ध कौशल से मुगलों को विजयी बनाया। बादशाह इस सफलता से भी बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जयसिंह को अनेक बहुमूल्य उपहार दिये और चाटसू व अजमेर के राज्य जयसिंह के राज्य के हिस्से बना दिये गये। यह जयसिंह की सातवीं सफलता थी।

जयसिंह का आठवां सफल कार्य कन्धार अभियान था। मध्य एशिया पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये सभी मुगल बादशाह सदा प्रयत्नशील रहते थे। इसी उद्देश्य से तथा अफगान विद्रोहियों का दमन करने के लिये 1647 में काबुल कन्धार विजय के लिये भेजा। जयसिंह दस वर्ष तक भारत की पश्चिमी सीमा के बाहर रहा। अफगान शत्रु दल मुगलों के रसद मार्ग काट देते थे और कुसमय घेर कर मुगलों को क्षति पहुँचाते थे। यदा कदा मुगल थानो को नष्ट करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया था। जयसिंह ने बड़ी लगन और योग्यता से कांगड़ा, कन्धार, काबुल, पेशावर और हिरात आदि स्थानो के युद्धों में विजय प्राप्त कर अपने अभियान को सफल बनाया। सारे शत्रु उसके आतंक और वीरता से भयभीत थे। पहले तीन वर्षों मे ही 1650 तक जयसिंह ने पूर्ण नियन्त्रण व सामान्य स्थिति स्थापित कर बादशाह को प्रभावित किया। शाहजहाँ ने जयसिंह के पुत्र कीरतसिंह की पदोन्नति की और उसे मेवात का फौजदार बना दिया। अगले सात वर्ष तक वह मुगल सेना के अग्रभाग का सेनापति बन कर काबुल मे रहा। बादशाह ने उसे काबुल का सूबेदार बनाया और छै हजारी मनसब व जात प्रदान की। यह मनसब किसी भी हिन्दू राजा के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सम्मान का चिह्न था।

बादशाह शाहजहाँ के प्रति अपनी वफादारी दिखाकर जयसिंह ने 1657 ई में गृहयुद्ध के समय शाहजादा शुजा को बनारस के पास बहादुरपुर में घेर कर लूट लिया। शुजा तो भाग गया पर जयसिंह को लगभग दो करोड़ रुपये की सम्पत्ति हाथ लगी। यह [illegible] सहायक कदम था। शाहजहाँ बीमार पड़ गया [illegible] युद्ध शुरू हो गया। यहाँ भी जयसिंह ने अपनी योग्यता और नीति निपुणता का परिचय दिया तथा बिना युद्ध किये 25 जून, 1658 को मथुरा मे जाकर औरंगजेब से भेंट की तथा अपने सहयोग तथा स्वामी-भक्ति का आश्वासन दिया। जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह ने इस अवसर पर दारा की सहायता कर अदूरदर्शिता का परिचय दिया और औरंगजेब से शत्रुता बढा ली। जिस जयसिंह ने शुजा को मार भगाया उसी ने औरंगजेब को मान्यता देकर अपनी योग्यता और अनुभव का लाभ उठाया। यह भी उसकी महान् सफलता थी कि वह चारों भाइयो मे सबसे योग्य व सफल शाहजादे का समर्थन करता रहा। इस प्रकार शाहजहाँ के अधीन रह कर जयसिंह ने 36 वर्ष के समय में दस बड़े काम सफलतापूर्वक कर जयपुर राज्य का विस्तार ही नही किया वरन् मुगल दरबार मे अपना श्रेष्ठ स्थान सुरक्षित कर लिया।

4. जयसिंह और औरंगजेब—शाहजहाँ की बीमारी का समाचार सुनकर औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेना उत्तर की ओर आ रही थी तो दारा की तरफ से राजा जसवन्तसिंह ने धर्मत का युद्ध लड़ कर भारी भूल की। वह हार कर जोधपुर चले गये और दारा व औरंगजेब के बीच सामूगढ का युद्ध 30 मई, 1658 ई० को हुआ जिसमें हार कर दारा सहायता के लिये जोधपुर भाग गया। राजा

जसवन्त उसकी फिर सहायता करते लेकिन जयसिंह ने अपने पत्र द्वारा उन्हें स्थिति का बोध करवाया और भाइयों के झगड़े में न पड़ने की राय दी। फलस्वरूप दारा अकेला रह गया। अन्त में 14 मार्च, 1659 ई० को दोराई के मैदान में अजमेर के पास चार दिन के युद्ध में औरंगजेब की जिस सेना ने दारा को पूर्ण रूप से पराजित किया उसके अग्रभाग का सेनापति जयसिंह था। जब दारा युद्ध के मैदान से भागा तो जयसिंह ने उसका पीछा किया और उसे मेड़ता, पीपाड़ होता हुआ गुजरात में भगा दिया। कुछ लेखकों की राय है कि दारा को उसने सिन्ध नदी के पार खदेड दिया और कुछ की राय है कि उसने दारा का पीछा बिलकुल नहीं किया। लेकिन यह सत्य नहीं है जयसिंह के पुत्र रामसिंह ने दारा के पुत्र सुलेमान को श्री नगर में पकड़ लिया था। औरंगजेब ने रामसिंह के इस कार्य से प्रसन्न होकर उसे ढाई लाख रुपये की वार्षिक आमदनी की जागीर दी और कीर्तिसिंह को भी कामा की फौजदारी भेंट की। दारा का पीछा करते समय जयसिंह को पश्चिमी भारत को समझने का बड़ा अच्छा अवसर मिला। वह मेड़ता, जालौर, अहमदाबाद, कच्छ आदि भागों में होता हुआ सिन्ध नदी तक जा पहुँचा।

थोड़े समय बाद दारा भी पकड़ा गया और उसे काफिर ठहरा कर औरंगजेब ने प्राण दण्ड दिया। इन सेवाओं के बदले बादशाह ने एक करोड़ दाम या ढाई करोड़ रुपये वार्षिक आमदनी की जागीर देकर सम्मानित किया। उत्तराधिकार युद्ध में औरंगजेब का साथ देकर जयसिंह ने मुगल दरबार में अपना महत्व बहुत बढ़ा लिया वह बादशाह का कृपा पात्र बन गया। यह कदम भी जयसिंह की योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है अन्यथा वह भी जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह की भांति अपना महत्व कम कर सकता था।

5. जयसिंह दक्षिण में—औरंगजेब जयसिंह की योग्यता और नीति निपुणता से बहुत प्रभावित था। उसने उसे काबुल व दक्षिण में मुगल आधिपत्य स्थापित करते देखा था। शुजा की पराजय में जयसिंह का हाथ था। दारा को दोराई के मैदान में हराकर भी उसी ने भगाया था। राजा जसवन्तसिंह को भी औरंगजेब के पक्ष में उसी ने किया था। इस प्रकार जयसिंह औरंगजेब का सबसे अधिक विश्वासपात्र सेनापति बन गया था। उसने बादशाह बनते ही यह अनुभव किया कि दक्षिण भारत मुगलों के हाथ से निकला जा रहा है। शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का उदय और मराठों द्वारा आये दिन मुगल थानों में लूटमार करना एक सर दर्द बन गया था। सूरत को लूट कर तो शिवाजी ने शाइस्ता खाँ आदि को अपमानित कर मुगल परिवार को अपमानित कर दिया था। पूना में शाइस्ता खाँ के महल पर आक्रमण आदि ऐसी घटनाएँ थी जिनसे दक्षिण में मराठों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था और सदा यह भय बना रहता था कि दक्षिण भारत की अन्य मुसलमान रियासतें भी शिवाजी की अधीनता स्वीकार कर मुगल राज्य से अलग हो जायेंगी और नर्बदा नदी के दक्षिण से मुगल प्रभाव समाप्त हो जायगा। ऐसी

स्थिति में जब एक तरफ मुगल परिवार आतंरिक स्थिति से स्वयं असंतुष्ट था और दक्षिण की स्थिति भी डांवाडोल थी तब औरंगजेब ने जयसिंह को दक्षिण में शान्ति स्थापित करने के लिये भेजा। जयसिंह को 30 सितम्बर, 1664 को दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा गया। जयसिंह को 14,000 घुड़सवारों का सेनापति बनाकर भेजा। जयसिंह अपने दो पुत्र और सैकड़ों कछावा सरदारों के साथ दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित करने चला। उसे पूर्ण अधिकार सौंप दिये गये थे। पूना पहुँच कर जयसिंह ने 3 मार्च, 1665 ई० को जसवन्तसिंह से कार्यभार सम्भाल लिया।

जयसिंह ने सबसे पहले दक्षिण की मूल शक्ति शिवाजी को वश में करने की योजना बनाई। इसलिये उसने शिवाजी के सभी शत्रुओं से मित्रता पूर्ण सन्धि कर उन्हें अपनी तरफ मिला लिया। शिवाजी का समुद्री बेड़ा नष्ट करने के लिये जयसिंह ने पुर्तगालियों से समझौता किया और सहायता मांगी। उसने बम्बई के पास अंग्रेजों के यहाँ भी अपना दूत भेजा और उनसे भी मराठों के विरुद्ध सहायता माँगी। कोकरण के पदमुक्त शासकों को अपनी तरफ मिला लिया। बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों को भी तटस्थ रहने के लिये बाध्य किया। यहाँ तक की छोटे-मोटे राजा व जमींदारों को भी अपनी तरफ मिलाकर मित्र विहीन बना दिया। जयसिंह ने यह भी चेष्टा की कि शिवाजी के सेनापति व साथी भी किसी प्रलोभन में आकर उनकी तरफ मिल जायें। इतिहासकार सर देसाई अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि—"एक अर्थ में शिवाजी को चारों ओर से घेरने के लिये यह जयसिंह की तूफानी लड़ाई थी।"[1]

एक तरफ वह सैनिक तैयारियाँ कर रहा था, शिवाजी के शत्रुओं को भड़का रहा था और दूसरी तरफ शिवाजी को हतोत्साहित करने हेतु मित्रता आदि के प्रस्ताव भेजता रहता था। जयसिंह ने शिवाजी को समझाने की भी चेष्टा की और बादशाह औरंगजेब से मित्रता करने में ही हित बताया। अपनी स्थिति बता कर यह प्रलोभन दिया कि बादशाह उन्हें मान्यता देकर दक्षिण का सूबेदार बना देगा और मुगल दरबार में हिन्दुओं का प्रभाव बढ़ने से ही हिन्दू धर्म व संस्कृति की रक्षा हो सकेगी।

किन्तु जब शिवाजी किसी प्रकार के प्रलोभन में नहीं आये और जयसिंह युद्ध की तैयारी कर चुका तो उसने शिवाजी पर तीन तरफ से आक्रमण करने का निश्चय किया।

6. जयसिंह और शिवाजी—एक तरफ शिवाजी को सन्धि का भुलावा देकर जयसिंह उनके विरुद्ध संगठित गुट बना रहा था और दूसरी तरफ स्वयं युद्ध की तैयारियों में लगा था। जयसिंह ने तीन तरफ से शिवाजी पर आक्रमण करने का निश्चय किया। पुरन्धर से 300 फुट नीचे माची नामक किला मराठों के

1 सरदेसाई—न्यू हिस्ट्री ऑफ दी मराठा, पृष्ठ 154–55.

शस्त्रागार और सैनिकों का केन्द्र था तो रावलगढ़ शिवाजी का मुख्य खजाना था। जयसिंह ने दिलेर खाँ को रावलगढ़ पर अनायास आक्रमण करने का आदेश दिया और स्वयं पूना से पुरन्दर की ओर चला। उसने ससवाड़ में डेरा डाला जो पुरन्दर से 24 मील दूर था। पुरन्दर के पास ही पहाड़ों पर वज्रगढ़ का किला था जिसे जीत लेने पर पुरन्दर विजय सरल हो जाती। इसलिये जयसिंह ने 13 अप्रेल को अचानक बज्रगढ़ पर आक्रमण किया और मराठों को एक ही दिन बाद किला खाली करना पड़ा। शिवाजी की रसद बन्द करने के लिये जयसिंह ने दाऊद खाँ को 6000 सैनिक देकर आस-पास के खेत और गाँवों को लूटने भेजा ताकि शिवाजी की आर्थिक दशा खराब हो जावे और उनके राज्य में अराजकता फैल जाय। आखिरकार जयसिंह मराठों को घेरने में सफल हुआ और शिवाजी पुरन्दर में घेर लिये गये। मराठे बराबर रात्रि में बाहर आकर मुगल सेना पर छापे मार कर क्षति पहुँचाते रहे किन्तु रसद बराबर न आने से शिवाजी विशाल सेना को हताहत नहीं कर सके। दूसरी तरफ शिवाजी को रसद मिलनी बन्द हो गयी और दाऊद खाँ की विनाशकारी लूटमार के समाचार शिवाजी को और भी चिन्तित करने लगे। पुरन्दर का महत्त्वपूर्ण किला पूना से 24 मील दूर 2500 फुट की ऊँचाई पर स्थित है और माची का दुर्ग इससे सिर्फ 300 फुट नीचाई पर बना है। विशाल मुगल सेना सारे महाराष्ट्र पर तीन तरफ से चढ़ गयी। पश्चिम से कुतुबुद्दीन खाँ के नेतृत्व में 7000 सैनिकों ने आक्रमण किया। स्वय पूना से आगे बढ़ा और उसी समय दिलेर खाँ ने माची का मोर्चा जीत कर मुरारबाजी को परास्त किया। मुगल सेना संख्या व साधन में मराठों से बहुत अधिक थी। मुरारबाजी प्रभु लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। मराठे लगभग दो महीने तक लड़ते रहे किन्तु मुगलों ने शिवाजी को पुरन्दर में घेर लिया। शिवाजी ने युद्ध करना व्यर्थ समझा। आस-पास का विनाश उनसे नही देखा जाता था अतः उन्होने अपना दूत भेज कर जयसिंह को सन्धि का प्रस्ताव भेजा। शिवाजी का दूत 20 मई, 1665 ई० को जयसिंह से मिला तो जयसिंह ने साफ कहलवा दिया कि यदि शिवाजी स्वयं आकर आत्म-समर्पण करे तो वह उन्हे अब भी मुगल दरबार में अच्छा पद व सम्मान दिला देगा। जयसिंह ने यह भी आश्वासन दिया कि शिवाजी बिना किसी भय के अकेले आकर मिल लें, उन्हें सही सलामत वापस भेज दिया जायगा। मराठों में आतंक स्थापित करने को जयसिंह ने वीर मुरारबाजी प्रभु का कटा हुआ सर शिवाजी के पास भिजवा दिया किन्तु मराठे विचलित नहीं हुए और यह कहते रहे कि—'एक मुरारबाजी मर गये तो क्या हुआ ? हम लोग भी उनके समान वीर हैं और उसी साहस से लड़ते रहेंगे।"[1] किन्तु शिवाजी व्यर्थ जानें गंवाना उचित नही समझते थे। उधर जयसिंह अधिकाश किलों पर अपना अधिकार जमाना

1 एस. आर. शर्मा—भारत में मुगल साम्राज्य, पृष्ठ 521.

चाहता था ताकि सन्धि मे उसका पूरा महत्त्व रहे। शिवाजी को उसने अपने ब्राह्मणों द्वारा प्राण और सम्मान रक्षा का वचन दिया।

आखिरकार 11 जून, 1665 ई० को पालकी में बैठ कर शिवाजी किले से बाहर निकले और जयसिंह से मिलने आये। जब वे मार्ग में आ रहे थे तो जयसिंह ने फिर कहलवाया कि यदि अपने पूरे किले हमें सौंपने को तैयार हों तब ही आवें अन्यथा लौट जावें। शिवाजी अपने वीर सैनिकों को व्यर्थ नही मरवाना चाहते थे अतः हर शर्त पर सन्धि करने को बिना किसी शर्त जयसिंह के खेमे में आ गये।

7. पुरन्दर की सन्धि—मनूची का वर्णन जयसिंह की रिपोर्ट जो उसने औरगजेब को भेजी थी तथा उस समय की फारसी कविताओं में जो वर्णन मिलता है इन तीन साधनों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सन्धि की शर्तें 11 जून, 1665 की रात को तैयार की गयी। शिवाजी ने अपनी भूलों के लिये खेद प्रगट किया और भविष्य मे मुगल साम्राज्य के प्रति सद् व्यवहार का आश्वासन दिया। जो दुर्ग शिवाजी ने मुगलो से जीते थे उन्हें लौटाने के सिवा कुछ और महत्त्वपूर्ण किले भी देने का वादा किया। इसके बाद जयसिंह ने शिवाजी को इस सन्धि के बारे मे दिलेर खां से बात करने को भेज दिया ताकि बादशाह को जयसिंह पर किसी प्रकार का सन्देह नही हो। दिलेर खां ने भी शिवाजी का पूर्ण विश्वास दिलाया और सम्मान के लिये उनकी कमर में एक तलवार बांधकर उन्हें वापस जयसिंह के पास भेज दिया। इतनी औपचारिकता के साथ जो सफल सन्धि जयसिंह ने की उसको इतिहास मे पुरन्दर की सन्धि के नाम से जाना जाता है। इस सन्धि की मुख्य धाराऐं इस प्रकार हैं—

1. शिवाजी ने अपने 35 किलों में से 23 किले और उसके आसपास का बालाघाट, कोंकण तथा निजामशाही की 20 लाख रुपये सालाना आमदनी की भूमि मुगलो को देना स्वीकार किया।

2. महाराष्ट्र के अन्य छोटे 12 किले और आसपास की भूमि जिसकी सालाना आमदनी पांच लाख रुपया थी शिवाजी के अधीन रहे।

3. शिवाजी के पुत्र शम्भाजी को पांच हजारी मनसबदार बनाया जाय और शम्भाजी सदा मुगल दरबार में रहेंगे।

4. एक गुप्त शर्त यह भी रखी गयी कि मुगल सेना बीजापुर पर शीघ्र आक्रमण करेगी तब शिवाजी भी बालाघाट और बीजापुर पट्टम घाट पर अधिकार कर ले। मुगल दरबार उस जीते हुए प्रदेश पर शिवाजी का अधिकार मान लेगी।

5. शिवाजी ने मुगल दरबार के प्रति वफादार रहने का आश्वासन दिया।

6. शिवाजी ने 13 वर्षों में वार्षिक किश्तो के द्वारा 40 लाख हूण बादशाह को देने का वादा किया।

7. आवश्यकता पड़ने पर शिवाजी ने निमंत्रण पाने पर मुगल सेवा में आने का भी वादा किया।

स्मरण रहे कि शिवाजी ने जो प्रदेश छोड़ा वह उपजाऊ नहीं था और बदले में प्राप्त कोंकण, बालाघाट और बीजापुर पट्टम घाट आदि से उन्हें प्राप्त होने वाली आमदनी 9 लाख हूण वार्षिक थी। अगले दिन ही शिवाजी ने पुरन्दर खाली कर दिया और 18 जून तक शम्भाजी भी जयसिंह के पास जा पहुँचा। शिवाजी चार दिन तक जयसिंह के साथ रहे। इस बीच यूरोपीय यात्री मनूची से भी उनकी बातचीत हुई। जयसिंह ने हिन्दू एकता को महत्त्व दिया। दोनों के मत विरोधी थे। जयसिंह मुगल सेवा में रहकर धर्म की रक्षा करना चाहता था और शिवाजी स्वतन्त्र रहकर अतः लक्ष एक होते हुए भी विचारों की भिन्नता से मेल न हो सका। जयसिंह बादशाह और धर्म दोनों के प्रति पूर्ण वफादार थे। जिसके फलस्वरूप यह सन्धि हुई।

औरंगजेब ने इन शर्तों को बड़ी खुशी से स्वीकार कर लिया और अपने अधिकारी के साथ एक फरमान और खिलअत भेजी। औरंगजेब ने शिवाजी को राजा की उपाधि दी और एक मणिजड़ित तलवार व छुरा भेंट स्वरूप भेजा जिसे शिवाजी ने विधिवत ग्रहण किया। सन्धि की पुष्टि का समाचार जयसिंह को 30 सितम्बर, 1665 ई० को प्राप्त हुए।

8. **पुरन्दर का महत्त्व**—डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुरन्दर की सन्धि जयसिंह की राजनीतिक दूरदर्शिता का एक सफल परिणाम था।"[1] इतिहासकार सरकार का कहना है कि—"उसने शिवाजी और बीजापुर के मध्य में सदा के लिये विरोध का बीज बो दिया।"[2] जयसिंह ने शिवाजी को भी नुकसान नहीं होने दिया और लगभग दो करोड़ रुपयों से मुगल खजाने की आमदनी बढ़ा दी। उसने बालाघाट आदि का प्रलोभन देकर बीजापुर अभियान में शिवाजी को अपने पक्ष में कर लिया। इस योजना से शिवाजी को भी काफी लाभ हुआ और उन्होंने अपना खोया हुआ राज्य व आमदनी वापस पा ली। कुछ इतिहासकार यह भी मानते हैं कि जयसिंह ने मुगलो के हित को ध्यान में रखकर शिवाजी को अपने चगुल में फांस लिया। शिवाजी राजा जयसिंह के कहने में आकर आगरा चले गये जहाँ उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आगरे जाकर शिवाजी को सन्धि से हानियों का आभास हुआ तभी उन्होंने आगे कभी अपने जीवन में इस प्रकार की सन्धि नहीं की। यह सन्धि जहां जयसिंह की पूर्ण सफलता का स्मारक है वहाँ शिवाजी की आँखे खोलने वाला भी है। आगरे

1. डॉ० गोपीनाथ—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 380.
2. डॉ० सरकार—औरंगजेब, भाग 4, पृष्ठ 97.

से लौटने के बाद शिवाजी का दृष्टिकोण ही बदल गया। सन्धि की शर्तें अधिक समय तक न रह सकी और इसका पालन भी असम्भव सा हो गया। मराठों ने 13 वर्ष मे 40 लाख हूँण में से एक पाई भी नही दी। शम्भाजी भी अधिक समय तक मुगल दरबार में नहीं रहा। मुगल सरकार महाराष्ट्र के किलों पर भी अधिक दिनों तक अपना अधिकार नही रख सकी। शिवाजी ने जो वफादारी का वचन दिया था वह आगरा यात्रा के साथ समाप्त हो गया।

जयसिंह ने सन्धि के समय शिवाजी का आगरा जाने का आग्रह किया था और उन्हे जीवन व सम्मान रक्षा का पूर्ण वचन दिया था किन्तु शिवाजी को आगरे मे पाकर औरंगजेब इस प्रकार खुश हुआ जैसे शिकारी शेर को पिंजरे मे पाकर होता है। जयसिंह बादशाह के स्वार्थी स्वभाव से पूर्णतया परिचित था इसीलिये उसने शिवाजी की रक्षा का भार अपने पुत्र रामसिंह पर छोड़ा था। इस प्रकार यह सन्धि महाराष्ट्र और आगरा दोनों में लोकप्रिय हो सकी, इस सन्धि का सबसे बड़ा लाभ शिवाजी को हुआ। उन्हें निर्भीक होकर बीजापुर पर आक्रमण कर राज्य विस्तार का मौका मिल गया। आगरे जाकर मुगल दरबार की आन्तरिक दशा का अवलोकन करने का भी अवसर मिला। लौटते समय उन्हें भारत भ्रमण और तीर्थ-यात्रा का भी मौका मिला जिससे वे सारे उत्तर भारत की धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का अवलोकन कर सके। यदि शिवाजी आगरा नही जाते तो कदाचित अपना राज्याभिषेक भी नही करवाते। इस प्रकार सन्धि ने शिवाजी की महत्वाकांक्षाओं को जगाया उनके देश भक्त हृदय मे हिन्दुत्व की भावना दौड़ा दी और व्यवस्थित राज्य को एक संगठित मराठा राज्य में परिणत कर दिया अतः अप्रत्यक्ष रूप से सन्धि के परिणाम व्यापक और स्थाई थे।

9. जयसिंह और बीजापुर—जयसिंह को औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजते समय दो बड़ी समस्याओं का समाधान करने का आदेश दिया था। एक शिवाजी और दूसरा बीजापुर। जयसिंह ने शिवाजी को तो अपनी चतुराई से बिना विशेष युद्ध या विनाश के अपनी तरफ मिला लिया और अब बीजापुर की बारी थी। जयसिंह की यह धारणा थी कि बीजापुर जीते बिना दक्षिण पर प्रभुत्व स्थापित नही हो सकता और न ही सुदूर दक्षिण के प्रदेश कर्नाटक व केरल आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है। इस धारणा से जयसिंह ने अपने पत्रों में औरंगजेब को साफ-साफ लिख दिया था कि वह बीजापुर को भी अधीन करेगा। शिवाजी के विरुद्ध युद्ध में बीजापुर के सुल्तान ने खवास खाँ की अधीनता मे सेना भेजी थी किन्तु जयसिंह ने आरोप लगाया कि न तो यह सेना विश्वास योग्य ही थी और न मन लगाकर लड़ी ही थी। इसके विपरीत बीजापुर के सुल्तान ने गोलकुंडा के सुल्तान को शिवाजी की सहायता के लिये भी उकसाया था। सर यदुनाथ सरकार का कहना है कि "जयसिंह की दृष्टि मे दक्षिण मे स्थित मुगल फौज को निष्क्रिय रखने के बदले उसे बीजापुर के विरुद्ध लगाये रखना उपयुक्त

था।"[1]

जिस प्रकार शिवाजी पर आक्रमण करने से पूर्व जयसिंह ने एक गुट बना लिया था उसी प्रकार फिर बीजापुर के विरुद्ध एक गुट बनाया। उसने सन्धि के अनुसार शिवाजी को 2000 घुड़सवार और 7000 पैदल लेकर आक्रमण करने के लिए तैयार किया। बीजापुर के अनेक दरबारियों को प्रलोभन देकर अपनी तरफ मिला लिया। आदिलशाह और मुल्ला अहमद रिश्वत लेकर मुगलों से मिल गये। जंजीरा के विदेशियों को भी बीजापुर के विरुद्ध भड़काया। मराठों का श्रेष्ठ सेनापति नेताजी पाल्कर इस आक्रमण में जयसिंह के साथ था जिसे दक्षिण भारत मे द्वितीय शिवाजी कहते थे। लेकिन बीजापुर विजय का स्वप्न पूरा नहीं हो सका। आदिलशाह ने अपनी सेना को इकट्ठा कर लिया और 30,000 सैनिक कर्नाटक के भी अपनी सेना मे भर्ती कर लिये। बीजापुर के आसपास के इलाकों को नष्ट व खाली कर दिया ताकि मुगल सेना को रसद व भोजन आदि न मिल सके। 18 दिसम्बर से 5 जनवरी तक छोटी-मोटी लड़ाई चलती रही। बीजापुर की सेना बारूद के गुब्बारों से मुगल सेना में आग लगा कर उन्हें अलग-अलग कर देती थी और फिर बिछड़ी हुई छोटी-छोटी टुकड़ियों पर आक्रमण कर उन्हे वापस खदेड़ देती थी। कोई परिणाम न निकलता देखकर जयसिंह को वापस लौटना पड़ा इस अभियान में अनेक सेना नायक व्यर्थ मारे गये। राज्य प्राप्ति की दृष्टि से यह आक्रमण पूर्णतया असफल रहा। सरकार का कहना है कि—"न एक इन्च भूमि मिली, न किसी किले का एक पत्थर हाथ आया और न युद्ध क्षति के रूप में एक पैसा मिला। शाही कोष का 30 लाख रुपया खर्च करने के अतिरिक्त जयसिंह ने अपने पास से एक करोड़ रुपया खर्च कर दिया।" इतना अवश्य है कि शिवाजी ने अपने खोये हुए स्थानों का घाटा पूरा कर लिया। जयसिंह के जीवन का यह एक मात्र अभियान ऐसा था जिससे कोई लाभ नहीं हुआ।

10. जयसिंह का व्यक्तित्व—जयसिंह एक कुशल सेनापति था। उसमें अपने दादा मानसिंह की योग्यता और बड़े दादा भगवन्तदास की राजनीतिक योग्यता का समावेश था। उसने भारत और भारत के बाहर तक मुगल राज्य की धाक जमा दी थी। अपने 46 वर्ष के शासनकाल मे वह निरन्तर युद्धों में लगा रहा जिसमें सिर्फ बीजापुर क्षेत्र से निराश लौटना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि वह एक योग्य सेनापति था।

उसकी कूटनीति का परिचय औरंगजेब का समर्थन, शिवाजी के विरुद्ध गुटबन्दी और बीजापुर पर संयुक्त आक्रमणों की योजनाओं को देखने से मिलता है। वह शत्रुओं से भी काम निकाल लेता था और जो काम सेवा और शक्ति नहीं कर

1. यदुनाथ सरकार—औरंगजेब, पृष्ठ 397.

सकती थी वह अपनी कूटनीति से पूरा कर लेता था। जैसे शिवाजी को आगरे भेजना। मुगल वादशाह उसे हमेशा कठिन से कठिन काम सौंपते थे।

जयसिंह एक अच्छा शासक भी था यद्यपि उसका अधिकांश समय सीमा या दक्षिण भारत में बीता लेकिन फिर भी उसने अपने राज्य मे मुगल शैली पर आधारित शासन व्यवस्था लागू कर दी और अजमेर आदि की रियासतें इनाम मे पाकर अपना राज्य विस्तार भी किया। सबसे बड़ी बात उसकी सफलता की यह है कि अधिकतर बाहर रहने के बावजूद भी उसके राज्य में पूर्ण शान्ति और सुरक्षा बनी रहती थी।

जयसिंह कला प्रेमी भी था। उसके समय मे साहित्य व कला का पूरा विकास हुआ। आमेर महल उसकी स्थापत्य कला के प्रति रुचि व्यक्त करने आज भी शान से खड़े है। उसके समय के महल व किलों पर मुगल कला का सीधा प्रभाव है। वह स्वयं कई भाषाएँ जानता था और विद्वानों का आदर करता था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'विहारी' उसी के दरवारी कवि थे। बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने 52 ग्रन्थों की रचना की थी। इसी के समय में रायकवि ने 'जयसिंह चरित्र' की रचना की जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। स्पष्ट है कि योद्धा व सफल शासक जयसिंह साहित्य और कला का भी प्रेमी था।

जयसिंह ने अपने समय के महान् हिन्दू राजा शिवाजी पर विजय पाकर इतिहास मे अपना स्थान सुरक्षित कर लिया तथा साथ ही शिवाजी को विनाश से बचाकर हिन्दू धर्म के प्रति अपनी अटूट आस्था का प्रदर्शन किया।

जहाँ हम उसकी सफलताओं को देख रहे हैं वहाँ उसकी असफलताओं पर भी एक नजर डाल लेना अति आवश्यक है। उसे मुगल दरबार की श्रेष्ठ मनसब व जात प्राप्त थी वहाँ बीजापुर की एक मात्र पराजय पर औरंगजेब ने उसकी प्राप्तियों को धूल मे मिलाकर उसे अपमानित कर वापस बुला लिया। जयसिंह ने इस बीजापुर युद्ध मे एक करोड़ रुपया अपने पास से खर्च कर दिया था जो उसे नही करना चाहिये था। औरंगजेब ने बड़े तिरस्कार व अपमान के साथ यह रकम जयसिंह को वापस लौटाई थी। शिवाजी को आगरे भेजकर जयसिंह ने दूसरी गलती की। वह वर्षों से औरंगजेब के साथ था और उसके क्रूर व स्वार्थी स्वभाव को जानता था। अपने पुत्र रामसिंह को शिवाजी की रक्षा का भार सौंपकर जयसिंह ने उस क्रूर मुगल वादशाह को अपना शत्रु बना लिया और औरंगजेब ने जयसिंह के विरुद्ध षड्यंत्र शुरू कर दिये जिसके फलस्वरूप आगे चलकर जयसिंह को उसके छोटे लड़के कीर्तिसिंह ने अफीम पिलाकर मार डाला।[1] टाड महोदय आगे कहते हैं कि "औरंगजेब किसी का शुभचिन्तक न था। जिसने अपने पिता, भाइयो और बहनों का सर्वनाश किया था। वह किसी दूसरे का शुभचिन्तक कैसे हो सकता था।"

1. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 637.

सर यदुनाथ सरकार भी औरंगजेब की निन्दा करते हुए लिखते है कि—
यसिंह की मृत्यु एलिजाबेथ के दरबार के सदस्य वॉसिंघम की भांति हुई जिसने
ना बलिदान ऐसे स्वामी के लिये किया जो काम लेने में कठोर और काम के
ल्यांकन में कृतघ्न था।"[1]

इस स्वामीभक्त योग्य राजा को औरंगजेब ने षड्यंत्र द्वारा उसी के छोटे
ड़के कीर्तिसिंह के हाथों जहर देकर मरवा दिया। दक्षिण से वापस लौटते समय
रहानपुर के पास 2 जुलाई, 1667 ई० को जयसिंह अपने पुत्र के हाथ से अफीम
साथ विष मिला प्याला पीकर ऐसा सोया कि फिर कभी नहीं उठा।

□

1. सरकार—औरंगजेब, भाग 4, पृष्ठ 148

17

महाराजा जसवन्तसिंह

प्रारम्भिक जीवन—महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म 26 दिसम्बर, 1626 ई० में बुरहानपुर मे हुआ था। ये मारवाड़ के राजा गजसिंह के पुत्र थे। इनकी माता मेवाड़ की राजकुमारी थी। जसवन्तसिंह जब ग्यारह वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। पिता के स्वर्गवास के समय जसवन्तसिंह बूंदी में अपना विवाह करने गये थे। वीर पिता का वीर बेटा जसवन्तसिंह पिता के देहान्त के समय बूंदी में था। गजसिंह का देहान्त आगरे में हुआ था अतः जसवन्तसिंह बिना समय गँवाये फौरन आगरा गया। वहाँ पहुँचते ही बादशाह शाहजहाँ ने 25 मई, 1638 को स्वयं उसे शाहीतौर पर टीका दिया और खिलअत दी। साथ मे हीरों जड़ी कटार, एक घोडा, एक हाथी, एक झण्डा, राजा का खिताब और 4000 सवारों की जात प्रदान की। शाहजहाँ ने राजा जसवन्तसिंह को टीके के साथ मारवाड़ के पाँच परगनों का राज्य भी दिया। ये परगने जोधपुर, सोजत, मेड़ता, सिवाना और फलौदी के थे। साथ ही गजसिंह के समय के वफादार दीवान ठाकुर राजसिंह कूँपावत को उसका दीवान बना दिया।

जसवन्तसिंह इस समय बालक थे और जोधपुर में उत्तराधिकार के झगड़े होते रहते थे इसलिए शाहजहाँ के बिना समय गँवाये जसवन्तसिंह को जोधपुर का राजा घोषित कर इस विवाह को अगले 40 साल के लिये समाप्त कर दिया। अपना टीका पाने के 24 दिन बाद जसवन्तसिंह ने भी बादशाह को छः हाथी भेंट किये। उसके बाद बालक राजा शाहजहाँ के साथ पेशावर गया। रास्ते में लाहौर के पास शाहजहाँ ने राजा जसवन्तसिंह की मनसब 5000 कर दी और उसे मारवाड़ का छटा परगना जैतारण भी दे दिया। एक ही वर्ष में बादशाह ने उसे चार बार शाही सम्मान और खिताब प्रदान किये। लाहौर, जमरुद और दिल्ली मे दो वर्ष बादशाह के पास रहने के बाद जसवन्तसिंह 21 फरवरी, 1640 को अपने राज्य जोधपुर में लौटे और 30 मार्च को बड़ी धूम-धाम से 14 वर्ष की अवस्था में उसका राज्याभिषेक हुआ। दो वर्ष के छोटे से समय मे जसवन्तसिंह शाहजहाँ का प्रिय सरदार बन गया था। अतः युवा होने से पहले ही उसे ईरान के शाह के विरुद्ध अभियान मे भेजा गया। इस अभियान में वह शाहजादा दारा के साथ कंधार विजय करने गया था। जसवन्तसिंह को भी मुगल दरबार से स्नेह हो गया था और उसने अपने सभी प्रिय व वीर राजपूत सरदारों को अपने पास बुला लिया था।

किन्तु कंधार तक पहुँचने से पहले ही फारस के शाह शफी का देहान्त हो गया अतः मुगल सेना बिना लड़े वापस लौट आई। कंधार से लौटकर जसवन्तसिंह जोधपुर गया। अभी वह दो वर्ष भी घर न रह पाया था कि शाहजहाँ ने उसे आगरे का सूबेदार नियुक्त किया। इस समय जसवन्तसिंह सिर्फ उन्नीस वर्ष का था। आगरे का सूबेदार नियुक्त होना एक बड़े महत्त्व की बात थी। इस नियुक्ति ने 1645 में जसवन्तसिंह का सम्मान बढ़ा दिया। उसकी गिनती श्रेष्ठ मुगल सरदारों में होने लगी। टाड महोदय का कहना है कि—"राजस्थान के उस समय के राजाओं में जसवन्तसिंह को बहुत ख्याति मिली। वह एक सफल शासक था और उसके शासन में सभी प्रकार राज्य ने उन्नति की थी। वह विचारशील, गंभीर और रणकुशल राजपूत था।"[1]

2. प्रारम्भिक सफलताएँ—1641 में वफादार दीवान ठाकुर राजसिंह का देहान्त हो गया और शाहजहाँ ने महेशदास राठौड़ को जोधपुर का नया दीवान नियुक्त किया। किन्तु महेशदास न योग्य था और न वफादार। साथ ही महेशदास को शाही मनसब प्राप्त था और उसका मुगल राजधानी आगरा में रहना आवश्यक था। इन कारणों से जसवन्तसिंह ने महेशदास को दीवान के पद से हटाकर गोपालदास को अपना दीवान बनाया। महेशदास राठौड़ इससे नाराज हो गया और उसने राजा के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। श्री ओझा का कहना है कि "नैणसी की अधीनता में सेना भेजी गई जिसने मेरा और महेशदास के विद्रोह का तत्काल दमन कर दिया।"[2] वयस्क होने के साथ ही जसवन्तसिंह ने जोधपुर का राज-कार्य अपने हाथ में ले लिया और दीवान महेशदास के विद्रोह का दमन उसकी पहली सफलता थी।

शाहजहाँ की माँ जोधाबाई से जसवन्तसिंह का खून का सम्बन्ध था। बादशाह ने उसे 'खालाजात भाई' की पदवी देकर उसका सम्मान और बढ़ा दिया। राजा को सोने की पागड़ी और घोड़ा देकर फिर सम्मानित किया गया। जसवन्तसिंह के घोड़ों में से एक बार दो हजार और दूसरी बार 2,500 घोड़े अपनी निजी सेना के लिये लेकर जसवन्तसिंह का और अधिक सम्मान किया गया। बाद में उसे 5000 की मनसब 5000 की जात देकर अपने श्रेष्ठ दरबारियों में स्थान दिया। बादशाह की अनुपस्थिति में आगरे का सूबेदार रहना भी किसी राजपूत के लिये बड़े गौरव की प्राप्ति थी। औरंगजेब की अधीनता में राजा को एक बार फिर काबुल भेजा गया। बादशाह भी उसके साथ था किन्तु 1649 के कंधार अभियान में भी जसवन्तसिंह ने सक्रिय भाग नहीं लिया और बादशाह की गैरहाजरी में राजपूतों पर नियंत्रण रखने के लिये उसे काबुल से वापस भारत भेज दिया गया। इस

1. टाड, राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 382.
2. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग एक, पृष्ठ 418.

प्रकार 5000 की जात व मनसब प्राप्त करना, बादशाह को अपने विश्वास-पात्र सैनिकों की सेना देना, 'खालाजात भाई' का खिताब पाना, और औरंगजेब के साथ काबुल तक जाना आदि, जसवन्तसिंह की सुलभ प्राप्तियां व दूसरी सफलता थी। मार्च 1650 की 26 तारीख को बादशाह शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह को विशेष दरबार मे मोतियों का हार पहनाया। इन सब सम्मानों से स्पष्ट है कि जसवन्तसिंह मुगल बादशाह का प्रिय दरबारी था। शाहजहाँ ने ऐसा सम्मान और किसी हिन्दू राजा को नही दिया।

एक विद्रोही का दमन किया, शाही दरबार में ऊंचा स्थान प्राप्त किया और तीसरी सफलता अब जसवन्तसिंह की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रश्न जैसलमेर के उत्तराधिकार का था। जैसलमेर के राव मनोहरदास के देहान्त के बाद रामचन्द्र ने राज्य हड़प लिया था। मुगल बादशाह ने वास्तविक हकदार सबलसिंह को जैसलमेर का राव बनाया और जसवन्तसिंह को उसे गद्दी दिलवाने भेजा। सबलसिंह ने इस कार्य के बदले में फलोदी और पोकरण के इलाके जसवन्तसिंह को देने का वादा किया। जसवन्तसिंह ने अपने विश्वासपात्र सरदार गोपालदास, चम्पावत, विट्ठलदास और नहरखां को सेना देकर जैसलमेर भेजा। सबलसिंह भी अपने 700 सवारों के साथ इनसे आ मिला। संयुक्त सेना ने 5 अक्टूबर, 1650 को पोकरण जीता और जैसलमेर जा पहुँची। ओझा जी का कहना है कि—"रामचन्द्र भाग गया और जैसलमेर पर सबलसिंह का अधिकार हो गया।"[1] यह जसवन्तसिंह की तीसरी सफलता थी। इस विजय से जोधपुर का राज्य विस्तार हुआ और जोधपुर सोजत, मेड़ता, सिवाना, फलोदी और पोकरण के परगनों पर उसका राज्य स्थापित हो गया।

इन प्रारम्भिक सफलताओं ने राजा जसवन्तसिंह का मान बहुत बढ़ा दिया और जनवरी 1654 में शाहजहाँ ने अपने विवाह की वर्षगांठ के उत्सव में जसवन्तसिंह को 6000 सवार और जात की मनसब से सुशोभित किया। इस प्रकार राजा जसवन्तसिंह के शासन के पहले 20 वर्ष प्रगति, समृद्धि और सफलता के वर्ष थे। जोधपुर की जो क्षति अकबर के समय राव चन्द्रसेन और मोटा राजा उदयसिंह के अधीन हुई थी। राजा जसवन्तसिंह ने उस खोये हुए स्थान व राज्य को पुनः प्राप्त कर अपना व अपने देश का गौरव बढ़ाया।

3. धर्मत का युद्ध—शाहजहाँ सितम्बर 1657 में बीमार पड़ गया और शीघ्र ही उसके मरने की अफवा चारो तरफ फैल गई। शाहजहाँ ने अपने बड़े लड़के दारा को उत्तराधिकारी घोषित किया। दारा दिल्ली और पंजाब का शासक था। दारा के धार्मिक विचार बड़े उदार थे। वह हिन्दुओं व राजपूत सरदारों का प्रिय था। उसके तीन छोटे भाई शुजा, औरंगजेब और मुराद क्रमशः बंगाल, दक्षिण और

---

1. ओझा—जोधपुर का इतिहास, भाग एक, पृष्ठ 424

गुजरात के शासक थे। ये तीनो ही शाहजहाँ की जगह मुगल बादशाह बनना चाहते थे। पिता की बीमारी का समाचार पाकर तीनों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। बंगाल के शासक शुजा ने अपने महलों में अपना राज्याभिषेक किया और दिल्ली की तरफ बढा। दारा, जिसने दिल्ली आगरे का राज्य भार संभाल लिया था, अपने पुत्र सुलेमान शिकोह और आमेर के राजा जयसिंह को शुजा का दमन करने भेजा। जयसिंह ने बनारस के पास शुजा को पराजित कर भगा दिया। किन्तु दक्षिण की तरफ से होने वाला आक्रमण भयानक था। दक्षिण का शासक औरंगजेब बड़ा चालाक और कूटनीतिज्ञ था उसने गुजरात के शासक अपने छोटे भाई से समझौता कर लिया कि पंजाब, कश्मीर, सिन्ध, अफगानिस्तान तो मुराद लेगा और शेष भारत पर औरंगजेब का अधिकार रहेगा। उसने अपने गुप्तचर आगरे में छोड़ रखे थे और युद्ध की पूरी तयारियाँ कर रहा था। वह चुपचाप अपनी सेना लेकर नर्वदा तक आ गया। उसने दक्षिण में शान्ति रखने को शिवाजी को भी भूमिदान कर मित्र बना लिया था। पड़ोसी राज्य बीजापुर से संधि करली और दारा को तंग करने के लिये ईरान के शाह को अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिये उकसाया। अपने छोटे भाई मुराद को आगे रखकर उत्तराधिकार युद्ध शुरू किया ताकि कोई उस पर संदेह न करे। मुराद ने अपने मंत्री अलीनकी को कत्ल कर अपने आपको सम्राट् घोषित कर दिया।

शाहजहाँ के चारों लड़के जब इस प्रकार दिल्ली के सिंहासन के लिये लड़ने मरने को तैयार हो गये तो राजपूतों को क्या करना चाहिये था? आमेर के राजा जयसिंह ने शाहजहाँ के उत्तराधिकारी दारा को साथ दिया और शुजा को दबाने बनारस गया इसी समय मुराद और औरंगजेब ने दक्षिण से आगरा की ओर कूच किया। राजा जसवन्तसिंह और कासिम खाँ को औरंगजेब व मुराद को दबाने के लिए भेजा। यह आदेश भी दिया गया था कि यदि सम्भव हो सके तो दोनों राजकुमारों को समझा बुझाकर वापस उनके प्रदेशों में लौटा दिया जाय। डॉ० श्रीवास्तव का कहना है कि—"शाही सेना जिसका सेनापतित्व संयुक्त और बुद्धिमत्तापू[illegible] [illegible]रकी।"[1]

[illegible] न दक्षिण पश्चिम में धरमत के मैदान में आ गई। जसवन्तसिंह ने सन्धि का समय हाथों से निकाल दिया। औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को जोधपुर लौट जाने के लिए लिखा किन्तु वह आगे ही बढता गया। दारा ने सबसे बड़ी गलती युद्ध की थी कि औरंगजेब व मुराद का गठबन्धन हो जाने दिया। अक्टूबर 1658 में शाहजहाँ पूर्णतया स्वस्थ हो गया था और नवम्बर में मुराद ने अपने आपको बादशाह घोषित किया था। दूसरी भूल

1. डॉ० ए. एल श्रीवास्तव—'मुगलकालीन भारत', पृष्ठ 350.

उसने दो सेनाएं अलग-अलग भेज कर की। "मुराद का दमन करने कासिम खाँ को भेजा गया और औरंगजेब के विरुद्ध राजा जसवन्तसिंह के नेतृत्व में सेना भेजी।"[1] जसवन्तसिंह ने औरंगजेब की बात नही मानी। अतः धरमत का युद्ध अनिवार्य हो गया। कासिम खाँ के कुछ अफसरो को छोड़कर बाकी सब मुसलमान औरंगजेब से जा मिले। जसवन्तसिंह के अधीन मुसलमान सरदारों ने भी उसे धोखा दिया और रात्रि मे औरंगजेब से जा मिले। जसवन्तसिंह को शाहजहाँ ने मालवा का सूबेदार बना कर भेजा था।

जसवन्तसिंह 6 फरवरी, 1658 को उज्जैन पहुँचा। वह मुराद और औरंगजेब का सगठन नही रोक सका। औरंगजेब ने कवि राय को जसवंतसिंह को समझाने भेजा था कि वह सिर्फ अपने पिता से मिलने और उनका स्वास्थ्य पूछने जा रहा है। अतः बीच में शाही सैनिकों का रक्त व्यर्थ बहाकर देश व मुगल शक्ति का नुकसान न करे। किन्तु जसवन्तसिंह इस प्रकार के भुलावे में आने वाला नही था। रेऊ का कहना है कि जसवन्तसिंह ने उत्तर दिया कि—"यदि राज कुमार आगे नही बढ़ेगे और वापस लौट जायेगे तो बादशाह के अदेशानुसार युद्ध नही होगा। अन्यथा मुझे इस उपेक्षा के लिए क्षमा किया जाय।"[2] गुरुवार 15 अप्रेल, 1658 को औरंगजेब ने गम्भीरी के पूर्वी किनारे पर धरमत नामक स्थान पर डेरा डाला और अगले दिन युद्ध लड़ने का निश्चय किया। जसवन्तसिंह के पास 266 शाही मनसबदार, 1,000 बन्दूकची और 23,244 घुड़सवार थे। कासिम खाँ 10,000 सेना लिए खड़ा था, मुकुन्दसिंह हाडा, रतनसिंह राठौड़ आदि भी जसवन्त के अधीन थे। औरंगजेब के पास लगभग 19,000 सैनिक थे और उसके तोपखाने में यूरोप के तोपची भी थे। युद्ध की तारीख अलग-अलग दी गई है। डॉ० श्रीवास्तव पृष्ठ 350 पर 25 अप्रेल को युद्ध बताते है और डॉ० भार्गव अपनी पुस्तक 'मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' में 16 अप्रेल, 1658 ई० बताते है। प्रातःकाल साढ़े आठ बजे घमासान युद्ध शुरू हुआ। देवीसिंह बुंदेला ने धोखा दिया और मुराद से जा मिला। कासिम खाँ भी तटस्थ तमाशा देखता रहा। फिर भी जसवन्तसिंह के राजपूतों ने डटकर मुकाबला किया। दोपहर तक घमासान लड़ाई हुई। राजपूत घिर गये, उनके पास खुलकर युद्ध करने का भी स्थान नही था। अतः वे अपनी शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं कर सके। घायल होने के बावजूद भी जसवन्तसिंह बहादुरी से लड़ता रहा तभी राठौड़ रायमल जोधा ने अन्य सरदारों के साथ मिल कर अपने राजा की रक्षा की और महेशदास व आसकरण आदि ने राजा को मैदान छोड़ने के लिए बाध्य किया। उन्होंने जसवन्तसिंह को चारों तरफ से घेर लिया और युद्ध के मैदान से बाहर ले गये। वह जोधपुर चला गया।

1. रेऊ—'मारवाड़ का इतिहास', भाग एक, पृष्ठ 220
2. रेऊ—'मारवाड़ का इतिहास', भाग एक, पृष्ठ 222.

उसके लौटने के बाद रत्नसिंह राठौड़ ने सेनापति का पद ग्रहण किया और राजपूत अन्त तक लड़ते रहे। इस युद्ध में औरंगजेब की विजय हुई और राजपूतों के 40 सरदार और 2000 वीर मारे गये।[1]

यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि—"वास्तव में यह तलवार और बारूद का युद्ध था जिसमें तोपखाने ने घुड़सवारों को रौंद डाला।"[2] वास्तव में यह युद्ध तलवार और बारूद का युद्ध था जिसमें घोड़ों पर तोपों की विजय हुई।

एस. आर. शर्मा का कहना है कि—"मुगल खानदान की यह दुःखद कहावत भी बन गई थी कि राजा के लिए कोई आत्मीय नहीं है। इस घातक युद्ध में जो भाई शामिल हुए थे उनका भी यही नारा था कि तख्त या तख्ता; ताज या कफन।"[3]

डॉ० गोपीनाथ अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 439 पर कहते हैं कि—'इस युद्ध में सहस्त्रों की संख्या में राजपूत काम आये और विजयश्री शाहजादे के हाथ आई। इस विजय की स्मृति में धर्मत का नाम फतेहआबाद (फतियाबाद) रखा गया।"

डॉ० श्रीवास्तव का कहना है कि—"कासिम खाँ को केवल एक उच्च अफसर की क्षति उठानी पड़ी और दूसरे दिन उसके कई अफसर औरंगजेब से जा मिले। जसवन्तसिंह के जोधपुर लौटने पर एक अद्भुत घटना घटी। शूरवीर रानी ने उन्हें दुर्ग में प्रवेश नहीं करने दिया क्योंकि वह शत्रु को पीठ दिखाकर युद्ध-स्थल से भाग आये थे।"[4]

डॉ० रघुवीरसिंह लिखते हैं कि—"कोटा का राव मुकुन्द हाड़ा और उसके तीन भाई, शाहपुरा का सुजानसिंह सीसोदिया, गौड़ अर्जुन, झाला दयालदास आदि प्रारम्भिक आक्रमणों में काम आये।..........जसवन्तसिंह के चले जाने के बाद बाकी बची शाही राजपूत सेना का नेतृत्व रतलाम के राव रतन राठौड़ ने किया और कुछ समय बाद वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वह वहीं खेत रहा।"[5]

*टाड महोदय का कहना है कि—"मारकाट के थोड़े ही समय बाद जसवन्त*सिंह के साथ आगरे में जो मुगल सेना आई थी और कासिम खाँ जिसका सेनापति था, वह जसवन्तसिंह की सेना में निकल कर औरंगजेब की फौज के साथ मिल

1. जोधपुर की ख्यात, भाग 1, पृष्ठ 207, 223.
2. सरकार—'औरंगजेब', भाग-2, पृष्ठ 355.
3. एस. आर. शर्मा—'भारत में मुस्लिम साम्राज्य', पृष्ठ 425.
4 डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव—'मुगलकालीन भारत,' पृष्ठ 350.
5. डॉ० रघुवीरसिंह—'पूर्व आधुनिक राजस्थान', पृष्ठ 114.

गई।"[1] थोड़े से राजपूत मात्र रह जाने से जसवन्तसिंह की हार निश्चित हो गई थी।

4. जसवन्तसिंह जोधपुर में - मैदान से भाग कर राजा सोजत पहुँचा जहाँ कुछ दिन रह कर जोधपुर पहुँचा। घर पहुँच कर राजा को अपनी पराजय का बडा दुःख हुआ। यहाँ एक रोचक घटना सुनने मे आती है। मुसलमान लेखक बर्नियर, मनूची, तथा खफी खां का कहना है कि जब महाराज जोधपुर पहुँचे तो उनकी 'उदयपुरी रानी' ने किले का दरवाजा बन्द करवा लिया और कहला भेजा कि— 'राजपूत युद्ध से या तो विजयी लौटते हैं या वहीं मर मिटते है। महाराजा पराजय के बाद लौट नहीं सकते यह कोई और व्यक्ति हैं।"[2] इतना कह कर वह सती होने लगी तो उसकी माँ ने उसे समझा बुझाकर जसवन्तसिंह से पराजय का बदला लेने का वचन दिलाया तब राजा किले में आ सके। इस कथा से वीर राजपूत स्त्रियों के चरित्र का पता चलता है लेकिन रेऊ 'मारवाड के इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 224-25 पर इस कथा का खण्डन करता है। उसका कहना है कि रानी के कहने में आकर किलेदार अपने महाराजा का अपमान नहीं कर सकता था और न ही उदयपुर या बूँदी की महारानियाँ अपनी बेटी को समझाने जोधपुर आ सकती थी।

कविराज श्यामलदास का कहना है जिस रानी ने द्वार बन्द किये थे वह उदयपुर की नहीं बूँदी की राजकुमारी थी। राव शत्रुशाल हाड़ा की एक रानी सीसोदनी थी जिसकी पुत्री करमेती का विवाह जसवन्तसिंह के साथ हुआ था। सिसोदी रानी की पुत्री होने के नाते उसे सिसोदी शब्द से उदयपुर की मान लेना एक भ्रम है। कथा में सत्यता कम नजर आती है। डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि—"राजपूत वीरांगनाएँ अपने पति के साथ किसी भी स्थिति मे इस प्रकार अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकती और जीवित राजा को मरा हुआ कहकर सती होने के लिए तैयार होना, असत्य दीख पडता है।"[3] वास्तव में घायल पति को घर में न आने देना, पति के जीते जी सती होने की चेष्टा करना, रानी की माँ का घर मे रहना या बूँदी से इतना जल्दी आ जाना, ये सारी बातें एक सुखद कल्पना मात्र है जो ऐतिहासिक रोमाच पैदा कर देती हैं। जो भी हो स्वयं जसवन्तसिंह को अपनी हार का बडा दुःख था।

5. हार के कारण—यदि हम जसवन्तसिंह की हार के कारणों पर ध्यान दें तो मोटी-मोटी बातें सामने आती है—

(1) तोपखाने की परवाह न करते हुए आगे बढने की चेष्टा जिससे उसके श्रेष्ठ सैनिक बेकार मारे गये और वह चारों तरफ से घिर गया। यह जसवन्तसिंह

1. टाड—'राजस्थान का इतिहास', पृष्ठ 384.
2. डॉ० गोपीनाथ—'राजस्थान का इतिहास', पृष्ठ 439.
3. डॉ० गोपीनाथ शर्मा—'राजस्थान का इतिहास', पृष्ठ 440.

भूल थी कि उसने शत्रु के तोपखाने और बन्दूकचियों की परवाह न करते हुए ...मने से आक्रमण किया।

(2) टाड महोदय का कहना है कि—"यद्यपि औरंगजेब ने फ्रांसिसी गोल-...जों, तोपों और बहुत से हाथियों के साथ एक विशाल सेना लेकर राजपूतों से ... किया था, फिर भी जसवन्तसिंह ने उनको पराजित कर दिया होता, यदि ...वन्तसिंह ने औरंगजेब की सेना के आने पर असावधानी से काम न लिया होता। ...सवन्तसिंह अपनी अदूरदर्शिता के कारण विजय से वंचित हुआ।"[1]

(3) जसवन्तसिंह ने मैदान छोड़कर, अपनी पराजय सुनिश्चित कर ...। उसे सेना का अन्त तक संचालन करना चाहिये था। यदुनाथ सरकार का ...ना है कि—"जसवन्तसिंह के मैदान से हटते ही मुकाबला फीका पड़ गया। ...र राजपूत जोधपुर की तरफ भागे और उधर औरंगजेब आगरे की तरफ ...।"[2]

(4) मैदान का चयन उचित नहीं था। राजपूत सेना के चारों तरफ ...दियाँ और दलदल था जिसने सेना की प्रगति और आगे बढ़ने में भारी बाधा ...ली।

(5) औरंगजेब दृढ़ प्रतिज्ञ था कि उसे बादशाह बनना है। जसवन्तसिंह ... क्या उसने अपने भाइयों को भी नहीं छोड़ा। दूसरी तरफ जसवन्तसिंह को ...ही आदेश था कि राजकुमारों को यथासम्भव समझा कर अपने-अपने प्रान्त ...पस भेज दे। उन्हें कोई क्षति न पहुँचाने का भी आदेश उसे मिला था। अतः ...सवन्तसिंह दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं था और नीति व नैतिक बल भी नहीं बन सका। ...खिर वह एक आश्रित सेनापति मात्र था और राजकुमारों से डरना स्वाभाविक है।

(6) जसवन्तसिंह की सेना संगठित नहीं थी। कई प्रकार के सैनिक, कई ...तियाँ, कई युद्ध विधियों ने उसकी सेना को एक नहीं होने दिया। अनेक राजपूत ... उससे शत्रुता रखते थे। मुसलमान तो ठीक युद्ध के समय उसका साथ छोड़ गये। ...सिम खाँ ने भी धोखा दिया। अतः उसकी पराजय स्वाभाविक थी।

6. धरमत का महत्त्व—जहाँ इस युद्ध ने औरंगजेब को सफलता की सीढ़ी ...र ला खड़ा किया। वहाँ दारा की भावी कठिनाइयाँ भी सामने दिखने लगी। इस ...द्ध ने यह निश्चित कर दिया कि भारत का भावी बादशाह कौन होगा दारा या ...ौरंगजेब ? लूट में औरंगजेब को हाथी, घोड़े, ऊँट, धन, रसद आदि के साथ ...तिष्ठा वृद्धि भी प्राप्त हुई। सभी औरंगजेब को भावी बादशाह समझने लगे। ...सकी धाक सारे भारत पर जम गई। दारा घबरा गया। जनता और उसके ...नुयायी धरमत की विजय को अच्छा शगुन समझने लगे।

1. टाड—'राजस्थान का इतिहास', पृष्ठ 385.
2. सरकार—'औरंगजेब,' पृष्ठ 566.

प्रश्न यह था कि जसवन्तसिंह का भविष्य क्या होगा ? औरंगजेब ने दारा को पराजित कर आगरा भी जीत लिया। अपने भाइयों को एक-एक कर बुरी तरह बेरहमी से मरवा भी डाला और अपने पिता को बन्दी बनाकर शाहजहां के जीते जी बादशाह भी बन गया। ऐसी स्थिति में जसवन्तसिंह का मुगल दरबार में क्या स्थान रह गया ? वह विद्रोही हो जाय या शाही दरबार में हाजिर होकर क्षमा मांग ले ? यदि वह आगरा चला भी गया तो क्या औरंगजेब उसे माफ कर देगा ? पिछले 20 सालों में जो सम्मान जसवन्तसिंह ने सम्राट् शाहजहां के दरबार में पाया था वह समाप्त हो गया। अब विद्रोही राजकुमार बादशाह बन गया था। धरमत की पराजय ने जसवन्तसिंह की 20 साल की मेहनत पर पानी फेर दिया। औरंगजेब उसे संदेह की नजर से देखने लगा। महाराजा के हृदय में भी मुगलों की सेवा का वह उत्साह नहीं रहा और औरंगजेब को भी आगे कभी राजा पर पूरा विश्वास नहीं हो सका। इस प्रकार धरमत का युद्ध दिल्ली और जोधपुर के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के बीच एक दरार बन गया जो धीरे-धीरे और चौड़ी पड़ती गई।

7. अजमेर अभियान—धरमत से लौटकर जसवन्तसिंह ने अपने सुन्दरदास को जालौर से बुलाकर जोधपुर का कार्यभार उसे सौंप दिया और स्वयं मेड़ता आ गया। उसी समय मुगल घराने के आपसी युद्ध से लाभ उठाकर मेड़ता के राजा जयसिंह ने अजमेर पर आक्रमण करने की योजना बनाई। वह इस अभियान में जसवन्तसिंह की मदद चाहता था। जसवन्तसिंह तैयार हो गये और अजमेर जा पहुंचे। इसी समय 15 जून, 1658 को उसे समाचार मिला कि औरंगजेब ने दारा को पूर्ण रूप से पराजित कर मैदान से भगा दिया है। स्पष्ट हो गया कि औरंगजेब भारत का बादशाह बन गया। राजा जसवन्तसिंह अभी उलझन में थे अजमेर पर आक्रमण करें या नहीं, तभी औरंगजेब का एक फरमान उन्हें मिला कि वापस जोधपुर लौट जाओ। कुछ समय तक तो राजा ने आनाकानी की और फिर 12 जुलाई को वापस जोधपुर लौट गये। यदि जसवन्त ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया होता तो उसके सम्बन्ध सदा के लिये खराब हो जाते। इसके विपरीत सितम्बर में जसवन्तसिंह पंजाब गया और सतलज नदी के किनारे नये बादशाह के सामने हाजिर हुआ। औरंगजेब ने प्रसन्न होकर राजा को उसकी मनसब, जड़ाऊ तलवार और खिलअत लौटा दी। दोनों साथ दिल्ली लौट आये। किन्तु औरंगजेब के दिमाग में शक प्रवेश कर गया था।

8. विद्रोही जसवंतसिंह—औरंगजेब को राज्याभिषेक के थोड़े दिन बाद ही समाचार मिला कि शुजा अपनी सेना सहित दिल्ली की तरफ आ रहा है। इसलिये अपने अन्तिम प्रतिद्वन्द्वी भाई शुजा को पराजित करने औरंगजेब राजा जसवन्तसिंह को साथ लेकर चला। 30 दिसम्बर, 1658 को वह इलाहाबाद पहुंचा और दोनों भाइयों का आमना सामना इलाहाबाद के पास खजवा के मैदान में हुआ। दोनों ने अपना अपना मोर्चा जमा लिया और 5 जनवरी, 1659 को सुबह

युद्ध शुरू होना था। मोर्चे में जसवन्तसिंह को पहले दक्षिण पार्श्व (पक्ष) से आक्रमण करने को रखा गया किन्तु बाद में अविश्वास के कारण उसे चन्दावल से लड़ने का आदेश दिया गया जो सुरक्षित भाग था। यह व्यवहार जसवन्त को बुरा लगा और उसने शुजा को सूचना भेजी कि वह अर्द्ध रात्रि में शाही छावनी पर आक्रमण कर देगा और लूटमार मचाकर आतंक फैला देगा, इसलिये शुजा को भी रात्रि में शाही सेना पर आक्रमण कर देना उचित होगा। सम्भवतः यह समाचार मुअज्जम खाँ द्वारा औरंगजेब को मिल गया था। उसने राजा जसवन्तसिंह को जगह बदल कर पीछे भेज दिया।

4 जनवरी की रात्रि को 14 हजार सैनिकों ने शाही खेमे पर कोहराम मचा दिया और लूटमार में सैकड़ों सैनिक मारे गये। शुजा ने इस समय आक्रमण नहीं किया और औरंगजेब को अपने शिविर में शान्ति स्थापित करने का अवसर मिल गया। औरंगजेब सजग था उसने विद्रोहियों का दमन कर दिया। जसवन्तसिंह उस समय युद्ध-स्थल से दूर चला गया था। यह उसकी बुद्धिमता थी। अन्यथा उस पर विद्रोह का आरोप प्रमाणित हो जाता। मैदान से लौट आने का कारण यह बताया जाता है कि राजा अस्वस्थ थे। चाहे जसवन्त ने विद्रोह न भी किया हो किन्तु औरंगजेब ने इस विद्रोह के लिये उसे ही दोषी ठहराया कि वह मैदान से चला गया था इसीलिये यह भगदड़ मची थी। जो भी हो इस घटना से राजा जसवन्तसिंह के चरित्र पर विद्रोह का दाग भी लग गया। समय और परिस्थितियों को देखकर ऐसा लगता है कि जसवन्तसिंह पर थोपे गये आरोपों में थोड़ी बहुत सचाई अवश्य रही होगी। षड़यंत्र असफल रहा, बादशाह का विश्वास और कम हो गया। उसने जसवन्तसिंह को राजधानी से दूर भेजने का फैसला कर लिया। जसवन्तसिंह को धोखेबाज कहना उचित नहीं क्योंकि औरंगजेब ने भी तो राज्य इसी नीति से हड़पा था। जसवन्तसिंह अपनी धरमत की लड़ाई का बदला चुकाना चाहता था। दूसरी तरफ दारा भी राजा जसवन्तसिंह को कई पत्र लिख चुका था। जसवन्तसिंह इलाहाबाद से सीधा जोधपुर गया। रास्ते में उसने कई मुगल थानों को लूटा। औरंगजेब ने तो उसके पीछे मुगल सेना लगा दी थी तभी राजा जयसिंह ने बीच बचाव कर दोनों में सुलह करवा दी। आखिरकार उसने राजा जसवन्तसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाकर भेज दिया।

9. जसवन्तसिंह और मराठे—इधर औरंगजेब अपने भाइयों को दबाने में लगा हुआ था उसी समय दक्षिण में शिवाजी की अधीनता से मराठों की शक्ति बढ़ती जा रही थी। औरंगजेब ने शाइस्ता खाँ को 1659 में शिवाजी पर नियंत्रण स्थापित करने को भेजा किन्तु दक्षिण की स्थिति सुधर नहीं पाई। इसलिये 1662 ई० में जसवन्त और अन्य कुछ अच्छे सरदारों को शाइस्ता खाँ की मदद के लिये भेजा। शाइस्ता खाँ ने शिवाजी के कई दुर्ग छीन लिये और पूना पर अधिकार कर शिवाजी के महल में रहने लगा। जसवन्तसिंह दस हजार सैनिकों के साथ पूना के मार्ग में

सिंहगढ़ में ठहर गया था। 5 अप्रेल, 1663 की रात्रि को शिवाजी ने पूना में प्रवेश कर शाइस्ता खाँ के महल में घुसकर आक्रमण किया। शिवाजी के कुछ सिपाही अंधेरे में जनानखाने में घुस गये जिससे शोर हो जाने से भगदड़ मच गई। शाइस्ता खाँ खिड़की से कूद कर भाग गया। भागते भागते शिवाजी के वार से उसके हाथ का अगूठा कट गया। जसवन्तसिंह को जब समाचार मिला तो वह शाइस्ता खाँ के हाल पूछने लगा। शाइस्ता खाँ ने अपनी पराजय को छिपाने और झेंप मिटाने को कहा कि 'मैंने तो समझा था कि तुम शत्रु से लड़ते लड़ते मारे गये होगे।' शिवाजी ने इसके बाद ही सूरत को लूटा। औरंगजेब ने यह समझा कि शायद जसवन्तसिंह शिवाजी से मिल गया है अतः उसे वापस बुला लिया। किन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। शिवाजी सिंहगढ़ के पहाड़ी मार्ग से पूना गये थे जिसका पता जसवन्तसिंह को नहीं था। साथ ही पूना में शाइस्ता खाँ की छावनी भी शिवाजी को किले में जाने से नहीं रोक सकी। जसवन्तसिंह पहले चरण में मराठों का दमन नहीं कर सके।

दक्षिण के उपद्रव बढ़ रहे थे इसलिये दो वर्ष बाद शाहजादे मुअज्जम के साथ जसवन्तसिंह को वापस दक्षिण में नियुक्त किया। जसवन्तसिंह ने इस बार समझदारी से काम लिया और मराठों पर आक्रमण करने के बजाय उन्हें मित्र बनाने की चेष्टा की। शिवाजी भी अपनी शक्ति संगठन करना चाहते थे अतः उन्होंने जसवन्तसिंह के पास सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा। जसवन्तसिंह और शाहजादा इस समाचार से बहुत प्रसन्न हुए। बादशाह को सधि की सिफारिश कर दी। बादशाह मान गया और जसवन्तसिंह के प्रयत्नों से थोड़े समय के लिये मुगल मराठों में सन्धि बनी रही। बादशाह ने शिवाजी को राजा की उपाधि दी। शम्भाजी (शिवाजी का पुत्र) मुगल शाहजादे के पास औरंगाबाद गया जहाँ उसे पाँच हजारी मनसब, एक हाथी, रत्न जड़ित तलवार दी गई। जसवन्तसिंह के इस कार्य से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे धिराद और राधणपुर के परगने और दिये।

10. अन्तिम दिन—राजा जसवन्तसिंह 35 वर्ष से मुगल दरबार की सेवा कर रहे थे। इस बीच तीन बार वे काबुल और सीमा प्रान्त के विद्रोहों का दमन कर चुके थे। पेशावर में पठानों ने उपद्रव मचाकर मुगल अफसर शुजात खाँ को मार डाला। औरंगजेब ने राजा जसवन्तसिंह को 1673 ई० में काबुल जाने का आदेश दिया। राजा गुजरात, मारवाड़ होता हुआ पेशावर पहुँचा और पठानों पर कई भीषण आक्रमण किये। अन्ततः पठानों ने इस अनुभवी राजपूत का लोहा मान लिया। अपने जीवन के अन्तिम पाँच साल जमरूद में सीमा पर रहकर बिताये और स्वास्थ्य खराब रहने से 28 नवम्बर, 1678 ई० को राजा जसवन्तसिंह अपने पीछे दो गर्भवती विधवा रानियाँ छोड़कर परलोक सिधार गये। उनके साथ-साथ जोधपुर और मुगलों की मित्रता के सम्बन्ध भी समाप्त हो गये।

11. व्यक्तित्व—मआसिर-उल-उमरा के लेखक ने कहा है कि–"अपनी सम्पत्ति और अनुयायियों की संख्या के कारण वह भारत के राजाओं में सिरोमणि था।"[1] राजा जसवन्तसिंह साहसी थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक युद्ध लड़े किन्तु धरमत को छोड़कर और किसी में नहीं हारे। शाहजहाँ के समय उसने बीस वर्ष तक घूम-घूम कर विद्रोहों का दमन किया। शाहजहाँ ने आगरा का सूबेदार तक बनाया था। इससे उसका विश्वास तथा स्नेह साफ दिखता है।

जसवन्तसिंह की अधीनता में मारवाड़ का राज्य विस्तार सबसे अधिक था और किसी हिन्दू राजा का राज्य इतना बड़ा नहीं था। जोधपुर, सोजत मेड़ता, सिवाना, जैतारण, पोकरण, फलौदी, जालौर और भीनमाल तो उसके राज्य के अंग थे ही। इनके अतिरिक्त उसके पास 22 अन्य परगने भी थे जिनमें बदनौर, केकड़ी, नारनौल, रोहतक आदि उल्लेखनीय है। उसकी अधीनता में जोधपुर भारत का एक महत्त्वपूर्ण राज्य था। शाहजहाँ के समय तो वह अकेला और औरंगजेब के समय में जसवन्तसिंह और आमेर का राजा जयसिंह सिर्फ ये ही दो हिन्दू राजा दरबार में सबसे बड़ी मनसब और जात सम्मान पाते थे। जसवन्त के पास सात हजारी मनसब थी। ख्यातों से ज्ञात होता है कि जसवन्तसिंह और आमेर का राजा जयसिंह सिर्फ ये ही दो हिन्दू राजा दरबार में सबसे बड़ी मनसब और जात सम्मान पाते थे। जसवन्तसिंह के पास सात हजारी मनसब थी। ख्यातों से ज्ञात होता है कि जसवन्त सिंह एक योग्य सेनापति, और कुशल व्यवस्थापक था। अपनी रियासत से दूर रहने पर भी वह कुशल व अनुभवी प्रशासकों को रखकर राज्य में सुव्यवस्था बनाये रखता था।

राजा विद्या और कला का भी प्रेमी था। वह स्वयं अच्छा कवि था तथा जीवन और मानव चरित्र को भली प्रकार समझता था। राजस्थान के अबुल फजल-नैणसी को उसी ने खोजा और सँवारा था। वह विद्वानों का आदर करता और उन्हें सहायता व सरक्षण देता था। उसने खुद ने दो नाटक लिखे थे—'प्रबोध चन्द्रोदय' और 'सिद्धान्त सार'। उसके समय के रचित ग्रन्थों में 'भाषा भूषण' सबसे अच्छा है। सरत मिश्र, नरहरिदास, बनारसीदास, और नवीन कवि आदि उसके समय के विद्वान थे। जोधपुर की ख्यातों का प्रसिद्ध लेखक मुहिणोत नेणसी उसका ही मंत्री था। ओझाजी का कहना है कि "उसकी ख्यात तथा 'जोधपुर रा परगणा री ख्यात', राजस्थान के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अध्ययन के अनुपम ग्रन्थ हैं।"[2]

वह हिन्दू धर्म का रक्षक था। औरंगजेब जैसा कट्टर मुसलमान उसके रहते भारत के हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं कर सका। जब वह दूर सीमा पर था तब बादशाह ने थोड़ा बहुत दमन कर लिया। वह अपने पीछे ऐसे देश भक्तों का समूह

1. आलमगीर नामा, पृष्ठ 32
2. ओझा—जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग-1 पृष्ठ 472

छोड़ गया जिसने मुगल बादशाह को नाकों चने चबा दिये पर मारवाड़ को पराधीन नहीं होने दिया। डा० गोपीनाथ के शब्दों में—"मारवाड़ राज्य का वह अन्तिम शासक था जिसने अपने बल और प्रभाव से अपने राज्य का सम्मान बनाये रखा। मुगल दरबार का सदस्य होते हुए भी उसने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय दे राठौड़ वंश के गौरव और पद की प्रतिष्ठा बनाये रखी।"[1] "जब तक वह जीवित रहा औरंगजेब भी अपने कई सपनों को चरितार्थ नहीं कर सका।

□

1. डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 448

18

दुर्गादास

जसवन्तसिंह की मृत्यु के साथ मारवाड़ की स्वतन्त्रता को विपदा के काले बादलों ने घेर लिया। उनकी मृत्यु के साथ जोधपुर राज्य की स्वतन्त्रता का संग्राम शुरू हुआ जो औरंगजेब की मृत्यु के बाद तक चलता रहा। महाराजा जसवन्तसिंह का देहान्त 28 नवम्बर, 1678 को जमरूद नामक स्थान पर हुआ था। वे अपने पीछे जमरूद में ही दो विधवा गर्भवती रानियाँ छोड़ गये थे। जिन्हें सरदारों ने महाराजा का उत्तराधिकारी पाने की इच्छा से सती नहीं होने दिया। सरदारों ने जसवन्तसिंह की मृत्यु का समाचार औरंगजेब को भेज दिया और यह माँग की कि बालिग होने तक उन्हें सोजत व जैतारण की जागीर दे दी जाय। औरंगजेब को यह समाचार दिसम्बर में प्राप्त हुआ। वह ऐसे अवसर की ताक में था। उसने महाराज के होने वाले उत्तराधिकारी को मुसलमान बनाने का फैसला किया। जमरूद से लौटते समय लाहौर में दोनों विधवा रानियों ने 19 फरवरी, 1679 को 2 पुत्रों को जन्म दिया। एक अजीतसिंह और दूसरा दलथम्बन था। इनके जन्म से राठौड़ों में नई शक्ति व साहस का संचार हुआ। उससे औरंगजेब को बड़ा धक्का लगा। उसने इन राजकुमारों को मार डालने व जोधपुर को नष्ट करने की योजना बनाई जिन्हें दुर्गादास ने अपनी बुद्धि व साहस से असफल कर दिया। दुर्गादास की स्वामीभक्ति व देश प्रेम का अवलोकन हम निम्न बातों से कर सकते हैं:—

1. औरंगजेब की राक्षसी चेष्टा—इतिहासकार टाड औरंगजेब की जोधपुर के प्रति नीति को राक्षसी चेष्टा कहकर पुकारते है। बादशाह ने राठौड़ सरदारों को लाहौर से दिल्ली बुलाया और यह आश्वासन दिया कि महाराज जसवन्तसिंह के उत्तराधिकारी को सोजत व जैतारण की जागीर दे दी जायेगी और वयस्क होने पर राज्य भी दे दिया जायेगा। महाराज की मृत्यु का समाचार जब जोधपुर पहुँचा तो हाड़ा रानी की अधीनता में लगभग 20 हजार राठौड़ देश की रक्षा के लिए एकत्रित हो गये। औरंगजेब ने शाही फरमान द्वारा इन सरदारों को प्रलोभन देकर वापस अपनी-अपनी जागीरों में भेज दिया और राजपूतों का संगठन एक बार भंग हो गया।

जोधपुर के प्रति उसका दूसरा कदम अजीतसिंह को दिल्ली में रोक लेना था। उसने राठौड़ सरदारों को दिल्ली में रोक लिया और आदेश दिया कि वे जसवन्तसिंह के शिशु अजीतसिंह को उसके हवाले कर दें। औरंगजेब ने सरदारों

को बड़ी-बड़ी जागीरों का लालच देकर अपनी तरफ मिला लिया किन्तु बचे हु सरदार अजीतसिंह को देने को तैयार नहीं हुए। टाड महोदय का कथन है औरंगजेब ने सरदारों से साफ-साफ कहा कि—"यदि तुम शिशु राजकुमार को मु दे दोगे तो मैं सम्पूर्ण मारवाड़ राज्य को तुम सबको बांट दूंगा।" वह उसकी दूस भयानक चाल थी। कुछ राजपूत बहकाये में आ गये किन्तु दुर्गादास अडिग रहा।

औरंगजेब की तीसरी चाल इन्द्रसिंह को मारवाड़ का राजा बनाने थी। इन्द्रसिंह और उसके तीन पीढ़ी के वंशज मुगल दरबार में सामन्त थे। अत अपने विश्वासपात्र व्यक्ति को जोधपुर का राजा बनाना उचित समझ कर औरंगजे ने इन्द्रसिंह को दक्षिण से वापस बुला लिया। औरंगजेब यह मानता था कि पुरा अधीन राजा की मृत्यु के बाद नया अधीन राजा वही बनता है जिसे बादशा चाहता है। अतः औरंगजेब इन्द्रसिंह को जोधपुर का राजा बनाकर जसवन्तसिंह वंश को समाप्त कर देना चाहता था।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि—"औरंगजेब टीके के दस्तूर को अपन विशेष अधिकार मानकर यह ताने-बाने बुनने लगा कि इन्द्रसिंह को मारवाड़ क अधिकारी बना दिया जाये और जोधपुर पर तब तक शाही अधिकारियों को प्रबन्ध के लिए भेज दिया जाये।" इस तरह वह जोधपुर को अपने अधीन करना चाहता था। औरंगजेब की इस घातक नीति का वर्णन करते हुए सर यदुनाथ सरकार अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' में औरंगजेब की नीति के तीन मुख्य आधार बताते है :—

(1) जोधपुर उत्तरी भारत में एक विशाल स्तम्भ था। औरंगजेब को यह आशा थी कि अजीतसिंह हिन्दू धर्म का रक्षक बनेगा। अतः मन्दिरों का विध्वंस और जजिया कर लेने के लिए वह जोधपुर के हिन्दू राज्य को समाप्त कर देना चाहता था।

(2) औरंगजेब महाराजा जसवन्तसिंह से उसके विरोधी कार्यों का बदला लेना चाहता था। धर्मत के युद्ध में जसवन्तसिंह औरंगजेब से लड़ा था। इलाहाबाद में भी उसने विद्रोह किया था और अजमेर के पास दौराही के मैदान में भी दोनों में संघर्ष हुआ था। अतः अपने इस विद्रोही राजा को और उसके वंश को यह समाप्त कर देना चाहता था। उसकी हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाने की नीति थी। वह चाहता था कि जोधपुर मुसलमानों की अधीनता में डूब जाये या मुगल राज्य का एक प्रान्त बनकर रह जाये।

अपनी इस दमनकारी नीति के कारण औरंगजेब जोधपुर को स्वतन्त्र नहीं देख सकता था। दूसरी तरफ दुर्गादास की अधीनता में राठौड़ अपनी स्वतन्त्रता रखना चाहते थे। इन परिस्थितियों ने दुर्गादास को जन्म दिया और वह साधारण सेवक से सेनानायक व देश भक्त बन गया। औरंगजेब की कुटिल नीति दुर्गादास के व्यक्तित्व के विकास का कारण बन गई।

2. प्रारम्भिक जीवन—दुर्गादास का जन्म 1638 ई० में हुआ था। उसके पिता आसकरण महाराजा जसवन्तसिंह के मन्त्री थे। पारिवारिक झगड़ो के कारण आसकरण ने अपनी पत्नी व दुर्गादास को छोड़ दिया था और जिस प्रकार शिवाजी को जीजा बाई ने योग्य बनाया उसी प्रकार दुर्गादास को भी उनकी माँ ने योग्य बनाया। दुर्गादास और उसकी माँ लुड़ादे गाँव मे रहते थे। वह बचपन से देश भक्त था और उपने राजा का अपमान नही सह सकता था। एक दिन जब वह खेती की रखवाली कर रहा था तब एक सरकारी नौकर ने उसके खेतों मे ऊँट चरने छोड़ दिये। दुर्गादास ने ऊँटो को बाहर निकाला तो उस सैनिक ने उन्हें भला बुरा कहा और राजा जसवन्तसिंह की मजाक उडाते हुए कहा कि उसका किला तो घोला ढूँढ़ा है जिसके छत तक नही है। देश भक्त दुर्गादास जिसने अपने स्वामी को देखा तक नहीं था, इस अपमान को नही सह सका। उसने उस सरकारी नौकर को मार डाला। जब यह समाचार यशवन्तसिंह के पास पहुँचा तो उसने प्रसन्न होकर दुर्गादास को अपनी सेवा मे रख लिया और यह घोषणा की कि भविष्य मे दुर्गादास मारवाड़ राज्य का उद्धार करेगा। इस कथा का वर्णन श्री ओझाजी ने अपनी पुस्तक 'मारवाड़ का इतिहास' के दूसरे भाग मे किया है और श्री यदुनाथ सरकार ने भी इसे दोहराया है। दुर्गादास की योग्यता का पता बचपन में ही लग गया था। उसी ने मारवाड़ राज्य को मुगल राज्य मे मिलाये जाने से बचाया था। राजा जसवन्तसिंह के उत्तराधिकारी को मुगल कैद से निकाल लाया और अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बिठा कर अपना कर्त्तव्य पूरा किया।

3. अजीत की रक्षा—औरंगजेब ने लाहौर मे राठौड़ सरदारो को दिल्ली आने का आदेश दिया और दूसरी तरफ जोधपुर पर अपना अधिकार कर लिया। उसने खानेजहाँ बहादुर को विशाल सेना के साथ जोधपुर भेजा और साथ ही वहाँ के किलेदार भोजदार व अन्य अफसरों की नियुक्ति की। खानेजहाँ बहादुर ने जोधपुर पर अधिकार जमाया और आस-पास के मन्दिरो को तोड़कर नष्ट कर दिया। सारी मूर्तियों को गाड़ी में भर कर दिल्ली ले गया और जामा-मस्जिद से लाल-किले के बीच में पैरों से रोन्दने के लिए बिछा दी। दुर्गादास को इस बात का पता चल गया था किन्तु उसने जोधपुर के राठौड़ सरदारो को शान्त रहने का सन्देश भेजा। विद्रोह करने पर अजीतसिंह के मारे जाने का डर था। औरंगजेब ने कई राजपूत सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें दे दी, जैसे देवगढ़, चौगीगढ़ और माऊ उन राठौड़ सरदारो को दिया गया, जिन्होंने मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया। दिल्ली आने के बाद अजीतसिंह औरंगजेब की निगरानी में था और राजपूत उसे दिल्ली से जोधपुर ले जाना चाहते थे। औरंगजेब ने राजपूतो की यह प्रार्थना ठुकरा दी और मुसलमानी ढंग से उसका लालन-पालन शुरू किया।

4. राठौड़ों का अन्तिम निर्णय—औरंगजेब ने राठौड़ों को जोधपुर की हवेली खाली करने को बाध्य कर दिया। वे लोग किशनगढ़ की हवेली में रहने

लगे । तत्पश्चात् औरंगजेब ने जोधपुर का सभी हिसाब-किताब बताने के लिये दबा डाले किन्तु केशरीसिंह ने जब हिसाब देने को इन्कार कर दिया तो उसे जेल डाल दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि औरंगजेब अजीतसिंह को भी किसी वि खत्म कर देगा । सम्राट् की नीयत में खोट देखकर राठौड़ सरदारो ने अपने प्राण की आहुति देकर अजीतसिंह की रक्षा का बीड़ा उठाया। उन्होंने इस गुप्त रीति कार्य किया कि बादशाह को कोई शक न हो जाये। यह सोचकर कि सरदारों के व रहने से बादशाह को शक होगा सभी सरदार एक-एक करके दिल्ली से जोधपु लौट गये। केवल दुर्गादास और उसके चुने हुए साथी अजीतसिंह के पास रहे औरंगजेब को इससे बड़ी तसल्ली हुई। राठौड़ सरदार दिल्ली के आस-पास अपन शक्ति का संगठन करते रहे ताकि जब दुर्गादास अजीतसिंह को लेकर जायें तब पीछ करने वाली मुगल सेना को जगह-जगह रोका जा सके यह सारी योजना दुर्गादा की थी। ओझाजी और रेऊ अजीतसिंह की मुक्ति की योजना का श्रेय दुर्गादास क ही देते है। डॉ० गोपीनाथ शर्मा का इसी सन्दर्भ में कथन है कि—"इस सार योजना के पीछे दुर्गादास का मस्तिष्क था जिसने औरंगजेब की धूर्तता का उचि रूपेण प्रति उत्तर देने की योजना ढूंढ़ निकाली।"

5. अजीतसिंह मारवाड़ में—जब राठौड़ सरदारो ने औरंगजेब से विदा ले ली तो औरंगजेब ने फौलाद खां नामक कोतवाल को हुक्म दिया कि ब 15 जुलाई, 1679 को किशनगढ़ की हवेली से हटाकर नूरगढ़ पहुँचा दे और यदि आनाकानी करे तो उन्हे उचित दण्ड दे। जिस समय फौलाद खां अजीतसिंह औ रानियों को नूरगढ़ ले जा रहा था तब रघुनाथ भाटी सौ सरदारो के साथ फौला खां पर टूट पड़ा 60 साथी भी मारे गये और वह भी काम आया, राजपूत सरदा अजीतसिंह को पहले ही लेकर निकल गये थे। दुर्गादास ने सफलतापूर्वक यह काम किया और संध्या पड़ते तक दिल्ली की सीमाओ से बाहर निकल गया। 23 जुला को अजीतसिंह व दुर्गादास मारवाड़ जा पहुँचे।

राजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' मे कहते है कि—"स्वामीभक्त राठौडो ने इतिहास प्रसिद्ध वीरवर राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व मे अपने शिशु स्वामी को औरगजेब के पजे से बचाने का दृढ निश्चय किया। उनको घेरने वाली शाही सेना को तलवारो के बल से चीरकर औरगजेब के सारे इरादों को विफल बनाते हुए वे शिशु अजीत व उसकी माता को साथ लिये हुए दिल्ली से मारवाड की तरफ चल पड़े। यों 15 जुलाई, 1679 को दिल्ली मे ही राजपूतों के विद्रोह का प्रारम्भ हुआ जो अगले 30 वर्षो तक चलता रहा।"

अजीतसिंह को दिल्ली से मारवाड़ पहुँचने के विषय मे कई मत हैं। ऐसा कहा जाता है कि फौलाद खां के पहुँचने से पहले ही राठौड़ महल से रात्रि मे निकल चुके थे और अपनी जगह पर दासियाँ और छोटे-छोटे बच्चे छोड गये थे। कुछ लोगों का कथन है कि दोनों राजकुमारों को पिटारियों में रखकर निकाला गया।

टॉड महोदय का कहना है कि मिठाई के टोकरे मे रखकर राजकुमारों को ले गये। सर यदुनाथ सरकार का कथन है कि दुर्गादास लड़ाई के बीच में से वीरतापूर्वक अजीतसिंह को निकाल कर चल दिया। श्री रेऊ 'मारवाड़ राज्य का इतिहास' में यह मानते हैं कि राठौड़ों ने अजीतसिंह को सरदार मोकमसिंह की स्त्री बागीली के साथ सकुशल दिल्ली से निकाल दिया था। मुसलमान इतिहासकार लिखते हैं कि रानियाँ मर्दाना लिबास पहनकर किले से बाहर निकल गयी थी। जोधपुर राज्य की ख्यात में यह लिखा है कि जब शाही सेना अजीतसिंह को दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये पहुँची तो राजपूत उस पर टूट पड़े और युद्ध के बीच दुर्गादास उन्हें लेकर निकल पड़ा। कुछ मुसलमान इतिहासकार रानियों के मारे जाने का वर्णन भी करते है। इन सब मतों का सार निकाला जाय तो यही कहा जा सकता है कि दुर्गादास ने बुद्धि के प्रयोग से अजीतसिंह को मुगलों के चंगुल से निकाल लिया था और उसकी माता सहित सुरक्षित मारवाड़ पहुँचा दिया था। दुर्गादास ने सारे रास्ते की सुरक्षा पहले ही कर ली थी किन्तु जब मारवाड़ पहुँचा तब उसने हर थाने पर मुगल सेना देखकर मेवाड़ के महाराजा राजसिंह से प्रार्थना की कि वे अजीतसिंह को अपने राज्य में रहने दें। महाराजा को 12 गाँवों की जागीर दे दी व उसकी रक्षा का आश्वासन भी दे दिया। इस प्रकार दुर्गादास दिल्ली से मारवाड़ तक निरन्तर संघर्ष करने के बाद अजीतसिंह को मारवाड़ पहुँचाने में सफल हुआ।

औरंगजेब को जब यह सूचना मिली तो उसने एक ग्वाले के लड़के को अजीतसिंह की जगह एक नकली राजकुमार घोषित कर दिया। गुस्से मे उसने इन्द्रजीत को भी गद्दी से हटा दिया। और जोधपुर के फौजदार को भी किले से निकाल दिया क्योंकि ये दोनों मिलकर भी दुर्गादास को जोधपुर में घुसने से नही रोक सके।

6. मेवाड़ मारवाड़ संघ—औरंगजेब ने मारवाड़ पर भयानक आक्रमण किया और अपने बड़े लड़के अकबर को विशाल सेना देकर विद्रोहियों के दमन के लिये भेज दिया। राठौड़ सरदार हर स्थान पर मुगलों का विरोध कर रहे थे। वे छापामार युद्ध कर रहे थे। रसद को लूटना, मुगल यातायात को हानि पहुँचाना राठौड़ों का दैनिक कार्यक्रम बन गया था। वे जालोर, शिवाना, गोडवाना, नागौर, डीडवाना और सांभर आदि स्थानो को लूटते व जंगलो मे छिप जाते। ऐसा लगता [illegible] आतंक फैला रही है।

[illegible] या 16 जुलाई, 1680 ई० को सोजत में आकर रहने लगा और मारवाड़ पर आक्रमण कर राजपूतों का दमन करने लगा। दुर्गादास ने यह अनुभव किया कि वह अकेला मुगल सेना से नही लड़ सकेगा। अतः उसने उदयपुर के राणा राजसिंह के साथ मित्रता करने की चेष्टा की किन्तु इसी वर्ष राजसिंह का देहान्त हो गया। और राजा जयसिंह से सन्धि की

वार्ता चलती रही। आखिरकार 14 जून, 1681 ई० को दुर्गादास मेवाड़ के साथ सन्धि करने में सफल हुआ। मारवाड़ और मेवाड़ दोनों ने मिलकर शहजादा अकबर को परेशान करना शुरू किया। इस सन्धि के परिणामस्वरूप शहजादे अकबर के होसले पस्त हो गये। और वह दुर्गादास की चाल मे आ गया अकबर को जब एक वर्ष तक कोई सफलता नहीं मिली तो उसने विद्रोहियों के साथ मित्रता कर ली और 1 जनवरी, 1681 ई० में अकबर को नाडोल में भारत का बादशाह घोषित किया गया। कुछ समय के लिये मारवाड़ में संघर्ष बन्द हो गया। अकबर, दुर्गादास और मेवाड़ की सेना औरंगजेब का मुकाबला करने के लिये अजमेर की तरफ चल पड़ी। इस प्रकार दुर्गादास ने कूटनीति से काम लेकर मेवाड़ मारवाड़ और अकबर के बीच चल रहे संघर्ष को समाप्त कर दिया।

7. औरंगजेब का प्रयत्न—औरंगजेब ने, जब यह सुना कि शाहजादा अकबर विद्रोही हो गया है और उससे युद्ध करने आ रहा है तब उसने चारों तरफ से सेना बटोर कर अजमेर के पास दौराई के गाव में अकबर और राजपूतों का सामना किया। अकबर का मुख्य सेनापति तेहवर खाँ धोखे से बादशाह के पास बुलाकर मार डाला गया। उसे यह धमकी दी गई कि यदि वह बादशाह के पास फौरन नहीं आ जायेगा तो उसके छोटे-छोटे बच्चो की खाल में भूसा भर कर उसके पास भेज दिया जायेगा और उसकी स्त्री को वैश्या बना दिया जायेगा। जब यह समाचार तेहवर खाँ के पास पहुँचा तो वह शीघ्र ही बादशाह के पास चला गया और वहाँ उसे कत्ल कर दिया गया अब औरंगजेब ने अकबर को एक पत्र लिखा और दुर्गादास को फांस लेने की बधाई दी। और कहा गया कि इसी प्रकार उसे सुबह तक रोके रखे। और अपनी व बादशाह की सेना के बीच रखे ताकि पिता पुत्र दोनों मिलकर राजपूतों का सफाया कर दें। यह पत्र औरंगजेब ने दुर्गादास के पास पहुँचा दिया। दुर्गादास इस पत्र से घबरा गया और राजपूतों सहित पीछे हट गया। अकेला अकबर औरंगजेब का मुकाबला न कर सका और जंगलो मे भाग गया। दुर्गादास ने उसे ढूंढ़ा और मराठों के सुरक्षित राष्ट्र महाराष्ट्र में पहुँचा दिया और इस प्रकार औरंगजेब नें दुर्गादास के इस प्रयास को भी विफल कर दिया।

8. मारवाड़-मुगल संघर्ष—दुर्गादास अकबर को लेकर मराठा दरबार में पहुँचा तो औरंगजेब ने अपनी शक्ति मराठों के खिलाफ लगा दी। इस चाल से मारवाड़ विध्वस से बच गया। और दुर्गादास चुपचाप मारवाड़ मे आ गया। सरदारों की यह इच्छा हुई कि वे बालक महाराज के प्रगट होने की घोषणा कर दें और 23 मार्च, 1687 को पाराड़ी गांव में महाराज का विधिवत सम्मान हुआ और सभी सरदारों ने उन्हे नजराना भेंट किया। सारी जागीरों में घुमा घुमाकर अजीतसिंह को राजा घोषित किया गया और मारवाड़ का नया संगठित रूप तैयार किया गया। दुर्गादास और अजीतसिंह के बीच मन मुटाव होते चले गये और युद्ध की नीति के मामलों को लेकर राजा अजीतसिंह व सेनापति दुर्गादास में बड़ा

मतभेद हो गया। अजीतसिंह खुले मैदान मे युद्ध करना चाहता था जबकि दुर्गादास छापामार युद्ध में विश्वास रखता था। क्योंकि मारवाड़ सैनिक दृष्टिकोण से इतना सबल नही था औरंगजेब इन दिनों राजपूतों के सर्वनाश मे लगा हुआ था। उसकी शक्ति भी विशाल थी। दुर्गादास ने यहाँ फिर नीति से काम लिया और औरंगजेब के आक्रमणों को कम करने के लिये छोटे शहजादे बुलन्द अख्तर और उसकी पुत्री सफियतुनिया बेगम को वन्दी बना लिया। और यह घोषणा कर दी कि मारवाड़ पर आक्रमण कम नही हुआ तो इन शाही बच्चो की जिन्दगी खतरे मे है। औरंगजेब को लाचार होकर दुर्गादास के साथ बातचीत करनी पड़ी। बातचीत के लिये ईश्वरदास व सुजात खाँ भेजे गये। वीर दुर्गादास ने बातचीत करने मे कोई आपत्ति नही समझी और दीर्घकालीन 25 वर्षीय युद्ध जो दिल्ली से दुर्गादास के अजीतसिंह को लाने पर शुरू हुआ था, वह समाप्त हो गया। औरंगजेब ने दुर्गादास को 30 हजार सवार का मन्सबदार बनाया। एक रत्नजड़ित कटार, एक मोतियों की माला और 1 लाख रुपया देकर सम्मानित किया और उसे पाटन का फौजदार नियुक्त कर उसे पाटन भेज दिया। अजीतसिंह को भी मेड़ता की जागीर देकर शान्त कर दिया गया। किन्तु अजीतसिंह जोधपुर पर अधिकार करना चाहता था। अतः दुर्गादास और अजीतसिंह दोनो ही अवसर की बाट देखते रहे। और जब 1707 मे औरंगजेब का देहान्त हुआ तो राठौड़ों ने जोधपुर के किलेदार जफरकुली को निकाल कर जोधपुर पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते है कि जो युद्ध 1669 में शुरू हुआ था वह 1707 में समाप्त हो गया था। औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने मारवाड़ को स्वतन्त्र राज्य मान लिया और अजीतसिंह ने मेवाड़ के राजा से मिलकर अजमेर पर भी अपना अधिकार कर लिया। बादशाह ने अजीत को अपने पिता का मन्सब पुनः प्रदान किया और शाही दरबार मे बुला लिया। इस घटना के साथ मारवाड़ का स्वतन्त्रता संग्राम समाप्त हो गया। दुर्गादास को अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

दुर्गादास का व्यक्तित्व–इतिहासकार वी० एस० भार्गव अपनी पुस्तक 'मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर' में कहते है—"दुर्गादास राठौड़ जिसने अजीतसिंह को नवजीवन देकर मारवाड़ मे राठौड़ों की सत्ता को बनाये रखा वह देश भक्त उज्जैन के पास 1718 ई० मे एक देश से निकाले गये व्यक्ति की हैसियत से मरा।"

यदि दुर्गादास न होता तो मारवाड़ अपनी स्वतन्त्रता खो देता और मुगल राज्य का एक प्रान्त बन जाता। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली व हठी राजा का विरोध कर दुर्गादास ने देश प्रेम व स्वामीभक्ति का ही परिचय नही दिया वरन् अपने अटूट साहस व बुद्धि का परिचय देकर राजपूतो के इतिहास को गौरवान्वित किया। वास्तव में दुर्गादास ने राजकुमारों व उनकी माताओं की रक्षा की। अजीत को दिल्ली से मारवाड़ तक सुरक्षित पहुँचाया। राठौड़ों को संगठित कर छापामार युद्ध के लिये प्रोत्साहित किया। उदयपुर के राजाओ से सन्धि कर राजपूतों की शक्ति के बल दिलाया। शाहजादे अकबर को अपनी तरफ मिलाकर औरंगजेब के षड़यन्त्रों को चुनौती दी। उसी ने अकबर को मराठों के पास लेजाकर औरंगजेब का ध्यान

दूसरी तरफ बँटा दिया जिसके फलस्वरूप राजपूत मारवाड़ की विजय निडर होकर कर सके। उसी ने औरंगजेब के लड़के व पोती को बन्दी बनाकर सन्धि के लिये बाध्य किया और दुर्गादास के प्रयत्नों से ही 1698 ई० में औरंगजेब ने अजीतसिंह को जोधपुर के अतिरिक्त और अधिकांश मारवाड़ की जागीरें प्रदान कर दी। शाही मनसबदार बनाया और तीन परगनों का फौजदार भी नियुक्त किया। औरंगजेब के बराबर बुलाने पर भी अजीतसिंह मुगल दरबार में नहीं गया। अतः अपनी मृत्यु के समय औरंगजेब अजीतसिंह से नाराज़ था किन्तु वह दुर्गादास के रहते अजीतसिंह का कुछ भी बिगाड़ न सका। दुर्गादास 1617 ई० तक मुगल दरबार में एक मनसबदार की हैसियत से रहा किन्तु राजस्थान की ख्यातों में इसके विपरीत वर्णन मिलता है कि दुर्गादास शाही दरबार में कभी नहीं गया और वह साभर जीतने के बाद अजीतसिंह से अनबन हो जाने के कारण देश से निकाल दिया गया।

1702 ई० में अजीत व दुर्गादास के सम्बन्ध बिलकुल खराब हो गये और दुर्गादास को मारवाड़ छोड़ना पड़ा किन्तु यह सत्य है कि दुर्गादास की सहायता के बिना अजीतसिंह औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों से जोधपुर और मारवाड़ राज्य जीत नहीं सकता था। इतिहासकार डॉ० रघुवीरसिंह का कथन है कि—"12 मार्च, 1707 को प्रथम बार अपनी इस वंश परम्परात्मक राजधानी मे अजीतसिंह ने प्रवेश किया और अपने पैतृक किले को गंगा जल व तुलसी से शुद्ध किया। यों 28 वर्ष के अनवरत प्रयत्न के बाद दुर्गादास की जीवन साधना सफल हुई।"

दुर्गादास एक सच्चा मित्र था। उसने अकबर की रक्षा की। वह सच्चा हिन्दू भी था। उसने औरंगजेब के बेटे व पोती को सकुशल उसके पास पहुँचा दिया। जोधपुर में दुर्गादास अजीतसिंह से अधिक प्रसिद्ध था और वह स्वयं समझ गया था कि अब जोधपुर को उसकी आवश्यकता नहीं रह गयी है। जब महाराजा अजीतसिंह ने उसे सरदारों की पंक्ति में खड़ा होने को कहा तो वह वहाँ से चल दिया। महाराज ने उसे बुलाया तक नहीं। ओझाजी ने अपनी पुस्तक 'जोधपुर राज्य के इतिहास' में दुर्गादास की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"अपूर्व वीरता, स्वामीभक्ति, युद्ध कौशल, राजनैतिक योग्यता और स्वार्थ त्याग ने वीर दुर्गादास का नाम राठौड़ वंश के इतिहास में अमर कर दिया।"

सर यदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' में लिखा है कि—"उसे न मुगलों का धन विचलित कर सका न ही मुगल शक्ति उसके दृढ़ हृदय को पीछे हटा सकी। वह एक वीर था जिसमें राजपूती साहस व मुगल मन्त्री सी कूटनीति थी।" उसकी योग्यता से प्रभावित होकर ख्यातों व भाटों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके चले जाने से मारवाड़ की बहुत बदनामी हुई। उदयपुर के राजा अमरसिंह ने उसे विजयपुर की जागीर दे दी और पाँच सौ रुपया दैनिक खर्च का देना निश्चय किया वहीं रहते हुए 22 नवम्बर, 1718 को इस देश भक्त का देहान्त हो गया। □

19

सवाई जयसिंह

डूबते मुगल साम्राज्य का सूर्य अपनी अन्तिम किरणों से देश के राजनीतिक अन्धकार को टालने का असफल प्रयास कर रहा था। औरंगजेब के विरुद्ध प्राप्त सफलताओं में मराठों को उमंगों की आंधी में बिठा देश पर आधीपत्य जमाने का सुखद सपना दिखा दिया था। सैयद बन्धु ढहती हुई मुगल दीवार में छिपा खजाना प्राप्त कर अपना प्रभाव बढ़ाने में लगे थे। कहीं जाटों का विद्रोह तो कहीं सतनामियों की ललकार ने सिक्खों की स्वाधीनता और राजपूतों के अडिग निश्चय ने सारे भारत में हाहाकार और कोलाहल का वातावरण बना दिया था। ऐसे समय कोई योग्य शासक ही अपने राज्य की रक्षा और विस्तार कर सकता था। मुगलों की जीर्ण-शीर्ण अवस्था, दरबारियों की स्वार्थपूर्ण बेवफाई और मराठों की धमाचौकड़ी के बीच अपना अस्तित्व कायम करना अदम्य साहस, दूरदर्शिता और कूटनीति के बिना सम्भव नहीं था। जयसिंह के चरित्र में समयानुकूल सभी गुणों का पूर्ण समावेश था।

महाराजा सवाई जयसिंह की गणना अपने युग के सर्वाधिक प्रभावशाली राजाओं में की जाती है। उसने अराजकता को रोकने का भरसक प्रयत्न किया अपने राज्य को उचित दिशा व गति प्रदान की। उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। "राजपूतों में ऐसा कोई राज्य नहीं था जहाँ के शासक उसकी सहायता अथवा सम्मति के बिना अपना कार्य करते थे।"[1] दूर देशों व राज्यों से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। सतारा, पूना, हैदराबाद, दिल्ली सभी जगह उसका प्रभाव था। वह मालवा, आगरा व अजमेर का सूबेदार भी रहा था। उसके गद्दी पर बैठते समय आमेर का राज्य बहुत छोटा था। उसने अपने राज्य का विस्तार किया। सन् 1727 में जयपुर नगर की स्थापना की तथा अनिश्चितता के युग में अपने राज्य का सांस्कृतिक विकास किया और वेधशालाएँ बनवाई तथा जयपुर को संस्कृत और ज्योतिष का सबसे बड़ा केन्द्र बना दिया। दूर देशों से खगोलशास्त्र के ग्रन्थ मंगवाये और नये ग्रन्थों की रचना की। उसके जयपुर को अपने युग का साहित्य, कला व विज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना दिया। आमेर के इस महान् शासक का अध्ययन हम निम्नांकित बातों से कर सकते हैं।

1. डॉ० वीरेन्द्रस्वरूप भटनागर—सवाई जयसिंह, प्राक्कथन.

(1) प्रारम्भिक जीवन---सवाई जयसिंह का जन्म 3 नवम्बर सन् 1688 को आमेर में हुआ था। उसके पिता राजाविशनसिंह का राज्याभिषेक भी इसी वर्ष हुआ था। जयसिंह के जन्म के समय उसके पिता की आयु सिर्फ अठ्ठारह वर्ष की थी। उसकी माँ जोधपुर की राठौड़ राजकुमारी इन्द्रकुंवर थी जो काशीसिंह जोधा की पुत्री थी। बचपन में जयसिंह को महाराजकुमार 'छोटा साहिब जी' 'श्री चिमनाजी' कहा जाता था। सात वर्ष की अवस्था में ही उसे संस्कृत, डिंगल व फारसी का अच्छा ज्ञान करवा दिया गया था। गणित व सैनिक शिक्षा भी पर्याप्त मात्रा में दी गयी। इतनी छोटी उम्र में इतनी योग्यता का प्रमाण दे जयसिंह ने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया। दस से चौदह वर्ष के बीच उसे प्रशासनिक अनुभव परम्परागत प्राप्त हो गये थे। अध्ययन के बीच ही जयसिंह को आठ वर्ष की अवस्था में बादशाह औरंगजेब के पास दक्षिण में जाना पड़ा। उसके पिता विशनसिंह अपनी प्रारम्भिक सफलताओं तथा पुत्र के जन्म के साथ विला[illegible] हो गये जिससे औरंगजेब कुछ नाराज हुआ और उनका मनसब कुछ कम कर दिय[illegible] इस पर विशनसिंह ने पुन. तत्परता दिखाई, अगले पाँच वर्षों में जाटों से हिन्डो[illegible] बयाना और नगाडा जैसे स्थान छीन लिये। इन विजयों से औरंगजेब प्रसन्न हु[illegible] और विशनसिंह की मनसब वापस ठीक कर दी। बादशाह के व्यवहार से विशनसि[illegible] शाही दरबार में नहीं जाना चाहता था अतः उसने औरंगजेब की छोटी पुत्री जीन[illegible] उन-निसा के मार्फत अपनी जगह जयसिंह को औरंगजेब के पास भेज दिया जयसिंह अप्रेल 1696 में बादशाह के सामने प्रस्तुत हुए। उसकी बातचीत [illegible] प्रभावित होकर बादशाह ने उसे 'सवाई जयसिंह' कहा था। घटना इस प्रकार लोक[illegible] प्रिय है कि जयसिंह बादशाह के सामने आया तो सिर्फ आठ साल का छोटा [illegible] लड़का था। बादशाह ने उसके दोनों हाथ पकड़ कर पूछा—"अब तू क्या क[illegible] सकता है?" जयसिंह ने उत्तर दिया "जब पुरुष स्त्री का हाथ थामता है तो उ[illegible] उमर भर निभाता है। आपने तो मेरे दोनों हाथ पकड लिये है। इसलिये मैं त[illegible] सबसे बढ़कर हो गया।" बादशाह ने प्रसन्न होकर कहा कि यह बहुत होशिया[illegible] होगा। इसका नाम मिर्जाराजा जयसिंह से बढ़कर सवाई जयसिंह रखना चाहिये। लेकिन यह उपाधी विधिवत रूप से 12 जुलाई, 1713 में दी गयी थी। सन् 169[illegible] के शुरू में सवाई जयसिंह वापस आमेर आ गया। जहाँ उसे अपने वंश का 70[illegible] वर्ष लम्बा इतिहास पढ़ाया गया। उसके पिता जब 28 वर्ष के थे तो 19 दिसम्बर, 1690 में काबुल के पास कोहात में उनका देहान्त हो गया। बारह वर्ष की छोटी सी उम्र में जयसिंह का राज्याभिषेक 25 जनवरी, 1700 ई० में हुआ और अल्पायु में ही उसे अनेक उतार-चढ़ाव देखने पड़े।

(2) जयसिंह और औरंगजेब—गद्दी पर बैठने के तीन महिने बाद जयसिंह

---

1. ईश्वर विलास महाकाव्य—सर्ग 7, श्लोक 47.

को 2000 सवारों के साथ दक्षिण जाने का आदेश मिला। जयसिंह आगरा, ग्वालियर होता हुआ लम्बे रास्ते से दक्षिण के लिये रवाना हुआ। रास्ते में शोपुर के राजा उत्तमराम की भतीजी से उसका विवाह हुआ। जयसिंह के पिता को जो जागीरें बादशाह ने दी थी वह अधिक आमदनी वाली नहीं थी और उसके राज्यारोहण व विवाह में उसका खजाना खाली हो गया था अतः वह स्वतंत्र रूप से उत्तर-भारत के किसी सूबे में रहना चाहता था या फिर किसी शाहजादे के अधीन काम करना चाहता था। उसके वकील ने जयसिंह की यह इच्छा औरंगजेब तक पहुँचा दी थी। वर्षा ने भी उसका मार्ग रोका और वह 6 महिने में बादशाह के पास पहुँचा। बादशाह ने उसे बिदारबख्त के पास नियुक्त कर दिया। शाही सेवा में सबसे पहली सफलता उसने मराठों से कोंकण छीनने में की। उसका पंचरंगा ध्वज किले के बाहरी बुर्ज पर सबसे पहले फहराया गया।[1] बादशाह ने प्रसन्न होकर उसकी जात 500 से बढ़ा दी। जयसिंह इस समय सिर्फ 14 वर्ष का था बादशाह ने बीदारबख्त के साथ उसे मालवा में शान्ति स्थापित करने व मराठों के आक्रमणों को रोकने के लिये भेज दिया जहाँ 1704 में बीदारबख्त बीमार पड़ गया। उसने जयसिंह को अपना नायब नियुक्त किया और एक उजड़े बिगड़े प्रान्त में जयसिंह को प्रशासन का अनुभव प्राप्त हुआ। लगभग तीन वर्ष तक जयसिंह मालवे का नायब रहा। वह मालवे का सूबेदार बनने के लिये 50,000 रु. तक देने को तैयार था मगर औरंगजेब के जीवनकाल में वह नायब ही रहा। 20 फरवरी, 1707 को औरंगजेब का देहान्त हो गया जिसकी सूचना जयसिंह को उसके वकील जगजीवनदास ने तत्काल भेज दी। औरंगजेब के साथ ही एक असफल युग का अन्त हुआ। उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीतियों व दृष्टिकोण का बिना किसी दु:ख के परित्याग कर दिया। वह अपने पीछे टूटता हुआ साम्राज्य, भ्रष्ट शासन, हताश सेना और बदनाम सरकार छोड़ गया।[2] औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार युद्ध होना स्पष्ट था। जयसिंह के सामने तीन विकल्प थे—(1) मालवे में रहकर आजमशाह का साथ दे। (2) आमेर चला जाय और जो भी जीते उसके सामने उपस्थित हो अपनी सेवाएँ समर्पित करे। (3) या आगे बढ़कर मुअज्जम से जा मिले। जयसिंह ने पहला विकल्प चुना और मालवे में रहकर आजमशाह का साथ दिया।

(4) उत्तराधिकार युग में—आजमशाह को अपने ईरानी व तुरकी अफसरों पर भरोसा नहीं था अतः उसने राजपूतों का विश्वास जीतने के लिये सवाई जयसिंह को मिर्जा राजा व महाराजा की उपाधियाँ दी व उसका मनसब सात हजारी सवार व जात का कर दिया। उसने जोधपुर के दुर्गादास को भी निमंत्रित

1. सवाई जयसिंह—वीरेन्द्रस्वरूप भटनागर, पृष्ठ 15.

2. सवाई जयसिंह—वीरेन्द्रस्वरूप भटनागर—पृष्ठ 18.

किया व अजीतसिंह को भी महाराजा की उपाधि व सात हजारा मनसब दिया। इसी बीच ईरानी सेनापती वजीर असद खां दक्षिण मे अमन बनाये रखने का बहाना कर बुरहानपुर से वापस लौट गये। उधर मुअज्जम बिना समय गंवाये काबुल से लौटा और आजमशाह के आने से पहले आगरा जीत लिया। उसने भी अपना राज्याभिषेक लाहौर के पास कर बहादुरशाह की उपाधी धारण की। वह जब 2 जून, 1707 को 715 मील का फासला तय कर आगरे पहुँचा तो उसकी उम्र चौंसठ वर्ष की थी। वह अक्सर अपने पिता के विरुद्ध षड़यंत्र किया करता था और सात साल नजरबन्द रहा था।[1] उसने आजमशाह के पास साम्राज्य विभाजन का प्रस्ताव भेजा जिसे आजम ने ठुकरा दिया। उत्तराधिकार के लिये दोनों शाहजादों में युद्ध 8 जून, 1707 को आगरे से सात-आठ कोस दूर जाजव के स्थान पर हुआ। जयसिंह आजमशाह की तरफ से अगली पंक्ति में बीदारबख्त के दाहिने हाथ पर रहा था। उनसे तीन मील पीछे आजमशाह था। मुअज्जम की छुपी हुई सेना इन पर अचानक आक्रमण कर दिया। युद्ध में कोटा का रामसिंह हाडा व दलपत बुंदेला मारे गये। हाडा सैनिक अपने नेता का शव लेकर मैदान से हट गये। आजम का एक और सेनापति जुलफकार खां मैदान छोड़ ग्वालियर भाग गया। जयसिंह पशोपेश मे था। गर्मी बहुत थी और थोड़ी देर मे भयंकर आंधी आ गयी जो आजमशाह के सामने और मुअज्जम के पीछे से आ रही थी। आजमशाह सभी सैनिकों को मुँह मोड़ कर खड़ा होना पड़ा। ठीक उसी समय दोपहर जयसिंह ने अपने हाथी का मुँह मोड़ा और आंधी के अँधेरे में आजमशाह का पक्ष छोड़ कर मुअज्जम की सेना मे चला गया। जयसिंह की खाली जगह मुअज्जम के सैनिको ने ले ली और इस अंधी लड़ाई मे बीदारबख्त व आजमशाह मारे गये। लगभग चार बजे आजमशाह बीदारबख्त के गोली लग जाने के बाद स्वयं मैदान मे आया और सूर्यास्थ होते-होते उसे भी एक गोली लगी और वह मर गया।[2] इस युद्ध में मुअज्जम के पास 50, पचास हजार की दो सेनाएँ थी और जयसिंह का भाई विजयसिंह काबुल से ही मुअज्जम के साथ था। जयसिंह शुरू से बीदारबख्त के साथ था और अन्तिम समय में मुअज्जम के पक्ष में आ गया था। उसका भविष्य अनिश्चित था। वह सिर्फ 19 वर्ष का था। युद्ध के समय दल बदलने से उसकी प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा था। तत्कालीन इतिहासकारों ने उसके इस कार्य की कटु आलोचना की है।[3] यदि जयसिंह अन्य सेनापतियों की तरह आजमशाह की तरफ से ही लड़ता रहता तो उसका भी वही अन्त होता जो कोटा के रामसिंह हाडा, दलपत बुंदेला और बीदारबख्त व आजमशाह का हुआ था। जयसिंह कायर नही था उसने अपने देश के हितों को ध्यान मे रखते हुए

1. सरकार—औरंगजेब—3 पृष्ठ 47.
2. खफी खाँ—2—पृष्ठ 597.
3. देखें—आजम-उल-हर्ब—168 बी–170 ए

राजपूतों से अपेक्षित वलिदान के आदर्श की अवहेलना की। उसके जीवित बच निकलने से उसे 36 वर्ष की आयु और मिली जिसमे उसने अपने देश के राजनीतिक व सांस्कृतिक मूल्यों में अपना अमूल्य योगदान देकर समय का प्रभावशाली शासक होना प्रमाणित कर दिया।

(5) मुगलों से संघर्ष (1707-से 1712 तक)—मुअज्जम, जिसने बहादुरशाह की उपाधि धारण कर लाहौर में ही अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया था, ने विजय के बाद ही यह घोषणा कर दी कि जिन पदाधिकारियों ने परिस्थितिवश आजम का पक्ष लिया था उन्हें माफ किया जाता है और वे निस्संकोच बहादुरशाह के दरबार में आ जायें। उसने राजपूतों के प्रति कठोर व भिन्न नीति अपनाई। आमेर, दौसा और चाटसू के परगने जिनकी वार्षिक आमदनी तीन करोड़ तीस लाख के लगभग थी बहादुरशाह ने खालसा भूमि में मिलाने का आदेश दिया।[1] शाही जमीन में इस विलय के दो कारण नजर आते है एक तो बहाना मात्र था कि जयसिंह और विजयसिंह में राज्य के लिये आपसी झगड़े थे। जब कि पिछले सात वर्षों में विजयसिंह ने आमेर का राज्य पाने का न तो कोई प्रयास किया और न ही कोई झगड़ा। इसका कारण जो अधिक सही लगता है वह यह है कि मनसबदारों को तनखा के रूप में दी जाने वाली जागीर के लिये केन्द्र के पास भूमि नहीं थी। आमेर ले लेने से पाईयाकी की कमी मिट सकती थी। भाइयों का झगड़ा या आजम का पक्ष लेना तो एक बहाना मात्र था। बादशाह ने जयसिंह को लगरकोट जाने का आदेश दिया और सय्यदहुसेन खाँ को आमेर का कार्य-भार लेने भेज दिया।

(अ) मुगलों का आमेर लेना—जयसिंह ने मेवाड़ के राणा से सहायता माँगी क्योंकि मेवाड़ ही मुगल साम्राज्य से टक्कर लेकर राजपूतों के संघर्ष का नेतृत्व कर सकता था। उसने जोधपुर के राजा अजीतसिंह को ऐसा ही सहायता पाने का पत्र लिखा। उसने उदयपुर से उत्तर आने तक बात को रोकने के लिये बादशाह से अनुरोध किया कि आमेर कुछ समय के लिये खालसा किया भी जा रहा है तो उसे वहाली, दौसा व चाटसू के परगने दे दे।[1] बादशाह ने उसे सिर्फ देवती सचरी व चाटसू देना ही स्वीकार किया। जयसिंह ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता था जिससे मुगल सरकार उस पर विद्रोह का आरोप लगा सके। उसने फिर आमेर का इजारे पर देने की प्रार्थना की लेकिन उसे ठुकरा दिया गया और उसे सुखी अजदासी को इजारे पर दे दिया गया। जयसिंह इससे बहुत निराश हुआ। 2 नवम्बर, 1707 को बादशाह ने आमेर को खालसा घोषित करने का आदेश दिया और जयसिंह ने उसे खाली कर दिया। अजमेर जाते समय बादशाह स्वयं जयपुर के पास रुका और शाही सेना ने 7 जनवरी, 1708 को आमेर पर

---

1. सवाई जयसिंह—वीरेन्द्रस्वरूप भटनागर —पृष्ठ 28.
2. जयसिंह—दीवान रामचन्द्र—22 जुलाई, 1707.

अधिकार कर लिया । इस सात सौ वर्ष पुरानी नगरी का नाम बदल कर मोमिन बाद रखा गया जिससे राजपूतों के मन में मुगल सरकार की नियत के बारे में श पैदा होना स्वाभाविक था ।[1] जयसिंह के पास इस समय सिर्फ दौसा मात्र था फि भी उसने शाही सेना का साथ नहीं छोड़ा ।

(ब) जोधपुर विजय—औरंगजेब की मृत्यु के बाद जोधपुर के अजीतसिं ने भी मेड़ता, सोजत, पाली आदि के क्षेत्र जीतकर शाही सेना को बाहर निकाल दिया था । अतः बादशाह आमेर को खालसा में मिलाने के बाद नागौर तक आय और अपने वजीर के छोटे पुत्र खानजमा को अजीतसिंह को समझाने भेजा । अजीत सिंह मान गया और जयसिंह की तरह शाही सेना में आ मिला । उसे 3500 का मनसब दिया गया । उदयपुर के महाराणा ने अपने पूर्वजों की तरह बादशाह के सामने उपस्थित होना स्वीकार नहीं किया । लेकिन इस समय दक्षिण में उसके सेनापति कामबख्श ने सारा कर्नाटक जीत लिया था और मथुरा में जाटों ने फिर उपद्रव खड़ा कर दिया था अतः बादशाह राजपूतों से उलझना नहीं चाहता था और जल्दी से जल्दी दक्षिण पहुँचना चाहता था । वह शाहपुरा, चित्तौड़ होता हुआ मंदसौर से दक्षिण में निकल गया । मार्ग में जयसिंह और अजीतसिंह को साथ रहने और विचार करने का काफी समय मिला ।

(स) वापस लौटाना—राजपूतों में मुगल सरकार की अस्पष्ट नीति और जोधपुर, जयपुर हड़प लेने की चाल से चिन्ता थी दोनों ही युवक शासक महाराणा से बराबर सम्पर्क रखे हुए थे । ज्योंही शाही सेना ने नर्मदा पार की, कि जयसिंह और अजीतसिंह धीरे-धीरे शाही सेना में पीछे रहते गये और बड़ौद पहुँचते ही तेज गति से वापस लौट गये । अपने लौटने की खबर उन्होंने महाराणा के पास भिजवादी । महाराणा ने 30 अप्रेल, 1708 को गडवा गाँव में उनकी आगवानी की और मेवाड़ के इतिहास में वह गौरवमयक्षण था जब महाराणा के दाएँ महाराजा अजीतसिंह और बाएँ जयसिंह और पीछे दुर्गादास राठौड़ अपने घोड़ों पर सवार होकर सम्मिलित राजपूत सेना के साथ उदयपुर में प्रविष्ठ हुए ।[2] बात यहीं समाप्त नहीं हुई, महाराणा ने अपनी पुत्री चन्द्र कुँवर का विवाह भी जयसिंह से कर दिया । शर्त बस इतनी थी कि मेवाड़ की राजकुमारी पटरानी होगी और उसकी संतान ही आमेर की उत्तराधिकारी होगी । साथ ही यह भी वचन लिया गया कि उसकी पुत्री का विवाह किसी मुसलमान से नहीं किया जायगा । अजीतसिंह का विवाह पहले ही मेवाड की एक राजकुमारी से हो चुका था । इस प्रकार मेवाड़, मारवाड़ और आमेर जैसे राजपूतों के तीन बड़े घराने एकता के सूत्र में बँध गये । यह विवाह 25 मई, 1708 को उदयपुर में सम्पन्न हुआ ।

---

1. सवाई जयसिंह—विरेन्द्रस्वरूप भटनागर—पृष्ठ 34.
2. वीर विनोद—2—पृष्ठ 771.

(द) आमेर लेना—अपने लौट आने के लिये जयसिंह और अजीतसिंह ने बादशाह के पास औपचारिक माफीनामे की अर्जियाँ भेज दी। राजपूतों में फूट डालने के उद्देश्य से राजपूतों के वापस लौटने के चौथे दिन ही बादशाह ने शाही फरमान के द्वारा जयसिंह को उसका राज्य वापस लौटा दिया जो मात्र दिखावा था।[1] जयसिंह स्वतंत्र होना नहीं चाहता था किन्तु मुगल सरकार की मनमानी सहने को भी तैयार नहीं था। पाँच दिन के घेरे के बाद जून में राजपूतों की संयुक्त सेना ने फौजदार मिहराब खाँ को जोधपुर खाली कर अजमेर जाने दिया। अजीतसिंह का विधिवत् राज्याभिषेक कर राजपूतों की सेना ने आमेर लेने का प्रयत्न किया और दूसरे आक्रमण में सैयद हुसेन खाँ को आमेर से बाहर खदेड़ दिया। हुसेन खाँ नारनौल अपने भाई के पास भाग गया। बादशाह को जयसिंह की इस सफलता का समाचार 11 अगस्त को मिला। आमेर ले लेने के बाद जयसिंह ने मराठों से सम्बन्ध सुधारने हेतु शाहू से पत्र-व्यवहार किया व शाहू को लिखा कि बादशाह ने राजपूतों के साथ धोखा किया है, अतः जिस तरह औरंगजेब को दक्षिण में अटकाये रखा था वैसे ही बादशाह को वापस न आने दें।

(क) मुगलों से संघर्ष—राजपूतों के शाही शिविर से भाग जाने के बाद (अप्रेल 1707) बादशाह की तरफ से समझौते के प्रयास किये जा रहे थे जिसमें जयसिंह को 2500 की मनसब, दुर्गादास को 3000 की व अजीतसिंह को 4000 की मनसब के वादे किये गये और दूसरी तरफ सैयद हुसैन अली को मदद भेजी जा रही थी। जयसिंह और हुसैन अली की जोरदार टक्कर सांभर के नजदीक हुई जिसमें राजपूतों की संयुक्त सेना ने हुसैन अली को बुरी तरह हरा दिया। यह युद्ध 16 अक्टूबर, 1708 को हुआ जिसमें मुगलों के तीन हजार सैनिक काम आये। मरने वालों में मथुरा व नारनौल के फौजदार और कई प्रमुख अफसर थे।

जयसिंह ने इस बीच चूड़ामण को सैयद हुसैन अली से अलग कर अपनी तरफ मिला लिया था तथा सांभर, रोहतक, रेवाड़ी व नारनौल को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लिया। उसने छत्रसाल बुंदेला को भी इस संघर्ष में साथ देने के लिये निमंत्रित किया।

इस बीच आमेर के वकील जगजीवन दास पचौली समझौते के लिये बराबर चेष्टा करते रहे। वह जयसिंह के लिये 5000/5000 की मनसब, आमेर का राज्य और मिर्जा राजा का खिताब दिलाना चाहते थे। बादशाह बीस हजार दाम वार्षिक आय और आमेर को छोड़ कर बाकी सब राज्य जयसिंह को देने के लिये तैयार था, साथ ही 3000/3000 की मनसब भी देना चाहता था मगर आमेर नहीं देना चाहता था। जयसिंह 'अविभाजित वतन'[2] चाहता था, अतः यह प्रस्ताव

1. शाही फरमान की नकल—20 अप्रेल, 1708 ज. आ.
2. सवाई जयसिंह—वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर—पृष्ठ 51.

अस्वीकार कर दिया । अजीतसिंह ने 19 फरवरी, 1709 को अजमेर पर आक्रमण कर उसे 14 दिन तक घेरे रखा लेकिन जयसिंह ने उसके इस अभियान में कोई मदद नहीं की जिससे जोधपुर और आमेर के सम्बन्धों में कटुता आई जो काफी समय तक चली । बादशाह को जब यह समाचार मिला तो वह वर्षाकाल औरंगाबाद में बिता राजपूतों से निपटने को उत्तर की ओर चला । इस बीच उसने दक्षिण में कामबक्श को पराजित कर शान्ति स्थापित कर ली थी । वह राजपूतों से भी सन्धि कर आमेर व जोधपुर देने को तैयार था लेकिन जयसिंह या अजीतसिंह दोनों ही झुकने को तैयार नहीं थे ।

महाराणा को खुश रखने के लिये बादशाह चित्तौड़ होकर नहीं लौटा और पुर, माडल, वदनोर व माण्डलगढ़ के परगने महाराणा को लौटा दिये ताकि वह जोधपुर व आमेर से समझौता कराने में सहायता करे । इस बीच जयसिंह ने 24 मार्च, 1709 को टोंक पर अधिकार कर लिया । बादशाह ने छत्रसाल बुंदेला को राजपूतों से समझौता करवाने हेतु नियुक्त किया । छत्रसाल के राजपूतों से निकट संबंध थे । बनास के किनारे 11 जून, 1709 को जयसिंह व अजीतसिंह बादशाह के सामने पेश किये गये और बादशाह ने राजपूतों की प्रत्येक माँग बिना शर्त स्वीकार कर ली । इस प्रकार 1708 से 10 तक का राजपूतों का मुगलों से लड़े गये अर्ध स्वतंत्र राज्यों के संघर्ष में सबसे अधिक सफल रहा । मुगल सरकार को मारवाड़ के विरुद्ध 27 वर्ष पुरानी नीति बदलनी पड़ी । इस युद्ध का स्पष्ट प्रभाव यह पड़ा कि राजपूतों के मन में मुगलों के प्रति जो श्रद्धा व भक्ति थी वह समाप्त हो गयी । इसके बाद ही 10 दिसम्बर को महाराणा अमरसिंह का 38 वर्ष की छोटी अवस्था में देहान्त हो गया जो राजपूतों के लिये एक दुर्भाग्यपूर्ण बात थी । अजीतसिंह और जयसिंह में मतभेद बढ़ते गये और राजपूतों की अल्पकालीन एकता समाप्त हो गयी । फिर भी मेवाड़ के नये महाराणा संग्रामसिंह और जयसिंह के सम्बन्ध अच्छे रहे और दोनों मिल कर मराठों को साथ ले बादशाह को गुजरात व मालवा में परेशान करते रहे ताकि वह जयसिंह पर कोई दबाव न डाल सके । इस बीच बादशाह ने सिक्खों का विद्रोह दबा दिया और पुनः अजमेर की तरफ लौटा । इसी समय विजयसिंह शाही सेना से भागकर टोंक आ गया । उसने आमेर आने की इच्छा व्यक्त की जिसे जयसिंह ने स्वीकार कर उसे खर्च हेतु दस हजार रुपये भी भेजे । जब विजयसिंह साँगानेर पहुँचा तो उसे बन्दी बना लिया गया और आमेर में नजरबन्द रखा गया । बादशाह जयसिंह की उपस्थिति अपने दरबार में चाहता था । उसके आदेशानुसार जयसिंह व अजीतसिंह नारनौल पहुँचे पर कोई ठोस बात नहीं बनी । दिल्ली पहुँच कर दोनों ने बादशाह के शिकारगाह में हिरण मारे व एक कसाई व जजिया वसूल करने वाले अधिकारी की हत्या कर दी । इस पर बादशाह भी नाराज हुआ और समझौते को मध्यस्थता करने वाला अजीमुश्शान भी और उसने जयसिंह के व्यवहार पर दुःख प्रगट करते हुए उन्हें वापस लौट जाने का आदेश दिया । बादशाह ने जयसिंह की नियुक्ति अहमदाबाद में की जिसे जयसिंह

ने अस्वीकार कर दिया और वापस स्वदेश लौट आये। बादशाह ने उसे अहमदाबाद और ढाका और फिर इलाहाबाद की सूबेदारी देने की बात कही जिसे जयसिंह ने नहीं माना। फरवरी 1712 में अजीतसिंह व जयसिंह दोनों विवाह की छुट्टी लेकर लौटे थे। बहादुरशाह का 17 फरवरी, 1712 को लाहौर में देहान्त हो गया। उसके शासनकाल में राजपूतों का संघर्ष सफल रहा।

(6) प्रभाव क्षेत्र का विस्तार—बहादुरशाह की मृत्यु के बाद लाहौर में उत्तराधिकार युद्ध हुआ जिसमें जहाँदारशाह को विजय हुई। उसने हिन्दुओं के प्रति औरंगजेब व बहादुरशाह की दमन व कठोर नीति को त्याग कर उदारता की नीति अपनाई ताकि हिन्दू अफसरों को संतुष्ट किया जा सके तथा पहले जैसी निष्ठा व भक्ति वापस लाई जा सके। उसने अजीतसिंह को महाराजा का पद तथा जयसिंह को मिर्जा राजा का खिताब दिया व 7000/7000 की मनसबें भी दी।[1] बिहार, उड़ीसा और इलाहाबाद के सूबेदारों ने विद्रोह कर दिया था। उन्हें दबाना भी आवश्यक था, अतः बादशाह जहाँदारशाह ने राजपूतों को बड़े-बड़े पद दिये। जयसिंह को मालवे का सूबेदार व अजीतसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया। लेकिन अजीतसिंह को 9000/9000 का मनसब दिया जिससे जयसिंह नाराज हो गया। वह न तो मालवा गया और न ही बादशाह के बुलाने पर भी फर्रुखसियर के विरुद्ध जमुना पर लड़े गये युद्ध में गया। इस युद्ध में जहाँदारशाह को हरा कर सलीमगढ़ के किले में बन्दी बना कर फर्रुखसियर बादशाह बन गया। यह परिवर्तन 31 दिसम्बर, 1712 को हुआ। इस प्रकार पाँच वर्ष के जहाँदारशाह के शासन का अन्त हुआ और फर्रुखसियर बादशाह बना। इस परिवर्तन के साथ केन्द्र में ईरानी पार्टी का दबदबा समाप्त हुआ। सैयद भाई शक्तिशाली हो गये। नई व्यवस्था में अब्दुल्ला खाँ वजीर बना। उसने राजपूतों को प्रसन्न रखना उचित समझा ताकि अन्य मुसलमान सरदार उसके वजीर बनने से असंतुष्ट हों भी तो शक्ति संतुलन बना रहे। नया बादशाह जयसिंह को 5000 की मनसब देना चाहता था और उसके पूर्वजों की तरह उसे अपने दरबार में रखना चाहता था। 7 जुलाई, 1713 को आखिरकार जयसिंह को सवाई की उपाधि, पालकी, खिल्लत आदि देना स्वीकार किया गया।[2] जयसिंह को मालवा की सूबेदारी दी गयी।

अजीतसिंह पुराने बादशाह के आदेशानुसार गुजरात सेना ले जाकर सूबेदार बन गया जिससे उसके सम्बन्ध बादशाह फर्रुखसियर से बिगड़ते गये, फिर भी बादशाह ने झगड़ा बढाना उपयुक्त नहीं समझा और उसे कट्टा की सूबेदारी दी जिसे अजीतसिंह ने लेने से इन्कार कर दिया। बादशाह ने उसे दबाने के लिये सेना भेजी।

1. जगजीवनदास—जयसिंह; 2 अप्रेल, 1712 ज. आ.
2. जगजीवनराम—जयसिंह—12 जुलाई, 1713 ज. आ.

अजीतसिंह अकेला रह गया था । उसने अपनी लड़की शायस्ता खां के साथ बादशाह के साथ शादी हेतु दिल्ली भेज दी और उसे गुजरात की सूबेदारी दे दी गयी। उसका लड़का अभयसिंह शाही दरबार में रखा गया और उसे 3000/2000 का मनसब दी गयी ।

मालवा के सूबेदार के रूप में जयसिंह ने उपद्रव मचाने वाले विभिन्न गिरोहों का दमन किया जिनमे दिलेरखां अफगान, इनायतुल्लाखां, बाबूराम प्रमुख थे । इन गिरोहों के पास 15 से 20 हजार तक सवार थे । उसने अहीरों को भी दबाया और मालवा में शांति स्थापित की ।[16] इसकी सतर्कता से मराठों ने भी नर्वदा पार करने में बड़ी कठिनाई हुई । अच्छी तैयारी के बाद लगभग 30,000 सेना के साथ उज्जैन और महेश्वर के पास लूटमार शुरू की । जयसिंह ने दृढ़ता से उनका सामना किया और 9 मई 1715 को उन्हे मालवा से मार भगाया । मराठे अपनी लूट का माल और घायलों को छोड़कर भाग गये । जयसिंह की मराठों के विरुद्ध यह अप्रत्याशित सफलता थी, जिससे बादशाह भी बहुत प्रसन्न हुआ और विजय का पूर उल्लेख मांगा ।

जयसिंह परम्परा अनुसार बादशाह से सीधा सम्पर्क रखना चाहता था। फलस्वरूप सैयद बन्धु उससे नाराज होते गये । बादशाह भी सैयद बन्धुओं के दबाव से परेशान था और जब हुसैन अली दक्षिण गया हुआ था उसने जयसिंह को दिल्ली बुलाया । जयसिंह पांच वर्ष बाद फिर दिल्ली गया । जयसिंह की सिफारिश पर बादशाह ने बूंदी का राज्य वापस दे दिया । जाटों का सरदार बुधसिंह भी धीरे-धीरे आजाद हो गया और चम्बल और देहली के बीच लूटमार शुरू कर दी । बादशाह ने अब जयसिंह को जाटों के विरुद्ध अभियान का संचालन करने भेजा । जयसिंह सितम्बर 1716 में मथुरा की तरफ बढ़ा । उसके अधीन बूंदी का बुद्धसिंह, कोटा का भीमसिंह, मेवाती का दुर्गादास तथा अनेक ठिकानेदार थे जिससे स्पष्ट होता है कि राजपूत राजाओं में उसकी पैठ सबसे अच्छी थी । उसने कामा जीता और थूंण का घेरा डाला किन्तु चारे और भोजन के अभाव मे 20 महिने तक थूंण नही जीत सका । उसकी लम्बी गैर हाजरी से प्रेरित.हो मराठों ने मालवा पर फिर आक्रमण किये । जाटों का सरदार चूड़ामण 30 लाख रुपये भेंट देकर बादशाह के दरबार में आने को राजी हो गया । अतः संधि की गयी और जाट अभियान समाप्त किया गया । मई 1718 में दिल्ली लौटने पर जयसिंह का बादशाह फर्रुखसियर ने भव्य स्वागत किया ।

सैयद बन्धु बादशाह से प्रसन्न नही थे और उसे हटाना चाहते थे । इसी उद्देश्य को सामने रख कर हुसैन अली ने मराठों से संधि कर ली व बालाजी विश्वनाथ पेशवा लगभग 12000 मराठा सैनिकों के साथ हुसैन अली के साथ दिल्ली

---

16 अब्दुल्ला खां—जयसिंह—रा. प. 8 फरवरी

पहुँचा। संधि के अनुसार मराठों को दक्षिण के सूबों में चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दिया गया था। बादशाह को यह पसंद नहीं था। अब्दुल्ला खाँ ने जयसिंह को भेंट आदि भी दी लेकिन उसे जयसिंह पर पूरा विश्वास न था। अतः मराठों के आगमन के साथ जयसिंह को दिल्ली से बाहर जाने को सय्यद अब्दुल्ला खाँ ने आग्रह किया। जयसिंह बादशाह की असह्य स्थिति को समझ गया। उसे फरुखसियर का अन्त समय नजदीक दिखा और उसने सय्यद बन्धुओं का विरोध करना उचित नहीं समझा और दिल्ली के बाहर आ गया। सतरह फरवरी 1719 को बादशाह और उसके वजीर सय्यद अब्दुल्ला खा में झगड़ा हुआ और गाली-गलौच की नौबत आ गयी। दूसरे दिन सुबह अब्दुल्ला खाँ के सिपाहियों ने बादशाह फरुखसियर को जनानखाने से बालों से पकड़ कर घसीटते हुए, लातें-घूसे मारते व गालियाँ देते लाकर अब्दुल्ला खाँ के सामने पटका जिसने सुरमे की सलाई देकर बादशाह की आँखें फुड़वादी। फरुखशियर को एक कोठरी मे बन्द कर दिया गया जहाँ उसे दो टाइम रोटियाँ फेंक दी जाती थी।[17] अप्रेल 18, सन् 1719 को गला घोंटकर उसकी हत्या कर दी गयी। इस प्रकार 1712 से 1719 के सात साल के समय में जयसिंह ने अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया और अपना खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर अपने सम्मान में वृद्धि की। जयसिंह यह जानता था कि सैय्यद न तो उस पर विश्वास करेंगे और न ही वह उनसे कुछ आशा रखता था। वह हर तरह से सैयदों की चुनौती स्वीकार करने को तैयार था।

(7) संघर्ष काल—1. सैयदों का अन्त– अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने और सैयद बन्धुओं के प्रभाव को कम करने के लिये जयसिंह ने उसने इलाहाबाद के सूबेदार छबीलाराम, छत्रसाल बुन्देला, छत्रपति शाहू और महाराजा बुद्धसिंह को पत्र लिखकर सैयदों के विरुद्ध तैयार किया। अन्य शासकों को अब्दुल्ला खाँ का फरुखसियर के साथ अभद्र व्यवहार अच्छा नहीं लगा। जयसिंह की प्रेरणा पर आगरे के किलेदार मित्रसेन ब्राह्मण ने अकबर के बड़े पुत्र नेकुसियर को आगरे मे 8 मई 1719 को बादशाह घोषित कर दिया। इस प्रकार जयसिंह ने सैयदों के खिलाफ एक भारी संगठन खड़ा कर दिया जो सैयदों को घातक सिद्ध हुआ। अब्दुल्ला खाँ ने जयसिंह को सेना कम करने के लिये लिखा जिसे जयसिंह ने अस्वीकार कर दिया। सैयद बन्धुओं ने अजीतसिंह के माध्यम से जयसिंह को अपने वस में करना चाहा। इसी बीच अजीत सिंह की पुत्री सूर्यकुमारी का विवाह मई 1720 ई० में हुआ और अब्दुल्ला खाँ ने इस उपलक्ष पर जयसिंह को बादशाह की ओर से बीस लाख रुपये भेंट रूप भिजवाये। जो इस बात का प्रमाण है कि सैयदों की नजर में जयसिंह का कितना महत्व और प्रभाव था।

नया बादशाह मुहम्मदशाह भी सैयद बन्धुओ के साथ नही रहना चाहता था। वजीर हुसैन अली व बादशाह मराठो व निजाम को दबाने के लिये दिल्ली

से चले। रास्ते में सैयद हुसैन अली की हत्या करवादी और बादशाह धीरे-धीरे वापस दिल्ली की ओर लौटने लगा। उसने राजपूत राजाओ से सैयद अब्दुल्ला खाँ के विरुद्ध मदद मांगी। जयसिंह ने भी राजपूत राजाओं को पत्र लिखे। मगर बादशाह के शौर्य और संगठन पर राजपूतो को विश्वास नहीं हुआ। स्वयं जयसिंह तो बादशाह की मदद के लिये नहीं आया मगर उसने जगराम के नेतृत्व में दस हजार सवार बादशाह के पास भेजे। तीन चार नवम्बर 1720 को दिल्ली से 47 मील दक्षिण में हसनपुर के पास अब्दुल्ला खाँ और बादशाह के बीच युद्ध हुआ जिसमें अब्दुल्ला खाँ हार गया और बन्दी बना लिया गया।[1] विजय के बाद बादशाह ने आमेर के अनेक सैनिकों को इनाम दिया और जयसिंह को अनेक समस्याओं पर सलाह लेने के लिये बुलाया। दिल्ली में ग्यारह नवम्बर को बादशाह ने जयसिंह का भव्य स्वागत किया और उसे दो करोड़ दाम इनाम दिये और उसके सवारों में 4000 की वृद्धि की। जयसिंह के कहने पर बादशाह ने जजिया माफ कर दिया। इस प्रकार सैयदो के साथ संघर्ष में जयसिंह ने बादशाह का साथ देकर अपने प्रभुत्व को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। हसनपुर के युद्ध के साथ सैयदों का युग समाप्त हो गया। अब जयसिंह को भी शांति से रहने का अवसर मिला और 1720 से जयसिंह का अपूर्व उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ जो तेजी से बढ़ता गया।[2]

जाटों का दमन—सैयदो से निपटने और मुगल दरबार में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के बाद अगले दस वर्ष जयसिंह की समृद्धि व ख्याति के महत्त्वपूर्ण वर्ष थे। इसमें प्रमुख दो बातें है जिसमें जाटो के शासक चूड़ामण को पराजित करना और राजपूतों का नेतृत्व कर उन्हें मराठों के हस्तक्षेप से बचाना प्रमुख है। जाटों का सरदार चूडामण सैयदों का समर्थक था जिसने हसनपुर के युद्ध में सैयदों की तरफ से बादशाह की सेना पर पीछे से आक्रमण किया था। अतः जयसिंह को उसके विरुद्ध अभियान सौंपा गया। जयसिंह लगभग 50,000 सेना लेकर थूंण की तरफ रवाना हुआ तभी गृह क्लेश के कारण आत्महत्या कर ली। चूड़ामण का भतीजा बदनसिंह जयसिंह से आ मिला। लगभग डेढ़ महिने के सख्त घेराव मे जाटों की कई बार हार हुई और अन्त में तारुद में आग लगाकर चूड़ामण का लड़का मुहकमसिंह और उसके साथी भाग गये।[3] किले में जयसिंह को काफी मात्रा में धन व जवाहरात मिले जिन्हें दिल्ली भिजवा दिया गया। इस विजय से मुगलों की ढहती हुई प्रतिष्ठा को बडा सहारा मिला और मुगलों से मान्यता प्राप्त जाट-शक्ति की स्थापना हुई। बदनसिंह को ठाकुर की उपाधि दी गयी और जयसिंह का सामन्त बन कर राज्य करने लगा। उसने नवनिर्मित जय नगर में अन्य ठाकुरों की तरह अपनी हवेली भी बन-

1. खफी खाँ—2, पृष्ठ 920.
2. वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर—सवाई जयसिंह—पृष्ठ—101
3. पंचोली रामचन्द्र—सवाई जयसिंह—28 अक्टूबर 1722.

ई व 83000 रुपये प्रतिवर्ष जयसिंह को पेशकश देना स्वीकार किया। जाटों के क्षेत्र को कई वर्षों बाद शान्ति व समृद्धि का समय मिला। यह सिर्फ जयसिंह के ास का फल था।

3. राजपूतों में नेतृत्व— अजीतसिंह 1710 से अब तक तीन विद्रोह कर ा था। अजमेर का सूबा मिल जाने के बाद भी वह सन्तुष्ट नहीं था। उसने चूड़ा- ़ की सहायता के लिये सेना भी भेजी थी जो चोवनेर से वापस लौट आई थी। थ ही, चूड़ामण के लड़के मुहकमसिंह को शरण भी दी थी। इतना ही नही, उसने जनवरी 1723 ई० को नाहर खाँ व रुहेल्ला खाँ के साथ 26 अन्य लोगों की ा कर दी थी। इन सब कारणो से नाराज हो बादशाह ने इरादतमद खाँ को ,000 सैनिकों के साथ अजीतसिंह को समाप्त करने भेजा। साथ ही जयसिंह उसकी सहायता करने का आदेश दिया। जयसिंह इस अभियान में शरीक नही ा चाहता था। वह समझौता कराना चाहता था और उसी के प्रयासों से अजीत- ह का लड़का अभयसिंह उसके पास आया और जयसिंह ने उसे दिल्ली बादशाह रबार में भेज कर एक अनावश्यक युद्ध को टाल मारवाड़ को विनाश से बचा ा। यदि जयसिंह बीच मे न आता तो मुगल सरकार और अजीसिंह के बीच छिड़ जाता तो मारवाड़ को बचाना कठिन हो जाता। इस प्रकार जयसिंह ने मार- ़ की रक्षा की व, फिर भी मुगलदरबार में अजीतसिंह पर विश्वास नही रहा था। लोगों ने उभयसिंह पर दबाव डाला कि वह अजीतसिंह की हत्या करवादे। तसिंह की नीतियाँ और व्यवहार, अधिकतर अति की सीमा पार कर जाते थे। उसकी अदूरदर्शिता और आवेश में ऐसी भूलें कर बैठता था जिनसे वह चाहता बच सकता था। अपने बड़े भाई के कहने पर छोटे पुत्र बख्तसिंह ने 23 जून 24 की रात शयन कक्ष में अजीतसिंह की हत्या कर दी। अभयसिंह का राज- क होने पर उसे 7000/7000 की मनसब दी गयी। इस प्रकार अजीतसिंह अन्त हुआ।

जयसिंह ने कोटा और बूंदी के आपसी झगड़े को भी निपटाया। सैयदों के े पर कोटा के महाराव भीम सिंह ने बूंदी जीत लिया था। जयसिंह ने बूंदी स महाराव बुध सिंह को दिलवादी। लेकिन 1720 मे महाराव भीमसिंह का न्त हो गया। उनका बड़ा लड़का भी 1723 में मर गया और दो छोटे भाइयो राज्य के लिये युद्ध हुए। आपसी झगड़े में अधिक पैसा देने वाले की मदद करने ावा से रुहेल्ला सरदार आ गये। लेकिन जयसिंह ने कोटा के निजी मामलों मे ल्लों को हस्तक्षेप करने से रोक दिया। युद्ध मे छोटे भाई दुर्जनसाल की विजय और श्यामसिंह मारा गया। इस तटस्थता के कारण आगे चलकर जयसिंह और नसाल के सम्बन्ध दिनो दिन अच्छे होते गये।

से चले । रास्ते में सैयद हुसैन अली की हत्या करवादी ८
दिल्ली की ओर लौटने लगा । उसने राजपूत राजाओं
विरुद्ध मदद मांगी । जयसिंह ने भी राजपूत राजाओं के
के शौर्य और संगठन पर राजपूतों को विश्वास नहीं हुआ
शाह की मदद के लिये नहीं आया मगर उसने अगरा
सवार बादशाह के पास भेजे । तीन चार नवम्बर 1720 क
में हसनपुर के पास अब्दुल्ला खाँ और बादशाह के बीच यु
हार गया और बन्दी बना लिया गया ।[1] विजय के बाद ब
सैनिकों को इनाम दिया और जयसिंह को अनेक समस्याओं
बुलाया । दिल्ली में ग्यारह नवम्बर को बादशाह ने जयसि
और उसे दो करोड़ दाम इनाम दिये और उसके सवारों
जयसिंह के कहने पर बादशाह ने जजिया माफ कर दिया
साथ संघर्ष में जयसिंह ने बादशाह का साथ देकर अपने प्रभुत्व
पहुँचा दिया । हसनपुर के युद्ध के साथ सैयदों का युग समाप्त
सिंह को भी शांति से रहने का अवसर मिला और 1720 के
उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ जो तेजी से बढ़ता गया ।[2]

जाटों का दमन—सैयदों से निपटने और मुगल दरब
त्व स्थापित करने के बाद अगले दस वर्ष जयसिंह की समृद्धि प
वर्ष थे । इसमें प्रमुख दो बातें है जिसमें जाटों के शासक चूड़ामण
और राजपूतों का नेतृत्व कर उन्हें मराठों के हस्तक्षेप से बचाना
सरदार चूड़ामण सैयदों का समर्थक था जिसने हसनपुर के युद्ध
से बादशाह की सेना पर पीछे से आक्रमण किया था । अतः जयसि
अभियान सौंपा गया । जयसिंह लगभग 50,000 सेना लेकर थूंण
हुआ तभी गृह क्लेश के कारण आत्महत्या कर ली । चूड़ामण का
जयसिंह से आ मिला । लगभग डेढ़ महिने के सख्त घेराव मे जाटों
हुई और अन्त मे बारूद में आग लगाकर चूड़ामण का लड़का मुहक
साथी भाग गये ।[3] किले में जयसिंह को काफी मात्रा मे धन द
जिन्हें दिल्ली भिजवा दिया गया । इस विजय से मुगलों की ढहती हु
बड़ा सहारा मिला और मुगलों से मान्यता प्राप्त जाट शक्ति की स्था
सिंह को ठाकुर की उपाधि दी गयी और जयसिंह का सामन्त बन
लगा । उसने नवनिर्मित जय नगर मे अन्य ठाकुरों की तरह अपनी

1. खफी खाँ—2, पृष्ठ 920
2. वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर—सवाई जयसिंह—पृष्ठ—101
3. पचोली रामचन्द्र—सवाई जयसिंह—28 अक्टूबर 1722.

लिया था। कुछ समय तक तो सूबेदार गिरधर बहादुर मराठों को रोकने में सफल रहा लेकिन 1728 में पेशवा के भाई चिमना जी अप्पा ने गिरधर बहादुर को हरा कर उसके अनेक अफसर मार डाले। मराठे मालवा के शहरों को लूटते रहे और स्थानीय शासकों को आदेश दे दिया कि उनके द्वारा नियुक्त व्यक्तियों को चौथ देते रहें। चिमना जी तो वापस पूना लौट गया किन्तु उसकी सेना अभी मालवा में ही थी। ऐसे समय में निजाम ने भी पेशवा को मालवा में प्रभुत्व बढ़ाने की राय दी जिससे मराठों का ध्यान उत्तर में चला जाय और उससे रात-दिन का झगडा समाप्त हो। इस कठिन घड़ी में बादशाह ने अक्टूबर 1729 में जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। इस समय मराठे उज्जैन में विद्यमान थे। उन्होंने मांडू भी जीत लिया था। मुगलों के लिये यह संभव नहीं था कि वे मराठों को मालवा से निकाल दें। जयसिंह ने इस कठिन काम को फौरन निपटा दिया। वह पहले से ही राजा शाहू से समझौते की वार्ता कर रहा था। एक छोटी सी झड़प के बाद मराठे मांडू जयसिंह को सौंप कर वापिस लौट गये। बाजीराव पेशवा मालवा में मुगल व मराठों की सम्मिलित शासन योजना चाहता था जिसे जयसिंह ने स्वीकार नहीं किया। जयसिंह सिर्फ सात महिने मालवा में रह कर वापस आमेर लौट गया। बाजीराव को यह समझौता अच्छा नहीं लगा क्योंकि यह उसकी उत्तर में विस्तार नीति के विरुद्ध था। इससे होल्कर और सिंधिया की महत्वाकांक्षाओं पर भी प्रतिबंध लगा दिया। जयसिंह को डर था कि पेशवा इसे नहीं मानेगा अतः उसने अपने प्रतिनिधि दीपसिंह को पूना भेजा। पेशवा भी राजी हो गया लेकिन अपनी शर्तों में गुजरात को भी जोड़कर प्रतिवर्ष 26 लाख रुपयों के बदले गुजरात और मालवा में न आने को राजी हो गया।

इस समझौते पर बादशाह की मोहर लगती उससे पहले ही मुहम्मद खां बंगश और जयसिंह के अन्य विरोधियों ने, जो मुगल मराठा सुलह नहीं चाहते थे, जयसिंह की जगह बंगस को मालवा का सूबेदार बनवा दिया। मराठों ने बंगश की बड़ी दुर्दशा की। वह मराठों के तेज आक्रमण व लूटमार को नहीं रोक सका। उसने इस्लाम के शत्रुओं के विरुद्ध निजाम से भी समझौता करना चाहा पर असफल रहा। विवश होकर बादशाह ने जयसिंह को तीसरी व अन्तिम बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया जो दिसम्बर 1932 में उज्जैन पहुंचा।

जयसिंह ने पहले मेवाड़ से एक सन्धि की, जिसके तहत दोनों की सम्मिलित सेना मालवा की रक्षा व शासन करेगी तथा आमद का एक भाग मेवाड़ तथा दो भाग आमेर लेगा और अगर मराठों से सन्धि हो गयी तो इसी अनुपात में मराठों को दी जाने वाली रकम आपस में बांट लेंगे। इस बीच एक मराठा सरदार ने रामपुरा जाकर जयपुर के नियुक्त अधिकारियों से 75000 रुपये वसूल किये। जयसिंह को इससे बड़ा दुःख हुआ। मन्दसौर के पास जयसिंह और होल्कर के बीच दो मुठभेड़ हुई और होल्कर समझौते के लिये राजी हो गया।

जयसिंह और छत्रसाल बुंदेला के शुरू से ही अच्छे सम्बन्ध थे। मुगल दरबार में जब कोई मामला अड़ता या इलाहाबाद के मुगल अधिकारियों से कोई टक्कर हो जाती तो वह अभयसिंह को मदद से ही अपना काम निकालते थे। छत्रसाल भी राजपूतों की गतिविधियों में सदा रुचि लेता था। उसके पुत्र ने भी जयसिंह को सदा मान्यता दी और अच्छे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखे।

नरवर के राजा भी सैयदों के समर्थक थे। राजा गजसिंह की निजाम के विरुद्ध युद्ध में मृत्यु हो गयी। उसके बाद छत्रसिंह ने जयसिंह से हमेशा अच्छे सम्बन्ध रखे। जब जब पडोसी मुसलमान सरदारों ने नरवर पर आक्रमण किया या उसे दबाना चाहा तो जयसिंह ने उन्हे रोक कर नरवर की रक्षा की। सभी हिन्दू राज्य जयसिंह से सहायता व सलाह लेते थे।

8. जयसिंह और मराठे—1720 से 30 तक का समय जयसिंह के लिये अभूतपूर्व ख्याति और प्रभाव का समय था। लेकिन इसके साथ ही मराठों के उत्तर में बढते हुए प्रभाव ने जयसिंह को चिंतित रखा। मंदसौर से मराठों का धन वसूल करना, मालवा व गुजरात मे अपना प्रभाव बढ़ाना तथा कोटा व मारवाड़ के आन्तरिक युद्धों में उनके हस्तक्षेप के डर ने जयसिंह को इस दशा में भी स्पष्ट नीति बनाने हेतु तत्पर किया। मराठों ने 1725 में कोटा मे उपद्रव मचाया, 1726 में मेवाड़ मे प्रवेश किया। उत्तर में वह अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। बादशाह ने भी सैयद बन्धुओं के कहने पर 1718 में उन्हे मालवा व गुजरात से चौथ वसूल करने का अधिकार दे दिया था। जयसिंह मेवाड़, मारवाड़ और कोटा की मदद से मराठों को राजपूत राज्यों से दूर रखना चाहता था। वह तो मराठों को नर्वदा के दक्षिण में ही रखना चाहता था। कोटा के महाराव दुर्जनसाल ने मराठों की लूटमार का वर्णन करते हुए जयसिंह को पत्र लिखा कि "हिन्दुस्तान की इज्जत व सुरक्षा जयसिंह के ही प्रयत्नों पर निर्भर है।[1]" जयसिंह ने मराठो के आक्रमणो को रोकने के लिये राजपूत राज्यो की सगठित शक्ति बनाई। साथ ही बादशाह मुहम्मद शाह की आज्ञा से मराठों व मुगल शक्ति में समझौते के भी प्रयत्न किये।

मराठो को कुचलने की साठ वर्ष पुरानी नीति असफल सिद्ध हुई थी। दक्षिण, बगाल व पंजाब नाम मात्र के लिये मुगलो के अधीन थे। साम्राज्य की आर्थिक दशा भी बहुत गिर गयी थी। मराठो मे एक से एक योग्य सेनानायक सामने आ रहे थे। ऐसे समय मे मराठो से समझौता करना ही उचित था। जयसिंह चाहता था कि शाहू को जागीर व मराठा सरदारो को उपयुक्त मनसब देकर उन्हे गिरते हुए मुगल साम्राज्य का आधार बना लिया जाय। वह मालवा के दक्षिणी भागो मे मराठा प्रभुत्व को मान्यता देकर उत्तर को उनके प्रभाव से बचा लेना चाहता था। उधर मराठे अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने मे लगे हुए थे।

1. मालवा मे मराठे—जयसिंह जब मालवा का सूबेदार था तो उसने मराठो को आगे नही बढ़ने दिया था। लेकिन 1722 से उन्होने अपना दबाव शुरू कर

1. जयसिंह– भण्डारी रघुनाथ, परगना, 1 अगस्त 1726, जो. आ.

दिया था। कुछ समय तक तो सूबेदार गिरधर बहादुर मराठों को रोकने में सफल रहा लेकिन 1728 में पेशवा के भाई चिमना जी अप्पा ने गिरधर बहादुर को हरा कर उसके अनेक अफसर मार डाले। मराठे मालवा के शहरों को लूटते रहे और स्थानीय शासकों को आदेश दे दिया कि उनके द्वारा नियुक्त व्यक्तियों को चौथ देते रहें। चिमना जी तो वापस पूना लौट गया किन्तु उसकी सेना अभी मालवा में ही थी। ऐसे समय में निज़ाम ने भी पेशवा को मालवा में प्रभुत्व बढ़ाने की राय दी जिससे मराठों का ध्यान उत्तर में चला जाय और उससे रात-दिन का झगड़ा समाप्त हो। इस कठिन घड़ी में बादशाह ने अक्टूबर 1729 में जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। इस समय मराठे उज्जैन में विद्यमान थे। उन्होंने मांडू भी जीत लिया था। मुगलों के लिये यह संभव नहीं था कि वे मराठों को मालवा से निकाल दें। जयसिंह ने इस कठिन काम को फौरन निपटा दिया। वह पहले से ही राजा शाहू से समझौते की वार्ता कर रहा था। एक छोटी सी झड़प के बाद मराठे मांडू जयसिंह को सौंप कर वापिस लौट गये। बाजीराव पेशवा मालवा में मुगल व मराठों की सम्मिलित शासन योजना चाहता था जिसे जयसिंह ने स्वीकार नहीं किया। जयसिंह सिर्फ सात महिने मालवा में रह कर वापस आमेर लौट गया। बाजीराव को यह समझौता अच्छा नहीं लगा क्योंकि यह उसकी उत्तर में विस्तार नीति के विरुद्ध था। इससे होल्कर और सिंधिया की महत्वाकांक्षाओं पर भी प्रतिबंध लगा दिया। जयसिंह को डर था कि पेशवा इसे नहीं मानेगा अतः उसने अपने प्रतिनिधि दीपसिंह को पूना भेजा। पेशवा भी राजी हो गया लेकिन अपनी शर्तों में गुजरात को भी जोड़कर प्रतिवर्ष 26 लाख रुपयों के बदले गुजरात और मालवा में न आने को राजी हो गया।

इस समझौते पर बादशाह की मोहर लगती उससे पहले ही, मुहम्मद खाँ बंगश और जयसिंह के अन्य विरोधियों ने, जो मुगल मराठा सुलह नहीं चाहते थे, जयसिंह की जगह बंगश को मालवा का सूबेदार बनवा दिया। मराठों ने बंगश की बड़ी दुर्दशा की। वह मराठों के तेज आक्रमण व लूटमार को नहीं रोक सका। उसने इस्लाम के शत्रुओं के विरुद्ध निज़ाम से भी समझौता करना चाहा पर असफल रहा। विवश होकर बादशाह ने जयसिंह को तीसरी व अन्तिम बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया जो दिसम्बर 1932 में उज्जैन पहुंचा।

जयसिंह ने पहले मेवाड़ से एक सन्धि की जिसके तहत दोनों की सम्मिलित सेना मालवा की रक्षा व शासन करेगी तथा आमद का एक भाग मेवाड़ तथा दो भाग आमेर लेगा और अगर मराठों से सन्धि हो गयी तो इसी अनुपात में मराठों को दी जाने वाली रकम आपस में बांट लेंगे। इस बीच एक मराठा सरदार ने रामपुरा जाकर जयपुर के नियुक्त अधिकारियों से 75000 रुपये वसूल किये। जयसिंह को इससे बड़ा दुःख हुआ। मन्दसौर के पास जयसिंह और होल्कर के बीच दो मुठभेड़ हुई और होल्कर समझौते के लिये राजी हो गया।

2 बूंदी और मराठे—बुद्धसिह और दलेलसिह के बीच बूंदी की गद्दी लेकर उठ खड़े संघर्ष में जयसिह ने दलेलसिह का साथ दिया और बराबर छोड़ने वाले बुद्धसिह को गद्दी से उतार कर दलेलसिंह को महाराव बना दि बुद्धसिह की कछवाही रानी ने होल्कर से मदद मांगी और 1733 की सर्दिय होल्कर व सिंधिया मालवा होते हुए अप्रेल मे बूंदी आये और दलेलसिह को से उतार कर पुन बुद्धसिह को महाराव बना दिया। बुद्धसिह की कछवाही र ने होल्कर के राखी भी बांधी। जयसिह को जब इस घटना का पता लगा तो उ 20,000 सैनिक भेजे जिन्होने पुन दलेलसिह को बूंदी की गद्दी पर बिठा दिय मराठों के भी यह समझ में आ गया था कि मुगल सरकार के साथ समझौता क में जयसिह की मदद जरूरी है अतः उन्होने बूंदी के मामले में दुबारा हस्तक्षेप किया। इस प्रकार जयसिह ने बूंदी के महाराव दलेलसिह की स्थिति सुरक्षित दी। मराठो के प्रति उसकी बूंदी नीति भी सफल रही।

3. हुरड़ा सम्मेलन—मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिह ने मराठो से राजपू राज्यो की रक्षा हेतु एक सम्मेलन की योजना बनाई जिसमें सभी राजपूत राजा को आमन्त्रित किया गया। यह सम्मेलन मेवाड़, अजमेर की सीमा पर स्थित हु नामक स्थान पर बुलाया गया। सम्मेलन की निर्धारित तिथि 16 जुलाई 17 से चालीस दिन पहले महाराणा संग्रामसिह का देहान्त हो गया। उनके पुत्र महारा जगतसिह ने सम्मेलन की अध्यक्षता की।

इस सम्मेलन मे आमेर के सवाई जयसिह, कोटा के दुर्जनसाल, बीकानेर जोरावरसिह, करोली के गोपालसिंह, किशनगढ़ के राजसिह तो आये ही थे मध्य भार के कई राजपूत राजाओं ने भी भाग लिया था। राणा सागा के बाद यह राजपूतो पहला बड़ा सम्मेलन था।

सम्मेलन अनेक अच्छे उद्देश्यो को लेकर बुलाया गया था जिनमे मराठों आक्रमणों व राजपूत राजाओं के निजी मामलों मे हस्तक्षेप को रोकना, राजपू राजाओं को राज्य विस्तार का अवसर देना, एक दूसरे के राज्य द्रोही को अप राज्य में शरण न देना, तथा अच्छे व बुरे समय में एकता बनाये रखकर एक की इज्जत को सबकी इज्जत समझना था।

सम्मेलन दो दिन चला और 17 जुलाई को राजपूत राजाओं ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये। मालवा के विभाजन की रूपरेखा तैयार की गयी। इसके अनुसार मालवा के सारे प्रान्त के दो भाग मेवाड़ को, एक भाग जोधपुर को, एक भाग जयपुर को, बचे हुए का आधा बूंदी व कोटा को तथा बचा हुआ आधा हिन्दू राजाओं को देना निश्चय किया गया। यह प्रस्ताव मेवाड़ का था। इस कार्य के लिये एक संगठित राजपूत सेना बनाने का निर्णय लिया गया जो वर्षा के बाद कोटा के पास रामपुरा में एकत्रित होगी।

यह भी निर्णय लिया गया कि मराठों के विरुद्ध मुगलों से मदद ली जाय और मराठों के विरुद्ध सेना में कोटा, जयपुर और मारवाड की सेना की प्रधानता होगी। सेना के साथ स्वयं राजा आवेंगे और अगर अस्वस्थता के कारण न आ सकें तो अपने भाई या पुत्र को भेजेंगे।

सम्मेलन के उद्देश्य अच्छे थे और कागजों पर राजपूत राजा एक बार एक हो गये। लेकिन आपसी स्वार्थों ने इसे सफल नही होने दिया। सवाई जयसिंह ने मराठों के साथ अलग से सन्धि कर ली और अन्य राजाओं को अपने भाग्य पर छोड़ दिया। जयसिंह की मराठा नीति को देखते हुए स्पष्ट था कि वह मराठों को मालवा से निकाल कर प्रान्त के बटवारे के पक्ष में नहीं था। उसे मराठा शक्ति की क्षमता की जानकारी थी। स्थिति को देखते हुए मालवा का बटवारा संभव नही था। कुछ इतिहासकार इसे जयसिंह का विश्वासघात कहते हैं मगर यह यथार्थ में रहता था। यह कहा जाता है कि हुरडा सम्मेलन उच्च आदर्शों का गर्भाधान था जो स्वार्थ के धमाकों से गर्भपात का दुःखदाई रूप धारण कर गया। यही कारण है कि जयसिंह ने रामपुरा में अपनी सेना नही भेजी। इसी समय मुगल सरकार भी मराठों पर आक्रमण की विशाल योजना बना रही थी। अतः हुरडा सम्मेलन एक असफल विचार मात्र रह गया।

4. संधि की चेष्टा:—1734 में कमरुद्दीन खाँ के नेतृत्व में एक विशाल सेना मराठों को मालवा से निकालने के लिये भेजी। जयसिंह व अन्य राजाओं को उसका साथ देने का आदेश दिया। जयसिंह भी मुगल सेना के साथ था। मराठों ने, जिनमें सिंधिया व होल्कर थे, अपनी टुकड़ियों को एकत्रित किया और रामपुरा के पास मुगल सेना को घेरकर रसद का मार्ग काट दिया। साल भर तक कई छोटी-मोटी झड़पें हुई पर कोई नतीजा नही निकला। अचानक मराठों ने घेरा उठा लिया और 40 हजार मराठे सवार आमेर राज्य में तेजी से बढ़े। उन्होंने साभर लूटा। जयसिंह अपना राज्य बचाने वापस लौट गया और मुगल सेनापति कमरुद्दीन भी असफल और निराश वापस दिल्ली लौट आया। स्पष्ट हो गया कि मराठों पर विजय पाना संभव नही है।

सरदारों से संधि करने की [illegible] ...00 व 5000 की मनसब और कुछ लाख रुपये देना चाहता था। काफी लम्बी बातचीत के बाद खानदौरां ने बादशाह की तरफ से बाइस लाख रुपये व मालवा की चौथ देना स्वीकार हुआ। मराठों को चुंगी वसूल करने का अधिकार भी दिया गया तथा परगनों में मुगल अधिकारियों के साथ मराठा अफसर भी रहेगा जो आधी आमदनी भी लेगा और शाही आदेशों पर मराठा मुहर भी लगायेगा। बादशाह ने ये शर्तें

स्वीकार नही की मगर जयसिंह का इन्हे स्वीकार करना महत्वपूर्ण है।[1] वह मुगल सूबों मे उपद्रव बन्द कर शान्ति स्थापित करना चाहता था।

यह प्रयास असफल रहा तो जयसिंह ने पेशवा और बादशाह की भेट करवाने की योजना बनाई जिससे निजाम को भारी चिन्ता हो गयी। इन्ही दिनों पेशवा बाजीराव की माँ राधाबाई तीर्थयात्रा करने उत्तर भारत आई। सवाई जयसिंह ने उनका भव्य स्वागत किया और पूरा राजकीय सम्मान देकर उन्हें राजमहल मे ठहराया। सात सप्ताह तक उन्हे सम्मान से रखा और जाते समय शहर से बाहर तक छोड़ने आया और मार्ग व्यय के लिये 25000 रु० दिये। यह राशि आगामी नौ साल तक 1744 तक पेशवा की माँ को प्रतिवर्ष बख्सिस के रूप में भेजी जाती रही। पेशवा की माँ राधाबाई ने जयसिंह की पुत्री कृष्णकुमारी को आशीर्वाद भी दिया। राजपूतों के अच्छे व्यवहार से पेशवा बहुत संतुष्ट हुए जिससे बाजीराव से वार्ता में सहायता मिली।

25 फरवरी 1736 को बाजीराव पेशवा और जयसिंह की भेट मालपुरा के पास झाडली गाँव के बाहर हुई। दोनों बड़े स्नेह से घोड़े से उतरकर गले मिले। यह भेंट व वार्ता नौ सप्ताह तक चली। जयसिंह के प्रयासों से पेशवा ने बादशाह से सन्धि की छ शर्तें रखी।-(1) हिन्दुस्तान में वतन जागीर (2) अपने व साथ के लोगों के लिये मनसब व जागीर (3) मराठों के विरुद्ध मुगल सैनिक कार्यवाही बन्द करना (4) दक्षिण के सूबों की सरदेश पाडेगिरी जिसमे दक्षिण का पाँच प्रतिशत राजस्व उसे दिया जाय और बदले में वह बादशाह को छ लाख रुपये देगा (5) उसे मालवा की सूबेदारी भी दी जाय (6) खर्चे के रूप मे उसे तेरह लाख रुपये तीन किश्तों में दिये जायें। इन शर्तों में चौथ का उल्लेख कहीं नहीं था। जयसिंह के आग्रह पर बादशाह ने इन शर्तों को भी मान लिया। तब पेशवा ने कई नई माँगे और रख दी जिससे वार्ता असफल हो गयी। उसने मथुरा की जागीर, दक्षिण में पचास हजार रुपये की जागीर और बंगाल के राजस्व मे पचास लाख रुपये भी माँगे जिन्हे देने से बादशाह ने मना कर दिया। जब दिल्ली मे जवाब नही आया तो उसने खानदौरां को लिखा कि उसकी सेना ने संधि के चक्कर में मालवा या मुगल इलाकों को लूटा भी नही जिससे उसे 50, 60 हजार सवारो को बेकार वेतन देना पड़ा। सात सप्ताह तक मुगल सरकार पेशवा की शर्तों का जवाब नही दे सकी तो वह अपनी सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। जब वह आगरे से 70 मील रह गया तो खानदौरां बड़ी सेना लेकर उसकी तरफ बढ़ा। उसके साथ जयसिंह और अभयसिंह के 15, 15 हजार सैनिक थे। बादशाह के हुक्म पर अवध से सादत खाँ भी आगरे की ओर बढ़ा। होल्कर ने उसे रोकने की कोशिश की पर हार गया। बाजीराव ने भी इतनी बड़ी मुगल सेना से युद्ध करना उचित नही

1. वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर-सवाई जयसिंह-पृष्ठ 147

समझा। वह रास्ता काटकर जाट प्रदेशों से सीधा दिल्ली जा पहुँचा। बादशाह डर कर भागने को तैयार हो गया मगर बाजीराव ने कूटनीति से काम लिया और 20 घण्टे दिल्ली में ठहरकर कोटपूतली व लालसोट होता तूफान की तरह वापस निकल गया। मुगल सेना आगरे के पास आराम फरमाती रह गयी और मराठा बाज को न घेर सकी। बाजीराव भी कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता था जिससे उसके मित्रों पर कोई आरोप लगाया जाय। जयसिंह ने भी बाजीराव के तूफानी दौरे में कोई बाधा नहीं पहुँचाई। बादशाह को पता चल गया कि न निजाम और न ही उसके अन्य सेनापति पेशवा को दिल्ली लूटने से रोक सकेंगे। अपना पक्ष मजबूत करने उसने निजाम को दिल्ली बुलाया तथा दक्षिण के पाँच सूबे तथा साम्राज्य की सर्वोच्च उपाधि आसफजाह से सम्मानित कर मराठों को नर्बदा से नीचे रखने के लिये 60 लाख रुपये दिये और उसके बेटे को आगरा व मालवा का सूबेदार नियुक्त किया।

निजाम जब वापस लौट रहा था तो पेशवा ने भोपाल के निकट उस पर आक्रमण कर बुरी तरह पराजित किया तथा 6 जनवरी 1738 को उसे अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिये मजबूर किया। निजाम ने पेशवा को मालवा की सूबेदारी नर्वदा व चम्बल के बीच का क्षेत्र तथा पचास लाख रुपये बादशाह से दिलाने का वादा किया।[1] निजाम की इस दुर्दशा से जयसिंह की नीति की पुष्टि हो गयी। निजाम ने अपने हितों को बचाने के लिये साम्राज्य के हितों को बेच दिया था। जयसिंह की शर्तों में पेशवा ने मुगल सेवा तक स्वीकार करली थी।

नादिरशाह का आक्रमण :—1738 में काबुल लेने के बाद नादिरशाह पेशावर और फिर लाहौर तक आ गया। बादशाह ने सादातखाँ व निजाम को उसका मुकाबला करने भेजा। मगर निजाम दूर खड़ा तमाशा देखता रहा। कदाचित् वह एक नया साम्राज्य स्थापित करना चाहता था जो मराठों को रोक सके। नादिरशाह ने 13 फरवरी 1739 को करनाल में मुगल सेना की एक टुकड़ी को पराजित किया। इस युद्ध में खानदौराँ मारा गया। युद्ध बन्दी सादतखाँ ने नादिरशाह को दिल्ली जाने के लिये प्रेरित किया। वह मार्च में दिल्ली पहुँचा और 57 दिन दिल्ली मे रहा। पेशवा और जयसिंह जो मराठा और हिन्दुओं के नेता थे इस आक्रमण में भाग न लेकर चुप रहे। उन्हे मुगलों की अन्दरुनी फूट का पता था। पेशवा व जयसिंह चाहते थे कि मराठे व हिन्दू शासक मिलकर नादिरशाह को भारत से बाहर निकालें अन्यथा मराठों के उत्तर के आधिपत्य के मनसूबे समाप्त हो जायेंगे। नादिरशाह ने दिल्ली की जो दुर्दशा की उसका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। यहाँ सिर्फ इतना कहना उचित होगा कि जयसिंह ने इस संघर्ष में अपनी सेना

---

1. पेशवा दफ्तर जि. 15, 53, 66.

को न झोंककर दूरदर्शिता का परिचय दिया । नादिरशाह ने ज
का पत्र भी लिखा था ।[1]

नादिरशाह के लौटने पर उत्पन्न नई राजनीतिक स्थिति
अपने दूत महादेव भट्ट को जयसिंह के पास भेजा । बादशाह व
धक्का लगा था, व निज़ाम की वफादारी का भी पता ला
अपने अफसरों में तो फेर बदल किया ही साथ ही जयसिंह को
समर्थन भी पाना चाहा । पेशवा इस परिस्थिति में जयसिंह से
उत्तर की तरफ बढ़ा लेकिन नर्बदा के किनारे पहुंचकर बीमार
बुखार में उसने प्राण त्याग दिये । पेशवा की मृत्यु से जयसिंह
व धक्का लगा । उसे डर था कि नया पेशवा उसकी बात
महादेव भट्ट के मार्फत मराठों की नीति जाननी चाही तो
मान्यता दी जो पेशवा बाजीराव देता था । जयसिंह ने चिमनज
निजाम को पराजित कर दक्षिण में अपने हितों को सुदृढ़ करलें
जयसिंह को मराठों के विरुद्ध तैयारी का आदेश दिया । जय
नहीं करना चाहता था । वह धौलपुर में पेशवा बालाजी बाज
18 मई 1741 को धौलपुर का समझौता हुआ । पेशवा ने बादश
का वादा किया उसे मालवा की सूबेदारी दी गयी । पेशवा मुग
में 4000 सवार बादशाह के लिये रखेगा ।

4 जुलाई, 1741 को बादशाह ने भी इस संधि
मालवा का नायब सूबेदार नियुक्त किया । यह प्रयास भी सवा
था । मराठों की महत्वाकांक्षाओं के कारण यह भी अस्थाई र
मालवा बुंदेलखण्ड और इलाहाबाद से चौथ मांगी ।[2] बादशाह
हो गया तो पेशवा ने बंगाल की चौथ मांगी । स्पष्ट है कि मराठे
नीति त्यागने को तैयार न थे । बाजीराव के बाद मराठों की
रही जिसके कारण मराठों को कुछ ही वर्ष बाद भारी कीमत
जहां तक जयसिंह की मराठा नीति का सवाल है, वह मराठों

मित्र नहीं बनने दिया । फिर भी 1728 से 1741 तक जयसिंह
से मुगल राजपूत व मराठा शक्तियों के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ ।

ाते समय उसे मित्रता
ा को समझने के लिये
ो प्रतिष्ठा को बड़ा
ा गया । बादशाह ने
मदद से मराठों का
सलाह करने स्वय
हो गया तथा तेज
को गहरा दुःख हुआ
नहीं मानेगा । उसने
मराठों ने उसे वही
ो को राय दी कि वह
। तभी बादशाह ने
सह मुराठों से युद्ध
ीराव से मिला और
ाह के प्रति वफादारी
ल खर्चे पर दिल्ली
ो मान्यता देते हुए
ो जयसिंह का ही
ा और पेशवा ने
इस पर भी राजी
अपनी लूटमार की
ीति में स्थिरता न
चुकानी पड़ी ।[3]
से मित्रता रखना
अपने जीवन काल
नीति, आन्तरिक
बड़ी शक्तियों को
ा निरन्तर प्रयासों
ा मित्रता के सतत

1. इरविन-2, पृष्ठ 375.
2. सरदेसाई-2, पृष्ठ 215.
3. वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर-सवाई जयसिंह, पृष्ठ 165.

प्रयास किये गये। जयसिंह शांति का समर्थक था, उसका अधिकांश समय राजनीति और प्रशासनिक कार्यों में बीत गया। फिर भी निरंतर युद्धों व गिरते हुए मुगल साम्राज्य के मलवे के बीच वह जो कुछ कर सका, उसे भारतीय इतिहास के विलक्षण पुरुषों में स्थान दिलवाने के लिये पर्याप्त है।[1]

जयसिंह की उपलब्धियाँ —किसी भी शासक की सफलता या असफलता का मूल्याकन उसके समय की शासन व्यवस्था, विजयें और साहित्यिक व सांस्कृतिक उपलब्धियों को देखकर किया जा सकता है। पिछले पृष्ठो में हमने जयसिंह के प्रारम्भिक जीवन, मुगल दरबार से बिगड़े सम्बन्धों को सुधारना, सैयद बन्धुओं से निपटना, मराठों की शक्ति को रोकना तथा मुगल मराठा या मराठा राजपूत युद्धों को टालना आदि बातों को देखा और यह स्पष्ट हो गया कि जयसिंह एक सफल राजनीतिज्ञ था जिसने पल-पल बदलती परिस्थितियो मे आमेर राज्य को सुदृढ़ और संगठित बनाया।

1. जयसिंह जब आठ वर्ष का था तो वे बादशाह औरंगजेब से मिलने दक्षिण में गये तभी औरंगजेब ने उसके दोनो हाथ पकड़कर उसे बहुत होशियार बताया और प्रसन्न होकर 'सवाई जयसिंह' कहा था। इस सवाई की उपाधि का पुष्टीकरण फर्रुखसियर के समय शाही तौर तरीके से 1713 मे सैयद हुसेन अली ने किया। मुगल बादशाह यह मानता था कि सवाई जयसिंह अन्य आमेर के राजाओं से चतुर व योग्य है।

यद्यपि सवाई जयसिंह को काफी समय तक मुगल सेवा में अपने राज्य से बाहर रहना पड़ा फिर भी उसने अपने राज्य की शासन व्यवस्था को सुधारा, क्षेत्रफल को बढ़ाया और जयपुर नगर का निर्माण करवाया जो आज राजस्थान की राजधानी है। उसका आमेर राज्य उसकी मृत्यु के समय भारत के अर्धस्वतन्त्र राज्यों में सबसे बड़ा राज्य था जिसका क्षेत्रफल 20,000 (बीस हजार) वर्ग मील था। उससे पहले राज्य की जनसंख्या ग्यारह लाख थी किन्तु उसकी मृत्यु के समय राज्य की जनसंख्या अट्ठारह लाख हो गयी थी। आमेर की वार्षिक आय भी उसके समय अन्य राजपूत राजाओ से अधिक थी जो संभवतः एक करोड़ रुपये प्रतिवर्ष थी। जबकि वास्तविक आमेर राज्य तो केवल तीन हजार वर्ग मील के लगभग था।[2] स्पष्ट है कि शेष भाग जयसिंह ने जीतकर अपने अधीन किया था।

2. राज्य विस्तार में सवाई जयसिंह ने 1712 में चाटसू, फागी, मौजाबाद पचवारा, खोहरी, देवली, सचेरी और बादल आदि जागीरें अपने राज्य में मिला ली। उसका राज्य विस्तार टोंक परगने तक था। इसी वर्ष उसके वकील जगजीवन दास ने लालसोट, अमरसर, मौजाबाद, भेराना, मेवात, बेनेटा, गाजीथाना व परगना

1. वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर—सवाई जयसिंह, पृष्ठ 165.
2. जेम्स टाड 2, पृष्ठ 294,

मौजपुर की जागीरें व पट्टे प्राप्त कर लिये । इसी प्रकार 1714-15 में मालपुरा टोंक, मुहम्मदपुर व परगना खोरी की जागीरें तनखा, इनाम व इज़ारे के रूप में प्राप्त की । इन बड़ी चार जागीरों से उसकी वार्षिक आय लगभग आठ करोड़ से बढ़ गयी । फिर 1728 में उसने अजमेर छोड़कर सांभर व डीडवाना इजारे पर प्राप्त किये । इस प्रकार बिना युद्ध के जयसिंह ने अपने राज्य को तिगुना बना लिया । इन राज्यों को जयसिंह ने पहले इजारे पर लिया और जब मुगल साम्राज्य की दशा बिगड़ती गयी तो अपने राज्य में मिला लिया । चौमू, अचरोल, सीकर, डिग्गी आदि के ठिकानो मे आमेर प्रशासक नियुक्त नहीं करते थे लेकिन ये राज्य को राजस्व व चुंगी देते थे ।

3 राज्य के पदाधिकारियों प्रमुख दीवान होता था जो प्रशासन के सारे कार्य की देखभाल करता था । परगनो में नियुक्त आमिलों व फौजदारो की रिपोर्ट उसके पास आती थी । वह राज्य के आमद-व्यय का ब्यौरा रखता था । तमाम जरूरी पत्रो का संग्रह करता था, जागीर आदि के झगड़े निपटाता था । दीवान के बाद दूसरा अफसर बख्शी होता था । वह सेना की भर्ती, रसद और वेतन का कार्य देखता था । उसकी सहायता के लिये बख्शी जागीर, बख्शी देश और बख्शी परगना होते थे जो अपने-अपने इलाको में सेना का संगठन रखते थे । जयपुर राज्य भी प्रशासन की सुविधा के लिये परगनों मे बंटा था । एक परगने में बीसियों गाँव (मौजे) होते थे । आमेर में 500 गांव थे, बाद मे 1737 में इसमें 998 मौजे गाँव) थे । परगने तीन श्रेणी के थे—हले परगने में आमिल, दूसरी श्रेणी मे फौजदार और तीसरी श्रेणी मे कोतवाल हुआ करते थे ।

4. परगने के अन्य अधिकारियों में नायब फौजदार, कोतवाल, पोतदार, तहसीलदार व मुशरिफ आदि अफसर भी होते थे । हर परगने में एक दफ्तर होता था जिसमे आमिल, पोतदार और अन्य अफसर बैठते थे । प्रजा से वर्षा सिचाई की पैदावार का आधा भाग कुए की सिचाई वाले खेतों से एक तिहाई भाग लिया जाता था । लगभग सभी फसलें बोई जाती थी । गाँवों में पटेल, पटवारी व कानूनगो लगान वसूली करते थे । शहरों मे त्यौहारों पर व्यापारियो से त्यौहारी ली जाती थी जो अधिकतम एक किलो घानी के तेल के बराबर होती थी । अन्य लोगों से दिवाली पर एक टका 25 दाम, होली व राखी पर 25 पच्चीस दाम लिये जाते थे ।

5. आमिल व फौजदार को न्याय के अधिकार थे । इसके अतिरिक्त एक न्याय सभा थी जो घूम-घूम कर अलग-अलग स्थानों पर मुकदमे सुनती थी । बड़ी चोरी के अपराधी को मृत्यु दण्ड दिया जाता था । साधारण चोर के दाग लगा दिया जाता था । गाँवों मे भूमि सम्बन्धी झगड़े ग्राम पंचायत निपटाती थी । मुकदमों मे अधिक समय नही लगता था । कई पटेल मिलकर भी गाँवों के आपसी भूमि झगड़े निपटाते थे । हर परगने में एक खुफिया नवीस होता था जो सरकारी अफसरों के काम-काज

की रिपोर्ट आमेर भेजता था। अपने परगने के नवीन समाचार, अफवाह, झगड़े, चोरी, अफसरों के आचरण आदि की रिपोर्ट भेजता था। ये खुफिया कर्मचारी मुगल साम्राज्य के प्रमुख नगरों में भी रहते थे जो दरबार व साम्राज्य की सूचनाएँ आमेर भेजते थे।

6. सवाई जयसिंह स्वयं बड़ी सेना नहीं रखता था लेकिन समय पड़ने पर 50,000 तक सेना तैयार कर लेता था जैसा उसने सैयद भाइयो व जोधपुर के खिलाफ किया था। सेना के दो मुख्य भाग थे—सवार और पैदल। वेतन नगदी व जागीर दोनों रूप में दिया जाता था। घोड़ो को दागने की प्रथा थी। तोपखाना भी था और उसकी तोपे 12 से 20 सेर तक का गोला फेंक सकती थी। ऊँट सवार भी होते थे जो डाक ले जाने का काम भी करते थे। स्पष्ट है कि शासन व्यवस्था अत्यन्त व्यवस्थित थी। उसके राज्य में उस समय शान्ति और सुरक्षा थी जबकि सारे देश में मुगलों के पतन व मराठों की महत्वाकांक्षाओ से चारों ओर अराजकता और अशांति फैली हुई थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सवाई जयसिंह न केवल उन्मत्त मराठा घोड़ों के मुँह मोड़ने में सफल रहा वरन् मुगल साम्राज्य की ढहती हुई दीवार से बचकर देश के अंधकार युग मे आशा व प्रगति के दीप जलाता रहा।

7. साहित्य कला और विज्ञान में भी सवाई जयसिंह के समय में आमेर [illegible] किसी भी शासक में उसके जैसी [illegible] ी को देश में विद्या का सबसे [illegible] ज्य पतन की ओर गिर रहा था, [illegible] जयसिंह एक के बाद एक वेधशालाएँ बनाता रहा। खगोल शास्त्र उसका प्रिय विषय था। उसने गुरु जगन्नाथ से रेखागणित का अरबी से संस्कृत में अनुवाद करवाया। नक्षत्रों के अध्ययन के लिये उसने जयपुर, मथुरा व बनारस मे वेधशालाएँ बनवाई जिनसे किसी भी समय नक्षत्रों की स्थिति का सही ज्ञानकर सके। उसने दूत भेजकर गोओं के पुर्तगाली पादरी मेन्युअली यूरोप भेजकर विशेष जानकारी मंगवाई और जयपुर में जंतर-मंतर का निर्माण किया जो पर्यटको को आज भी स्तब्ध करता है। उसके दरबार मे दूसरा भारतीय विद्वान केवल राम था जिसे जयसिंह ने ज्योतिष-राय की उपाधि दी थी।

स्थापत्य कला में भी वह पीछे नही था। उसने आमेर मे नये महल बनवाये तथा पहाड़ी की ऊँचाई पर जयगढ़ बनवाया। उसने मानसागर के बीच जलमहल बनवाया। उसने जयपुर नगर का निर्माण किया। इसकी नींव 18 नवम्बर 1727 को रखी गयी। नक्शे के आधार पर बनाया गया यह भारत का पहला नगर था।

1. वीरेन्द्र स्वरुप भटनागर—सवाई जयसिंह, पृष्ठ 202.

दो वर्ष में नगर के बाजार, मकान व मंदिर बनकर तैयार हो गये। इस नगर का नाम जय नगर या जयपुर रखा गया। मकान, बाजार और बस्तियों में एक रूपता थी। यहाँ नौ में से सात खण्ड जनसाधारण के लिये थे। मुख्य सड़क 120 फुट चौड़ी दो मील लम्बी सूरज व चांदपोल को जोड़ने वाली थी। नगर के मुख्य नौ खण्ड थे। चारों ओर 20-25 फुट ऊँची दीवार में सात दरवाजे थे। उसने अनेक मंदिर भी बनवाये। कलकी जी का मंदिर, विष्णु मंदिर, सिसोदिया राणी का महल तथा नाहरगढ का निर्माण भी किया। मथुरा में सीताराम व गोवर्धन मंदिर, तथा हर सूबे में एक सराय बनवाई। राजस्थान के प्रमुख निर्माताओं में वह अपना स्थान सुरक्षित रखता है। उसकी इमारतों में संगमरमर का अधिक प्रयोग व हिन्दू शैली का प्रयोग मिलता है।

उसके समय में धर्मशास्त्र पर अनेक रचनाएँ लिखी गयी। उसके दरबार में कर्मानुष्ठानी व धर्मशास्त्र के विद्वान रहते थे। विद्वानों के लिये ब्रह्मपुरी की स्थापना की थी। तंत्र-मन्त्र शास्त्री शिवानंद उसके दरबार में थे जिन्होंने 48 रचनाएँ की थी। दूसरे विद्वान रत्नाकर भट्ट थे जिन्होंने जयसिंह को अश्वमेध यज्ञ भी करवाया। यह ज्योतिष के पंडित थे और महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। अन्य विद्वानों में ब्रजनाथ भट्ट उल्लेखनीय है जिन्होंने 'मरीचिका' और 'पद्यतरंगिणी' ग्रन्थों की रचना की। उसके दरबार में कवि साहित्यकार और वैज्ञानिकों का बड़ा सम्मान होता था। संस्कृत रचनाओं के सिवा पिंगल व डिंगल में भी अनेक ग्रंथ लिखे गये। वैदिक परम्पराओं में उसे बड़ी रुचि थी व धार्मिक कामों में उसने करोड़ों रुपये व्यय किये। जयसिंह को उसके समय का चाणक्य कहा गया है। वह केवल अत्यन्त सफल राजनीतिज्ञ व प्रशासक ही नहीं था अपितु अपनी सूझबूझ, विद्वत्ता, उदारता के लिये देशभर में प्रसिद्ध था।[1]

1. वीरेन्द्र स्वरूप भटनागर–सवाई जयसिंह; पृष्ठ 211.

20

मराठे और राजपूत

मुगल साम्राज्य का अस्त और मराठों का उदय भारत के इतिहास मे रात और दिन की कहानी है। औरंगजेब ने राजपूतों को या तो विद्रोही बना दिया या उन्हें राज्य-विस्तार का अवसर दे दिया था। राजपूतों ने उसकी मृत्यु को स्वाधीनता का संकेत मानकर धीरे-धीरे राजस्थान को स्वतन्त्र कर लिया। उधर दक्षिण मे शिवाजी के वंशज दिल्ली तक छापे मारने लगे और सारे देश को अपने अधीन करने की तीव्र लालसा में मुगलों के उखड़ते पाँवों को रोंदते, साम्राज्य के विभिन्न भागों को लूटते अपना प्रभाव क्षेत्र बना रहे थे। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच राजस्थान की भूमि पड़ती थी। स्वाभाविक है कि दिल्ली पर आधिपत्य स्थापित करने वाले मराठे राजस्थान पर भी अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करते। इस प्रकार मराठो का राजपूतों से जो सम्पर्क रहा उसे साधारणत: तीन भागों मे बाँटा जाता है—

1. मुगल साम्राज्य पतन काल—1710 से 1751.
2. राजपूत मरहठा संघर्ष काल—1751 से 1792.
3. अराजकता और अंग्रेजों का आगमन—1792 से 1818 ई० तक।

मराठों ने राजपूतों की आपसी फूट से लाभ उठाकर किसी न किसी राजा की सहायता करने के लिये एक मित्र के रूप में राजस्थान में प्रवेश किया, फिर जब यहां की आन्तरिक दशा से परिचित हो गये तो अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। उदयपुर के राणा, जयपुर के राजा और जोधपुर के महाराजा ने इनके बढ़ते प्रभाव को रोकना चाहा तो मराठों और राजपूतों के बीच संघर्ष शुरू हो गया। फलस्वरूप सारे राजस्थान मे अराजकता फैल गई। राजपूत राजा मराठो को वार्षिक भेंट व कर देने में भी असमर्थ हो गये और इस अराजकता के युग में अंग्रेजों ने बड़ी आसानी से राजपूतों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। मराठों के राजस्थान में मूल रूप से तीन राज्यों से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहे। ये तीन राज्य मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर राज्य है। अन्य राज्यो के साथ जो साधारण सम्बन्ध रहे उनका भी संक्षिप्त विवरण आवश्यक है किन्तु इन तीनों राज्यों से जो सम्बन्ध रहे वे राजस्थान के इतिहास मे बहुत महत्त्व रखते हैं।

सबसे पहले हम देखे कि मराठो और राजपूतो मे किन कारणों से घनिष्ठता और फिर शत्रुता बढ़ी। मराठे राजस्थान की तरफ आकर्षित क्यों हुए? मराठा हस्तक्षेप के मूल कारण निम्नांकित हैं—

हस्तक्षेप के कारण

1. राजपूतों की अयोग्यता—मुगल साम्राज्य की दुर्बलता के साथ सारे राजस्थान में अराजकता और अशान्ति का एकछत्र शासन हो गया। राजस्थान के विभिन्न राजाओं में महत्त्वाकांक्षा उमड़ने लगी। हर एक राजा अपने पड़ौसी राजाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित करने को प्रयत्नशील हो गये। अपने राज्य को बढ़ाने के लिये वे कोई भी पाप कर सकते थे। डॉ॰ रघुबीरसिंह के शब्दों में "पिता ने पुत्र को और बेटे ने बाप को मारा, कुलीन ललनाओं ने धोखा देकर अपने निकटतम प्यारे सगे-सम्बन्धियों को भी निःसंकोच विष पिलाया। राजस्थान में सर्वत्र भयंकर मार-काट, घृणित षड्यंत्रों, वचन-भंगों एवं अविश्वसनीय विश्वासघातों का दौर-दौरा हो गया और उसमें सफलता प्राप्त करने के लिये दोनों पक्ष वाले विदेशियों से भी सहायता मांगने में नही हिचके। यों मरहठों का राजस्थान में सर्वत्र प्रवेश हो गया और उन्होंने तथा पिण्डारियों ने जी भर कर राजस्थान को लूटा।"[1]

राजपूतों का इतना पतन पहले कभी नहीं हुआ था। सारा समय विलासिता में, आपसी गृह कलह में, सामन्तों की लड़ाइयों में और मराठों को संतुष्ट करने में बिताने लगे। उन्होंने देश की बदलती हुई राजनीति, युद्ध के वैज्ञानिक तरीके या सेना संगठन आदि पर कोई ध्यान नहीं दिया। डॉ॰ रघुबीरसिंह फिर कहते हैं कि—"अशान्ति, आर्थिक दुर्दशा, अज्ञान, अयोग्यता, आक्रमणकारियों द्वारा आधिपत्य तथा आर्थिक शोषण एवं असीम अराजकता के विषम चक्कर में पड़ कर राजस्थान निरन्तर पतन के गर्त में गहरा डूबता ही गया।"[2] स्पष्ट है कि राजपूतों की अयोग्यता से मराठों का ध्यान राजस्थान की तरफ आकर्षित हुआ।

2. शिवाजी सिसोदिया—मराठा शक्ति के उदय काल से ही मेवाड़ और मराठा सरदारों में कौटुम्बिक मित्रता प्रतीत होती है। शिवाजी अपने आपको क्षत्री और सिसोदिया वंश का राजा मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने वैदिक परम्पराओं के अनुसार 1674 ई॰ में अपना राज्याभिषेक करवाया और भारत के सबसे अधिक विद्वान् पंडित गाग भट्ट को बुला कर अपना राज्याभिषेक करवाया था। यदि शिवाजी क्षत्री नहीं होते तो यह विद्वान धन के लालच में उनका राज्याभिषेक नहीं करवाता। सर यदुनाथ सरकार और ग्राण्डफ इस सत्य को नहीं मानते। लेकिन कवि श्यामलदास वीर विनोद की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 1581-82 पर, शिवाजी के दादा मालू घोंसला को मेवाड़ के सिसोदिया वंश का एक योग्य सवारों का अफसर बताते हैं। यह मालू घोंसला 1600 ई॰ में अहमद नगर के सुलतान के यहाँ नौकरी करने चला गया। यहां उसकी स्त्री ने एक मुसलमान पीर शाह सेफर की मिन्नत मानी और उसे पुत्र प्राप्त हुआ। इस पुत्र का नाम मालू घोंसला ने पीर के नाम पर

1. डॉ॰ रघुबीरसिंह—पूर्व आधुनिक राजस्थान—पृष्ठ 167.
2. डॉ॰ रघुबीरसिंह—पूर्व आधुनिक राजस्थान—पृष्ठ 167-68.

शाहजी रखा। मालू के इस लड़के शाहजी का सम्बन्ध जादूराव की लड़की जीजा बाई से हुआ जो खानदानी रईस होगा। अहमद नगर के सुल्तान ने इसे पूना और सोपा आदि की जागीर देकर दक्षिण में बसा दिया। शिवाजी इसी शाहजी के बेटे थे। इसलिए कुछ लोग शिवाजी को सिसोदिया वंश का क्षत्री मानते हैं क्योंकि उनका दादा मेवाड़ का उच्च कुल का क्षत्री था। शिवाजी ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए अपने जीवन काल में राजपूतों से सदा अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे।

श्री सावरकर और सर देसाई के साथ राबर्ट ओर्मी इस बात को मानते हैं कि शिवाजी के हिन्दू पद पादशाही का आधार राजपूतों और मराठों के बीच खून का सम्बन्ध था। डॉ० कृष्ण स्वरूप गुप्ता ने अपने अप्रकाशित शोध ग्रन्थ 'मेवाड़ एण्ड दि मराठाज्' में इस बात को स्वीकार किया है कि शिवाजी क्षत्री थे। लेकिन शिवाजी के पुत्र शंभाजी का विवाह रामनगर की सिसोदिया राजकुमारी से हुआ था जिसका वर्णन पेशवा दफ्तर की जिल्द 10 के पत्र स० 5 पर मिलता है। यदि शिवाजी सिसोदिया होते तो उनके लड़के का विवाह मेवाड़ की राजकुमारी से नही होता। यह तो स्पष्ट है कि वे क्षत्री थे और उनके पूर्वज मेवाड़ निवासी थे। मेवाड़ के शासक और शिवाजी के वंशज दोनों अपने आप को अयोध्या के राजा राम के वंशज मानते थे। शिवाजी ने कभी राजपूतों के क्षेत्र में प्रवेश नही किया किन्तु यह महान् दुर्भाग्य की बात रही कि औरंगजेब ने शिवाजी का दमन करने के लिये पहले राजा जसवन्तसिंह को भेजा और बाद में राजा जयसिंह को। एक जोधपुर नरेश था और दूसरा जयपुर का राजा। शिवाजी मई, 1666 ई० मे आगरा भी जयसिंह को समझाने से ही गये थे और जब औरंगजेब ने उन्हें कैद कर लिया तो जयसिंह के लड़के रामसिंह ने उन्हें निकल भागने में सहायता दी।

शिवाजी की मृत्यु के बाद दुर्गादास अपने साथ शहजादा अकबर को लेकर शंभा जी के पास मदद पाने गया। शंभाजी अकबर की मदद अवश्य करते लेकिन उसी समय अकबर शम्भाजी के प्रतिद्वन्द्वी राजा राम से मेल-जोल बढ़ाने लगा। फलस्वरूप शम्भाजी ने उसकी मदद नही की। इस प्रकार हम देखते हैं कि औरंगजेब के समय में मराठे व राजपूतों में मेल-जोल और सद्भावना तो थी किन्तु किसी प्रकार का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित नही हो सका। वैसे दोनो ही मुगल साम्राज्य के विरुद्ध प्रभावशाली राजनीतिक आन्दोलन उठा रहे थे, जिसका लक्ष्य स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता थी। महाराणा उदय सिंह और प्रताप की भांति शिवाजी और शम्भाजी आदि ने भी हिन्दू राष्ट्र निर्माण के लिये जीवन भर युद्ध किया। दोनों का शत्रु एक था, लक्ष्य एक था फिर भी आश्चर्य है कि दोनों जातियां मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में एक न हो सकी। श्री गहलोत का कहना है कि—"राजपूतो ने मराठों को एक नवजात शक्ति के रूप में देख कर अवहेलना की और मराठों ने अपनी शक्ति की सफलता स्थापित कर राजपूतों से समानता का व्यवहार चाहा। वे मुगलों के विरुद्ध राजपूतों को अपना सहयोगी नही बना सके।"[1]

1. जगदीशसिंह गहलोत —मेवाड़-राज्य का केंद्रीय शक्तियों से सम्बन्ध—पृष्ठ 38

बनाया गया। इसने 29 वर्ष तक राज्य किया। इसके समय में मुगल साम्राज्य का सर्वनाश हो गया। फर्रुखसियर से जोधपुर के राजा अजीत सिंह ने अपनी पुत्री का विवाह किया था। उसकी मृत्यु पर वह उसे वापस जोधपुर ले गया और फिर हिन्दू बना लिया। दुर्बल बादशाह मुहम्मद शाह के समय में हैदराबाद का निजाम स्वतन्त्र शासक बन गया और 1724 में हैदराबाद राज्य की नींव पड़ी। मराठे आजाद हो गये। गुजरात पर उनका प्रभाव स्थापित हो गया। सन् 1723 में उन्होंने नर्वदा पार कर मालवा पर अधिकार जमाना शुरू कर दिया। किन्तु दिल्ली के बादशाह मराठों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। स्वाभाविक था कि गुजरात और मालवा में अपना प्रभाव स्थापित कर लेने पर, दिल्ली तक जाने की इच्छा रखने वाले मराठे, बीच में पड़ने वाले राजस्थान को भी अपने प्रभाव में लाना चाहेंगे। इस परिस्थिति में दुर्बल दिल्ली ने मराठों और राजपूतों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। न तो मराठों को दिल्ली की शक्ति का भय था और न राजपूतों को दिल्ली से मराठों के विरुद्ध किसी प्रकार की सहायता की आशा थी। दिल्ली की दुर्बलता दोनों को राज्य विस्तार के लिये प्रेरणा दे रही थी। वहाँ दोनों के सम्बन्ध तनावपूर्ण और कटु होते जा रहे थे। यदि केन्द्र शक्तिशाली रहता तो मराठों को उत्तर में विस्तार का अवसर ही नहीं मिलता। हुसेन अली ने 1717 में मराठों को दक्षिण की चौथ देकर उनकी हिम्मत को बहुत बढ़ा दिया। बादशाह का यह वजीर सैयद था। इन सैयद भाइयों के निमन्त्रण पर बालाजी विश्वनाथ ने मुगलों की राजधानी दिल्ली पहली बार देखी थी। उस समय के बाद से मराठों की इच्छाएँ बराबर बढती गई। जयपुर के राजा जयसिंह ने कुछ समय तक मराठों को उत्साहित कर सहयोग दिया और अब उनकी इच्छाएँ बहुत बढ़ गई तो उन्हें रोकना सम्भव नहीं रहा। बालाजी विश्वनाथ के पुत्र व उत्तराधिकारी पेशवा बाजीराव प्रथम और जयसिंह के बीच दिल्ली में मित्रता हो गई थी। इसी मित्रता पर आधारित मराठा राजपूत सम्बन्ध, हुरड़ा की सन्धि, जो 1734 में राजपूत राजाओं ने मराठों के प्रसार को रोकने के लिये की थी, तक मराठा व राजपूतों के सम्बन्ध सामान्यतः मित्रतापूर्ण बने रहे लेकिन दोनों का स्वार्थ एक था इसलिये आखिरकार संघर्ष भी टाला नहीं जा सका।

4. सवाई जयसिंह—जयपुर के राजा सवाई जयसिंह को बदलती हुई मुगल राजनीति का कई बार शिकार बनना पड़ा। डॉ० रघुबीरसिंह का कहना है कि—'सवाई जयसिंह अपने समय का एक महत्वाकांक्षी राजपूत राजा था। वह साँभर से लेकर दक्षिण भारत में नर्वदा नदी तक अपना राज्य स्थापित करना चाहता था, अतएव मालवा के हरे भरे उपजाऊ भू भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उसने अपने प्रतिद्वन्दी सरदारों के विरुद्ध मराठों की सहायता को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना चाहा।"

मुगल दरबार में जयसिंह का प्रभाव कम होता जा रहा था। उसे मालवा का सूबेदार बना कर भेजा गया, फिर दो वर्ष बाद हटा दिया गया। इस प्रकार के

संदिग्ध वर्ताव से सवाई जयसिंह नाराज होता गया। यह बहुत महत्त्वाकांक्षी था। उसी ने राज्य बढ़ाने के लिये बूंदी पर आक्रमण किया। बूंदी के राजा बुद्धिसिंह को जयसिंह की बहन ब्याही थी। जब जयसिंह ने अपने बहनोई को हटाकर अपने दामाद को बूंदी का राजा बना दिया तो उसकी बहन ने अपने भाई जयसिंह के विरुद्ध मराठा सरदार मल्हार राव होल्कर को राखी बांधकर भाई बनाया और बहुत सा धन देकर बूंदी वापस जीतने के लिये मदद मांगी। होल्कर ने अपने साथ राणोजी सिन्धिया को भी ले लिया और बूंदी को जीत कर, नये राजा दलेल सिंह को गद्दी से हटाकर वापस बुद्धिसिंह को बूंदी का राजा बना दिया। राजस्थान में राजघरानों के झगड़ों में मराठों का यह पहला हस्तक्षेप था। इसके बाद उनके आक्रमणों का तांता बंध गया और मराठों व राजपूतों का संघर्ष शुरू हुआ। इस दृष्टि से यदि हम सवाई जयसिंह को मराठा-राजपूत संघर्ष का जन्मदाता मानें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जयसिंह ने ही स्वार्थ सिद्धि के लिये प्रारम्भ में मराठों के साथ सम्मानपूर्ण वर्ताव किया। जब उसे मुगल दरबार में सत्तारूढ़ दल का विश्वास प्राप्त नहीं रहा तो उसने अपनी जगह बनाये गये मालवा के सूबेदार के विरुद्ध मराठों को उकसाया। उसी के कहने पर मराठों ने मालवा में प्रवेश किया। मालवा के पड़ौस में होने के कारण मराठों का अगला शिकार राजस्थान बन गया जिसका उत्तरदायित्व जयसिंह पर ही है। राजस्थान में मराठों के घुसपैठ की रूपरेखा इस प्रकार जयसिंह के हाथों तैयार की गयी।

5. विदेशी आक्रमण—भारतवर्ष पर विदेशियों के आक्रमण का तांता लगा रहा है। आर्यों के आगमन से लेकर आज तक समय-समय पर शक्तिशाली विदेशियों के आक्रमण होते रहे हैं। मुगल साम्राज्य की गिरती दीवार को 22 वर्ष के समय मे दो भयानक आक्रमणो का सामना करना पड़ा। पहला आक्रमण नादिरशाह ने मई 1739 मे किया और दिल्ली की आबरू लूट कर ले गया। दूसरे आक्रमण ने तो मुगल साम्राज्य की पतंग ही काट दी। अहमद शाह अब्दाली एक बड़ी अफगान सेना लेकर भारत पर चढ़ आया। उसने 14, जनवरी 1761 के दिन पानीपत की तीसरी लड़ाई मे मराठों को पूर्ण रूप से पराजित किया। मराठों ने तो सिर्फ दस वर्ष मे ही अपनी शक्ति का पुनः संगठन कर लिया किन्तु दिल्ली का डरपोक बादशाह कटी पतंग की तरह इलाहाबाद जा पड़ा जिसे पकड़ कर मराठों ने नाम मात्र का बादशाह बनाकर दिल्ली के सिंहासन पर बिठा दिया। मुगल सम्राट के नाम पर मराठों का वकील दिल्ली का शासन चलाने लगा। स्पष्ट है कि इन दो विदेशी आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य को दफना दिया। ऐसा लग रहा था कि मुगलों का स्थान मराठे लेंगे। तभी 1754 ई० में जोधपुर ने अजमेर और जयपुर ने रणथम्भौर पर अधिकार कर राजस्थान में मुगलों के आधिपत्य का नामोनिशान तक मिटा दिया। मराठे जो मुगलों का स्थान ले रहे थे, यह चाहते थे और आशा

रखते थे कि राजपूत मराठों के प्रति भी वफादार रहेंगे और जब ऐसा नहीं हुआ तो सन् 1751 से दोनों का संघर्ष काल शुरू हो गया। विदेशी आक्रमणों ने मुगल शक्ति का अन्त कर, मराठों को उनका स्थान दिलाकर, राजपूतों को स्वतन्त्र होने का अवसर प्रदान कर, मराठों व राजपूतों के साम्राज्यवादी हितों को टकरा दिया और दोनों जातियों में तनाव बढ़ता गया।

अराजकतापूर्ण राजस्थान की राजनीति में मराठा राजपूत संघर्ष की उलझन 10 जनवरी 1751 ई० को प्रारम्भ हुई जब माधोसिंह का राज्याभिषेक जयपुर में हुआ था। इसके कुछ ही वर्ष बाद राजपूत-मराठा कशमकश शुरू हो गई। रुधिर की होली खेलने वाले वीर राजपूत अब अपने देश को लूटने वाले मराठों का बाल भी बाँका नहीं कर सकते थे। उनके भयानक आक्रमणों को रोकने के लिये ये राजपूत राजा अपने दूतों से साथ अमूल्य उपहार पूना भेजा करते थे। उन्हें प्रसन्न करते रहते थे और उनकी सेना और वकीलों को प्रसन्न रख कर जैसे तैसे अपना देश और राज्य बचाये हुए थे। इस दशा ने राजस्थान को दरिद्र बना दिया। यह दशा 1818 तक रही, जब लार्ड हेस्टिंग्ज ने राजस्थान को मराठों के दमन से बचाया।

अब हम यह देखें कि इन तीन कालों में (1710-1751 तक 1751-1792 तक और 1792 से 1818 तक) राजस्थान की मुख्य रियासतों पर मराठों का क्या प्रभाव पड़ा या इनके मराठों से कैसे सम्बन्ध रहे। ये तीन राज्य मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर हैं।

मेवाड़ और मराठे

मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर मराठों ने अपना महल बनाना चाहा अतः राजपूतों पर अधिकार स्थापित करना स्वाभाविक था। बाजीराव प्रथम की विस्तारवादी नीति को सफल बनाने के लिये जब मराठों ने नर्मदा पार की तो मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह का मन भावी आशंकाओं से काँप उठा। उस समय राजपूत शासक न योग्य थे और न उनमें एकता थी। शिवाजी के वंशजो ने अपने मेवाड़ के राणाओं पर अत्याचार शुरू कर दिये।

दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण, कत्ले-आम और चालीस करोड़ रुपये की नकदी का नुकसान भी राजस्थान को अछूता छोड़ गया। देश की इस दुर्घटना का राजस्थान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मेवाड़ का मुख्य भाग अब बिलकुल स्वतन्त्र था। इन दिनों मेवाड़ राज्य की लम्बाई एक सौ चालीस मील और चौड़ाई एक सौ तीस मील थी। राज्य में दस हजार से अधिक नगर व गाँव थे। लेकिन 1710 से 1850 तक मराठों के सम्पर्क में रह कर 150 वर्षों में मेवाड़ की जो दशा हुई उसका अध्ययन हम निम्नांकित बातों से कर सकते हैं :—

1. मूक मैत्री युग—महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय 1710 ई० में मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे। उन्होंने 24 वर्ष तक राज्य किया। टाड महोदय उनका राज्याभिषेक 1716 में और मृत्यु 1734 में बताते हैं।[1] उनके शासन काल में मराठों से मेवाड़ के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण थे। इस शान्ति व मित्रता के युग में स्मरण रखने योग्य दो तीन बातें ही हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि शिवाजी के वंशज मेवाड़ को अपनी भूमि मानते थे और मेवाड़ के राणाओं को 'काका' कहकर संबोधित करते थे। दूसरी स्मरणीय मित्रता की बात यह है कि राणा भोपालसिंह ने अपने समय में शिवाजी के परिवार से सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। नेटावल के रघुवीरसिंह सिसोदिया को राजा मालोजी के वंश में स्वर्गीय नारायण राव के गोद भेज दिया था। कवि श्यामलदास इसका खंडन और विनोद में करते हैं किन्तु श्री गहलोत इसे मान्यता देते हैं।

तीसरी महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध शम्भाजी का रामनगर की राजकुमारी से विवाह था। ये तीनों ही बातें विरोधी लगती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुसंधान माँगता है किन्तु यदि ये कल्पना मात्र भी हैं, तो भी यह तो प्रमाणित होता ही है कि इस युग में मराठे और मेवाड़ के बीच मूक मैत्री थी जिसका न तो विशेष वर्णन ही मिलता है और न जिसे खण्डित ही किया जा सकता है। राणा संग्रामसिंह द्वितीय अपने जीवन काल में ही यह समझ गये थे कि आने वाले समय में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति मेवाड़ को भी रौंद डालेगी अतः अपने जीवन काल में संग्रामसिंह ने जयपुर के राजा जयसिंह की सहायता से मेवाड़ के एक नगर हुरडा में सारे राजपूत राजाओं का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें राजस्थान की रक्षा के लिये राजपूतों का संगठन बनाया गया। डॉ० मथुरालाल शर्मा अपनी पुस्तक 'जयपुर राज्य का इतिहास' में इस सम्मेलन का सारा श्रेय केवल सवाई जयसिंह को दे देते हैं जबकि वास्तव में इस विचार का प्रचार महाराणा संग्रामसिंह ने किया था। वे जयसिंह से आमूँचा के स्थान पर मिले जिसके फलस्वरूप हुरड़ा सम्मेलन हुआ था। इस मूक मैत्री युग के इस सम्मेलन को अलग से देखना उचित होगा।

2. हुरड़ा सम्मेलन—इस सम्मेलन के जन्मदाता महाराणा संग्रामसिंह का सम्मेलन के कुछ समय पूर्व 1734 में देहान्त हो गया। डॉ० कृष्ण स्वरूप गुप्ता ने अपने शोध प्रबन्ध में सिद्ध किया है कि यह सम्मेलन मेवाड़ के राणा ने बुलाया था। जो भी हो यह तो स्पष्ट है यह सम्मेलन मेवाड़ के एक छोटे से कस्बे हुरड़ा में हुआ था। इसलिए इसे मेवाड़ की प्राप्तियों में ही गिनना उचित होता। संग्रामसिंह की मृत्यु के 40 दिन बाद ही राणा जगतसिंह ने इस सम्मेलन में भाग लिया। यह सम्मेलन 17 जुलाई, 1734 को प्रारम्भ हुआ। डॉ० कृष्ण स्वरूप गुप्ता का कहना है कि—"महाराणा जगतसिंह आमोद प्रमोद के शौकीन थे अतः उनसे यह आशा करना व्यर्थ था कि वह मराठों पर उतनी सतर्कता से ध्यान देता, जितना उसके पिता संग्रामसिंह ने दिया।"

1 टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 241।

हुरड़ा सम्मेलन के छः उद्देश्य थे—

1. मराठों के आक्रमण से राजस्थान की रक्षा के लिये राजपूत राजाओं को संगठित करना।

2. जयसिंह अपना राज्य-विस्तार करना चाहता था। यह तभी हो सकता था जब वह मराठों का विस्तार रोक सके। इसलिए वह मराठों के विरुद्ध राजपूत संगठन चाहता था ताकि उसकी राज्य-विस्तार इच्छा पूरी हो सके।

3. जोधपुर का राजा अभयसिंह गुजरात में राज्य-विस्तार चाहता था। यह भी मराठों पर प्रतिबन्ध लगने से ही सम्भव हो सकता था।

4. मराठों ने सवाई जयसिंह को मन्सौर के युद्ध मे हरा दिया था। यह मराठों से बदला लेना चाहता था।

5. मराठों ने बूँदी के राजा बुद्धसिंह को पुनः गद्दी पर बिठाकर राजस्थान के आन्तरिक मामलों से हस्तक्षेप शुरू कर दिया था जिससे सभी राजा चौकन्ने हो गये थे। इस प्रकार के हस्तक्षेप को भविष्य में रोकने के लिये यह सम्मेलन बुलाया गया था।

6. उत्तराधिकार के आन्तरिक मामले में दूसरे राजा हस्तक्षेप नही करेंगे।

प्रतिनिधि—सम्मेलन मे भाग लेने के लिये मेवाड़ के राणा जगतसिंह द्वितीय, मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह, आमेर के सवाई जयसिंह, कोटा के हाड़ा राजा दुर्जनसाल, बीकानेर के जोरावरसिंह, करोली के गोपालसिंह और किशनगढ के राजसिंह हुरड़ा आये थे। सम्मेलन में मध्य-भारत के भी कई शासक आये थे। रतलाम, शिवपुरी, ईडर, गौड़ और अन्य राजपूत राजाओं ने भाग लिया था। यह सम्मेलन केवल राजस्थान के राजाओं का सम्मेलन न होकर राजपूत राजाओं का सम्मेलन था। सच तो यह है कि राणा सांगा ने या तो बाबर के विरुद्ध राजपूतों का नेतृत्व किया था या हुरड़ा में, राणा संग्रामसिंह ने राजपूतों को फिर एकत्रित किया था, किन्तु सम्मेलनों के रूप में यह राजपूतो के इतिहास में पहला सराहनीय प्रयास था।

निर्णय—पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् सारे राजपूत राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि तीन बातों पर अमल किया जाय—

1. एक संगठित राजपूत सेना तैयार की जाय जिसमें सभी राजपूत राजा अपनी-अपनी सेना का एक भाग भेजेंगे। यह सेना वर्षा समाप्त होने पर कोटा के पास, रामपुरा में एकत्रित होगी और वहाँ से उसे मराठों के विरुद्ध भेजा जायेगा।

2. मराठों की घुस-पैठ को रोकने के लिये राजपूत मुगल बादशाह से भी मदद लेंगे। इस हेतु एक प्रार्थना बादशाह को भेजी जाय।

3. मराठों से लड़ने वाली राजपूत सेना मे मेवाड़, कोटा, जयपुर और मारवाड़ की सेना की प्रधानता होगी और ये शासक भी युद्ध में भाग लेंगे।

इस प्रकार मुगलों की मदद से एक दिन को आपसी झगड़े भूलकर राजपूत कागज पर एक हो गये।

परिणाम—हुरड़ा सम्मेलन इसलिये बुलाया गया था कि राजस्थान में मराठों के प्रवेश को रोका जाय। लेकिन सवाई जयसिंह और दुर्जनशाला के अतिरिक्त किसी ने न तो अपनी सेना ही भेजी और न खुद ही आया। दोनों राजा कोटा से 22 मील दूर मुकन्दरा घाटी तक गये और लौट आये। मराठों के विरुद्ध अभियान एक कल्पना मात्र बन कर रह गया और हुरड़ा समझौता एक कागजी दस्तावेज मात्र। यह सम्मेलन अपने लक्ष में पूर्णतया असफल रहा। मराठों को जब इस प्रकार की योजना का पता चला तो उन्होंने मालवा पर अधिकार करने के बाद मेवाड़ और अन्य राज्यों पर आक्रमण व लूटमार शुरू कर दी। सवाई जयसिंह ने अलग से मराठों से संधि कर ली। वह 8 मार्च, 1736 को किशनगढ़ के पास बाजीराव पेशवा से मिला और मराठों को बादशाह से अधिक से अधिक लाभ दिलाने की चेष्टा करने का वादा कर अपने राज्य को तो बचा लिया और मेवाड़ व मारवाड़ को अपने भाग्य पर छोड़ दिया। यह जयसिंह की कूटनीतिक चाल थी। उसने मराठों का आतंक कम करने के लिये उनसे संधि कर अन्य राजाओं के साथ विश्वासघात किया। सक्षेप मे हुरड़ा सम्मेलन उच्च आदर्शों का गर्भाधान था जो स्वार्थ के धमाको से गर्भपात का दुखदाई रूप धारण कर गया।

3. मराठे मालवा में—मराठों ने 1699 ई० में पहली बार मालवा में प्रवेश किया था और 1710 के बाद तो उनका मालवा प्रवेश एक साधारण बात हो गई थी। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय को एक तरफ मराठों का भय लगा रहता था और दूसरी तरफ वे उनके दरबार में अपना राजदूत रख कर मित्रता बनाये रखना चाहते थे। भाईचारे को बनाये रखने के लिये मेवाड़ का दूत बाघसिंह कई वर्षों से शाहू के दरबार में रहता था। उसी ने शाहू और उसके सामन्तों में समझौता करवाया था। बाघसिंह की मृत्यु के बाद उसका लड़का जयसिंह मेवाड़ का दूत बनकर पूना में रहता था। इस मित्रता के विपरीत, सवाई जयसिंह के आग्रह पर, राणा संग्रामसिंह ने अप्रेल 1717 मे एक सेना मराठों को मालवा में रोकने के लिये भेज दी। उस समय जयसिंह मालवा का सूबेदार था। मेवाड़, जयपुर की मिली जुली सेना ने मराठा सेना को दिवलपुर के स्थान पर हराकर पीछे हटा दिया। उसी समय राणा संग्रामसिंह का प्रतिनिधि बाघसिंह शक्तावत राणा की तरफ से सिरोपाव देकर शांता जी भौंसले से मित्रता कर रहा था। राणा संगामसिंह ने किस उद्देश्य से सेना भेजी यह बात स्पष्ट नहीं है फिर भी वह 1717 में मराठों को नीति व वार्ता के आधार पर मालवा से वापस भेजने में सफल हो गया था। शांताजी भौंसले ने आक्रमण न करने का वादा किया और नर्मदा के दक्षिण में चला गया। यह संग्रामसिंह की महत्त्वपूर्ण सफलता थी और बाजीराव प्रथम के पेशवा होने तक मालवा मराठों के प्रकोप से बच गया।

दिवलपुर के युद्ध से मराठे महाराणा से शत्रुता रखने लगे थे। फरवरी 26 में उन्होंने मालवा की सीमा पर मेवाड़ के कुछ गाँवो को लूटा। संग्राम सिंह कुंवर उम्मेदसिंह को भेजा जिसने मराठों को पीछे हटा दिया। शाहू को जब पता चला तो उसने अपने सरदारों को मेवाड़ पर आक्रमण न करने का आदेश ा क्योंकि मेवाड़ और मराठे दोनों का लक्ष हिन्दू राज्य की स्थापना था। उसी य जयसिंह ने मुगल सेना के साथ मराठों पर आक्रमण करना चाहा। उसने मसिंह को साथ ले लिया, तीसरी बार दोनों राजाओं ने मिलकर मराठो को वा से निकालने का फैसला किया। यह सन्धि 6 सितम्बर, 1732 ई० को की । इस सन्धि के अनुसार—

1. महाराणा ने 24 हजार सवार व 24 हजार पैदल सेना देने का वादा या।

2. विजय में जो धन प्राप्त होगा उसे महाराणा व महाराज जयसिंह आपस 1 : 2 के अनुपात में बाँटेंगे।

3. मालवा की भूमि जो बादशाह के अधीन है उससे कोई धन नही लिया यगा। सिर्फ लगान छोड़कर मनसबदारो से प्राप्त रकम भी आपस मे उसी नुपात में बाँटी जायेगी।

4. दोनों सेनाओं के सेनापति साथ रहकर काम करेंगे और भूमि कर भी थ रहकर इकट्ठा करेंगे।

5. मराठो को हराने पर मुगल बादशाह ने जो धन मराठो से मित्रता कर न्हें देने को दिया था। उसे दोनों आपस में बाँट लेंगे।

इस सन्धि से ऐसा लगता था कि राणा संग्रामसिंह को अपनी विजय का श्वास था। मेवाड़ी सेना नागराज राव की अधीनता मे थी। दुर्भाग्य से यसिंह मन्दसौर के युद्ध में बुरी तरह हार गया। होल्कर ने फरवरी, 1733 ई० मन्दसौर के नजदीक जयसिंह को पराजित कर दिया। जयसिंह ने मराठों को 6 लाख रुपये हरजाने के दिये। राणा संग्रामसिंह ने भी 5 लाख रुपये देने का वादा किया। तीन लाख उसी समय दिये गये और दो लाख एक महीने के अन्दर-अन्दर देना तय हुआ। मन्दसौर की पराजय मेवाड व जयपुर की ही नहीं राजपूतों की राजय थी। यही से मराठा मेवाड़ मित्रता समाप्त हो गयी। महाराणा संग्रामसिंह का देहान्त 11 जनवरी, 1734 ई० को हो गया और उनके साथ ही मराठा मेवाड़ मित्रता का भी अन्त हो गया।

4. मराठे मेवाड़ में—यह तो स्पष्ट है कि राणा संग्रामसिंह ने अपने जीते जी मराठों को मेवाड़ में प्रभाव स्थापित नहीं करने दिया। मराठों के दरबार में बाघसिंह को दूत बनाकर रखना, पारिवारिक सम्बन्ध बनाये रखना, दिवलपुर मे मराठों को पराजित कर कूटनीति से उन्हें मालवा से बाहर भेजना, जयसिंह से संधि

कर मराठों पर हमला करना और हुरड़ा सम्मेलन बुलाना आदि पाँच ऐसे महत्त्वपूर्ण कदम थे, जिन्होंने मेवाड़ के इस अन्तिम महत्त्वपूर्ण हिन्दू राणा को राजस्थान के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिला दिया। उसकी मृत्यु के बाद जिस तरह बाँध टूटने के बाद बाढ़ का पानी सारे देश में फैल जाता है उसी प्रकार मराठे सारे राजस्थान पर छा गये।

महाराणा संग्रामसिंह के उत्तराधिकारी जगतसिंह जी में नेतृत्व के गुण नहीं थे। हुरड़ा सभा उनकी लापरवाही से असफल रही थी। टाड महोदय का कहना है कि—"वह अपने हाथियों की लड़ाई में अधिक आनन्द अनुभव करता था न कि मराठों को राजपूताने से बाहर रहने देने में।"[1] मेवाड़ के सामन्त एक दूसरे के शत्रु हो गये थे। स्वार्थ सर्वोपरि साधना बन गया था। असंतोष बढ़ता जा रहा था और दरबारी राणा जगतसिंह से भी असंतुष्ट थे।

आपसी फूट ने राजपूतों को मराठों के विरुद्ध एक नहीं होने दिया। महाराणा के वफादार सेवक राव कुबेरसिंह ने 1743 में एक बार फिर राजपूत संगठन बनाने की चेष्टा की। कुबेरसिंह चाहता था कि मेवाड़ व जयपुर के राजा मिलकर मराठों को मालवा से निकाल दें। उधर मन्दसौर में जयसिंह को हरा कर बाजीराव पेशवा ने सारे मालवा को अपने सेनापतियों में बाँट दिया। इस प्रकार सिंधिया और होल्कर के शक्तिशाली राज्य मालवा में स्थापित हो गये थे। कुबेरसिंह के मराठों को मालवा से निकालो अभियान को स्वयं राणा ने समर्थन नहीं दिया। जयपुर और कोटा राज्य बूँदी के राजाओं को मोहरों की तरह बूँदी की गद्दी से उठा-उठा कर रखने में लगे हुए थे। जोधपुर के महाराज अभयसिंह और जयपुर के जयसिंह में शत्रुता थी अतः संयुक्त मोर्चा बनाने का यह दूसरा प्रयास भी, हुरड़ा की तरह ही असफल रहा।

शाहू की प्रार्थना को ठुकरा कर राणा ने और बड़ी भूल की। शाहू के कोई संतान नहीं थी। वह राणा के छोटे भाई नथसिंह को गोद लेना चाहता था। अपने झूठे अहम में राणा ने शाहू के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। यदि राणा ने नथसिंह को शाहू के गोद भेज दिया होता तो रंग-मंच का नक्शा ही बदल जाता और शाहू के जीवन काल में मिलता रहने के बाद नथसिंह के समय मेवाड़ महाराष्ट्र का मेल और भी प्रगाढ़ हो जाता। शाहू को अप्रसन्न कर राणा ने स्वयं मेवाड़ की शांति को आग लगा दी।

राधाबाई की तीर्थ-यात्रा—फरवरी 1735 में बाजीराव पेशवा की माता राधाबाई तीर्थ-यात्रा के लिये उत्तर भारत में आई। मार्ग में वह उदयपुर व नाथद्वारा भी रुकी। महाराणा ने 6 मई, 1735 को उदयपुर में पेशवा की माता का भव्य स्वागत किया। हजारों रुपये महमान नवाजी पर खर्च किये गये

---

1 टाड—राजस्थान—प्रथम जिल्द, पृष्ठ 495.

और जाते समय अनेक अमूल्य उपहार भी दिये। यह यात्रा राजनीतिक महत्व की थी और इससे लाभ उठाकर मराठों ने राजपूत राजाओं से राजनीतिक विचारों का आदान प्रदान शुरू किया। राणा ने जयसिंह से कहकर पेशवा की माता पर से जजिया कर माफ करवा दिया। इस यात्रा के बाद बाजीराव पेशवा स्वयं मारवाड़ आया।

बाजीराव उदयपुर में—जयपुर के राजा जयसिंह ने बाजीराव को निमंत्रित किया था। वह मुगलों से मालवा में अधिक सुविधा पाने जा रहा था। वह बांसवाड़ा होता हुआ 3 फरवरी, 1736 को उदयपुर पहुँचा। वीर विनोद के अनुसार राणा ने उसे चम्पा बाग में ठहराया।[1] पेशवा राणा से बनेड़ा की जागीर लेना चाहता था। इसके लिये पहले भी कई पत्र लिखे जा चुके थे। राणा ने बनेड़ा देने से इन्कार कर दिया लेकिन साथ ही बनेड़ा की आमदनी पेशवा को देने का वचन दिया। पेशवा बनेड़ा लेकर मेवाड़ का प्रथम श्रेणी का सामन्त बनना चाहता था। महाराणा ने पेशवा से सन्धि की। सन्धि के समय तीन लाख नकद, कई आभूषण और पाँच घोड़े भी दिये। इस सन्धि के अनुसार राणा ने पेशवा को आठ साल में, 1735 से 1743 तक, ग्यारह लाख पच्चीस हजार रुपया देना स्वीकार किया और उसके बाद प्रति वर्ष एक लाख पच्चीस हजार रुपया देते रहने का वचन दिया।

बाजीराव की उदयपुर यात्रा का सीधा फल यह निकला कि राणा ने मराठों की अधीनता स्वीकार कर ली। महाराणा को शाहु के बराबर मानकर तथा अपने आप को मेवाड़ का सामन्त कह कर भी बाजीराव बाजी मार गया। यह एक प्रकार से चौथ थी और जब कभी मेवाड़ के शासकों ने इसके देने में विलम्ब किया तो मराठों ने शक्ति के जोर से वसूल कर ली। 'वंश भास्कर' में यह भी कहा गया है कि राणा ने बाजीराव की हत्या के इरादे से उसे 7 फरवरी, 1736 को पिछोला झील में स्थित महल में भोजन पर निमंत्रित किया। पेशवा को षड्यंत्र का पता चल गया, वह राणा पर बहुत नाराज हुआ जिसे पाँच लाख रुपया और देकर राणा ने उसे शांत किया। यह घटना कदाचित् कवि की कल्पना लगती है। पेशवा पाँच दिन उदयपुर रहकर 8 फरवरी, 1736 को जयपुर चला गया। उसकी उदयपुर यात्रा मेवाड़ की पराधीनता का आरम्भ है।

जयपुर का उत्तराधिकार युद्ध—जयसिंह ने 1708 ई० में मेवाड़ की राजकुमारी से विवाह करते समय यह सन्धि की थी कि उदयपुर की राजकुमारी से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही जयपुर का राजा बनेगा। इस राजकुमारी से माधोसिंह का जन्म हुआ था। सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का ईश्वरीसिंह जयपुर का राजा बना। उस समय से पहले ही माधोसिंह को रामपुरा की जागीर

1 वीर विनोद, पृष्ठ 1222.

दे दी गयी थी किन्तु वह सन्तुष्ट नहीं था और जयपुर का राजा बनना चाहता था । उदयपुर का राणा जगतसिंह अपने भानजे की मदद कर रहा था । कोटा का राजा दुर्जनसाल भी इनसे आ मिला । बूँदी की गद्दी से हटाये गये राजा बुद्धसिंह का नवयुवक बेटा उम्मेदसिंह भी इस गुट में शामिल हो गया । मार्च 1 व 2, 1747 को संयुक्त सेना को ईश्वरीसिंह के सेनापति हरगोविन्द नाटाणी ने राजमहल के युद्ध में बुरी तरह पराजित किया । दिल्ली से लौटते पेशवा ने दोनों भाइयों में समझौता करवाना चाहा किन्तु पेशवा की शर्तें ईश्वरीसिंह को मंजूर नहीं हुई । अतः पेशवा ने बगरू नामक स्थान पर ईश्वरीसिंह को युद्ध में हरा कर संधि करने पर बाध्य किया । माधोसिंह को पाँच परगने[1] और दिये और युवक राजा उम्मेदसिंह को बूँदी का राज्य वापस दिया गया ।

महाराणा जगतसिंह अभी भी संतुष्ट नहीं हुए थे । वे अपने भानजे माधोसिंह को जयपुर का राजा बनाना चाहते थे । उधर ईश्वरीसिंह ने पेशवा को वादे के अनुसार पूरी रकम नहीं दी थी । जयपुर के बुरे दिन आ रहे थे । महाराणा ने मल्हार राव होल्कर को 59 लाख रुपये की राशि देने का वादा किया था । इस पर मराठा सेना ने जयपुर पर आक्रमण किया । मराठे दिसम्बर तक जयपुर से 20 मील दूर रह गये । ईश्वरीसिंह के सारे साथी उसे छोड़कर जा चुके थे । "निराश होकर तब राज्यप्रासाद के शांत निस्तब्ध वातावरण में अर्ध-रात्रि के समय आत्मघात कर ईश्वरीसिंह ने सारे राजनीतिक जंजालों से अपना पिण्ड छुड़ाया ।"[2] राणा का भानजा तो जयपुर की गद्दी पर बैठ गया लेकिन मराठों को लाखों रुपया देने से मेवाड़ का खजाना खाली हो गया । जब 1751 में महाराणा जगतसिंह की मृत्यु हुई तो मेवाड़ मराठों का कर्जदार बन चुका था और इस रकम के लिये मराठों ने हस्तक्षेप शुरू किया ।

5. मराठा हस्तक्षेप—जब तक मालवा पर पूर्ण अधिकार नहीं हुआ मराठे मेवाड़ के मित्र बने रहे । 7 सितम्बर, 1741 को मुगल बादशाह ने शाही फरमान द्वारा बालाजी बाजीराव को मालवा का उप-सूबेदार बना दिया । सारे मालवा पर मराठों का पूर्ण अधिकार हो गया । अब उन्होंने मेवाड़ भूमि में हस्तक्षेप शुरू किया । मालवा पर अधिकार के दो साल बाद ही मराठों ने मेवाड़ की सीमा के गाँवों पर छापे मारने शुरू कर दिये ।

मेवाड़ भूमि पर मराठों का पहला अधिकार रामपुरा पर हुआ । माधोसिंह ने जयपुर का राज्य पाने से पहले मल्हारराव होल्कर को टोंक, टोडा, मालपुरा और रामपुरा की अपनी जागीर देने का वादा किया था । राजा बनने पर माधोसिंह ने जयपुर नरेश की हैसियत से रामपुरा, जो मेवाड़ का एक भाग था,

1. टोंक, टोड़ा, मालपुरा, निवाई और रामपुर ।

2. [illegible]

मराठों को देकर मेवाड़ के विश्वास को धक्का पहुँचाया।[1] इस रामपुरा को लेकर मराठों व मेवाड़ में दो बार युद्ध हुआ। अहमदशाह अब्दाली के हाथों जब मराठे 1761 में पराजित हुए तो राणा ने रामपुरा जीत लिया लेकिन मराठों ने उसी वर्ष उस पर वापस अधिकार कर लिया। रामपुरा दोनों के संघर्ष का केन्द्र बन गया।

जयपुर की तरह मेवाड़ उत्तराधिकार युद्ध ने मराठों को मेवाड़ में हस्तक्षेप का दूसरा अवसर दिया। 5 जून, 1751 ई० के दिन राणा जगतसिंह की मृत्यु के बाद उनका लड़का प्रतापसिंह द्वितीय गद्दी पर बैठा। इस पर जगतसिंह का भाई नथसिंह जिसे राणा संग्रामसिंह ने शाहू को गोद देने से मना कर दिया था, मेवाड़ की गद्दी पाने के लिये षड्यंत्र करने लगा। उसे कुछ सरदारों का समर्थन भी प्राप्त था। सिंधिया और होल्कर 15 लाख रुपये की भेंट पाकर नथसिंह का समर्थन करने आये। इसी बीच चार साल के शासन के बाद प्रतापसिंह II का देहान्त हो गया। उसके लड़के राजसिंह ने भी मराठों से सहायता मांगी और दो उत्तराधिकारियों की लड़ाई सुलझाने होलकर उदयपुर आया और 9 मार्च, 1755 को राजसिंह नथसिंह के बीच समझौता करवा दिया। राणा ने नथसिंह को तीन लाख रुपये सालाना की जागीर दी। साथ ही महाराणा ने मराठों को 25 लाख रुपया सालाना भेंट देने का वादा किया। यह बहुत बड़ी रकम थी जिसका भुगतान कभी पूरा नहीं हो सका अतः राणा राजसिंह ने मेवाड़-मालवा सीमा के कई जिले मराठों को दे दिये।

दुर्भाग्य से राणा राजसिंह भी 1761 में मर गये। उनकी मृत्यु के बाद उनके एक पुत्र हुआ। इस बीच राजसिंह के चाचा अरिसिंह को राणा बना दिया गया। अब फिर मेवाड़ की गद्दी के दो हकदार हो गये। एक अरिसिंह जो विधिवत राणा बने थे और दूसरा राजसिंह का नवजात राजकुमार। स्वार्थी नथसिंह का लड़का भीमसिंह व जसवन्तसिंह नवजात राजकुमार को राणा बनाना चाहते थे। महाराणा अरिसिंह को मल्हार राव ने कई पत्र लिखे और हिसाब साफ करने को कहा किन्तु धन के अभाव में यह काम नहीं हो सकता था। उसी बीच नथसिंह के लड़के भीमसिंह ने मराठों से अरिसिंह को गद्दी से हटाकर राजसिंह के बालक राजकुमार को राणा बनाने की प्रार्थना की। राणा अरिसिंह ने 49 लाख रुपये देकर अपना पीछा छुड़ाया। लेकिन यह परेशानी तो हर साल की थी अगले वर्ष 1765 में सिंधिया का दीवान उदयपुर पहुँचा उसे 25 लाख प्रतिवर्ष वाली किश्त चाहिये थी। राणा सिर्फ एक लाख 75,000 रुपया दे पाये। अतः मराठों ने जावद जिले को लूटा, तुकोजी होल्कर ने मेवाड़ के गाँवों को लूटना शुरू किया।

1. वीर विनोद, पृष्ठ 1241.

विवश होकर कर्ज लेकर महाराणा को सारे कर का भुगतान करना पड़ा। पेशवा ने अपने सरदारो को वापस बुला लिया।

भीमसिंह के प्रयास जारी रहे। उसने राणा राजसिंह के लड़के रतनसिंह को 1765 में कुम्भलगढ़ में मेवाड का राणा घोषित कर दिया और तब से अरिसिंह की मृत्यु सन् 1773 तक अरिसिंह और रतनसिंह के बीच मेवाड़ की गद्दी के लिये झगड़ा चलता रहा। रतनसिंह की मृत्यु सात साल की अवस्था में चेचक से हो गई किन्तु भीमसिंह आदि ने एक नकली लड़के को रतनसिंह बनाकर संघर्ष जारी रखा। मराठों ने इस आपसी फूट का खूब लाभ उठाया और कई करोड़ रुपये मेवाड़ के राणा से नोंच लिये। महाराणा को कई मौको पर पराजित होकर सन्धि भी करनी पड़ी आखिरकार 1771 में निरंतर युद्ध से तंग आकर, रतनसिंह को हराने के लिये मराठो से संधि की जिसकी धाराएँ इस प्रकार है —

1. चार लाख आय के क्षेत्र को छोडकर मेवाड़ का एक तिहाई भाग राणा ने मराठो को कर्ज के भुगतान के लिये दे दिया।

2 मराठे रतनसिंह की शक्ति को समाप्त करने में राणा की मदद करेंगे।

3 मेवाड़ के एक तिहाई प्राप्त भाग की आमदनी मात्र के हकदार मराठे होंगे। राज्य पर मेवाड़ का अधिकार रहेगा।

4. चित्तौड़ व कुम्भलगढ़ पर अधिकार कर मराठे उन्हें राणा को सौंप देंगे।

5 जावद, रामपुरा आदि जो पहले से मराठों ने ले लिये थे वापस राणा को सौंप देंगे।

महाराणा अरिसिंह ने इस प्रकार मराठो से राज्य बांट लिया और रतनसिंह को भी दबाया नहीं जा सका। 9 मार्च, 1773 के दिन किसी ने अरिसिंह की हत्या कर दी। उसका अल्प आयु लडका हमीरसिंह गद्दी पर बैठा। मेवाड़ का कोष खाली, भाइयों का झगड़ा और मराठो का बढ़ता हस्तक्षेप मेवाड़ के विनाश का कारण बन गया। मराठे मेवाड़ में जागीरें ले लेकर शक्तिशाली बनते चले गये।

6. चूंडावत शक्तावत संघर्ष— अरिसिंह की मृत्यु के बाद उसका लड़का अमीरसिंह 1773 मे मेवाड़ का राणा बना किन्तु 1777 में उसका भी देहान्त हो गया और उसका दस वर्ष का लड़का भीमसिंह मेवाड़ का राणा बना। राणा की उमर कम होने से दरबार मे सामन्तो का कलह बढ़ता गया चूंडावत सरदारों की प्रथमता को शक्तावत चुनौति दे रहे थे। झगडा यह था कि युद्ध के समय हरावल का नेतृत्व कौन करे? चूंडावत मराठो का हिसाब साफ कर मेवाड़ भूमि को स्वतंत्र रखना चाहते थे। राव भीमसिंह, जो राणा का ही नामराशि था जोधपुर और जयपुर की मदद से मराठो को मेवाड से बाहर निकालना चाहता था। वह जब महाराणा भीमसिंह की शादी हुई तो आवश्यकता के अनुसार राजमाता को धन नहीं दे सका। जबकि अपनी लड़की की शादी मे खूब धन खर्च करता रहा। इससे

राजमाता नाराज हो गई और उसने राव भीमसिंह चूंडावत को मंत्री पद से हटाकर सोमचन्द शक्तावत को मंत्री बना दिया।

सोमचन्द ने ताकत में आते ही पहले तो मराठे सरदार सिंधिया को लिख भेजा कि मेवाड़ का पूरा कर्ज चुक गया है अतः जीते हुए प्रदेश वापस लौटाये जायें। जब सिंधिया ने कोई उत्तर नहीं दिया तो सोमचन्द ने कोटा की सहायता लेकर पहले निम्बाहेड़ा जीता और फिर रामपुरा पर अधिकार कर लिया। रामपुरा का मराठा सरदार शिवाजी नाना, अहिल्याबाई और सिंधिया से सहायता लेकर मेवाड़ पर चढ़ आया। रामपुरा पर मेवाड़ का आक्रमण मराठों ने अपने पर आक्रमण समझा और जनवरी 1788 को मराठा सेना ने सोमचंद की अधीनता में मेवाड़ की सेना को मन्दसौर में 26 जनवरी को बुरी तरह हरा दिया। मराठों ने अपने खोये हुए प्रदेश वापस ले लिये। यह युद्ध मन्दसौर के पास हरकिया खाल में हुआ था। इस युद्ध में हार जाने से शक्तावतों की शक्ति कुछ क्षीण हो गई और चूंडावत-शक्तावत युद्ध शुरू हो गया। सबसे पहले रावत अर्जुनसिंह ने 24 अक्टूबर, 1789 को सोमनाथ की हत्या कर दी।[1] इस घटना से राणा भीमसिंह भी अपने पुराने मंत्री भीमसिंह चूंडावत का विरोधी हो गया। कोटा का दीवान और महाराणा मिलकर भी भीमसिंह चूंडावत से चित्तौड़ नहीं जीत सके। उन्होंने माधोजी सिंधिया से सहायता मांगी। यह 1780 में जयपुर और 1790 में जोधपुर को हराकर सारे राजस्थान में अपना प्रभाव जमा चुका था। चूंडावत-शक्तावत युद्ध ने उसे मेवाड़ पर अधिकार करने का मौका दे दिया। जुलाई 1791 में माधोजी सिंधिया मेवाड़ आया। उसके डर से भीमसिंह चूंडावत चित्तौड़ छोड़ने को तैयार हो गया लेकिन शर्त पर कि कोटा का दीवान जालिमसिंह जो शक्तावतों की मदद कर रहा था, मेवाड़ छोड़ देगा। माधोजी के प्रयत्नों से चित्तौड़ राणा भीमसिंह को मिल गया। चूंडावत-शक्तावत युद्ध तो समाप्त हो गया पर मेवाड़ को इसकी भारी क़ीमत देनी पड़ी। मेवाड़ में सिंधिया का प्रतिनिधि रहने लगा, जिसे नायब कहा गया। पहला नायब अम्बाजी इंगले नियुक्त हुआ और आपसी लड़ाई से मेवाड़ मराठों के पूरे चंगुल में फँस गया।

7. **अम्बाजी इंगले का शासन**—माधोजी सिंधिया जनवरी 1792 ई. में मेवाड़ छोड़कर गया उसने अपना नायब अम्बाजी इंगले को मेवाड़ में ही छोड़ दिया। अम्बाजी इंगले एक योग्य शासक था। वह 1799 तक सात वर्ष तक मेवाड़ में रहा। उसके समय में मेवाड़ ने मराठों का सारा कर्ज चुका दिया। महाराणा अम्बाजी इंगले को प्रसन्न रखने को उस पर प्रतिवर्ष लगभग आठ लाख रुपया खर्च करते थे। अम्बाजी की सहायता से राणा भीमसिंह ने डूंगरपुर मन्सोरीगढ़ और बदनौर को जीतकर अपने तीनों लड़कों को बाँट दिया। मेवाड़ के पुराने

1. टाड, राजस्थान—भाग—1, पृष्ठ 521

विद्रोही रतनसिंह को भी पराजित कर कुम्भलगढ़ पुनः प्राप्त कर लिया। अम्बाजी की सहायता से राणा ने अन्य विद्रोही सरदारों को भी एक-एक कर अधीन कर लिया और तीन वर्ष के समय में 1795 तक पूरा मेवाड़ वापस महाराणा की अधीनता में आ गया। श्री ओझा का कहना है कि—"कुम्भलमेर विजय के साथ दीर्घकाल से चले आ रहे गृह युद्ध का अन्त हो गया।"[1]

महाराणा ने रायपुर, राजनगर, गुरलां, गदरमाला, हमीरगढ़ व जहाजपुर पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।[2] टाड महोदय का कहना है कि "महाराणा की आमदनी पचास लाख रुपये सालाना से बढ़ गयी।"[3] इस प्रकार अम्बाजी इंगले के सहयोग से महाराणा भीमसिंह ने कुछ समय के लिये पूरे मेवाड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर शान्ति व समृद्धि की ओर कदम उठाया। तभी पेशवा ने अम्बाजी इंगले को उत्तर भारत का नायब बनाकर भेज दिया और उसकी जगह गणेश पन्त को मेवाड़ के द्वेशी दरबारियों को एक नहीं रख सका। उसी समय मेवाड़ के प्रश्न को लेकर होलकर और सिंधिया में संघर्ष शुरू हो गया। दो मस्त हाथियों की लड़ाई में मेवाड़ का विनाश, लूटमार और अराजकता पुनः शुरू हो गई। अम्बाजी इंगले के जाने के बाद मेवाड़ की इतनी दयनीय दशा हो गई जिसका वर्णन हृदयस्पर्शी है। मेवाड़ उजाड़ हो गया, राजा असमर्थ हो गया और मराठों ने मेवाड़ को अपना आखेट स्थल बनाकर राजस्थान के इस हरे भरे देश को श्मशान के समान बना दिया। अब से अंग्रेजों के आगमन तक का समय मेवाड़ की लूट और विनाश का समय है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मराठों की आपसी फूट से उनकी शक्ति का भी पतन शुरू हो गया। लार्ड वेलेजली ने पेशवा को पराजित कर सहायक सन्धि स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया। एक-एक कर सभी मराठे सरदार, गायकवाड़ फिर होल्कर फिर सिंधिया व भोंसले को भी अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् 1818 में लार्ड हेस्टिंग्ज ने राजस्थान के राजाओं से अलग सन्धि कर ली जिसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिस आपसी फूट ने मेवाड़ को उजाड़ दिया उसी फूट ने मराठों की शक्ति को भी समाप्त कर दिया।

8. मराठों का प्रभाव—मुगलों के साम्राज्य का युग 1740 तक माना जाता है। उसके बाद लगभग 80 वर्ष (1818) तक भारत पर मराठों का आधिपत्य रहा। राजपूत मराठा संघर्ष का मूल कारण धन प्राप्ति था। वे राजस्थान को अपने राज्य में नहीं मिलाना चाहते थे। प्रतिवर्ष नियमित धन प्राप्त

1. ओझा—राजस्थान का इतिहास—भाग—2, पृष्ठ 993.
2. वीर विनोद, पृष्ठ 1717
3. टाड—राजस्थान—भाग एक, पृष्ठ 521.

करना ही उनका उद्देश्य था। राजपूतों की आन्तरिक कलह से उन्होंने मेवाड़ भूमि को लूटा और अपार धन प्राप्त किया। वे अपने उद्देश्य मे पूर्णतया सफल रहे। "मराठे मेवाड़ में सार्वभौमिक सत्ता स्थापित कर चुके थे। उनके प्रतिनिधि राणाओं के सलाहकार थे।"[1]

मेवाड़ के कुछ भाग स्थाई रूप से मराठों के अधीन चले गये जैसे रामपुरा, निम्बाहेड़ा आदि।

मराठों की देखादेखी जोधपुर और कोटा राज्यों ने भी गोड़वाड़ और जहाजपुर पर क्रमशः अधिकार कर लिया।

जिस मेवाड़ ने मुगलों की शक्ति के आगे सर नहीं झुकाया था वह इतना दुर्बल हो गया कि अंग्रेजों के आगे शस्त्र उठाने का साहस भी नहीं कर सका। सारे सामन्त स्वतंत्र हो गये और राजस्थान के इस श्रेष्ठ राज्य का प्रभाव, उसकी वीरता, पुस्तकों की शोभा मात्र बनकर रह गयी।

लोग बाग मेवाड़ छोड़कर अन्य राज्य में जा बसे। मेवाड़ की जनसंख्या कम होती चली गयी। हरी भरी भूमि पर मराठों के दांत गड़े रहते थे खेती भी चौपट हो गयी। प्रतिदिन के संघर्ष ने व्यापार को भी चौपट कर दिया। बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र उजड़ गये। भीलवाडा उजड़ते-उजड़ते एक छोटा सा गाँव रह गया। राजा प्रजा से कर्ज लेकर काम चलाने लगे। हर साल अकाल पड़ने लगे। मेवाड़ के आर्थिक जीवन पर मराठे यमराज बन कर बैठ गये[2] और अकबर महान के सपनों का देश अंग्रेजों की झोली का पात्र बन गया। मराठों ने मेवाड़ को उजाड़ दिया।

□

1. गहलोत—मेवाड राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध, पृष्ठ 68.
2. गहलोत—मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध, पृष्ठ 69.

21

जयपुर और अंग्रेज (1800-1900)

1. अंग्रेजों का आगमन—"आप जो कुछ भी कह रहे हैं उस पर स्वयं आप भी पूर्णतया विश्वास नही करते हैं, यह तो मैं नहीं कह सकता परन्तु बूढ़े जालिम की इस बात को याद रखना कि वह दिन दूर नही है जब सारे हिन्दुस्तान में एक ही सिक्का चलेगा।"

डॉ० रघुवीरसिंह, कोटा के प्रधानमन्त्री जालिमसिंह का यह वाक्य देते हैं जो उसने अंग्रेजी प्रतिनिधि कर्नल टाड से 1817 में कहा था। इस वाक्य से स्पष्ट है कि राजस्थान के राजा यह अनुभव करने लगे थे कि अंग्रेजों का आधिपत्य धीरे-धीरे सारे राजस्थान पर भी छा जायेगा। 17 वी शताब्दी में व्यापार के लिए इंग्लैंड से आये कुछ मुट्ठी भर साहसी जवानो ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से भारत में व्यापार शुरू किया था। 1615 ई० मे जहाँगीर ने इन्हे व्यापार करने की स्वीकृति प्रदान कर देश मे अंग्रेजो का आगमन शुरू कर दिया। इन लोगों के साथ पुर्तगाली, डच व फ्रांसिसी भी भारत में आये। किन्तु नीति निपुण अंग्रेजों ने एक-एक कर अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को भारत से मार भगाया। क्लाइव ने अर्काट को जीतकर अंग्रेजी राज्य का आरम्भ किया और 1818 मे पिंडारियों को पराजित कर मराठों की शक्ति का विध्वंश कर लार्ड हेस्टिंग्ज की अधीनता मे अंग्रेज राजस्थान के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत के स्वामी बन गये। धन कमाने, भाग्य बनाने की लालसा से साहसी व अनुशासनपूर्ण अंग्रेजों ने भारत के मुसलमान व मराठा शासकों को गद्दियों से हटाकर अपने राज्य को सुदृढ़ बना लिया था। लार्ड वेलेजली की अधीनता में सहायक प्रथा के माध्यम से अंग्रेजों ने मराठों की शक्ति को क्षीण कर दिया था। मराठों का सबसे बड़ा नेता पूना का पेशवा अंग्रेजो की अधीनता मे आ गया था। इन्दौर के होल्कर राजाओ को भी 1804 में पराजित कर अधीन कर लिया था। अंग्रेजी सेना का राजस्थान में पहला प्रवेश 1805 में हुआ था जब सेनापति लेक ने भरतपुर को जीतकर वहाँ के राजा से 20 लाख रुपये हर्जाना लिया व सारे राजस्थान में अंग्रेजो के प्रति एक विस्मय आश्चर्यपूर्ण श्रद्धा उमड़ पड़ी। जिस भरतपुर को औरंगजेब नहीं जीत सका था वही मुगलकाल का अजय दुर्ग अंग्रेजों ने बडी आसानी से जीत लिया। होल्कर को हराने के बाद अंग्रेजो ने सिंधिया को भी पराजित किया और वह पंजाब में भाग गया। इस विजय ने अंग्रेजों को सर्व शक्तिमान बना दिया और पिछले 100 साल से राजस्थान पर जिन

मराठों का आधिपत्य था वह समाप्त हो गया। यद्यपि मराठों पर अंग्रेजों ने आधिपत्य जमा लिया था फिर भी राजस्थान में मराठों की लूटमार पूर्ववत् चली आ रही थी और अंग्रेज जिन्होंने सारे देश पर अपनी चादर फैला दी थी राजस्थान के इस महत्वपूर्ण भाग को अछूता कैसे छोड सकते थे। अतः राजपूत भी अंग्रेजों की तरफ आकर्षित हुए और अंग्रेज भी राजपूतो से मित्रता करने के लिए उत्सुक थे। ऐसी दशा में 19 वी शताब्दी के आरम्भ में राजपूत अंग्रेज संबंध का अध्याय आरम्भ हुआ।

2. राजस्थान की दशा—मराठों ने बाजीराव पेशवा से जसवन्तराव के समय तक सारे राजस्थान को रौंद दिया था। वे राजपूतों से चौथ वसूल करते थे और कर न मिलने पर गांव को बुरी तरह लूटते थे। राजस्थान के सामन्त स्वतन्त्र हो गये थे और राजा कमजोर व कर्जदार, देश उजड़ गया था, खेती नष्ट हो गई थी। मराठों के डर से नागरिक राजस्थान को छोड़कर दूर देशो में जा बसे थे। जनसंख्या कम हो गई थी और आर्थिक जीवन पर मराठे हावी हो गये थे। अमीर खां की अधीनता में पिंडारियों की लूटमार ने राजस्थान में हाहाकार मचा दिया। राजनैतिक शक्ति का अन्त और बाहुबल का अभाव, इस बात से पता चलता है कि मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह ने पिंडारी के दबाव में आकर अपनी राजकुमारी कृष्ण कुमारी को विष दे दिया इससे स्पष्ट है कि मेवाड़ का शौर्य लुप्त हो गया था। मेवाड़ की तरह जयपुर भी दरिद्र व शोचनीय दशा में था।

डॉ० रघुबीरसिंह के शब्दों में—"कृष्ण कुमारी के लिए अतीव लालायित रहने वाले जयपुर के तात्कालिक शासक सवाई जगतसिंह को राग रंग तथा ऐश्वर्य विलास से ही अवकाश नहीं मिलता था कि शासन कार्य की ओर ध्यान दे।"

एक तरफ राजाओं की अयोग्यता उस पर अमीर खां की बढ़ती हुई मांगे, 1803 में अमीर खां ने जयपुर से सहायता का वचन देकर मुंह मांगा धन वसूल किया। जगतसिंह को राजकुमारी व जयपुर का राज्य भी नही मिला और जब अमीर खां की मांग पूरी नहीं हुई तो उसने जयपुर को बुरी तरह लूटा। जयपुर राज्य पर से मुगलों का संरक्षण समाप्त हो गया था, केवल पिंडारियो की लूटमार सजीव थी।

इतिहासकार टाड के शब्दो में—"समुद्र पार करके जो अंग्रेज इस देश में आये थे केवल उनकी शक्ति इन दिनों सजीव व जागृत हो रही थी। इस दशा में, जगतसिंह की आँखें बराबर इन अंग्रेजों की तरफ देख रही थी। उसने सोच समझकर सन् 1803 में अंग्रेजों के साथ सन्धि कर ली।"

3. 1803 की सन्धि—जगतसिंह 19 वर्ष का गद्दी पर बैठा था। थोड़े समय तक वह पिता की मृत्यु का बहाना कर अंग्रेजों के प्रस्ताव को टालता रहा किन्तु जब वेलेजली के प्रतिनिधियों ने जयपुर पर आक्रमण की धौंस दी तो जगतसिंह

डर गये और जसवन्तराव होल्कर के मना करने पर भी उसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। अंग्रेज सेनापति जनरल लेक अपनी सेना के साथ धौलपुर तक आ पहुँचा फलस्वरूप जयपुर व अंग्रेजो के बीच सन्धि हुई जिनकी मुख्य धारायें निम्न हैं —

(1) कम्पनी व जगतसिंह और उसके उत्तराधिकारी सदा मित्र बने रहेंगे।

(2) एक का मित्र, दूसरे का मित्र, एक का शत्रु दूसरे का शत्रु होगा।

(3) जयपुर के आंतरिक मामलों मे कम्पनी कोई हस्तक्षेप नही करेगी। जगतसिंह को अपने राज्य में शासन का पूर्ण अधिकार होगा।

(4) यदि कोई तीसरी शक्ति (मराठे) अंग्रेजों पर आक्रमण करेगी तो जगतसिंह सेना सहित कम्पनी की तरफ से लड़ेगा।

(5) जगतसिंह कम्पनी की सीमा को मान्यता देगा और यदि उसके राज्य में कोई सीमा के झगड़े हुए तो कम्पनी की मदद से उन्हें सुलझायेगा।

(6) किसी भी आवश्यक समय आमेर की सेना कम्पनी की सेना के साथ रहकर युद्ध करेगी।

(7) कम्पनी की आज्ञा के बिना जगतसिंह किसी यूरोपीय को अपने यहाँ नौकर नहीं रखेंगे।

इस सातवी धारा के बारे में श्री गहलोत व टाड में मतभेद है। टाड का कहना है कि आमेर के राजा अंग्रेजों की स्वीकृति के बिना किसी विदेशी शक्ति से सन्धि नही करेंगे तथा गहलोत कहते हैं कि जयपुर नरेश बिना अंग्रेजो की आज्ञा के किसी यूरोपीय को अपनी सेना में नौकरी नही देंगे। इस प्रकार सेना मे भर्ती करने या दूसरी शक्ति मे मित्रता करने का अंतर इस धारा में है। यह सन्धि 15 जनवरी, 1804 में गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकार कर ली गई (इसके परिणाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे) मराठों की लूटमार बन्द हो गई; इन्दौर के होल्कर राजा को बहुत बुरा लगा। उसने जयपुर पर आक्रमण किया। मार्च 1804 में अंग्रेजो की सेना ने होल्कर को जयपुर नही जीतने दिया। अंग्रेजों ने प्रतिक्रिया में टोंक पर अपना कब्जा कर लिया। होल्कर जयपुर राज्य की तरफ से होता हुआ उत्तर राज्य की तरफ निकल गया किन्तु जयपुर की सेना उसे रोक नही सकी। अतः अंग्रेज जयपुर से कुछ नाराज हो गये किन्तु फिर भी अमीर खाँ की लूटमार कुछ समय के लिए बन्द हो गई। दो वर्ष बाद ही यह सन्धि टूट गई क्योंकि 1805 ई० में अंग्रेजों ने होल्कर के विरुद्ध युद्ध मे जयपुर से सहायता मांगी और वह उन्हें नहीं मिली अतः अंग्रेजों ने स्वयं इस सन्धि को बेकार समझकर जयपुर से सम्बन्ध तोड़ लिए। अंग्रेजों के प्रतिनिधि ने यह आरोप लगाया कि, जयपुर, उदयपुर, जोधपुर मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध संगठन बना रहे हैं अतः लार्ड कार्नवालिस ने 3 जनवरी, 1806

को संधि भंग करदी। मैटकॉफ के शब्दों में—"इस प्रकार एक वीर और विश्वासी मित्र को अंग्रेजों ने अपने भाग्य पर छोड़ दिया।"

श्री टाड के शब्दों में—"संधि टूटने का अपराध राजा जगतसिंह पर नहीं कम्पनी पर था।"

जो भी हो संधि टूटने से पिंडारियों ने राजस्थान को फिर से लूटना शुरू किया और कम्पनी के माथे पर एक ऐसा कलंक लग गया कि वे एक अच्छे मित्र को परिस्थितियों के कारण दबाकर उससे अधिक लाभ उठाना चाहते थे। अमीर खाँ ने 1811 में जयपुर को लूटा और 20 लाख रुपये की माँग की। जयपुर के राजा के पास इतना धन नहीं था, अतः उसने पुनः अंग्रेजों से मित्रता करनी चाही। जब अमीर खाँ को यह मालूम पड़ा तो उसने जयपुर को बुरी तरह से लूटा और 1816 ई० में जयपुर नगर को घेर लिया। जयपुर के राजा ने अंग्रेजों से सहायता माँगी और 2 अप्रेल, 1818 को दिल्ली की संधि हुई—

4. 1818 की सन्धि—इस सन्धि का श्रेय जयपुर के दीवान मानजीदास को दिया जाना चाहिये जो पिछले 6 वर्ष से अंग्रेजों से सम्बन्ध सुधारने की कोशिश कर रहा था। अमीर खाँ को जब यह पता चला कि मानजीदास अंग्रेजों से मित्रता करना चाहता है तो उसने राजा जगतसिंह को बाध्य किया कि वह मानजीदास को जेल में डाल दे। राजा ने ऐसा ही किया तभी अंग्रेज जयपुर की रक्षा के लिए आ गये और अंग्रेज प्रतिनिधि मेटकॉफ ने स्वयं महाराजा के प्रतिनिधि को बुलाकर उससे दिल्ली में सन्धि की। जब अमीर खाँ को इस सन्धि का पता चला तो वह स्वयं जयपुर राज्य से बाहर चला गया क्योंकि वह अंग्रेजों की शक्ति से डरता था। 1818 की सन्धि में 10 धारायें थी—जिसमें पहली 7 तो 1803 की दोहराई और 8 वीं धारा यह थी कि जयपुर नरेश सालाना लगान के रूप में पहले साल कुछ नहीं, दूसरे साल 4 लाख रुपया, तीसरे साल 5 लाख रुपया, चौथे साल 6 लाख, पाँचवें साल 7 लाख, छठे साल 8 लाख रुपये देगा और उसके बाद हर साल 8 लाख रुपया सालाना खिराज अंग्रेजों को देगा।

9 वीं धारा यह थी कि जयपुर महाराज अंग्रेजों को आराम व फायदे का व्यापार करने देगा।

10 वीं धारा में यह लिखा था कि जयपुर की तरफ से ठाकुर बैरीशाल व अंग्रेजों की तरफ से मेटकॉफ ने यह सन्धि की है जिसको दोनों सरकारें मानेंगी।

इस संधि का प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। जयपुर अंग्रेजों के अधीन हो गया। विदेश नीति उनके हाथ से निकल कर अंग्रेजों के हाथ में आ गयी। 8 लाख की सालाना खिराज जयपुर की आमदनी को देखते हुए ज्यादा थी। जबकि मराठे एक साथ 2 लाख 40 हजार से अधिक नहीं लेते थे। लेकिन इस संधि से जयपुर के राजा का प्रभाव बढ़ गया। मेटकॉफ ने जयपुर के सब जागीरदारों को बुलाया और 17 जून, 1818 ई० को उन्हें पूर्णरूप से जयपुर के राजा के अधीन

कर दिया। जो जमीन जमीदारो ने दाब ली थी। वह वापस ले ली गई उन्हें दरबार मे हाजिर होना व सेवा करना अनिवार्य कर दिया गया। एक ठाकुर ने विद्रोह किया और अमीर खाँ की सहायता से माधोपुर जीत लिया तो मेटकॉफ ने उसे हरा कर आत्मसमर्पण करने के लिये बाध्य किया। इस प्रकार अंग्रेजों से मित्रता होते ही जयपुर एक सगठित शक्तिशाली राज्य बन गया- जिसमें शांति, समृद्धि व प्रगति के कार्य होने लगे।

5. राजमाता और स्टूअर्ट का झगड़ा—जगतसिंह का देहान्त 21 दिसम्बर 1819 को हो गया। उनकी मृत्यु के समय उनके कोई संतान नहीं थी अतः प्रमुख सरदारो ने मोहनसिंह नामक व्यक्ति को गद्दी पर बिठा दिया। जिससे जयपुर दरबार में दो दल बन गये। राजमाता जोधपुर की राजकुमारी थी। वह मोहनसिंह को राजा नहीं बनाना चाहती थी। महाराज जगतसिंह की मृत्यु के 4 महीने बाद राजमाता भटियाणी जी ने एक पुत्र को जन्म दिया और सरदारों ने नवजात शिशु को जयपुर का महाराजा घोषित कर दिया और राजमाता ने सारा राज्य कार्य अपने हाथों में ले लिया। मोहनसिंह केवल 4 महीने राजा रहा अतः वह राजमाता और नये राजा का शत्रु हो गया। उसने अंग्रेज रेजीडेन्ट स्टूअर्ट के कान भरने शुरू किये और स्टूअर्ट यह समझने लगा कि राजमाता अंग्रेजो के हस्तक्षेप को पसंद नहीं करती है। उसी समय कोटा के प्रधान मंत्री जालिमसिंह ने कोटा राज्य पर इतना आधिपत्य जमा लिया कि असली राजा किशोरसिंह मृत्यु के भय से कोटा छोड़ कर जयपुर भाग गया व राजमाता ने उसे जयपुर मे शरण दी। जालिमसिंह के साथ मिल कर टाड महोदय कोटा मे अंग्रेजी आधिपत्य जमा रहे थे। अतः कोटा महाराजा किशोरसिंह की मदद करना अंग्रेजों को और भी बुरा लगा और अंग्रेजो व राजमाता के सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। वास्तव में अगले कई सालो तक खींचातान चलती रही और अंग्रेज रेजिडेन्ट यह चाहता था कि अल्पायु महाराज को जनानखाने से निकाल कर अंग्रेजो के सरक्षण मे रहने दिया जाय। इस उद्देश्य से केप्टिन लॉ नामक एजेन्ट ने 2 अक्टूबर, 1825 ई० को जयपुर के 72 सामन्तों की एक सभा बुलाई। 31 सरदार राजमाता को हटाने व राजा को बाहर लाने के पक्ष मे थे 23 राजमाता के पक्ष मे थे, 18 अनुपस्थित थे, किन्तु राजमाता ने एजेन्ट व सरदारों की बात नही मानी। यह उसकी विजय थी और एजेन्ट को झुकना पड़ा। यह संघर्ष राजमाता की मृत्यु तक बराबर चलता रहा जो 1835 तक जीवित रही इस संघर्ष को असहयोग का काल कहते है।

6. साँभर का प्रश्न—साँभर नमक उत्पादन का मुख्य केन्द्र है। इस नगर पर जयपुर व जोधपुर का संयुक्त अधिकार था। अप्रेल 1829 में जयपुर रिसालदार ने जोधपुर की सेना को बाहर निकाल कर साँभर पर अधिकार कर लिया। जोधपुर व जयपुर की सीमा पर भी सीमा युद्ध होते रहते थे। इधर 1832-33 मे भयानक अकाल पड़े। साधारण लोग डाकू बन गये और अजमेर से आगरा जाने वाले

खजाने को लूटने लगे। अंग्रेजों को हस्तक्षेप का मौका मिल गया। उन्होंने डाकू व अराजकता को बन्द करने का बहाना लेकर सांभर झील व परगने पर अधिकार कर लिया। 27 जनवरी, 1835 को शेखावाटी व सांभर पर अंग्रेजी राज्य स्थापित हो गया। राजा जयसिंह को इससे बहुत धक्का लगा और 4 फरवरी, 1835 को उसका देहान्त हो गया। कुछ लोग कहते हैं कि इन्हें जहर देकर मारा गया था। जो भी हो सांभर के चले जाने से जयपुर के व्यापार को बहुत बड़ा धक्का लगा। श्री गहलोत सांभर के चले जाने पर जनता मे व्याप्त असतोष को दिखाने के लिये प्रचलित एक लोकगीत की 2 पंक्तियां लिखते हैं कि—

"म्हारे राजा भोलो सांभर तो देदीनो अंग्रेज ने,
म्हारा टाबर भूखा रोटी तो मांगे तीखे लूण की।"

सांभर से जयपुर को 2½ लाख की सालाना आमदनी थी वह भी समाप्त हो गयी।

7. **महाराजा सवाई रामसिंह—(1835-80)** गद्दी पर बैठते समय इनकी आयु 2 वर्ष की थी। अतः राजा का काम राजमाता व चार जागीरदारों की परिषद् से चलता था किन्तु इनके आरम्भिक काल में भी महाराजा रामसिंह व अंग्रेजों के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। जनता अंग्रेजों से नाराज थी क्योंकि अंग्रेज रेजिडेन्ट ने योग्य मंत्री झूथाराम को प्रधान मंत्री पद से हटा दिया था अतः जयपुर की जनता ने एक दिन विद्रोह किया और अंग्रेज प्रतिनिधियों पर आक्रमण कर दिया। तीन अंग्रेज प्रतिनिधि कैप्टिन लेडलो, एल्वेस व ब्लेक राजमाता से मिलकर आ रहे थे तो विद्रोहियों ने इन पर आक्रमण कर दिया। कैप्टिन लेडलो व एल्वेस तो भाग गये किन्तु ब्लेक व उसके नौकर चाकर मारे गये। अंग्रेजों ने इसका बदला दमनकारी नीति से लिया। कोई एक दर्जन ठाकुरों को फांसी पर चढा दिया गया और झूथाराम को आजीवन कारावास की सजा दी गई और इस देशभक्त प्रधान मंत्री ने अपना शेष समय चुनार की जेल में व्यतीत किया। अब अंग्रेजो ने जयपुर का प्रशासन चलाने के लिये 5 सदस्यों की एक प्रशासक परिषद् बना दी और सारा राज्य कार्य अंग्रेजों के हाथ में आ गया। रामगढ़ के 2 हजार नागा सैनिकों ने वेतन न मिलने पर विद्रोह किया जिसे अंग्रेजों ने दबा दिया। जयपुर की शासन-व्यवस्था सुधारने के लिये आमदनी बढ़ाने व खर्चा कम करने के लिये एक एजेन्ट को स्थायी रूप से जयपुर में रखा जाने लगा और अंग्रेजों ने जयपुर राज्य की स्थिति सुधारने के लिये सालाना खिराज को 8 लाख से घटाकर 4 लाख कर दिया। 1818-37 तक वे एक करोड़ 35 लाख 71 हजार रुपया खिराज के रूप में ले चुके थे। अतः नई व्यवस्था आवश्यक हो गई। पंच मुसाहिबमान ने अंग्रेजों की अधीनता में जयपुर में कई सुधार किये। राज्य का कर्जा चुकाने के लिये अंग्रेजो ने जयपुर को अपनी तरफ से कर्ज दिया। सांभर वापस जयपुर को लौटा दिया गया।

खिराज 8 लाख की जगह 4 लाख कर दी गई। श्री हनुमान शर्मा पंच मुसाहिबमान की अधीनता में जयपुर की समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—गेहूँ $1\frac{1}{4}$ मन, तेल 22 सेर, रुई 22 सेर चीनी 7 सेर का भाव था जो स्पष्टतः जनता की खुशहाली बताते हैं।"

भूमि का लगान भी बढ़ गया और 25-26 लाख तक वार्षिक लगान आने लगा। देश में खुशहाली फैल गई और खिराज से बचा हुआ 4 लाख रुपया प्रतिवर्ष विकास कार्यों में लगाया जाने लगा। सड़कें, बांध व नहरें बनी। भरतपुर की हद से किशनगढ़ की हद तक सड़क बनी। जयपुर में महाराजा कॉलेज की स्थापना 1845 ई० में हुई। संस्कृत और मेडिकल कॉलेज भी खोले गये। सामाजिक सुधार भी हुए, सती प्रथा भी बन्द हो गई। बाल हत्या बन्द, नौकरों का व्यापार भी बन्द हो गया। परिषद् के अध्यक्ष लक्ष्मणसिंह के भाई पर गबन का आरोप लगाया गया और उससे 3 लाख रुपये के गबन में से एक लाख रुपया वसूल किया गया। 1850 ई० तक जयपुर राज्य में लाखों रुपये सालाना की बचत होने लगी और इस सहयोग के काल में अंग्रेजों की सहायता से जयपुर का चहुमुखी विकास हुआ। 1851 ई० में महाराज रामसिंह 18 वर्ष के हुए, उनका राज्याभिषेक हुआ और पंच मुसाहिबमान भग कर दी गई। केवल एक वैतनिक अंग्रेजी एजेन्ट महाराज की मदद देने के लिये रखा गया जिसे 500 रुपया माहवार वेतन दिया गया। इस प्रकार महाराज रामसिंह के प्रारंभिक शासनकाल में अंग्रेजों ने जयपुर को उन्नत बनाया।

8. **विप्लव में जयपुर**—*1857* का राजनैतिक आन्दोलन भारत के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इस गदर में जयपुर के राजा रामसिंह ने अंग्रेजों की पूरी मदद की। सेनापति बख्शी मोहम्मद खाँ की अधीनता में 5 हजार सैनिक अंग्रेजों की मदद के लिये आगरा भेजे किन्तु रेवाड़ी पहुँचते-पहुँचते सेना में हैजा फैल गया। अतः सेना वापस यों ही लौट आयी। तांतिया टोपे ने भी कठिनाई के समय हिन्डोन व सवाई माधोपुर में शरण ली। जनता ने उसकी मदद की और पीछा करने वाली अंग्रेजी सेना को गालियाँ व बद्दुआएँ दी। हिन्डोन के नवाब ने विद्रोहियों को अपने यहाँ शरण दी तो जयपुर नरेश रामसिंह ने नवाब को बन्दी बना लिया और जितने अंग्रेज जयपुर राज्य में थे, उन्हें महाराजा ने अपने राजमहल में सुरक्षित रख कर शरण दी तथा अजमेर से आगरा जाने वालों को सैनिक संरक्षण भी दिया गया। पूरे गदर के समय में जयपुर में कोई विद्रोह नहीं हुआ। नगर के हर फाटक पर 200 सैनिक तैयार रहते थे। इतिहासकार टूंवर ने लिखा है कि—"महाराज रामसिंह जैसे अग्रगणीय राजाओं को देखकर ही राजपूताने के अन्य राजाओं ने अपने राज्य में कोई अंग्रेज विरोधी विद्रोह नहीं होने दिया अन्यथा राजपूताने में स्थित नगण्य अंग्रेजों को काफी मुसीबतें उठानी पड़ती।"

गदर के बाद वायसराय ने राजा रामसिंह को सम्मानित किया और अपने पास बाँयी तरफ बिठा दिया। जयपुर नरेश की गिनती सिन्धिया से भी बड़े राजाओं में कर दी गयी। उन्हें हाथी व घोड़े भेंट में दिये। इस प्रकार विप्लव के समय जयपुर नरेश रामसिंह ने अंग्रेजों से पूर्ण सहयोग बनाये रखा।

9. गदर के बाद—रामसिंह का राज्यकाल प्रगति व विकास का काल है। अंग्रेजों ने इसी के समय में सांभर झील वापस जयपुर को दे दी थी। आधुनिक सवाई माधोसिंह अस्पताल 1870 ई० में इन्होने ही बनवाया था। जिसका शिलान्यास लोर्ड मेयो ने किया था। इनके समय में जयपुर में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हुआ। स्वामी दयानन्द ने तीन बार जयपुर की यात्रा की और राजा ने विद्वानो का आदर करने के लिये जयपुर में मौज मन्दिर की स्थापना की और जयपुर शिक्षा के क्षेत्र में दूसरा काशी कहलाने लगा।

रामसिंह का देहान्त 1880 ई० में हुआ। उसके बाद माधोसिंह महाराज बने। इन्होंने पूर्णरूप से अपने आपको अंग्रेजो का अनुयायी बना दिया। गदर के बाद के युग में अंग्रेजों के आधिपत्य की चरम सीमा आ गई थी। 1861 ई० में भारतीय वफादार राजाओं की सूची तैयार की गई जिसमे जयपुर के राजा प्रमुख स्थान रखते थे। इस सूची को 'सितारे हिन्द' कहा गया। इसी प्रकार 1876 ई० में महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित कर भारत के राजाओं ने अंग्रेजों के प्रति अपनी वफादारी प्रकट की। माधोसिंह के समय जयपुर का पाश्चात्यकरण हुआ और 1882 ई० में जयपुर का रेल्वे स्टेशन बना। निःशुल्क व्यापार शुरू किया, विक्टोरिया की जुबली मनाई, जयपुर नरेश को लेफ्टीनेन्ट जनरल की उपाधि दी गई। वह 1902 ई० में इंग्लैण्ड गये। लार्ड कर्जन के समय में अंग्रेजों का आधिपत्य इतना गहरा व स्पष्ट था कि 1905 ई० में कर्जन ने घोषणा की कि राज मुकुट का प्रभुत्व सर्वत्र नतमस्तक होकर स्वीकार किया जाता है।

डॉ० रघुवीरसिंह के शब्दों में—"राजस्थान के नभ, मण्डल में इस समय अंग्रेजी साम्राज्य रूपी सूर्य पूरे तेज व प्रताप के साथ देदीप्यमान हो रहा था।"

22

शासन व्यवस्था

वैसे तो राजस्थान का कोई बहुत बड़ा साम्राज्य नहीं रहा। जिस भू भाग मे मेवाड़, मारवाड़, आमेर, बीकानेर, जैसलमेर, भरतपुर, सिरोही, बूंदी, मेड़ता, नागौर, अजमेर आदि अनेक रियासतों का समावेश आज देखने में आता है, उस प्रदेश की शासन व्यवस्था का वर्णन भी उतना ही कठिन और भिन्न है जितना कि इन रियासतो का एक होना। फिर भी आठवी शताब्दी मे राजपूतों की शक्ति के उदय के साथ तथा मेवाड़, मारवाड़ और आमेर के राज्य-विस्तार व संगठन के साथ उनकी जो शासन विधि संगठित होती गयी उसका भी अवलोकन उतना ही आवश्यक है जितना कुम्भा, सांगा, प्रताप, मालदेव और चन्द्रसेन आदि योद्धाओं की सामरिक सफलताओ का अध्ययन। अन्यथा पाठक के मन में यही धारणा जम कर रह जायगी कि राजस्थान के राजा केवल युद्ध प्रेमी थे और आजीवन अपने राज्य की रक्षा या विस्तार मात्र मे लगे रहते थे। जहां आपसी फूट को दबाने के लिये राजपूतों मे अद्भुत पराक्रम और शौर्य विद्यमान था वहां लगभग 18 वी शताब्दी तक येन केन प्रकारेण अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने वाले राजपूत प्राचीन भारतीय एवं मध्यकालीन मुगल परम्पराओ से प्रभावित होकर एक ठोस शासन व्यवस्था भी रखते थे। छोटे से छोटे राज्य का राजा अपनी रियासत मे ठोस शासन-व्यवस्था रखता था। मुगल दरबार में रहने वाले राजपूत राजाओं के अपने राज्यो से कई सालो दूर रहने के बाद भी, न अधिक विद्रोह होते थे और न कोई उन्हें गद्दी से हटाकर राजा बन पाता था। ऐसी दशा मे यह मानना पड़ेगा कि राजपूतों की शासन व्यवस्था संगठित व सुदृढ थी जिसे सैकडो वर्षों के निरन्तर आक्रमण भी नही मिटा सके। राजपूतों की शासन व्यवस्था को अध्ययन की सरलता के लिये हम निम्नांकित भागों मे बांट सकते हैं :—

(1) राज्य का स्वरूप (2) राजा के कर्त्तव्य, (3) सामन्त प्रथा (4) मन्त्रिमंडल (5) केन्द्रीय अधिकारी (6) ग्राम शासन (7) परगना शासन (8) भूमि व्यवस्था (9) न्याय विभाग (10) सैनिक संगठन (11) समीक्षा।

अब हम इन शासन के विभागो का एक एक कर अवलोकन करें।

1 राज्य का स्वरूप :—राजस्थान मे राजा को ईश्वर तुल्य माना जाता रहा है। वे अपने आपको प्रभुतासम्पन्न राजा समझते थे। चाहे उनका राज्य छोटा हो या बडा। वैदिक अधिकारों का उपभोग कर ये राजा अपने आप को क्षत्री, राम या लक्ष्मण के वंशज मानते थे। अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर ही राजपूतो ने सूर्यवंशी या चन्द्र वंशी सज्ञा से अपना नाम जोड़ा। हमने राजपूत की

उत्पत्ति में देखा कि राजस्थान के राजा अपने आपको लव-कुश की संतान व विष्णु के अवतार या राम के वंशज मानते रहे है । स्पष्ट है कि राजपूत राज्य का आधार दैविक सिद्धान्तो पर आधारित था ।

राज्य के स्वरूप की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि राजा अपने नाम को बड़ी-बड़ी उपाधियों से सुशोभित करते थे । जैसा कि ख्यातो, प्रशस्तियों और अन्य कवियों की रचनाओं को देखने से विदित होता है । सामान्यत: महाराजा, महाराणा आदि नामों से उन्हें सुशोभित किया जाता था । इसके अतिरिक्त उन्हें "श्री जी" 'श्री हजूर', 'देव', 'भानुनेज' और महादेव इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता था। आधुनिक काल तक इन राजाओं को अन्नदाता, दाता आदि उपाधियों से ही पुकारा जाता है और उनका नाम लेना उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध गिना जाता है। इन उपाधियों से स्पष्ट है कि राजा को पृथ्वी पर ईश्वर सम्पन्न माना जाता था। डॉ० गोपीनाथ जी का विचार है कि "कम से कम वे समझते थे कि उनमे ईश्वर का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है ।" हम देख चुके हैं कि मेवाड़ के संस्थापक बापा रावल को मेवाड़ का राज्य एक ऋषि की कृपा से श्री एकलिंग जी की देन है । यही कारण है कि मेवाड़ के शासक अपने अभिलेखों में मेवाड़ राज्य को श्री एकलिंग जी महाराज का प्रसाद मानते हैं और उनका राज्य चिह्न भी श्री एकलिंगजी ही स्वीकृत है। भगवान शंकर की कृपा से प्राप्त इस राज्य का सारे देश में बड़ा प्रभाव और महत्त्व है। मेवाड़ की प्रतिष्ठा इतनी पूजनीय है कि शिवजी को बड़ा बनाने के लिये उनका सम्बन्ध भी मेवाड़ के घराने से जोड़ा गया। जब नेपाल के वीरो ने अपनी वीरता की धाक जमाई तो लोगों ने उन्हें और ऊँचा उठाने को वहाँ के राजवंश को भी मेवाड़ के सिसोदिया वंश से जोड़ दिया । इसी प्रकार जब राजस्थान में मराठों का आतंक बढ़ने लगा तो उन्हें रोकने के लिये 1734 ई० में हुआ सम्मेलन भी मेवाड़ में ही बुलाया गया। स्पष्ट है कि राजाओं में भी मेवाड़ को सबसे श्रेष्ठ और पवित्र माना जाता है। सामान्यत: प्रजा इन देवतुल्य राजाओं को 'माई बाप', 'रामावतार', और 'धर्मावतार' के नामों से पुकारती रही है। इस प्रकार दूसरी बात यह स्पष्ट है कि राजाओं में बड़प्पन और अहम् था तथा वे अनेक उपाधियाँ धारण करते थे।

तीसरी विशेषता राज्य की यह थी कि प्रजा सामान्यत: राजा की समालोचना नहीं कर सकती थी और न ही राजाओं के कार्यों को बुरा बता सकती थी। प्रजा राजा को ईश्वर का दूत मानती थी और उसका कार्य ईश्वर का आदेश माना जाता था। यही कारण है कि जब राजपूत राजाओं ने अपनी कन्याओं का विवाह मुगल बादशाहो से करना शुरू कर दिया तो प्रजा मे कोई हाहाकार या प्रतिक्रिया नही भड़की। स्पष्ट है कि राजाओं का दबदबा और प्रभुत्व इतना भारी था कि जन साधारण उनके कार्यों का विश्लेषण नहीं कर सकता था। उनकी राज्य ध्वजा मे भी शक्ति के प्रतीक चिह्न थे। जैसे मेवाड़ मे शिवलिंग और मारवाड़ मे बाज।

संक्षेप मे यो कहा जा सकता है कि राज्य ईश्वर-प्रदत्त था। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि, प्रजा का पिता और राज्य शक्ति पर आधारित था।

2. राजा के कर्त्तव्य :—राजाकुलागत, निरंकुश और सर्व शक्तिमान होते थे। शासन की सबसे बड़ी इकाई और पूर्ण रूप से उत्तरदायी राजा ही था। सारे अधिकारी उसमे निहित थे। वह शासन का सबसे बड़ा अफसर, मुख्य सेनापति, प्रमुख न्यायधीश, सब अफसरों की नियुक्ति करने वाला, राजा आज्ञा जारी करने वाला और प्रजा का पिता तुल्य था। उसमें सारे अधिकार निहित थे। उसके प्रति वफादारी अनिवार्य थी। सामान्यतः राजा वंश का बड़ा लड़का ही हो सकता था किन्तु यदि देश पर आपत्ति की सम्भावना हो और बड़ा लड़का पूर्णतया योग्य न हो तो सामन्त व मंत्रीगण मिलकर दूसरे या तीसरे पुत्र को भी राज्य का स्वामी बना सकते थे। ऐसा तभी होता था जबकि छोटी संतान अत्यधिक योग्य हो। या तो इस प्रकार का चलन बिन्दुसार ने अशोक महान को गद्दी देने के लिये किया था या चन्द्रगुप्त-प्रथम ने समुन्द्रगुप्त के लिये यह नियम तोड़ा था। राजस्थान में भी कुम्भा, प्रताप और चन्द्रसेन जैसे योग्य शासकों के लिये इस वंशागत नियम का उलंघन किया गया था। वैसे यह देखा गया है कि राजा अयोग्य होते हुए भी प्रजा ने उसका कोई विरोध नहीं किया। प्राचीन हिन्दू परम्पराओं के आधार पर राजा राज्य का सर्व सर्वा था। वह मौर्य राजा की तरह कानून तोड़ भी सकता था और बना भी सकता था।

उसे भी अधिकार प्राप्त थे किन्तु इन अधिकारों के साथ उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा था। धर्म की रक्षा, प्रजा का पालन, देश रक्षा और राज्य का विकास, सभी राजा के व्यापक कार्य थे।

देश की रक्षा के अतिरिक्त राज्य-विस्तार द्वारा पूर्वजों का नाम रोशन करना। क्षत्रियों की भाँति अश्वमेध यज्ञ करना आदि राजपूत राजा के परम कर्तव्य थे। पृथ्वीराज चौहान और हम्मीर चौहान के अतिरिक्त मालदेव और कुम्भा ने भी अपने राज्य का यथा सम्भव विस्तार कर दिग्विजय आदि की। कुम्भा द्वारा निर्मित कीर्ति स्तम्भ इस बात का प्रतीक है। मालदेव ने भी अपने पैत्रिक राज्य को बढ़ाकर 47 परगनों का मारवाड़ राज्य बना लिया था। राजस्थान के राजाओं का कर्त्तव्य केवल राज्य विस्तार या दिग्विजय मात्र ही नहीं था। वे धार्मिक स्थानों की रक्षा करना अपना अत्यधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य समझते थे। काशी आदि पवित्र स्थानों को यवनों के चगुल से मुक्त कराने के लिये महाराणा लाखा व जोधा ने प्रयत्न किये थे। अतः रक्षा के दृष्टिकोण से देश की रक्षा, प्रजा की रक्षा व धार्मिक स्थानों की रक्षा राजा का परम कर्त्तव्य था। इसलिये राजा का परम योद्धा होना अत्यधिक आवश्यक था।

राजा अनेक विवाह करते थे और इन रानियों का भी राज्य कार्य में बड़ा योगदान रहता था। सामान्यतः युवराज की आयु कम होने पर रानियाँ राज्य कार्य अपने हाथ में ले लेती थी। इस क्षेत्र में भट्टियाणी रानी और हंसाबाई का नाम उल्लेखनीय है। रानी अपने पति और परिवार के लिये प्रेरणा का श्रोत बन जाती थी। ये अपने प्रभाव से उत्तराधिकारी को भी बदला देती थी, जैसा कि मेवाड़ राज्य व बनेड़ा का इतिहास बताता है। कठिनाई के समय ये रानियाँ रणकौशल भी

दिखाती थीं। रानी पद्मिनी ने अपने साहस का परिचय देकर राणा रत्नसिंह को अलाउद्दीन की कैद से मुक्त कर दिखाया था और जब राजपूत वीर युद्ध मे पराजित होकर लड़ते लड़ते मारे जाते तो ये रानियाँ बिना किसी भय के हँसते-हँसते जलती अग्नि मे कूद कर अपने स्नेह और शौर्य का परिचय देती, सती हो जाती थी। स्पष्ट है कि रानियाँ भी राजा की भाँति वीर और त्यागी होती थी।

प्रजा के धर्म की रक्षा और संरक्षण इन राजाओं का परम कर्त्तव्य था। राजपूत राजा अधिकतर शैव धर्म के मानने वाले होते थे किन्तु भारत तो कई धर्मो का केन्द्र है। जैन, बौद्ध और वैष्णव धर्मों को भी राजा उसी प्रकार सम्मान देते थे जैसा कि वे अपने शैव धर्म को। धार्मिक सहिष्णुता सामान्यत. राजा का उच्च कर्त्तव्य था। राजकीय पदो पर किसी भी मत के अनुयायी को नियुक्त किया जा सकता था। सामान्यत: मेवाड़ के दीवान जैन हुआ करते थे जो आगे चलकर महता जाति के प्रमुख बने। इसी प्रकार मारवाड़ मे भी खजाची आदि पद पर जैन धर्म के अनुयायी काम करते थे। बीकानेर मे तो रायसिंह के समय मे कर्मचन्द को मन्त्री तक बना दिया था। स्पष्ट है कि धर्म राज्य सेवा के अवसर मे किसी प्रजाजन के लिये कोई बाध नही था। राजा धार्मिक स्थानों को दान देना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे और मन्दिरों का निर्माण भी करवाते थे। पृथ्वीराज, मालदेव, राजसिंह और रायसिंह आदि ने अपने राज्यो मे जैन मन्दिरों का निर्माण भी करवाया। रायसिंह तो सभी धर्मों को समानता की दृष्टि से देखता था और जब सिरोही अभियान के समय तुरसमखाँ ने जैन मंदिरो की मूर्तियो को तोड़ना शुरू किया तो रायसिंह ने उसे रोका और बादशाह की स्वीकृति लेकर उन मूर्तियो को बीकानेर ले आया, जो आज भी बीकानेर के प्रसिद्ध जैन मन्दिर मे सुरक्षित है। जोधपुर के राजा जिस प्रकार हिन्दू साधू सन्तो का सम्मान करते थे उसी प्रकार वे मुसलमान काजी और फकीरों का आदर करते थे। वे आश्रित मुसलमानों को ऊँचे पद भी देते थे और अजमेर की दरगाह को जागीर में गाँव भी देते थे। राजस्थान के शासकों की धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलंत उदाहरण यह है कि जहाँ मुसलमान विजय के बाद मंदिरो की तोड़ फोड़ और प्रजा पर अनेक अत्याचार करते थे वहाँ राजपूत राजा इस कलंक से मुक्त है। राजपूतों ने बदले की भावना से कभी कोई मस्जिद नही तोड़ी। प्रताप का एक सेना नायक हकीम सूर था और उसने अब्दुल रहीम खानखाना की बेगमों को सकुशल मेवाड़ से भेजकर राजपूतों के ऊँचे चरित्र और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया था।

देश रक्षा और धर्म रक्षा के साथ-साथ राजा का तीसरा परम कर्त्तव्य चहुँमुखी उन्नति करना था। व्यापार, कृषि, कला, साहित्य आदि की उन्नति भी राजा का धर्म व कर्त्तव्य था। यथा राजा तथा प्रजा का अभिप्राय ये लोग भली प्रकार समझते थे। कवियों को राजकीय प्रोत्साहन देना, सुन्दर भवन और किले आदि का निर्माण करवाना, कला से भरपूर मन्दिरों का निर्माण व नवनिर्माण, सुन्दर उद्यानो का निर्माण, स्तम्भ व शिलालेख खुदवाना, चित्रकारों और साहित्यकारों को

शक्तिशाली बना दिया था।" इस प्रथा से सीधा लाभ यह था कि आवश्यकता पड़ने पर तत्काल एक बड़ी सेना एकत्रित हो जाती थी जो कर्त्तव्य व राजभक्ति के लिये अपनी जान दे देती थी। ये सामन्त नियमित रूप से सालाना कर आदि देते थे। हर उत्सव के समय राजदरबार में उपस्थित होकर 'मुजरा' करते थे, अनुपस्थित होने पर इन्हें विद्रोही समझा जाता था और ऐसे सामन्तों की जागीरें जब्त भी कर ली जाती थी। उनकी जागीरों में नगर, गाँव और खेड़ी आदि होते थे। बदले में सामन्त को सैनिकों की एक निश्चित संख्या राजा को आवश्यकता पड़ने पर देनी पड़ती थी। वास्तव में ये सामन्त ही राजा की सेना का आधार थे जिनके बल पर वह देश रक्षा विजयाभियान और आन्तरिक विद्रोह का दमन कर शान्ति बनाये रख सकता था। शान्ति के समय ये सामन्त दरबार के उत्सवों की शोभा बढ़ाते थे। नये सामन्त को मान्यता देने वाला भी राजा ही था। साधारणत: सामन्त भी कुलागत होते थे किन्तु राजा की स्वीकृति आवश्यक थी। ये सामन्त अपनी जागीर में प्राय: स्वतन्त्र थे। अपनी इच्छा से भूमि वितरण और लगान वसूली करते थे। इन्हें न्याय का भी अधिकार था किन्तु राजा के यहाँ इनके विरुद्ध फरियाद सुनी जा सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर इन जागीरदारों का स्थानान्तर भी हो सकता था। जब शासक निर्बल हो जाते थे तो ये सामन्त अपने आसपास के क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाकर राज्य के संगठन के लिये एक समस्या बन जाते थे। इन्हीं सामन्तों ने अनेक निर्बल शासकों का अन्त कर दिया। यह प्रथा तभी तक अच्छी है जब तक कि राजा स्वयं योग्य व शक्तिशाली हो। सामन्तों द्वारा प्रजा का शोषण दरबार में गुटबन्दी एक साधारण कार्य हो गया था।

4. **मन्त्रिमण्डल**—मेवाड़ के प्रशासन में प्राचीन मौर्य कालीन हिन्दू शासन प्रणाली का ही सूक्ष्म रूप देखने को मिलता है। मेवाड़ के राणा मंत्रिमंडल रखते थे। इन मंत्रियों की नियुक्ति वंशागत भी हो जाती थी किन्तु समय के अनुसार नये योग्य व्यक्तियों को भी मंत्रिमंडल में सम्मिलित किया जाता था। इनके वेतन भी निश्चित या निर्धारित नहीं थे। इनके समय और आवश्यकता के अनुसार उन्हें सम्मान और वेतन दिया जाता था। निरंतर युद्धों में व्यस्त रहने के कारण मंत्रियों के विभाग स्पष्ट रूप से बँटे हुए नहीं थे फिर भी इन सभी मंत्रियों को युद्ध के समय राजा के साथ युद्ध-स्थल में जाना पड़ता था। निरंकुश शासकों को अपने शासन का भार बँटाने के लिये योग्य व्यक्तियों की सहायता व राय की आवश्यकता थी इसीलिये मंत्रिमंडल का निर्माण किया जाता था। सारणेश्वर शिलालेख पर मेवाड़ के मंत्रियों के आठ नाम मिलते हैं जो मौर्यकालीन मंत्रियों के नामों पर ही रखे गये हैं। इस शिलालेख के आधार पर मेवाड़ में मुख्य को 'अमात्य' कहते थे। युद्ध और संधि मंत्री को 'संधि विग्रहक' कहते थे। लेखा जोखा के मंत्री को 'अक्षपटलिक' कहते थे। स्वास्थ्य व चिकित्सा का मंत्री 'भिषगाधिराज' कहलाता था। राज दरबार के प्रभावशाली साहित्यक कवि या भाट को 'वंदिपति' कहते थे। इसी प्रकार किलों के रखवाले मंत्री को 'दुर्गराज' कहते थे। राजा का एक मुख्य व गुप्त सलाहकार भी

संरक्षण प्रदान करना, सार्वजनिक कार्य तालाब खुदवाना, सड़कें आदि बनवाना, ये सभी निर्माण कार्य भी राजा के कर्त्तव्य थे और राजस्थान के राजा निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहने के बाद भी इस ओर से उदासीन नहीं थे। आज जो राजस्थान की कला कृतियाँ यहाँ वहाँ बिखरी हैं और जो विदेशियों तक को मंत्रमुग्ध कर देती हैं, वे मध्य कालीन राजस्थान की ही देन हैं। इतना सब होते हुए भी शिक्षा और चिकित्सा की ओर राजपूत राजाओं का ध्यान आकर्षित न हो सका और इस क्षेत्र में राजस्थान पिछड़ गया।

राजा का जीवन देखने में बड़ा वैभवशाली था। दरबार की चमक दमक, उत्सवों पर सवारी निकालना, उपाधि वितरण करना, गुनादान करना, पशु युद्ध देखना, शिकार आदि पर जाना आदि ऐसी परम्पराएँ थी जो राजा को राज्य का श्रेष्ठ व प्रथम नागरिक बनाये रखती थी। लेकिन उसका वैभवमय जीवन समय सारणी से बँधा था। उसके जिम्मे अनेक काम थे जो प्रतिदिन राजा को करने पड़ते थे। मौर्य राजाओं की भाँति राजपूत राजाओं का भी दिन बँटा हुआ था। प्रातः काल दरबार में अभिवादन के बाद दरबारियों को राज आज्ञा दी जाती थी। भोजन के बाद न्याय और शासन व्यवस्था का काम होता था। सन्ध्या से पहले फरियाद सुनी जाती थी फिर सेना निरीक्षण और फिर मनोरंजन कार्य होता था रात्रि के समय राजा कवियों, लेखकों और कलाकारों का सम्मान करता था। सामान्यतः राजा का जीवन व्यस्त था और उसमें भोग विलास का कहीं स्थान नहीं था फिर भी कुछ राजा भोग विलास और प्रमाद में डूबकर अपने राज्य का क्षय कर लेते थे। वि० सं० 1736 से 1760 की हकीकत बही, जोधपुर, में इस बात का वर्णन मिलता है कि राजा, महाराजा अपने राज्य कार्य से थोड़ा समय निकालकर, पूजा, विश्राम, भोजन और मनोरंजन में भी लगाते थे।

इन सब अधिकारों के विपरीत राजा पर निरंकुश होते हुए भी सामन्तों और मंत्रियों का अंकुश था। ये लोग प्रजाहित के लिये भूमि कर में छूट दिलवा सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर राज्य की नीति, युद्ध व सन्धि के मामलों में भी सामन्त व मन्त्रिगण हस्तक्षेप करते रहते थे। सामन्त अपने-अपने प्रदेशों में अकाल के समय करों से छूट ले लिया करते थे। राजा के अधिकार विस्तृत और निरंकुश होते हुए भी सीमित थे।

3 सामन्त—ये जागीरदार थे जिन्हें राजा अपने राज्य में बड़ी बड़ी जागीरें देकर रखता था। ये जागीरदार या तो राजवंश के ही कुमार होते थे, या आसपास के राज्यों से राजा की सेवा में आये हुए वीर होते थे। ये सामन्त समय आने पर अपना सब कुछ राजा पर लुटाने के लिये तैयार रहते थे। सामान्यतः इस प्रकार की व्यवस्था को राज शक्ति पर एक प्रतिबन्ध कहा जा सकता है लेकिन डॉ० गोपीनाथ अपनी पुस्तक 'राजस्थान स्टडीज' के पृष्ठ 179 पर लिखते हैं कि—"यह राजस्थान की सर्वशक्तिमान संस्थाओं में से एक था, जिसने निरंकुश शासन को स्थाई और

शक्तिशाली बना दिया था।" इस प्रथा से सीधा लाभ यह था कि आवश्यकता पड़ने पर तत्काल एक बड़ी सेना एकत्रित हो जाती थी जो कर्त्तव्य व राजभक्ति के लिये अपनी जान दे देती थी। ये सामन्त नियमित रूप से सालाना कर आदि देते थे। हर उत्सव के समय राजदरबार में उपस्थित होकर 'मुजरा' करते थे, अनुपस्थित होने पर इन्हें विद्रोही समझा जाता था और ऐसे सामन्तों की जागीरें जब्त भी कर ली जाती थी। उनकी जागीरों में नगर, गाँव और खेड़ी आदि होते थे। बदले में सामन्त को सैनिकों की एक निश्चित संख्या राजा को आवश्यकता पड़ने पर देनी पड़ती थी। वास्तव में ये सामन्त ही राजा की सेना का आधार थे जिनके बल पर वह देश रक्षा विजयाभियान और आन्तरिक विद्रोह का दमन कर शान्ति बनाये रख सकता था। शान्ति के समय ये सामन्त दरबार के उत्सवों की शोभा बढ़ाते थे। नये सामन्त को मान्यता देने वाला भी राजा ही था। साधारणतः सामन्त भी कुलागत होते थे किन्तु राजा की स्वीकृति आवश्यक थी। ये सामन्त अपनी जागीर में प्रायः स्वतन्त्र थे। अपनी इच्छा से भूमि वितरण और लगान वसूली करते थे। इन्हें न्याय का भी अधिकार था किन्तु राजा के यहाँ इनके विरुद्ध फरियाद सुनी जा सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर इन जागीरदारों का स्थानान्तर भी हो सकता था। जब शासक निर्बल हो जाते थे तो ये सामन्त अपने आसपास के क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाकर राज्य के संगठन के लिये एक समस्या बन जाते थे। इन्हीं सामन्तों ने अनेक निर्बल शासकों का अन्त कर दिया। यह प्रथा तभी तक अच्छी है जब तक कि राजा स्वयं योग्य व शक्तिशाली हो। सामन्तों द्वारा प्रजा का शोषण दरबार में गुटबन्दी एक साधारण कार्य हो गया था।

4. **मन्त्रिमण्डल**—मेवाड़ के प्रशासन में प्राचीन मौर्य कालीन हिन्दू शासन प्रणाली का ही सूक्ष्म रूप देखने को मिलता है। मेवाड़ के राणा मंत्रिमंडल रखते थे। इन मंत्रियों की नियुक्ति वंशागत भी हो जाती थी किन्तु समय के अनुसार नये योग्य व्यक्तियों को भी मंत्रिमंडल में सम्मिलित किया जाता था। इनके वेतन भी निश्चित या निर्धारित नहीं थे। इनके समय और आवश्यकता के अनुसार उन्हें सम्मान और वेतन दिया जाता था। निरंतर युद्धों में व्यस्त रहने के कारण मंत्रियों के विभाग स्पष्ट रूप से बँटे हुए नहीं थे फिर भी इन सभी मंत्रियों को युद्ध के समय राजा के साथ युद्ध-स्थल में जाना पड़ता था। निरंकुश शासकों को अपने शासन का भार बँटाने के लिये योग्य व्यक्तियों की सहायता व राय की आवश्यकता थी इसीलिये मंत्रिमंडल का निर्माण किया जाता था। सारणेश्वर शिलालेख पर मेवाड़ के मंत्रियों के आठ नाम मिलते हैं जो मौर्यकालीन मंत्रियों के नामों पर ही रखे गये हैं। इस शिलालेख के आधार पर मेवाड़ में मुख्य को 'अमात्य' कहते थे। युद्ध और संधि-मंत्री को 'संधि विग्रहक' कहते थे। लेखा जोखा के मंत्री को अक्षपटलिक' कहते थे। स्वास्थ्य व चिकित्सा का मंत्री 'भिषगाधिराज' कहलाता था। राज दरबार के प्रभावशाली साहित्यक कवि या भाट को 'कविपति' कहते थे। इसी प्रकार किलों के रखवाले मंत्री को 'दुर्गराज' कहते थे। राजा का एक मुख्य व गुप्त सलाहकार भी

होता था जिससे राजा समय-समय पर परामर्श लेता रहता था। इसी प्रकार की मंत्रणा देने वाले को केवल 'मंत्री' कह कर संबोधित किया जाता था। इनके अतिरिक्त एक 'सेनापति' भी होता था जो अमात्य या मन्त्री के बाद दरबार में सबसे महत्त्वपूर्ण मंत्री समझा जाता था। इन आठ वरिष्ठ मन्त्रियों के अतिरिक्त राजमहल की देखभाल करने वाला, टकसाल का अधिकारी, आखेट और मनोरंजन आदि के भी मंत्री थे।

भारत के मुसलमानों के प्रभाव और अकबर के समय से मुगलों के साथ राजपूतों के मेलजोल के कारण जयपुर, कोटा, बीकानेर आदि के शासक तो मुगल दरबार में ही रहने लग गये थे और मुगल शासन व्यवस्था के निकट सम्पर्क में आये थे अतः मध्यकालीन राजस्थान पर मुगल शासन व्यवस्था का सीधा और गहरा प्रभाव है। कई राजपूत शासक तो सूबेदार बनकर बरसों तक अपने राज्यों से दूर दक्षिण या पश्चिम सीमा पर रहते थे। ऐसी दशा में उनके राज्यों का पूर्ण संचालन ही मन्त्री या मन्त्री मंडलों द्वारा होता था। अजमेर, नागौर और जोधपुर पर तो काफी समय तक मुगलों का सीधा अधिकार रहा था अतः राजपूतों ने धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण मन्त्रिमंडल को छोड़कर पूर्ण रूप से मुगल व्यवस्था को अपना लिया और मन्त्रिमंडल की शक्ति केन्द्रीय अधिकारियों के हाथ में चली गयी।

5. केन्द्रीय अधिकारी—समय और आवश्यकता के अनुसार मुगल प्रभाव में आकर राजपूत राजाओं ने मन्त्रिमंडल के महत्त्व को कम कर दिया और मंत्रियों के स्थान पर केन्द्रीय अफसर या विभागाध्यक्षों के धीरे-धीरे मन्त्रिमंडल से भी महत्त्वपूर्ण हो गये। इन केन्द्रीय अफसरों में छ विशेष उल्लेखनीय हैं। जो इस प्रकार हैं :—

1. प्रधान 2. दीवान 3. बक्षी 4 खानए सामान 5. कोतवाल और 6. खजांची।

1. प्रधान—मुगलों के आगमन से पहले जिसे अमात्य कहते थे वही अब प्रधान कहलाने लगा। इसी प्रधान को समय-समय पर अलग-अलग नामों से पुकारा गया है। कभी मुख्य मंत्री और कभी मन्त्री प्रवर, इसी प्रधान के दूसरे नाम रहे हैं। यह प्रधान राजा के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण पद गिना जाता था। इस पद का महत्त्व केवल एक उदाहरण से मिल जाता है जब हम देखते हैं कि महाराणा प्रताप का प्रधान भामाशाह था। वैसे तो राजा की अनुपस्थिति में राज्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व प्रधान पर होता था किन्तु राजा की उपस्थिति में भी उसके अधीन न्याय, शासन और सेना जैसे महत्त्वपूर्ण तीन विभाग होते थे। इन तीनों विभागों के संचालन में वह राजा की सहायता करता था। ये प्रधान सामान्यतः कुलागत होते थे किन्तु योग्यता के आधार पर नये व्यक्ति भी इस पद पर बिठाये जाते थे। ये प्रधान मुगल कालीन वजीर के समान थे। जब कभी राजा की सवारी निकलती तो जलूस में राजा के बिलकुल पीछे इनका स्थान होता था। प्रधान को शासन, न्याय और सेना के अधिकार प्राप्त थे। मारवाड़ में तो राजा जब जागीरें बाँटता था या धार्मिक स्थानों को जमीन दान देता था तो वह अपने प्रधान की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर

होता था। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण राज्य की बागडोर प्रधान के हाथों में थी और वह महत्त्वाकांक्षी होकर विद्रोही भी हो सकता था जैसा कि सवाईसिंह चाम्पावत राठौड़ के समय में हो गया था। प्रधान राज्य का श्रेष्ठ अधिकारी था।

2. दीवान—राजस्थान के कई राज्यों में प्रधान नहीं होता था। उन रियासतों में दीवान ही सबसे बड़ा अधिकारी होता था जो प्रधान और दीवान दोनों पदों पर अकेला कार्य करता था। मूल रूप से दीवान अर्थ विभाग का स्वामी होता था। दीवान के मुख्य काम लगान वसूल करना, राजकोष में वृद्धि करना, आर्थिक करों का निर्धारण व वसूली करना आदि थे। राज्य के हर विभाग के आय-व्यय के कागजात दीवान के पास आते थे और इन्हीं की जाँच से राजा विभिन्न विभागों की मांगों की पूर्ति करता था। इसके अधीन कई छोटे अधिकारी होते थे जो वित्त सम्बन्धी कार्यों में दीवान की सहायता करते थे। इन सहायक अधिकारियों में उल्लेखनीय पेडड़िया, मुंशी, पोतदार और दरोगा हैं। दीवान की अपनी एक मोहर होती थी। इस मोहर के बिना राज्य के खजाने से किसी को भुगतान नहीं हो सकता था। यहाँ तक कि राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति और स्थानान्तरण भी दीवान की पूर्ण स्वीकृति के बिना नहीं हो सकते थे। मुण्डियार की ख्यात के पृष्ठ 22-23 पर दीवान के कार्य क्षेत्र का वर्णन करते हुए इस बात पर जोर दिया गया है कि दीवान की अपनी एक मोहर होती थी जिस पर उसका नाम लिखा होता था। हर स्वीकृत अर्जी पत्र पर इस मोहर का लगाना आवश्यक था। स्पष्ट है कि आर्थिक क्षेत्र में दीवान सर्वोपरि और वित्त मंत्री के समान था। इसके कार्य के महत्त्व व उत्तरदायित्व को देखकर इसके अधीन दो नायब दीवान रहते थे, जो खजाने की देखभाल करते थे।

3. बक्षी.—मूलरूप से सैनिक अधिकारी होने के नाते बक्षी राज्य का एक प्रभावशाली मंत्री गिना जाता था। सेना को वेतन देना, सैनिकों में अनुशासन और प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, सैनिक रसद जुटाना, नये सैनिक भर्ती करना, राज्य के किलों की देख-भाल करना, सेना के घोड़े और हाथियों के स्वास्थ्य की देख-भाल और इलाज करवाना, राजा से महत्त्वपूर्ण परामर्श करना, राज्य के वेतन सम्बन्धी सभी पत्रों की जाँच करना, ये सभी बक्षी के मुख्य काम थे। इसके अतिरिक्त राज्य के अन्य कर्मचारियों को भी वेतन बक्षी ही देता था। सेना का अध्यक्ष होने के साथ साथ इसे पशु चिकित्सा का पूरा ज्ञान भी होना आवश्यक था क्योंकि बीमार सैनिक जानवरों का इलाज भी यही करवाता था। युद्ध में घायल सिपाहियों की देख-भाल भी इसका काम था। इसके अधीन राज्य के किले होते थे और इसे दुर्गपाल के सभी अधिकार प्राप्त थे। इसकी सहायता के लिये नायब बक्षी होते थे और किलेदार भी इसके अधीन थे।

4. खान ए सामान—इसे निर्माण मंत्री कहें तो गलत नहीं होगा। के सारे कारखाने इसके अधीन होते थे। यह राजा का सबसे विश्वासपात्र

ईमानदार व्यक्ति होता था। राज्य की समस्त आवश्यकताओं के लिये यही अधिकारी सामान खरीदता था। इसे बाजार भावों से अवगत रहना पड़ता था और सामान्य हिसाब किताब रखने की क्षमता भी रखनी पड़ती थी। मुगल दरबार के मीर-सामा के सभी कार्य यह करता था। वास्तव में विभिन्न दरोगाओं की अधीनता में चल रहे सभी कारखानो की सुचारु व्यवस्था के लिये यह जिम्मेदार था। वह कारखानों का निरीक्षण भी करता था। मेवाड में इसे कोठारी भी कहा जाता था क्योंकि यह राजमहल की आवश्यकताओं से लगा कर हर कारखाने की आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदता था। राजा को उसके जन्म दिन, राज्याभिषेक के दिन और अन्य त्योहारों पर सामन्तों व दूसरे राजाओ से जो उपहार मिलते थे उन्हे यह सँभाल कर रखता था। इसके अधीन राज्य के लिये आवश्यक वस्तुओ का क्रय, विभागों की आवश्यकताओं की पूर्ति और निर्माण कार्य थे। राजमहल की सभी आवश्यक वस्तुएँ भी यही खरीदता था।

5. *कोतवाल*—यह राज्य का मूलरूप से सुरक्षा अधिकारी था। नागरिको के जान माल की ही नहीं वरन व्यापार द्वारा गरीबों को लूटे जाने से बचाना भी इसका काम था। मुगल कोतवाल की तरह व प्राचीन नगराध्यक्ष की तरह राजपूतो का कोतवाल एक सामाजिक प्राणी था जो प्रजा के दुःख सुख की देख-भाल करता था। बाजार भाव निर्धारित करना, कीमतें न बढ़ने देना, नाप-तौल के बाटों का निरीक्षण करना, नगर की सुरक्षा की व्यवस्था करना, चोर व डाकुओं का पता लगाना, जनता के आपसी साधारण झगड़ों को निपटाना व अमन चैन बनाये रखना कोतवाल के मुख्य काम थे। रात्रि के समय शहर में गश्त दिलवाना और चोर आदि को पकड़ना भी इसी का काम था। डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि आधी रात से दिन निकलने के चार घड़ी पहले तक अर्थात 12 से चार बजे तक रात्रि में बाहर आने जाने वालों को अपने साथ एक जलता हुआ दीपक ले जाना पड़ता था। जो आदमी दीपक नहीं ले जाते थे, उन्हे चौकीदार पकड़ लेते थे। इस प्रकार पकड़े गये व्यक्तियो को सम्मानित लोगों के आग्रह या जमानत पर छोड़ दिया जाता था। इस विधि से चोर और साहूकार के बीच सरलता से अन्तर पड जाता था।

6. *खजांची*—मेवाड़ मे इसे कोषपति कहते थे। यह एक ईमानदार और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था जो राज्य की आमदनी और खर्च का पूरा-पूरा हिसाब रखता था। यह व्यक्ति पक्षपात रहित और पूर्वधारणाओ से मुक्त होता था। राजा को समय समय पर बढ़ते हुए खर्चे और घटती आमदनी से अवगत करते रहना इसका काम था। एक अच्छे खजांचो से यह आशा की जाती थी कि वह तो प्रतिदिन की आमदनी और खर्चे मे से थोड़ा बहुत धन बचा कर धीरे धीरे संचय करता रहेगा और इस प्रकार बचाया हुआ धन आपत्ति अकाल और लगान वसूल न हो सकने की सूरत मे राज्य के खर्च के लिये उपलब्ध करेगा। प्राचीन काल मे इस प्रकार से बचाकर रखे गये धन को निधि और दुर्ग कहते थे। [illegible] की [illegible] के समय मे ही खर्च की जाती थी।

7. ग्राम शासन—गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई था। प्राचीन भारतीय परम्पराओं को पूर्ण मान्यता देते हुए मुगलों ने ग्रामीण जीवन मे कोई हस्तक्षेप नही किया था और उसी प्रकार राजपूतों के अधीन गाँव भी प्राय स्वतंत्र ही थे। राजा को गाँव से लगान प्राप्ति के सिवा लगाव नही था। दूसरे शब्दों मे हम यों कह सकते हैं कि गाँवों में पूर्ण स्थानीय स्वशासन था। प्राचीन भारत मे राज्य की तरफ से ग्रामीण और भ्रतक नामक अधिकारी रहते थे। यही ग्रामीण पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में राजाओं का प्रतिनिधित्व गाँवों में करता था। मध्यकाल मे और विशेष तौर पर शेरशाह की संगठित भूमि व्यवस्था के परिणामस्वरूप ग्रामीण को राजस्थान में पटवारी कहा जाने लगा। ग्रामीण और सरकार के बीच के पट्टे रखने वाला यह अधिकारी एक मात्र था। इस पट्टवारी या पटवारी का महत्व ग्राम पंचायत में सरकारी प्रतिनिधि से अधिक नहीं था। पटवारी के सिवा कृषि व अन्य विकास के लिये और भी सरकारी कर्मचारी होते थे। जो पटवारी की सहायता करते थे। खेतों की रक्षा के लिये कनवारी, राज्य की आमदनी का लेखा रखने के लिये तफेदार, पैदावार को आंकने व तोलने के लिये तुलवाटी, सारी व्यवस्था व प्रबन्ध बनाये रखने के लिये शहनाह और गाँवों मे चौकीदार भी होते थे। राज्य का हस्तक्षेप मात्र यही था कि पैदावार अच्छी हो और लगान समय पर इकट्ठा हो जायं।

गाँव में पंचायत राज्य करती थी जिसमें सरकारी प्रतिनिधि पटवारी रहता था। पंचायत में गाँव के प्रौढ़ व योग्य व्यक्ति ही पंच चुने जाते थे। पंचायत के व्यापक कार्य थे। गाँव मे शान्ति, सुरक्षा, कृषि विकास व न्याय सभी पंचायत के हाथ मे था। हर गाँव में अलग अलग जाति की अलग अलग पंचायतें भी होती थी जो जाति के आपसी झगड़ों का निपटारा करती थी। राज्य पंचायत के निर्णयों को मान्यता देती थी। गाँवों को हर प्रकार की स्वाधीनता थी। ग्राम और केन्द्र के शासन में बड़ा समावेश था।

8. परगना शासक—राजस्थान में कोई राज्य इतना बड़ा तो था नही कि उसे सूबे या प्रान्तों मे बाँटा जाता। अतः राज्य को छोटे छोटे जिलों मे बाँटा जाता था। जिन्हें मुगल प्रभाव के कारण परगना कहते थे। शिलालेखों, दान-पत्रों और सन्धि-पत्रों में समय-समय पर इन परगनों के नाम मिलते हैं। महाराज अजीतसिंह ने मारवाड़ में, रायसिंह ने बीकानेर में, मानसिंह ने जयपुर मे और कोटा मे माधोसिंह ने अपने राज्य को विधिवत रूप से परगनों मे बाँटा जो मुगल व्यवस्था के सही प्रतिबिम्ब थे। राजस्थान के हर राज्य में परगनों के अधिकारियों के नाम अलग अलग थे। मारवाड़ में ये अधिकारी हाकिम और फौजदार कहलाते थे। सामान्यतः हर परगने में केन्द्र के दो अफसर होते थे। एक के पास दीवानी शासन शक्ति होती थी और दूसरे के पास पुलिस व सेना होती थी। हाकिम और दीवान एक ही अफसर के दो नाम थे। फौजदार के पास सुरक्षा का भार था। दोनों अफसरों की नियुक्ति

प्रधान के कहने पर स्वयं राजा करता था। मेवाड़ में पहले सिर्फ छः परगने थे किन्तु अजीतसिंह के समय 21 परगने हो गये थे। हाकिम परगने का सबसे बड़ा अधिकारी था। उसके पास प्रशासन और न्याय दोनों शक्तियाँ थीं। एक खास रुक्के द्वारा स्वयं महाराजा उसकी नियुक्ति करते थे। परगने में पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था रखना इसका काम था। सेना के मामलों में भी वह परगने का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था। फौजदार का काम परगने में अमन चैन बनाये रखना था। सीमा सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति और युद्ध के समय राजा को उचित सहायता भेजना उसका काम था। वह अन्य छोटे अधिकारियों की राजस्व वसूली में सहायता करता था। वह परगने के जेलखानों की भी निगरानी रखता था। फौजदार के नीचे कई थानेदार होते थे। कई छोटे परगनों में सिर्फ एक ही अधिकारी होता था जिसे ओहदेदार कहते थे। परगने में हाकिम और फौजदार के नीचे सिकदार, कानूनगो, थानेदार, खजांची आदि अनेक अफसर और होते थे जो वेतन या लगान के बदले में राज्य की सेवा करते थे। परगने के अफसर अपने परगने का समय-समय पर दौरा भी करते थे ताकि जनता की कठिनाइयों को सुन सकें। हाकिम और फौजदार परगने की प्रजा पर अपना स्थायी प्रभाव न जमा लें इसलिये समय-समय पर इन अधिकारियों के स्थानान्तरण होते रहते थे ताकि भ्रष्टाचार पर नियंत्रण रहे। प्रजा से सीधा सम्पर्क रखने के लिये राजा और उसके उच्च अधिकारी भी परगनों का दौरा करते रहते थे। वि. सं. 1905-11 हवाला बही में यह वर्णन किया गया है कि फिर भी परगनों की जनता पर अत्याचार होते रहते थे जिनका विरोध जनता करती थी और जाँच के बाद अपराधियों को उचित दण्ड दिया जाता था।

9. **भूमि व्यवस्था**—वैसे तो हर राज्य में भूमि व्यवस्था में भिन्नता थी किन्तु लगभग सभी राज्यों में भूमि छः भागों में बँटी हुई थी। (1) खालसा भूमि वह भू भाग था जो राजा की निजी सम्पत्ति गिनी जाती थी और लगान वसूली के लिये केन्द्रीय दीवान के निजी प्रबन्ध के अधीन थी। (2) हवाला भूमि का वह भाग था जिसकी देखभाल के लिये हवलदार रखे जाते थे। यह भूमि साधारणतः परगनों के अधीन होती थी। (3) जागीर भूमि का वह भाग था जिसे राजा सामन्तों को उनकी सेवाओं के बदले जागीर में देता था। जागीरदार स्वयं इस भूमि के किसानों से लगान वसूल करता था किन्तु जागीर में निर्धारित रकम प्रतिवर्ष राज्य के खजाने में जमा कर देता था। (4) भूमि का चौथा भाग भोम था। राज्य की कई तरह से सेवा करने वाले भोमियों को भी जमीन दी जाती थी। इन भोमियों से कोई कर नहीं लिया जाता था और इनसे जमीन भी नहीं छीनी जाती थी। केवल विद्रोही होने पर इनसे जमीन छीनी जा सकती थी। भूमि का पाँचवाँ भाग शासन का था। यह भाग राज्य के अधीन था और इसकी व्यवस्था पटवारी पंचायत आदि के माध्यम से होती थी। इन पाँचों भागों के अतिरिक्त दान में दी हुई भूमि थी जो राजा, कवियों, ब्राह्मणों, चारणों, मठों और मंदिरों को दे देता था।

इस भूमि से भी कोई कर नहीं लिया जाता था। केवल खालसा, हवाला, जागीर और शासक की भूमि से आमदनी थी।

राजस्थान में खेती करने वाले को भूमि का स्वामी माना जाता था। सरकार किसानों को पट्टे लिख कर देती थी। इसी प्रकार जमींदार भी अपनी जागीर की भूमि में किसानों को पट्टे लिखकर देते थे। हर पट्टे का सरकारी बही में पूरा विवरण रखा जाता था जिसे हवाला कहते थे। यदि कोई किसान संतान रहित मर जाता तो उसकी भूमि पर सरकार पुनः अधिकार कर लेती थी। नये जागीरदार को राजा की आज्ञा द्वारा अपनी जागीर की मान्यता प्राप्त करनी पड़ती थी।

राज्य की मुख्य आमदनी भूमि कर था। अलग अलग राज्यों में यह भूमिकर पैदावार का $\frac{1}{3}$ या $\frac{1}{4}$ भाग था। लगान वसूली मूलरूप में तीन प्रकार से होती थी। (1) कूता (2) लाटा, और (3) बंटाई। तम्बाखू, कपास और गन्ना आदि कीमती फसलों पर हर बीघे के हिसाब से लगान लिया जाता था। भूमि कर, अतिरिक्त अन्य कर, व्यक्ति, अवसर और व्यवसाय पर लिये जाते थे। सामान्यतः लगभग 16 अन्य कर जनता से लिये जाते थे। व्यवसाय, व्यक्ति और अवसर करों के अतिरिक्त खान, नमक, सिंचाई, व्यापार, और अदालतों द्वारा किये गये दण्ड भी राज्य की आमदनी के श्रोत थे। जागीरदारों से उत्तराधिकार कर भी लिया जाता था। जागीरदार भी अपनी भूमि से वार्षिक 'रेख' राजा को दिया करते थे।

आमदनी का अधिकांश भाग युद्ध, सेना, सुरक्षा, राजमहल और दान में खर्च होता था। राज प्रासादों, किलों और मंदिरों के निर्माण पर भी राजा खुले हाथ से व्यय करते थे।

10. न्याय विभाग—न्याय सम्बन्धी अलग पुस्तकें न होने से राजस्थान की न्याय व्यवस्था के लिये पुराने साहित्य को खोजना पड़ता है फिर भी एक धुंधला चित्र मात्र सामने आता है। न्याय मूलरूप से फरियाद पर आधारित था। बिना माँग किये न्याय नहीं मिलता था। गाँवों में पंचायतें न्याय करती थीं। उसके बाद राज्य में सरकारी अदालतों का भी जाल बिछा रहता था। जिनमें अनेक नामधारी न्यायाधीश फैसले करते थे। इन विभिन्न न्यायाधीशों को अलग-अलग राज्य में अलग-अलग नाम से पुकारा जाता था जैसे आरक्षक, तलारक्ष, और दण्डपाशिक धर्माधिकारी न्याय का उच्च अधिकारी माना जाता था। पंचायत से असंतुष्ट रहने पर परगने की विभिन्न अदालतों में अपील की जा सकती थी और यहाँ भी न्याय न मिलने पर प्रजा राजा के पास सीधी फरियाद कर सकती थी। राजा पंडितों व शास्त्रों की राय से ही फैसला देता था। राजस्थान के राजाओं की न्याय व्यवस्था प्राचीन हिन्दू कानून पर आधारित थी जिसके मूल श्रोत कौटिल्य और मनु थे।

वैसे प्राचीन भारत की तरह धर्म-स्थिया और कंटक शोधन आदि न्याय के विभाग नहीं थे फिर भी जायदाद, विवाह, तलाक, धन, कर्ज, श्रम, ठेका, मारपीट, व्यभि-

चार, हत्या, चोरी, डकैती, घूंस व कम तोलना आदि मामले राजकीय अदालतों में या सीधे राजा के सामने भी पेश किये जा सकते थे।

न्याय मूलरूप से मौखिक था। मुकदमों का लेखा-जोखा नहीं रखा जाता था। मुकदमे लम्बे अरसे तक नहीं चलते थे और फैसला खुले आम सुनाया जाता था। यदि रास्ते चलते व्यापारियों को चोर या डाकू लूट लेते थे तो जिस गाँव की सीमा में लूटमार होती थी उस गाँव के नागरिक सामूहिक रूप से हरजाना देते थे। चोरियाँ कम होती थी। यह माना जाता है कि राजस्थान में भी मौर्य काल जैसी सुख और शान्ति विद्यमान थी और एक-एक साल में सौ रुपये से अधिक चोरी नहीं होती थी। गुप्त काल की तरह राजस्थान में भी एक यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना किसी भय के आ जा सकता था।

दण्ड व्यवस्था कठोर थी। लगान या कर की चोरी, काला बाजार या देशद्रोही होने पर प्राण दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार व्यभिचारी और विश्वासघात करने वालों के अंग भंग कर दिये जाते थे। अन्य अपराधों के लिये जेल भुगतनी पड़ती थी। मध्यकालीन राजस्थान में जेलों की दशा नरक से भी बदतर थी। कठोर दण्ड से राज्य में आतंक फैला रहता था और दण्ड के भय से प्रजा अपराध नहीं करती थी। उस समय दण्ड नीति भय पर आधारित थी। मुसलमानों के प्रभाव से राजस्थान के कई परगनों में काजी न्याय करते थे जैसे अजमेर, नागौर, मेड़ता, पुर व मांडल। अपील का एक अफसर होने लगा जिसे दरोगा-ए-अदालत कहते थे। कारावास, देश निकाला, आर्थिक दण्ड, शारीरिक यातना, अंग भंग, और मृत्यु दण्ड प्रमुख सजाएँ थी। उस समय वकील नहीं होता था और धार्मिक मामलों में पंडितों की राय ली जाती थी। न्याय व्यवस्था कठोर, भय पर आधारित और धर्मानुसार थी।

11. सैनिक संगठन—राजपूत राजाओं की सेना में हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट और पैदल मुख्य अंग थे। हथियारों में सैनिक तलवार, भाला, ढाल, गदा और बर्छी आदि का मुख्यतः प्रयोग करते थे। सैनिकों की कोई समान वर्दी नहीं थी वे धोती, कच्छा, और दुपट्टा बाँध कर लड़ते थे। प्रतिष्ठा प्राप्त सैनिकों की विशेष वर्दी होती थी और वे हाथी पर बैठ कर लड़ते थे। किस राजा के पास कब कितनी सेना रहती थी ? यह तो निश्चित नहीं है किन्तु लगातार युद्धों में व्यस्त रहने के कारण राजा और जागीरदार सदा तैयार रहते थे। लूटमार की इच्छा से साधारण लोग भी सेना में मिल जाते थे। नियमित प्रशिक्षण और अनुशासन तो भूले से ही देखने को मिलता है।

राजपूत राजा स्वयं महत्वकांक्षी थे और राज्यविस्तार के लिये युद्ध लड़ते थे। आंतरिक फूट, आपसी वैमनस्य, बाहरी आक्रमण और देश की रक्षा के लिये सदा तैयार रहना पड़ता था। राजस्थान के राजाओं का राज्य शक्ति पर आधारित था अतः संगठित सेना आवश्यक थी। मुगलों के संपर्क में आने के बाद राजपूत तोपों और बन्दूकों का प्रयोग भी सीख गये थे। मुसलमानों ने राजपूत सैनिक व्यव-

स्था को बड़ा मोड़ प्रदान किया। वे पैदल की जगह घोड़ों का प्रयोग करने लगे और राजपूत अफसर मुगलों का लिबास और कवच आदि धारण करने लगे।

राजा मुख्य सेनापति था। युद्ध के मैदान मे उसके सभी सामन्त उसके साथ ध्वजा लेकर लड़ते थे। सेना के अलग-अलग विभागों की देख-भाल के लिए अफसर थे जो पैदलपति, गजपति, अश्वपति आदि होते थे। राजपूतो ने भी चित्तौड़, जोधपुर, आदि किलों पर रक्षा के लिये तोपें चढ़ा ली थी। राजपूत अपनी सेना में अन्य जाति व धर्म के लोगों को भी रख लेते थे। ऐसे अफसर जो मुसलमान या मराठा होते थे, परदेशी कहलाते थे।

राजपूत सैनिक वीर होते हुए भी हथियारों के मामले में आक्रमणकारियों से पीछे थे। वे हर बार अपनी हार से सबक लेते और फिर भी ससार से पीछे ही रहे। अन्यथा वीरता और साहस में वे किसी से कम न थे।

12. समीक्षा—राजस्थान की शासन व्यवस्था पर यदि एक दृष्टिपात किया जाय तो हमें अनेक दोष साफ नजर आते है। सबसे पहला दोष तो यह है कि सारी व्यवस्था एक राजा पर निर्भर थी। राजा अयोग्य होते ही राज्य का पतन हो जाता था। दूसरा दोष यह है कि राज्य में अफसर और नौकरो के लिए कोई ठोस या विधिवत नियम नहीं थे जिससे कर्मचारियों के हितों की रक्षा नही हो सकती थी। सभी अधिकारी मनमानी करते थे। तीसरा दोष यह था कि अनेक पद परम्परागत थे। जिनमें अयोग्य व्यक्तियों के आ जाने से राज्य के शासन का स्तर गिर जाता था और पक्षपात होता था। चौथा दोष यह था कि आमदनी का अधिकांश भाग राजा, राजमहल और सेना पर व्यय होता था। राजकीय जीवन में विलासिता बढ़ती जा रही थी और प्रजा का शोषण बढ़ता जा रहा था। जागीरदारों को मनमानी करने से रोकने वाला कोई नही था और वे भी अपने आपको राजा की तरह विलासी बनाते जा रहे थे। जिसका सीधा असर जनता पर पड़ता था। परिणामस्वरूप किसान व श्रम जीवी अधिक गरीब होता गया और सामन्त वर्ग विलासी व धनवान। पाँचवा दोष यह था कि न्याय व्यवस्था भी सामान्य व संतोषजनक नहीं थी। यदि भय के स्थान पर प्रेम व निष्पक्षता को न्याय का आधार बनाया जाता तो आज हिन्दू कानून का रूप ही दूसरा होता। अन्तिम मोटा दोष यह था कि राजस्थान के राजाओं की सेना साहसी और मर मिटने वाले वफादार सैनिकों की एक भीड़ थी जिसमें प्रशिक्षण हथियार और संगठन की भारी कमी थी और यही कमी राजपूत राज्यों के पतन का सबसे बड़ा कारण बन गयी।

□

23

राजस्थान में शिक्षा

प्राचीन काल की भाँति राजस्थान के मध्ययुग में शिक्षा का बहुत महत्त्व रहा है। इस युग की शिक्षा विशेष विचारधारा और उद्देश्य पर आधारित थी। शिक्षा का प्राथमिक ध्येय आर्थिक, सामाजिक व बौद्धिक होने के साथ-साथ परम् शांति और नैतिक व आध्यात्मिक भी था। शिक्षा के बिना विकास नहीं होता और बौद्धिक विकास के बिना जीवन का आर्थिक दृष्टिकोण नहीं सुधरता, अतः शिक्षा अनिवार्य है।

प्राचीन काल से यह परम्परा चली आ रही है कि साहित्य, संगीत व कला के बिना मनुष्य पशु के समान है, तुच्छ है और पाषाण से भी हीन है, फिर भी मध्यकालीन राजस्थान में शिक्षा का विकास प्राचीन भारत या आधुनिक भारत के बराबर नहीं हुआ। वास्तव में राजपूतों की अधीनता में राजस्थान, शिक्षा के दृष्टिकोण से नितान्त उपेक्षित रहा; क्योंकि यहाँ के राजवंशों को अपने जीवन का अधिकतम समय अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये ही देना पड़ा, फिर भी जो प्रगति या शिक्षा का विकास इस युग में हुआ, वह निम्न है—

1. शिक्षा का उद्देश्य—डॉ० गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—"अर्थोपार्जन और बौद्धिक विकास के साथ परम् शांति प्राप्त करना उस युग की शिक्षा का लक्ष्य था।" राजपूतों की शिक्षा में वैदिक कालीन परम्पराओं के कुछ चिह्न मिलते हैं। अतः पढ़ने लिखने की शिक्षा के साथ धार्मिक व नैतिक आदर्शों का भी ज्ञान करवाया जाता था। मूलतः शिक्षा धर्म पर आधारित थी परन्तु उतनी धर्म प्रेरित नहीं थी जितनी मुसलमानों के राज्य में। पाठशालाओं में जिन शिक्षकों को शिक्षा का कार्य सौंपा जाता था वे अपने छात्रों को इतना योग्य बनाना चाहते थे कि समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़े। शिक्षा के मूलस्वरूप के 2 उद्देश्य थे—

(1) संस्कृति व स्वतन्त्रता की रक्षा।

(2) जीविकोपार्जन के साधन।

विद्यार्थियों को आरम्भिक कक्षाओं से ही देशभक्ति और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया जाता था। धर्म पर आधारित होने के कारण सभी स्कूलों में किसी न किसी धर्म का अध्ययन अवश्य होता था जिससे नैतिकता व परलोक की बात सुधरती रहती थी। इस प्रकार शिक्षा इस जीवन को सुखी बनाकर परलोक में मुक्ति दिलाने का साधन थी।

2. शिक्षा के प्रकार—मूलरूप से शिक्षा 4 प्रकार की थी। (1) घरेलू शिक्षा, (2) केन्द्र की शिक्षा, (3) उपासरों की शिक्षा व (4) स्थानीय अध्यापकों की शिक्षा।

घरेलू शिक्षा का प्रचलन व्यावसायिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर होता था। साधारणतः हर एक कारीगर अपने लड़के को अपना हुनर सिखा देते थे और बिना स्कूल गये ही छात्र अपने व्यवसाय में निपुण हो जाता था। इस प्रकार की शिक्षा से हस्तकौशल उच्च स्तर को प्राप्त कर गया था। उस समय के बने हुए चित्र, जेवर, महल और लकड़ी का सामान अपने-अपने क्षेत्र की सफलता के प्रतीक हैं। बाबर ने भी भारतीय घरेलू शिक्षा की अपनी जीवनी में बहुत प्रशंसा की है। घरों में रहकर, पैतृक-परम्परा के अनुसार शिक्षा प्राप्ति राजस्थानी शिक्षा का आधार था। खेती, वाणिज्य व दस्तकारी इसी शिक्षा के प्रकार से पनप गयी थी।

शिक्षा के केन्द्र भी होते थे जिन्हें गुरुकुल या आश्रम भी कहा जाता था। एक गुरु के तत्वावधान में एक ऐसा केन्द्र रहा करता था, जो आश्रमों की तरह होते थे जिनमें शिष्य गुरु की सेवा करता था और गुरु के चरणों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करता था। किसी प्रकार के पाठ्यक्रम या हवन की आवश्यकता नहीं थी। एकलिंग मन्दिरों के लेखों से इस बात का पता चलता है कि सोम शर्मा नामक महान् विद्वान गुरु मेवाड़ का उसी प्रकार विख्यात गुरु था, जिस प्रकार कि विश्वामित्र, द्रोणाचार्य आदि अपने समय के थे। इस गुरु ने सभी वेदों तथा शास्त्रों में सभी शिष्यों को पारंगत कर दिया था। इन आश्रमों में बड़े घराने के लोग अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिये भेजते थे।

जोधपुर नरेश महाराज गजसिंह ने गुरु के आश्रम में रहकर ही शिक्षा प्राप्त की थी और गुरु सोम शर्मा ने वेद, शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये कई पीढ़ियों तक अपने घर की चार दीवारी को नहीं छोड़ा था। इस प्रकार ब्राह्मणों के आश्रम होते थे। छात्रों से इन आश्रमों में कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। आचार्यों के निर्वाह के लिये दानी शासक किसी न किसी गाँव की सम्पूर्ण उपज गुरुओं को अर्पित कर देते थे। वे निरन्तर शिक्षाध्ययन में लीन रहकर अपने छात्रों को योग्य बनाते थे।

शिक्षा का तीसरा प्रकार नगरों और कस्बों के अन्दर जैन उपासरे थे। जहाँ रहने वाले साधु सतत् प्रयत्न से उपयोगी ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्रित कर जैन धर्म पर आधारित शिक्षा दिया करते थे। इन उपासरों में भी सभी विषयों की उपयोगी हस्तलिखित पुस्तकें रहती थीं। समृद्ध व्यक्ति ऐसे उपासरों का निर्माण करवाते थे और इनमें साधु लोग रहकर धर्म पर आधारित शिक्षा देते थे। इन उपासरों में प्रौढ़ शिक्षा भी होती रहती थी। व्याख्यानों द्वारा शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार के दो केन्द्र उदयपुर में उपलब्ध हुए हैं। एक रूविना खेड़ा और दूसरा प्रागदास। इन केन्द्रों में जैन उपासरों को स्कूल बनाकर शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा का चौथा प्रकार स्थानीय अध्यापन कार्य था। ये पाठशालाएं गाँव व कस्बों में होती थीं। स्थानीय लोग चन्दा व दान द्वारा इस प्रकार की पाठशालाएँ चलाते थे। जहाँ अध्यापक लोग खुले मैदान में पेड़ या छोटे छप्पर के नीचे बैठकर विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। यह शिक्षा मौखिक थी और मूलरूप से दण्ड के विधान

पर आधारित थी। साधारणतः माता-पिता बच्चे को गुरु के सुपुर्द करते समय यह कहते थे कि चमड़ी आपकी व हड्डियाँ हमारी अर्थात् गुरु को बालक को सजा देने का पूरा अधिकार था। इन चार प्रकार की संस्थाओं में शिक्षा दी जाती थी।

3. आयु – 16वीं व 17वीं शताब्दी के पुरालेखों व काव्य ग्रन्थों से विदित होता है कि शिक्षा की अवधि 5 वर्ष से 18 वर्ष तक थी। वैदिक काल की तरह 8 वर्ष से 25 वर्ष तक न रहकर घटती हुई आयु और आवश्यकता के अनुसार शिक्षा 18 वर्ष पर समाप्त कर दी जाती थी। इस आयु में विद्यार्थी गुरु के संपर्क में रहता और रात-दिन पढ़कर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता था। विद्यार्थियों को जबानी पारंगत होना पड़ता था और आजकल की तरह मौसमी आवकाश वहां नहीं होते थे। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि पूर्णिमा व अमावस्या को छोड़कर तथा पर्व के दिनों को त्यागकर सभी दिन विद्यार्थी को पढ़ना पड़ता था। अतः 5 वर्ष से 18 वर्ष का समय ही शिक्षा के लिए पर्याप्त था।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"अवकाश जैसी कोई वस्तु नहीं थी। सुबह से रात तक और रात्रि में भी किसी भी समय गुरु किसी भी प्रकार की शिक्षा दे सकता था। नियमित पाठ्यक्रम नहीं थे और न ही समय सारणी।"

4. विषय—सामान्यतः पढ़ने लिखने के विषय भाषा और गणित थे किन्तु 14 वीं शताब्दी के 'कान्हड़दे प्रबन्ध' से ज्ञान होता है कि पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, नक्षत्रविद्या, और तर्कशास्त्र का भी अध्ययन होता था। अन्य पढ़ाये जाने वाले विषय वेद, शास्त्र, नीति, मीमांसा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, गणित, साहित्य व व्याकरण थे। इन विषयों के अतिरिक्त चित्रकला, चिकित्सा, नृत्य व संगीत मे भी अच्छी शिक्षा दी जाती थी, आज की तरह उस समय भी वाद-विवाद और लेखन प्रतियोगिता, पठन-पाठन प्रतियोगिता, अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता आदि अनेक प्रभावित करने वाले ढंग से शिक्षा दी जाती थी।

राजस्थान मे शिक्षा का माध्यम मूलस्वरूप से कथा का तरीका था। कथा-वार्ता द्वारा सयाने लोगो को शिक्षा दी जाती थी, जिससे कठिन विषय भी सरल हो जाते थे। इस प्रकार राजस्थान मे पढ़ाये जाने वाले विषयों का क्षेत्र व्यापक था और यह आवश्यक नही था कि एक विद्यार्थी सभी विषयो में योग्यता प्राप्त करे। साधारणतः संगीत, नृत्य, चिकित्सा व चित्रकला आदि मे से एक व्यक्ति पढ़ता था। धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, मीमासा, व वेद दूसरे छात्र पढ़ते थे तो ज्योतिष, नक्षत्र शास्त्र, गणित आदि तीसरे छात्र पढ़ते थे। इस प्रकार विषयों का वितरण भी था।

5. स्त्री-शिक्षा—देश का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर युग मे विद्वान् स्त्रियां हुई है। हमे ऐसे ग्रन्थ सैकड़ो की संख्या में मिलते है जो मूलरूप से घर-घर में स्त्रियो द्वारा ही पढ़े जाते हैं, रामायण, भागवत् गीता, महाभारत की कथायें, भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारो की कथायें आदि ऐसी पुस्तकें हैं जिनके अध्ययन से राजस्थान की सामान्य नारी कुशल गृहणी बन जाती थी और स्त्री

शिक्षा का मूल उद्देश्य यही था कि स्त्रियो को अपने घर का संचालन करना आ जाय। साधारण व्यक्ति अपनी लड़की को शिक्षा देने के प्रति जागरूक नही था। समय की परंपरा के अनुसार स्त्री शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था नही थी और साधारण व्यक्ति अपनी स्त्री और बच्चों के लिए अलग स्कूल बनाने में समर्थ नही था फलस्वरूप लड़कियाँ पाठशालाओं में नहीं जाती थी। पुस्तकों का अभाव भी स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखता था अतः युग की परंपरा लड़कियों के लिए अलग विद्यालयो का अभाव व पुस्तको की कमी कारण स्त्री शिक्षा बहुत कम थी।

राजस्थान के ग्रन्थों से पता चलता है कि देलवाड़ा की राजकुमारी ने शिक्षा पाने के लिए अनेक पंडितों को अपने यहाँ नौकरी दी और उनसे विभिन्न पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार करवा कर स्वयं उच्चकोटि की विद्वान् बन गई।

मध्यकालीन राजस्थान की शिक्षित बालाओं मे देलवाड़ा की यह राजकुमारी रसबाई अपना निश्चित ऊंचा स्थान रखती है। स्त्री शिक्षा उच्चवर्ग तक ही सीमित थी और राजस्थान की राजकुमारियाँ, क्षत्रीय कुल की उच्च बालायें आदि महलों मे ही शिक्षा प्राप्त करती थी। जयपुर के पोथीखाने मे एक चित्र मिला है जिसमें एक वृद्ध अध्यापक राजकुमारी को शिक्षा दे रहा है। यह चित्र इस बात की पुष्टि करता है कि शिक्षा राजघरानों में महलों में ही दी जाती थी और सिर्फ उच्च घराने की लड़कियां ही पढ़ती थी।

6. पुस्तकालय—राजपूत काल में शिक्षा का प्रचार कितना था यह उस समय के प्राप्त पुस्तकालयों से चलता है। हमे राजमहलों में और पोथीखानों में ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ मिले हैं जो गीता, रामायण, वेद, पुराण व धार्मिक साहित्य से सम्बन्धित हैं। अतः स्पष्ट है कि पुस्तकालयों का मूल आकर्षण धार्मिक ग्रन्थ थे। जैन उपासरों में बहुत बड़े-बड़े पुस्तकालय होते थे और समृद्ध जैनी अपने खर्चे से पुस्तकें लिखवाकर उपासरो को अनुदान करते थे। इन पुस्तको को जिल्द में बांधकर रखा जाता था और जिल्द के लिए गत्ते की जगह लकड़ी का प्रयोग होता था। इन लकड़ी की तख्तरियों के ऊपर सुन्दर कारीगरी की जाती थी जिससे पुस्तक दर्शन भी अति सुन्दर हो जाता था।

प्रत्येक विषय के अलग-अलग बण्डल बनाकर रखे जाते थे और उन पर क्रम संख्या दी जाती थी। जयपुर का पोथीखाना, उदयपुर व कोटा के सरस्वती भण्डार उस समय के बड़े-बड़े पुस्तकालय थे। इतिहासकार टाड इन पुस्तकों को महत्त्वपूर्ण बताते हुए लिखते हैं कि—"ये पुस्तकें उस युग के खजाने है जो आज भी हमारे लिए एक वृहद कोष के रूप में हैं।"

इन पुस्तकालयों में संग्रहित पुस्तकों से पता चलता है कि पुस्तक की नकल करने वाला अपना नाम अन्त में हासिये में लिख देता था और जिस पुस्तक की नकल कर रहा है उस पुस्तक का नाम भी अंकित करता था।

7. शिक्षा का स्तर—वैसे तो मध्ययुगीन राजस्थान में ऐसा कोई नही था जिससे शिक्षा के स्तर को नापा जा सके किन्तु उस समय भी शिक्षा

सि ऊँचा था। उस समय के लिखे गये ग्रन्थ आज भी देश के

स्तर तुलनात्मक रूप न रखते हैं। गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में वैसी श्रद्धा इस युग

मौलिक ग्रन्थों में स्थान ाल के छात्र गुरु संघर्ष शिक्षा के गिरे हुए स्तर के द्योतक हैं।

मे नहीं। आधुनिक व राजस्थान में वास्तव में निपुण गुरु ही शिक्षा देते थे, अतः

किन्तु मध्यकालीन तों का विकास अच्छा होने के कारण छापेखाने का अभाव व

शिक्षा का स्तर व छा धक जाती थी।

पुस्तकों की कमी भी थ शर्मा का कहना है कि— जो शिक्षा को संरक्षण आज हमें

डॉ० गोपीना उपलब्ध होती है वही संरक्षण विद्या प्रेमी जनों से मिल जाता

सरकार के द्वारा स्थान में गाँव-गाँव में पाठशाला थी। प्रत्येक नगर व कस्बा

था। मध्ययुगीन राज

विद्या के केन्द्र थे।

वकास आज के युग की भाँति भले ही नहीं रहा हो किन्तु इसमें

शिक्षा का शिक्षा के परिणाम संतोषजनक थे इसीलिए उस समय में अनेक

कोई सन्देह नहीं कि ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और अपने युग, राज्य और

ऐसे विद्वान हुए जिन्ह या। सभी क्षेत्रों के विद्वानों में यदि हम दृष्टिपात करें तो

धर्म का गौरव बढ़ पदन, हीरानन्द, नैणसी, सदाशिव आदि उल्लेखनीय हैं। फिर

सोमशर्मा, वेदशर्मा, यों में शिक्षा का स्तर अलग-अलग था।

भी अलग-अलग राज शिक्षा समाप्ति पर गुरु अपने शिष्य को उसकी योग्यतानुसार

उपाधियाँ— यद्यपि आधुनिक काल जैसे विश्वविद्यालय व परीक्षा के केन्द्र

उपाधि भी देता था जो शिक्षा प्राप्त करने वालों को कई उपाधियाँ दी जाती थी।

नहीं थे फिर भी ऊँ च, महामहोपाध्

जिनमें कवि, कविरा जाती थी।

मे अपनी मान्यता र पने उदयपुर राज

ओझाजी लिखते हैं कि— "उपाधियाँ अद्वितीय प्रतिभा वाले विद्यार्थी को

का वर्णन करते हुए ती थी और आचार्य की उपाधि तो हजारों में एक छात्र को

ही प्रदान की जा

मिलती थी।"

यों को प्रदान करने के लिए किसी राजा या महागुरु की स्वीकृति

इन उपाधि ही थी। अध्यापक संतोषी थे। उनका जीवन सरल व निःस्वार्थ

की आवश्यकता नी गई उपाधियों पर कोई शंका या टिप्पणी नहीं की जाती थी।

था अतः उनकी यों द्वारा दी गई उपाधियों को मान्यता प्राप्त थी। इस प्रकार

छोटे-बड़े सभी गुरु ते हुए भी राजस्थान में शिक्षा का सामान्य प्रचार था।

अधिक प्रचार न हो संधानकर्ताओं ने राजस्थान की इस शिक्षा पर प्रकाश डालते

अनेक अनु कि— "शिक्षा का स्तर ऊँचा, अध्ययन मौलिक और शिक्षा की

हुए यह बताया है स युग मे हुई थी।"

सर्वांगीण उन्नति इ

श्री गहलोत के शब्दों में—"पुस्तकें कम होती थीं, ज्यादातर पढ़ाई मौखिक थी। साहित्यिक पुस्तकों में देवी देवताओं की कथाएँ तथा कविताएँ होती थी। छात्रों में अनुशासन रखा जाता था तथा बेतों से मारकर, मुक्के लगाकर, मुर्गा बनाकर दण्ड दिये जाते थे। लड़कियों को पढ़ने नहीं भेजा जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि लड़कियाँ पढ़ेंगी तो वे शीघ्र ही विधवा हो जायेंगी।"

श्री गहलोत आगे कहते हैं कि—"कविता केवल मनोविनोद तथा संतो के विचार प्रदर्शन के लिए ही रह गई थी। अधिकतर कविता शृंगार रस मे होती थी।"

विद्वानों व पुस्तकों के नाम बताते हुए श्री गहलोत कहते हैं कि—"राजस्थान के नरेशों के आश्रय में ही हमीर रासो, राजरूपक, सूरज प्रकाश आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना हुई और भक्तों में मीरां, सूरदास, तुलसीदास, नागरीदास और वृंदावनदास आदि उल्लेखनीय है। जिनमें केवल तुलसीदास बाहर के थे।

श्री गहलोत इतना सब बताने के बाद यह बताते हैं कि शिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम थी। 1941 तक राजस्थान में 5% लोग भी साक्षर नहीं थे और महिलाओं में तो शिक्षा ·85% ही थी और कुल मिलाकर 1457 पाठशालायें सारे राजस्थान में थी। यह गिनती श्री ओझाजी भी राजस्थान के इतिहास की दूसरी जिल्द में देते हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र मे राजस्थान के लोग अधिक जागरूक नहीं थे। राजा भी उतने उत्साही नहीं थे जितने मध्य भारत के अन्य राजा। अंग्रेजों के संपर्क में आकर शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ने लगी। पाश्चात्य शिक्षा व छापेखाने के आविष्कार के साथ राजस्थान मे शिक्षा के प्रति इच्छा व रुचि बढ़ती जा रही है।

19. शिक्षा का सृजन—किसी भी युग की शिक्षा के विकास का मापदण्ड साहित्य सृजन है। इस समय सभी क्षेत्रों में साहित्य काव्य, ऐतिहासिक साहित्य आदि की जो रचना हुई उनकी यदि तालिका तैयार करें तो कई अन्य ग्रन्थ भर जायेंगे। यहाँ कुछ अति उद्‌भट विद्वानों के नाम देना ही पर्याप्त होगा। मेवाड़ मे कवियों व ऐतिहासिक लेखकों की कमी नहीं थी।

चित्तौड़ के समीधेश्वर लेख की रचना दशोरा जाति के भट्ट विष्णु ने की थी। इसी प्रकार कुंभा के कीर्ति स्तम्भ की प्रशस्ति भी अत्यधिक उल्लेखनीय है। कुंभलगढ़ प्रशस्ति के लेखक भी यहाँ चित्तौड़ के कविराज थे। स्वयं कुंभा बड़ा विद्वान था उसके रचे हुए ग्रन्थ संगीत राज, संगीत मीमांसा और सूर प्रबन्ध आदि मुख्य हैं। गीतगोविन्द पर रसिक प्रिया नाम की टीका भी कुंभा को अमर बनाती है। उसने चार नाटकों की रचना की थी। संगीत रत्नाकर की टीका भी कुंभा ने स्वयं ने लिखी थी।

इसी प्रकार सांगा व प्रताप के समय में भी युद्ध में व्यस्त रहने पर भी देवला गांव से प्राप्त सिंहासन बत्तीसी उस समय की साहित्यिक रचनाओं में अपना स्थान रखती है। अमर काव्य वंशावली तथा राज्य प्रशस्ति महाकाव्य लिख कर रणछोड़ भट्ट ने राजसिंह को अमर बना दिया। इसी समय सदाशिव का लिखा हुआ संस्कृत भाषा का ग्रन्थ राज रत्नाकर महान् ऐतिहासिक काव्य है। राज्य प्रकाश जिसे किशोरदास ने लिखा था मेवाडी भाषा में अत्यधिक लोकप्रिय है।

महाराणा भीमसिंह के समय में भीम विलास तथा भीम प्रगेश्वर की प्रशस्तियाँ तैयार हुई। ये चारण कवि आढ़ा कृष्ण ने लिखी थी। इसी प्रकार ऐतिहासिक ग्रन्थों में कवि श्यामलदास द्वारा रचित आधुनिक काल की वीरविनोद के 5 खण्ड अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

जोधपुर राज्य में डिंगल भाषा में स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हुई और समय-समय पर ये लोग विद्वानों को आश्रय देकर ग्रन्थ लिखवाया करते थे।

मालदेव के समय के लिखे गये लेख और शिलालेख जो मन्दिरों व किलों में उपलब्ध हैं। उस समय के विद्वानों को सम्मान दिलाने के लिये पर्याप्त हैं। जोधपुर की ख्यातें व काव्य ग्रन्थों से प्रकट होता है कि राजा गजसिंह ने अपने समय के कवियों को लाख पसाव दिये थे। उसी के आश्रित हेम कवि ने गुण भाषा नामक ग्रन्थ की रचना की थी और केशवदास कवि ने गुणरूपक काव्य लिखकर जोधपुर के साहित्य को अमर बना दिया। महाराजा जसवन्तसिंह भी साहित्य प्रेमी थे। उस समय भाषा के कई ग्रन्थ लिखे गये जिनमें भाषा भूषण, सर्वोत्तम है। जिसमें अलंकार, रीति व छंद तथा रस का सुन्दर वर्णन है। जोधपुर के अबुलफजल व मुहम्मद नेणसी को कौन नहीं जानता। उसकी ख्यात व जोधपुर रा परगना री विगत आज भी इतिहास के अनमोल ग्रन्थ है। अजीतसिंह भी साहित्य का उपासक था वह एक लेखक को एक पुस्तक की रचना पर 2 हजार नकद व जागीर दिया करता था और अच्छे लेखकों को 500 रुपये वार्षिक आय की जागीर दिया करता था। मानसिंह राजा को इतिहास से बड़ा प्रेम था उसने उपयोगी सामग्री के आधार पर जोधपुर की ख्यात लिखवायी।

मध्ययुगीन साहित्यिक प्रगति को पूर्ण रूप से अभी तक नही आँका जा सका है। जहाँ तक भाषा की सेवा का प्रश्न है इस युग मे राजस्थानी भाषा मे अच्छे ग्रन्थ रचे गये, जिनमें मौलिकता भी है और जिनकी उपयोगिता भी। राजस्थान में जनसाधारण पर साहित्य का प्रभाव बताते हुए डॉ० गोपीनाथ शर्मा कहते है कि—"किसी भी राजदरबार या साधारण परिवार का उत्सव सफल नहीं माना जा सकता था। जब तक वहाँ राजस्थानी काव्य के उद्धरणों को न दोहराया जाय।"

□

24

मध्यकालीन राजस्थान की सामाजिक दशा (1400–1800)

इतिहासकार टाड के शब्दों में—"राष्ट्र के आचरण और व्यवहार उसके इतिहास में महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति करते हैं। राजपूतों के जीवन के साथ इनका का अटूट सम्बन्ध है। लड़ाकू राजपूतों में उनके पूर्वजों के गुणों का जितना सामंजस्य मिलता है उतना अन्यत्र नहीं मिलेगा। बाप दादाओं की चाल को छोड़ देने वालों से वे घृणा करते हैं।"

वास्तव में राजस्थान का समाज सदियों से वैसा ही चला आ रहा है। मुगलों के साथ घनिष्ट संपर्क रहने पर भी, राजनैतिक समन्वय होने के बाद भी राजपूतों का समाज आज भी पूर्ववत् है। पृथ्वीराज चौहान के समय में मुसलमानों के आगमन से लेकर औरंगजेब के पतन के बाद तक राजपूतों ने समाज में जिन परिवर्तनों को अपनाया वे वास्तव में हिन्दू समाज के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। यह सही नहीं है कि बाबर से हारने के बाद या पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु के बाद राजस्थान की राजनैतिक एकता समाप्त हो गयी हो। वास्तव में इन पराजयों ने राजपूतों की आँखें खोल दी और जहाँ पृथ्वीराज, प्रताप, मालदेव, चन्द्रसेन जैसे राष्ट्रीय देश भक्त हुए वहाँ समाज में भी क्रांति करने वाले कई सपूत जन्मे। अकबर की सत्तावादी नीति ने और राजपूतों से मेल-जोल बढाने की नीति ने राजपूतों के रहन सहन व सामाजिक परम्पराओं पर प्रभाव डाला। आपसी संपर्क से राजस्थान के जन-जीवन में परिवर्तन आना स्वाभाविक था। डॉ० त्रिपाठी के शब्दों में—"अकबर ने अन्य राजपूत राजाओं के प्रति अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया था कि न तो वह उनके राज्यों पर अधिकार करना चाहता और न उसे उनके सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करना था।"

फिर भी जिन वैवाहिक संबन्ध की नीति को उसने अपनाया उसके परिणाम बड़े महत्त्वपूर्ण रहे। अकबर ने जयपुर की राजकुमारी से विवाह किया जिससे शाहजादे सलीम का जन्म हुआ और इसी प्रकार शाहजहाँ का जन्म भी हिन्दू राजकुमारी से हुआ था। यद्यपि हिन्दू राजा इन वैवाहिक सम्बन्धों से संतुष्ट नहीं थे फिर भी समाज पर इसका एक सीधा असर पड़ा और मुसलमानों के साथ मेल-जोल बढ़ाना अच्छा समझा जाने लगा।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"ज्यों-ज्यों मुगल प्रभाव राज परिवारों में बढ़ता गया त्यों-त्यों राजस्थान के नरेशों की स्वतन्त्रता भी कम होने लगी। इससे समाज के जाति निर्माण पर सीधा प्रभाव पड़ा और यदि हम ओसवाल या कायस्थ जाति का विश्लेषण करें तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि ये मिश्रित जातियाँ हैं।"

इस प्रकार मुसलमानों के संपर्क मे रहकर राजपूतों की राजनीति पर ही प्रभाव नहीं पड़ा वरन् उनके समाज, राजा व उच्चवर्ग के लोगों पर भी धार्मिक प्रभाव पड़े।

1. सामाजिक समन्वय—भारत का समाज चार भागों बँटा हुआ था। टाड इस समाज की तुलना मध्यकालीन यूरोप के सामन्तों से करते हैं। इसमें कोई संदेह नही कि राजस्थान की जाति प्रथा बहुत पहले से ही चली आ रही थी, लेकिन मुसलमानों के संपर्क में आकर समाज का वर्गीकरण वर्गों पर आधारित न होकर जाति पर आधारित हो गया। राजस्थानी नरेश निर्बल हो चुके थे और अपने सामन्तों को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे अतः व्यापारिक वर्ग का महत्त्व समाज में बढ़ने लगा था। छोटे रजवाड़े व ठाकुर महत्त्वपूर्ण हो गये थे। राजा लोग अपने सामन्तों को भाईजी, काकाजी आदि आदर के शब्दों से पुकारने लगे। ब्राह्मणों का रूढ़ीवाद पूर्ववत् चल रहा था। ये ब्राह्मण दक्षिण व अन्य प्रान्तों के ब्राह्मणों से घृणा करते थे। उन ब्राह्मणों की जाति अपने आप में अलग थी और सामाजिक समारोह में तथा संस्कारों में ब्राह्मणो का महत्त्व था। ये लोग एक अलग ही वातावरण में रहते थे। राजा इनका सम्मान करते थे और आर्यवृत्त की तरह इन्हें गुरु मानकर पूजा जाता था। राजपूतो में प्रायः 36 जातियाँ बन गई थी जिनमें चौहान, राठौड़, परमार, गुहिलोत आदि प्रमुख थी। ये राजपूत अपने आपको वैदिक क्षत्रियों के समान मानते थे और देश पर शासन करना व रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। कुछ विदेशियों को भी धर्म परिवर्तन द्वारा राजपूत बना लिया गया था और अन्य पहाड़ी लड़ाकू जातियाँ भी अपने आपको राजपूत कहकर गौरवान्वित करती थीं। मध्ययुगीन राजस्थान में इन राजपूतों का बड़ा महत्त्व था। तीसरी जाति वैश्य थी जो आरंभ में अग्रवाल, माहेश्वरी व ओसवाल में विभाजित थी। इनमें से अधिकतर ओसवाल राजाओं की सैनिक सेवा में कार्य करते थे। कुछ इतिहासकार ओसवालों में राजपूतों का रक्त मानते हैं। जैनधर्म स्वीकार करने के बाद इन लोगों ने ठाकुर की उपाधि त्याग दी और व्यापार को अपना लिया। मनु स्मृति के अनुसार वैश्य को कृषि, पशुपालन, व्यापार व लेन देन का धन्धा करना चाहिये लेकिन राजस्थान के वैश्य राजकीय सेवाओं में भी कार्य करते थे। इस प्रकार की परम्परा राजपूत युग में ही सबसे पहले पड़ी। भारत के समाज का चौथा अंग शूद्र राजस्थान में अवश्य था किन्तु ये लोग कृषि करते थे और अन्य छोटे-मोटे व्यवसायों में भी भाग लेते थे।

डॉ० गोपीनाथ के शब्दों में—"सामाजिक जीवन की झाँकी में अछूत व दासों का भी अध्ययन अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। ये लोग अपने गन्दे कार्यों के कारण अछूत समझे जाते थे और जब ये लोग अपने कार्यों से उदर पोषण नहीं कर सकते थे तो खेती करना व पत्थर ढोना वर्जित नहीं था।"

इस युग में दास भी होते थे जिन्हें दास, दासी, गोला, गोली, चाकर कहते थे। भारत में प्राचीनकाल से दासों का उल्लेख मिलता है किन्तु मुसलमानों के आगमन के साथ सामाजिक स्तर आँकने का सबसे बड़ा नाप घर में दासों की संख्या थी। सुल्तानियत काल के बादशाह तो दासों की संख्या से ही अपना बड़प्पन आँकते थे अतः राजपूत भी विवाह के अवसर पर दास व दासियों को दहेज में देते थे। इन दासों को वस्तुओं की भाँति अदल बदल किया जा सकता था व बेचा जा सकता था। युद्ध के बाद भी बड़ी संख्या में दास बदले जाते थे। बहुधा दासों की बहुतायत से नैतिक पतन की आशंका बनी रहती थी।

प्रत्येक जाति खान-पान तथा वैवाहिक संबंध में शुद्ध अशुद्ध का विचार रखती थी और प्रायः सभी का खानपान अलग-अलग था किन्तु विवाह के समय दूसरी जाति के लोगों को बुलाना एक परंपरा सी बन गई थी। होली व दीवाली के अवसर पर अनेक जाति के समुदाय राजा से मिलने जाते थे। हिन्दू समाज में मुसलमान शिल्पी को अच्छा सम्मान प्राप्त था। जातियों में चमार, कसाई, बढ़ई, रेगर, भंगी, जुलाह, सुनार, लुहार, आदि मुख्य थे। संक्षेप में जातिप्रथा जन्म के आधार पर समझी जाती थी और हर जाति के व्यक्ति को अपना ही व्यवसाय करना पड़ता था।

2. रीति-रिवाज—हिन्दू समाज में संस्कारों को महत्त्व दिया जाता था। बच्चे के जन्म से मृत्यु तक अनेक संस्कार की श्रेणी बनी हुई थी। राजस्थान में प्रचलित संस्कार जातकर्म, चूडाकर्म, विवाह, उपनयन व अन्त्येष्टी प्रमुख संस्कार थे। इनकी मान्यता राजपूतों व ब्राह्मणों में अधिक थी। इन संस्कारों के अतिरिक्त दूसरे दस्तूर भी प्रभावशाली हो गये थे। विवाह का दस्तूर धीरे-धीरे दहेज बन गया। स्वयम्वर प्रणाली पृथ्वीराज तृतीय के बाद देखने को नहीं मिलती। दहेज की प्रथा अभिशाप होते हुए भी बहुत बढ़ गई। राजपूतों में कई कुप्रथाएँ प्रचलित हो गई थीं। छोटे बच्चों को जन्म के तत्काल बाद मार दिया जाता था। राजपूत तो कन्या का जन्म ही बुरा मानते थे। वह दहेज की कुप्रथा से डरकर शुरू हुआ था। आगे चलकर जब राजपूत अंग्रेजों के सपर्क में आये तो उन्होंने एक राजपूत हितकारिणी सभा बनाई यह सभा राजपूत परिवारों को शिक्षित बनाने और बाल वध रोकने के लिए प्रयत्नशील रहती थी। अन्त्येष्टी क्रिया पर भी बहुत व्यय होता था और जनसाधारण अपने पूर्वजों की स्मृति में मृत्युभोज बहुत करते थे। विवाह के समय दहेज देना, संतान उत्पत्ति के समय फिर दहेज देना, कन्या से बच्चों का

विवाह हो तब दहेज देना आदि ऐसी प्रथाएँ राजस्थान में प्रचलित हो गई थी जिन्होंने विवाह को एक भयपूर्ण उत्तरदायित्व बना दिया।

3. स्त्रियों की दशा—टाड का कहना है कि—"राजस्थान में स्त्रियों को राजपूतों ने जो सम्मान दिया वह किसी दूसरे देश में नहीं मिलता। संसार में किसी भी जाति ने स्त्रियों को उतना आदर नहीं दिया जितना राजपूतों ने।"

उनके धर्म ग्रन्थों मे स्त्रियों की जो प्रशंसा की गई है उससे मालूम होता है कि यह जाति किसी अत्यधिक सभ्य जाति से सम्बन्धित थी। इन्होंने स्त्री को दुर्गा, सरस्वती व लक्ष्मी के रूप मे देखा और देवी मानकर पूजा की। यहाँ के लोगों को विश्वास था कि स्त्री के द्वारा ही मनुष्य को सुख व शान्ति मिलती है। मनुष्य के जीवन और घर में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। उसे गृहणी कहकर संबोधित किया गया अर्थात् वह अपने घर की अधिकारिणी होती थी। राजपूतों के धार्मिक ग्रन्थों में लिखा है कि वह घर-घर नहीं होता जिसमें स्त्री नहीं होती और शास्त्रों मे लिखा है कि जिस पुरुष के स्त्री नहीं हो उसे जंगलों में रहना चाहिये। स्त्री के साथ दुर्व्यवहार करके कोई भी मनुष्य कल्याणकारी जीवन का भोग नहीं कर सकता।

टाड महोदय स्त्रियों के साथ इस स्थान का वर्णन करने के बाद प्राचीन जर्मनी की स्त्रियों से भारतीय नारियों की तुलना करते हैं। स्त्रियां पुरुषों की सफलता के लिए सदा पूजा-पाठ करती और शकुन आदि मनाया करती थी। यहूदियों की तरह राजस्थान की नारी भी घरों में बन्द नहीं रखी जाती थी। वह खेतों पर काम करती थी, कुओं से जल भरकर लाती व मेलों और उत्सवों में आदमी के बराबर खुशी मनाती है। इस प्रकार टाड महोदय भारतीय नारियों की जर्मनी, यहूदी व मिश्र की स्त्रियों से तुलना करते है किन्तु आक्रमणकारी मुसलमान नीति के बाद ये स्त्रियाँ घरों में छुपाकर रखी जाने लगी। बराबर का अधिकार प्राप्त होते हुए भी राजपूत स्त्री पति की आज्ञा का पालन करती थी। दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने का यह सबसे अच्छा साधन है।

स्त्रियाँ घर-घर में सावित्री सत्यवान्, नल-दमयन्ती आदि महाभारत की कथाओं को सुनती रहती थी। माता-पिता की यही कामना रहती थी कि लड़की ससुराल जाकर अपने पति व उनके परिवार के प्रति सुशील साबित हो, इसके विपरीत घटनाएँ अच्छी नहीं समझी जाती थी। मेवाड़ के राजाओं के घर मे ऐसी घटनाएँ पाई जाती है जब लड़की का विवाह किसी सामन्त परिवार में हो गया तो लड़की का जीवन सुखमय नहीं हो सका। सामन्त ने राणा की लड़की को आज्ञाकारी न पाकर अपने पिता के घर भेज दिया। तब राणा ने अपने दामाद को बुलाकर अपने पास दाहिने तरफ बिठाया और अपने सामने लड़की से उसकी सेवा करवायी फिर दोनों को वापिस भेज दिया स्पष्ट है कि राजपूतों में स्त्री समान होते हुये भी पति की आज्ञाकारिणी होती थी। आदर्श राजपूत महिलाएँ अपने पति

के साथ सती हो जाया करती थी। मनु स्मृतियों में कहा गया है कि "अपने अटूट अनुराग के परिणामस्वरूप वीर राजपूत अपनी पत्नी की छोटी से छोटी इच्छा की अवहेलना नही करता था।"

श्री टाड के शब्दों में "पति के प्रति राजपूत रमणी का जो अनुराग होता है वह संसार के इतिहास में कही नही मिलेगा। मनुष्य के जीवन की यह सबसे बड़ी सभ्यता है जिसको सजीव मैंने राजपूतों में देखा है।"

बहुविवाह की प्रथा बहुत प्रचलित थी। राजपूतों व वैश्यों मे इसका बहुत प्रचलन था एक-एक राजा के कई रानियाँ होती थी। डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि "यदि समय के कई नरेशों की पत्नियों का अनुमान लगायें तो उनका औसत 9 से किसी कदर कम नहीं रहता।"

यह सामाजिक कुरीति राजस्थान में बहुत प्रचलित थी। इससे पारिवारिक जीवन कभी क्लेशमय हो जाता था। बहु पत्नी प्रथा से विधवाओं का बाहुल्य होना स्वाभाविक था। पति के मरने के बाद उनको परिवार पर भार स्वरूप माना जाता था सम्पत्ति में उनका कोई अधिकार नही होता था और जीवन के कटु अनुभवों का सामना करना पड़ता था। महाराणा रायमल तथा जयपुर के राजाओं ने विधवाओं की दशा सुधारने के लिये कई नियम बनाये थे। सवाई जयसिंह ने तो विधवाओं के पुनः विवाह की भी व्यवस्था की थी। सती की प्रथा बहुत प्रचलित थी और राजपूतों के अतिरिक्त अन्य जातियाँ भी सती का अनुकरण करने लगी थी और मध्यकालीन राजस्थान में सती होना एक आवश्यक घटना हो गई। यहाँ तक कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा पति के साथ जल जाने में बढ़ जाती थी। गाजे बाजे व ढोल ढमाके के साथ स्त्रियाँ सती होती थी किन्तु बाल-विवाह के साथ-साथ सती प्रथा का बंध जाना एक सामाजिक अन्याय था। पद्मिनी के साथ सैकड़ों राजपूतनियों का मर मिटना सती इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना है।

स्त्रियों के नाम साधारणतः कोमलता, नम्रता, मृदुलता, प्यार, स्नेह, सुन्दरता आदि से मिलते जुलते थे। स्त्रियों के कारण ही राजपूतों के घरों में जो सौन्दर्य व समृद्धि देखने को मिलती है वह उस युग के साधारण व्यक्ति के घर में नहीं मिलती।

यदि बहु विवाह के इस शोक को राजपूतों से हटा दिया जाय तो उनका पारिवारिक जीवन अत्यधिक उज्ज्वल होता। सभी विदेशी इतिहासकारों ने राजस्थान की स्त्रियां व उनके अधिकारों की प्रशंसा की है। स्त्रियों ने कई प्रशंसनीय कार्य भी किये हैं और वे सदा अपने पति व उसके राज्य की रक्षा के लिये जान देने को तैयार रहती थी।

हमीर महाकाव्य के अनुसार राजस्थान की स्त्रियों को जेवर पहिनने का भी

में कांटा, पांव में पायल, कमर मे करधनी पहनती थी। वेशभूषा मे चोली, घाघरा, व ओढनी का साधारण प्रयोग था। मुसलमानो के सम्पर्क मे आकर ये अंगूठी, चोड़े चोड़े हार व कानों मे कुंडल भी पहनने लगी।

4. आमोद-प्रमोद—जीवन में आमोद-प्रमोद का भी विशेष स्थान है। चौपड शतरंज आदि खेल घरो व महलों मे खेले जाते थे। इन खेलो मे धन, स्त्री व घोड़ा आदि को दाव पर लगा देते थे। राजपरिवार मे विशेषतौर पर कुश्ती, तैरना, घुडदौड़, रथों की दौड़, हिंसक पशुओ की लडाईयाँ आदि साधारणतः राजा व उनके दरबारियों के मनोरंजन के साधन थे। शिकार आदि में स्त्रियां भी भाग लेकर आनन्द लेती थी। मुसलमानों के सम्पर्क में आकर पतग बाजी, कबूतर बाजी, मुर्गों की लडाई, मेढों की लडाई, तीतरों की लडाई, नटो के खेल, रामलीला, रासलीला व कठपुतली के खेल राजस्थान में बहुत लोकप्रिय थे। त्योहारो में गणगौर, तीज, होली, दिवाली, नवरात्रि, दशहरा बडी धूमधाम से मनाये जाते थे। ये त्योहार आमोद-प्रमोद व साथ ही संस्कृति को सजीव रखने के लिये मनाये जाते थे। जिनसे साधारण जन-जीवन एक सूत्र में बँधा रहता था। त्योहार के समय साधारण लोग खूब आमोद-प्रमोद का आनन्द लेते थे। नये कपड़े सिलवाकर पहनते थे तथा तरह-तरह के पकवान बनाकर खाना व फिर सारी नगरी का भ्रमण करना आदि परम्परायें थी।

5. वस्त्राभूषण—सामाजिक जीवन की जानकारी उस युग के पुरुष व स्त्रियों के रहन-सहन से भी मालूम पडती है। इस समय के बने हुये कई मंदिरो की तरुण कला मे तथा उस समय के चित्रों मे व साहित्यिक ग्रंथो में दी गई वेशभूषा से उस समय का पहनाव मालूम होता है। साधारण स्थिति का मनुष्य धोती व आधी बाहों का अंगरखा पहनता था। उनकी धोती घुटने तक ऊँची और सिर पर छोटा सा फेंटा होता था। बड़े लोग, राजा महाराजा लम्बी धोती बांधते, रंग बिरंगे अँगरखे पहिनते थे। जिन पर गोटे का काम व बेल बूटे आदि बने होते थे। पगड़ियों को बांधने का ढंग हर रियासत में अलग-अलग था। कही उसे उदयशाही, कही अमरशाही, कही खजंनदार, कहीं खगेदार और कही शिवशाही पगडी कहते थे। ऋतु के अनुसार पगडियों का रंग होता था जिसमें सावन में लहरदार पगडी बांधी जाती थी। दाढ़ी मूंछे पुरुषो का श्रृंगार था। पुरुष जूते पहिनते थे व स्त्रियां नंगे पैर रहती थी।

विभिन्न स्तर के लोग अलग-अलग तरह के पहनाव पहिनते थे। ब्राह्मण साधारणतः श्वेत वस्त्र धारण करते थे किन्तु उनका दुपट्टा कशीदे का होता था। भील लोग केवल घुटने तक की धोती व सिर पर फेंटा धारण कर सकते थे। मुगल सैनिको और राजाओं के साथ रहकर राजा महाराजा और सेठ साहूकार मुसलमानी लिबास पहिनने लगे थे।

आदमी लोग भी जेवर पहिनते थे। कानों में कुंडल, हाथों में कड़े, गले में हार और भुजबंध बड़े लोग पहिनते थे। निम्न श्रेणी के लोग चांदी व पीतल के आभूषण धारण करते थे। मुसलमानो के प्रभाव से स्त्रियां चमकीली व किनारी वाली साड़ियां बांधने लगी थी। कुर्तीयो का प्रयोग बहुत बढ़ गया था और मलमल के छोटे दुपट्टे काम में आने लगे थे। डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने कोई 20 तरह के ऐसे जेवरों के नाम दिये हैं जो साधारण तौर पर स्त्रियां पहिनती थीं। फेशन भी प्रचलित थी। दांतों के ऊपर सोने की मेखें लगाई जाती थीं उन पर एक प्रकार का काला गोल सुन्दर दाग भी लगाया जाता था। हाथों व पैरों पर मेहन्दी की प्रथा बहुत प्रचलित थी। मेहन्दी शृंगार का प्रमुख साधन थी। आंखों में काजल व ललाट पर कई रंग की बिन्दी भी लगाई जाती थी जो स्त्रियों के स्वास्थ्य और मनोहरता की प्रवृत्ति का प्रदर्शन करती थी। बालों को कई तरह से सजाया जाता था।

6. भोजन—राजस्थान के लोग शाकाहारी व मांसाहारी दोनों थे। गरीब स्थिति के लोगों का मुख्य भोजन राब था। सोगरें, घाट आदि मुख्य भोजन थे। मीठे पदार्थों में गुड़ व गुड से बनी वस्तुओं का प्रयोग होता था। बाजरा, ज्वार, मोठ, मक्की, जौ मूलरूप से खाये जाते थे। चने की दाल व लापसी दावत के खाद्य थे। मजदूर अफीम व राजपूत शराब का प्रयोग करते थे। समृद्ध वर्ग के भोजन मे कई प्रकार की तरकारियां, अचार व कई प्रकार की मिठाईयां होती थी। मेहमान को चांदी के थाल में भोजन कराना अच्छा समझा जाता था। विवाह के अवसर पर कई प्रकार की मिठाइयां बनती थी। मुगलों के सम्पर्क में आकर अनेक प्रकार के मांसाहारी भोजन भी बनने लगे। पुलाव, खुरासानी खिचडी कबूली आदि भोजन मुगलों से सीखे थे।

7. जनजीवन—मध्यकालीन राजस्थान का निवासी अधिकतर गांवों में रहता था। ये गांव व शहर अधिकतर मैदानी भू-भाग की अपेक्षा टोले या नदी के किनारे बसे होते थे। गरीब आदमी कच्ची झोपड़ियां बनाते थे व समृद्ध दो या तीन कमरों के मकान बनाया करते थे। मकानो के आगे आंगन होता था व बरामदा भी। जोधपुर की ख्यातो में इस प्रकार के मकानो का स्पष्ट वर्णन मिलता है। सयुक्त परिवार प्रणाली थी साधारणतः राजस्थान का निवासी अपने वेशभूषा, बोलचाल खाने-पीने के तरीके से स्पष्ट पता चल जाता था कि यह किस वर्ग व राज्य का है। समाज वर्गों में बंटा हुआ था, वर्ग जातियों में। धर्म-वर्ग व जाति के निर्माण में बहुत योगदान देता था। पड़ोसी एक दूसरे के सुख-दुःख में काम आते थे व हिन्दू मुसलमान के संबंध मैत्रीपूर्ण थे। तम्बाकू, अफीम, भंग, गांजा का प्रयोग बहुत होता था हुक्का व चिलम पीना सामाजिक सगठन के रूप में माने जाते थे। हिन्दुओं, की देखादेखी मुसलमानों ने भी अपने त्यौहारों को धूमधाम से मनाना शुरू कर

दिया। सामाजिक दृष्टि से राजस्थान भारत के अन्य क्षेत्रों से किसी भी दशा में पिछड़ा हुआ नहीं था।

श्री टाड के शब्दों में—"राजपूत जब किसी बड़े कार्य को करने की प्रतिज्ञा करते थे तो उसके लिये तीन नियम थे। पहला नियम यह था कि बहुत से लोगों के बीच में बैठकर अफीम का सेवन करके वे उस कार्य की प्रतिज्ञा करते थे। दूसरा नियम यह था कि उसके लिये वे परस्पर पगड़ी का परिवर्तन करते थे और तीसरा नियम यह था कि वे लोग आपस में दाहिना हाथ मिलाते थे। इस प्रकार जिस कार्य के लिये राजपूत एक बार प्रतिज्ञा कर लेते थे उसे वे किसी भी प्रकार पूरा करते थे और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिये अपनी जान भी दे देते थे।"



25

राजस्थान में स्थापत्य कला

कला मनुष्य के मस्तिष्क का चित्रण है, भावनाओं के प्रदर्शन के साथ-साथ यह समय, जाति और देश का प्रतिबिम्ब है। प्रसिद्ध कला पारखी परसी ब्राउन ने कला को देश की आत्मा कहा है। यह जन जीवन का बोलता हुआ इतिहास सभ्यता का लहराता उपवन है जो कभी नहीं सूखता। कला का क्षेत्र और महत्त्व शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। जिस प्रकार युवती गुण सुन्दरी हो तो श्रेष्ठ मानी जाती है और पुरुष वीर व गुणवान अच्छा कहा जाता है वैसे ही राज्य, कला की कृतियों से ओत-प्रोत हो तभी सराहना होती है। राजस्थान के वीरों ने महान् विरोधी परिस्थितियों में अपने राज्य और वंश को बनाये रखा किन्तु क्या वे राज्य को सुन्दर, समृद्ध और स्वस्थ बना सके ? इस अध्याय में हम राजाओं की विजय का अध्ययन नहीं करेंगे वरन् यह देखेंगे कि उन्होंने अपने राज्य को सुसज्जित करने हेतु कला के विकास में क्या योगदान दिया।

कला एक साधना है, कलाकार के रस और भावों का साकार रूप है। कला वह कृति है जो हर देखने वाले को आनन्द पहुँचाती है। जनसाधारण के हृदय में रस तरंगों का तूफान उठाती है। सामान्यतः कला को मनोरंजन का साधन, विलासिता की सामग्री और सौन्दर्य का खिलौना मान लेते हैं किन्तु कला जहाँ जनसाधारण को नवजीवन व आकर्षण प्रदान करती है वहाँ इतिहास की अद्वितीय सामग्री भी उपलब्ध करती है। इसलिये ताजमहल को देखकर एक विदेशी कलाकार ने कहा था कि यदि समय की सारी लिखित सामग्री नष्ट कर दी जाय तो भी अकेला ताज महल शाहजहाँ के समय की समस्त गौरवगाथा कह देगा। यह सच भी है कि जहाँ लिखित सामग्री प्राप्त नहीं होती वहाँ की कलाकृतियाँ मुक्त कंठ से उस समय की गौरवगाथा स्वयं बता देती हैं। जहाँ अन्य ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नहीं होते वहाँ स्थापत्य के अवशेष बीते हुए युगों की याद दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं। सच तो यह है कि किसी भी देश का पूर्ण इतिहास तब तक नहीं जाना जा सकता, जब तक कि वहाँ की कला का आद्योपान्त अध्ययन न किया जाय। राजस्थान में भी कला को शासकों का संरक्षण मिलता रहा है तथा किलों, शहरों, मन्दिरों, राजमहलों और यहाँ तक की गाँवों में राजस्थानी कला बिखरी पड़ी है।

कला मानव के साथ जनमी है और प्रकृति के कण-कण में इसका सौन्दर्य मचल रहा है। कला पवित्र है, दैनिक शक्ति है, अकाट्य सत्य है और सौन्दर्य का

सागर है। वास्तव में कला में सत्यम-शिवम-सुन्दरम का समावेश है। राजस्थान में कला का विकास दो क्षेत्रों में अत्यधिक सराहनीय रहा। ये दो भाग है (1) स्थापत्य कला और (2) चित्र कला। इन दोनों क्षेत्रों को अध्ययन की सरलता के लिये निम्न भागों में बांटा जा सकता है—

1. स्थापत्य कला—(1) किले, (2) मन्दिर, (3) स्तम्भ (4) जलाशय व उद्यान, (5) समाधियाँ।

2. चित्रकला—राजस्थान की चित्रकला अलग-अलग राज्यों में पली अतः उन्हें दस वर्गों में बांटा जाता है—(1) जयपुर शैली, (2) किशनगढ़ शैली, (3) मारवाड़ शैली, (4) मेवाड़ शैली, (5) बीकानेर शैली, (6) कोटा शैली, (7) जैसलमेर शैली, (8) अलवर शैली, (9) बूँदी शैली और (10) नाथद्वारा शैली। अब हम कला के इन दोनों भागों का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

वैसे तो कला के पारखियों ने साहित्य, संगीत, मूर्ति-निर्माण और भवन निर्माण आदि शाखाओं में कला को बांटा है और यह सब मिलकर कला का रूप धारण करते हैं किन्तु इस अध्याय में हम केवल स्थापत्य और चित्रकला पर ही अपने विचार केन्द्रित रखेंगे। मारवाड़ी में एक लोकप्रिय कहावत है कि—"नावं गितड़ा ने भीतड़ा सू रहवे।" अर्थात् किसी व्यक्ति का नाम गीतों और उसके द्वारा निर्मित भवनों की दीवारों में अमर रह जाता है। राजा महाराजाओं ने अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य को अमर बनाने के लिये भवन व मंदिर-निर्माण की तरफ ध्यान दिया। जिसके फलस्वरूप राजस्थान में कला का विकास हुआ।

स्थापत्य कला

वैसे तो राजस्थान की स्थापत्य कला पर मुगलों का समुचित प्रभाव है किन्तु भारत के इस भाग में कला का जन्मदाता राणा कुम्भा को माना जाता है और कुम्भा भी शिल्प शास्त्री मंडन के साहित्य से प्रभावित था। यह सच ही है कि मंडन द्वारा रचित वास्तुकला पर पांच प्रमुख ग्रन्थ राजस्थान की कला के प्राण हैं— मंडन के ये पांच ग्रन्थ इस प्रकार है।

(1) प्रासाद मंडन—इस ग्रन्थ में यह बताया गया है कि मन्दिरों का निर्माण किस प्रकार किया जाय।

(2) रूपावतार—इस ग्रन्थ में मूर्ति-निर्माण के विषय में जानकारी दी गयी है।

(3) रूप मंडन—इस ग्रन्थ में उन सब आवश्यक वस्तुओं का वर्णन है जिनसे मूर्तियाँ बनती है।

(4) ग्रह मंडन—इस ग्रन्थ में नगर के साधारण व्यक्तियों के लिये घर, तालाब, कुँआ आदि बनाने का तरीका बताया गया है।

(5) वास्तु सार मंडन—में सभी बातों पर एक सामान्य प्रकाश डाला गया है।

फिर भी मंडन के प्रभाव से मुक्त मुगल शैली के भवन भी बनवाये किन्तु राजस्थान की कला का अध्ययन करते समय मंडन के योगदान को भी स्मरण रखना होगा। राणा कुम्भा के समय मेवाड में जिन भवनो व कलाकृतियों का निर्माण हुआ वे मंडन के शिल्पी आदर्शों से परिपूर्ण है। चित्तौड़ के कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण तो स्वयं मंडन के निर्देशन में ही हुआ था। राजस्थान की प्रगति का पूर्ण अध्ययन भी स्थापत्य की विविध परतों और खण्डहरो के अध्ययन के बिना पूरा नही हो सकता। यदि कीर्तिस्तम्भ न होता तो कुम्भा के व्यक्तित्व का पूरा परिचय कदाचित असम्भव हो जाता। राजस्थान की स्थापत्य कला मे धार्मिक चिन्तन, राजाओ के मन के भाव, उनकी सफलता व समता के प्रमाण और उनके राज्य की प्रगति अंकित है। जहां सौन्दर्य और माधुर्य के झरने फूटते हैं वहां जीवन और आत्मा का सही रूप भी स्थापत्य में अंकित है। राजस्थान का स्थापत्य किलो, मन्दिरों, स्तम्भों, जलाशयो, उद्यानों, समाधियों और बस्तियो में बिखरा पड़ा है। अब हम स्थापत्य के विभिन्न भागों को देखें।

1. दुर्ग-निर्माण—भारतवर्ष मे ऐसे दो ही राज्य है जहां पग-पग पर किले मिलते हैं। ये दो राज्य राजस्थान और महाराष्ट्र है। यहां के राजा और जागीरदार किले को अपनी सम्पत्ति मान कर उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझते थे। राजस्थान मे तो हर दस मील पर एक न एक किला अवश्य मिल जाता है। सिर्फ मेवाड़ रियासत में ही 84 किले हैं जिनमे से 32 किले सिर्फ कुम्भा ने अकेले बनवाये थे। किलों का निर्माण कई कारणों से किया जाता था जो निम्नांकित हैं—

(1) आक्रमण के समय प्रजा की रक्षा के लिये।

(2) सामग्री संचय के लिये।

(3) राजा के निवास और राज्य की रक्षा के लिये।

(4) विदेशों से जीत कर लाई गई सम्पत्ति संग्रह के लिये, और

(5) पशुधन को बाढ़ व प्राकृतिक प्रकोपों से बचाने के लिये।

सिन्ध नदी के किनारे हड़प्पा की गढी दुर्ग-निर्माण का प्राचीनतम प्रमाण है। राजा लोग किलों मे रहकर शासन चलाते थे। किलों में सामान्यतः सेना राजा के पास रहती थी और आम जनता किलों के बाहर बस्तियो में। राजस्थान मे किले का निर्माण काफी पुराना है जिसके प्रमाण कालीबंगा की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यहां 8 से 10 फुट चौड़ी दीवार के अवशेष मिले हैं। इसी प्रकार हाड़ौती, बागड़ और भोमट आदि प्राचीन बस्तियो के लोग भी दीवार बनाकर कांटो की बाड़ से उसकी रक्षा करते थे। आबू और बागड़ के निवासी तो आज भी अपनी पहाड़ी बस्तियां किलों की भांति बनाते है और रेगिस्तानी भाग मे रहने वाले मिट्टी की

डोली बना कर उसके पार खाई खोद कर झाड़ियों और काँटों के पेड़ थोर व गंवार-पाठा आदि से अपनी सुरक्षा करते हैं। अतः स्पष्ट है कि किलों का निर्माण एक मामूली स्थिति से रणथम्भोर व चित्तौड़ जैसे सुदृढ़ किलों तक प्रगति कर गया। चित्तौड़ का दुर्ग तो सातवीं शताब्दी में भी पुराना प्रतीत होता है जिसका नव-निर्माण राजपूतों ने किया। किलों के निर्माण में मन्दिरों और तालाबों को भी बहुत महत्त्व दिया जाता है।

मुसलमानों के आगमन तक राजस्थान में पहाड़ों पर किले बनने शुरू हो गये थे। अजयपाल ने अजमेर में तारागढ़ का किला बनवा कर इस ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। वैसे आबू, चित्तौड़, कुम्भलगढ़ और माण्डलगढ़ के किले राजपूतों से पहले के थे जिन पर राजपूतों ने दृढ़ता और सुरक्षा के साथ-साथ कलाकृतियों का ध्यान रख कर नव निर्माण कराया। ये किले ऊँची और चौड़ी पहाड़ियों पर बनते थे जिनमें खेती भी हो सकती थी। किले में ऊँचे भागों पर मन्दिर और राजप्रासाद बनाये जाते थे तथा निचले भागों में तालाब व समतल भूमि पर खेती की जाती थी। किलों के चारों तरफ की दीवार इतनी चौड़ी बनाई जाती थी कि उस पर कम से कम दो घोड़े एक साथ चल सकें। छोटी व ऊँची पहाड़ियों पर जहाँ तालाब नहीं बन सकते थे और खेती नहीं हो सकती थी वहाँ पर किले के नीचे ही खेती का स्थान सुरक्षित रहता था और किले में बरसात का पानी भरने के लिये बड़ी-बड़ी बावड़ियाँ व टंकियाँ बनाई जाती थी। आपत्ति के समय के लिये बड़े-बड़े भंडार ग्रह बनाये जाते थे जिनमें अनाज जमा कर लेते थे। इस प्रकार किलों का निर्माण आवश्यकताओं को देखकर ही किया जाता था। इन्हीं पुराने किलों में भटनेर का किला भी शामिल है जिसकी मरम्मत 19 वीं शताब्दी में बीकानेर शासकों ने करवाई और इसे नया रूप दिया। यहाँ तक कि चौहानों द्वारा निर्मित नागौर का किला भी प्राचीन माना जाता है। इस दुर्ग का एक कोना अभी तक अपरिवर्तित है अन्यथा मुसलमान सूबेदारों ने इसका सारा रूप ही बदल दिया है। साधारणतः चौहानों ने राजपूतों में सबसे पहले किले बनवाये, अजमेर, रणथम्भोर, जालोर, नागौर आदि के किले उन्हीं की देन हैं। जालौर अपनी विशेषता और रणथम्भोर अपनी सुदृढ़ता के लिये विख्यात हैं। किला बनाते समय ऊँचाई, चट्टानों और जंगलों का ध्यान रखा जाता था। मैदान में बनाये गये किलों की दीवारें अधिक ऊँची होती थी और उनके चारों तरफ खाई खोदी जाती थी। मैदानी किलो में जनता के रहने या खेती करने की जमीन नहीं होती थी।

मुगलों के सम्पर्क में आकर किलों का अलंकरण शुरू हुआ। दो तीन छेद वाले कंगारे, दीवारों में सजावट, नुकीली बुर्जें और ढालू दीवारें बनने लगी। यहाँ पर कुछ अच्छे किलों का वर्णन कर देना उचित होगा। राजस्थान में किले निर्माण में महाराणा कुम्भा को दुर्ग-निर्माता माना जाता है जिसने सिर्फ मेवाड़ में ही 84 में से 32 किलों का निर्माण किया था। राजस्थान का सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण किला चित्तौड़ का है। इस किले को मौर्य राजा चित्रांगद ने बनवाया था और नवीं

शताब्दी में गहलोतों ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। चित्तौड़ का किला लगभग 500 फीट ऊँचे पहाड़ पर बना है। इसकी परिधि या घेरा आठ मील का है। किले की लम्बाई साढ़े तीन मील और चौड़ाई पौन मील के लगभग है। कुम्भा ने किले का सीधा मार्ग और चार दरवाजे बनवाये थे। अब इस दुर्ग मे सात दरवाजे हैं जो— पाडलपोल, भैरोंपोल, हनुमानपोल, गणेशपोल, जोड़लापोल, लक्ष्मणपोल और रामपोल के नाम से पुकारे जाते है। विदेशी आक्रमणकारियों में सिन्ध के सुलतान चाच ने 631 ई० मे इस दुर्ग पर सबसे पहले आक्रमण किया। फिर इल्तुतमिश और 1303 मे अलाउद्दीन के आक्रमण तक यह दुर्ग अजय था। फिर मुहम्मद बिन तुगलक और अकबर ने इस प्रसिद्ध दुर्ग को जीता। जहाँगीर के समय यह दुर्ग फिर स्वतंत्र हो गया। मालवा के मार्ग में होने के कारण यह दुर्ग सदा मुगलों की आँख मे खटकता रहा। इस किले मे देखने योग्य अनेक ऐतिहासिक स्थान हैं। फाटक मे घुसते ही भैरपोल मे जयमल और पत्ता की छतरियाँ, किले में राणा प्रताप, भारमल, व कुम्भा के महल कला के प्रतीक हैं। मीराबाई और कालकामाता के प्रसिद्ध मन्दिर के पास ही इतिहास में बहुचर्चित पद्मिनी का महल एक तालाब में खड़ा है। जहाँ रानी पद्मिनी सती हुई थी वह जौहर का स्थान भी कलात्मक न होते हुए भी ऐतिहासिक है। इन सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण है राणा कुम्भा का कीर्ति स्तम्भ जिसकी प्रशंसा देश विदेश के सभी इतिहासकारों ने बार-बार की है। ये सब स्मारक चित्तौड़ की कला व किले को अमर बना देते हैं।

मानसिंह ने आमेर का दुर्ग बनाकर एक और कलाकृति को जन्म दिया। इस किले मे मुगल शैली का प्रभाव है। इस किले का दीवान-ए-आम, बारादरी और रानियों के महल हृदय आकर्षक ही नहीं वरन् आमेर राज्य के वैभव और कला के प्रतीक है। जोधपुर मे राव जोधा ने जोधपुर के पहाड़ी दुर्ग का निर्माण किया। उसके बाद मालदेव ने मारवाड मे अनेक दुर्ग और बनवाये जिनमे सोजत, फलोदी, भीनमाल, सिवाना, भद्राजून, पीपलोद, पीपाड, दुनाड़ा आदि नगरो में किले बनवाये। इसी प्रकार बीकानेर व जैसलमेर के किले भाटी राजाओं ने बनवाये थे। बीकानेर का किला राजस्थान के रेती मे बने किलो मे सबसे अच्छा है। जयपुर राज्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण नगर व किले हैं जो कला के नमूने हैं। अलवर, बहरोड, गोविन्दगढ, लक्ष्मणगढ, बहादुरगढ, रामगढ, भाणगढ़ और राजोरगढ़ आदि किलो में अपना महत्त्व रखते है। रणथम्भौर का किला लगभग सात मील के घेरे में है और समुद्र से इसकी ऊँचाई 1578 फीट है। किले के तीन तरफ पहाड़ियाँ व झाडियाँ हैं। यह किला चौहान रणथम्भन देव ने बनवाया था। अलाउद्दीन के समय में 1301 मे हम्मीर देव के समय इस पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था।

अजयपाल द्वारा निर्मित तारागढ़ जमीन से 800 फीट ऊँचा है। पहले इस दुर्ग का नाम अजय मेरु था। मेवाड़ के महाराणा, रायमल के पुत्र कुँवर पृथ्वीराज ने इसमें कुछ महल आदि बनवाकर अपनी पत्नी ताराबाई के नाम से इस गढ़ का

नाम तारागढ़ कर दिया। इस गढ़ पर जाने के लिये नूर चश्मे की तरफ से सीधा और दरगाह की तरफ से आधा मील लम्बा रास्ता है। किले में मीरान साहब की दरगाह, बुलन्द दरवाजा और बरामदा आदि स्थापत्य कला के नमूने हैं जिन पर मुगलों का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। यहाँ देखने लायक मीनारों वाली मस्जिद आकर्षक है। किले में पानी का अभाव है जिसे नूर चश्मे से पूरा करवाकर शेरशाह ने इस नये झरने को शीर चश्म कहा।

आबू पहाड़ के छोर पर अचलगढ़ दुर्ग का निर्माण कुम्भा ने किया था। इस गढ़ के नीचे अचलेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर और पास ही कुण्ड, मठ व उद्यान है। यह गढ़ परमारों का केन्द्र था। आबू के आसपास देलवाडा के जैन मन्दिर, नक्की झील, गुरु शिखिर और गौमुख बहुत रमणीक स्थान एवं राजस्थान की संस्कृति व कला के केन्द्र हैं।

जालोर का किला मारवाड़ के मजबूत किलों में से एक है जिसका निर्माण परमारों ने किया और जो अन्त में राठौड़ों की सम्पत्ति बन गया। इस किले को सुवर्णगिरि कहते थे। इस किले के चौहान गढ़ के नाम पर सोनगरा कहलाये। यहाँ के महल, मस्जिद, दरगाह, प्राचीन जैन मन्दिर और वीरमदेव की चौकी देखने योग्य कलाकृति है। सिवाना का किला जोधपुर से 54 मील दूर है। आज यह खण्डहर के रूप में है किन्तु अजीतसिंह द्वारा बनवाया इसका दरवाजा, कोट और महल इत्यादि आज भी इस किले की कहानी कहते हैं। "खण्डहरों में उस युग के वैभव, शौर्य तथा स्वतन्त्रता प्रेम की आत्मा को छिपी हुई पाते हैं।"[1]

महाराणा कुम्भा ने 20 वर्ष की कठिन मेहनत से मेवाड़ का सबसे विशाल और सुदृढ़ दुर्ग कुम्भलगढ़ बनवाया। इस किले का निर्माण मण्डन शिल्पी की अधीनता में हुआ था। पहाड़ी किला होने के कारण इसे कुम्भलमेर कहा गया। यह किला कई छोटी पहाड़ियों से मिलकर बना है। दूर से किला दिखाई नहीं देता, क्योंकि इसके चारों तरफ पहाड़ियाँ हैं। यह दुर्ग सैनिक सुरक्षा और निवास दोनों अभिप्रायों से बनाया गया है। दुर्ग के तीन द्वार हैं आरटेपोल, इससे एक मील अन्दर हल्ला पोल। इन दोनों द्वारों को पार करने के बाद किले का मुख्य द्वार हनुमान पोल नज़र आता है। किले की दीवारों के नीचे गहरी खाईयाँ व गड्डे बने हैं और दीवारें इस तरह बनी हैं कि उन पर किसी भी प्रकार से चढ़ा नहीं जा सकता। द्वार में घुसते ही नीलकण्ठ महादेव का मन्दिर कला का जीर्ण नमूना है। टाड ने इसे देखकर यूनानी शैली का कहा था जो सही नहीं है क्योंकि टाड महोदय राजपूतों को भी यूनानी मानते है। राजस्थानी कला का दूसरा नमूना इस गढ़ की वेदी है जो एक दो मंजिल का महल है जिसमें दर्शकों के बैठने व यज्ञ करने के लिये उत्तम निर्माण कार्य किया गया है। वेदी की गुम्बज कुम्भा के गौरव का प्रतीक है। दुर्भाग्य से इस

1. डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 573.

भवन को डाक बंगला बनाकर कुम्भा के गौरव को किवाड़ों में बन्द कर दिया गया है। दुर्ग आक्रमण के समय आत्म-निर्भर है। दुर्ग में जिस कुण्ड के पास कुम्भा की हत्या हुई थी उसके पास जीर्ण शीर्ण अवस्था में विष्णु मन्दिर है। मन्दिर के बीच में 30 फीट लम्बा 30 फीट चौड़ा बरामदा है जिसमें वेदी बनी है जिसे भण्डारकर महोदय जैन मन्दिर मानते हैं जो गलत है। गढ़ के प्रवेश द्वार पर स्मारक स्तम्भ के पास चार स्त्रियों के बीच घोड़े पर बैठे शस्त्रधारी पृथ्वीराज की मूर्ति देखने योग्य है। स्त्रियों का शृंगार व जंघा तक लटकने वाले आभूषण हृदय आकर्षक हैं। नारी का रूप लावण्य अभूषणों में इस प्रकार ढका गया है कि दर्शक आकर्षित हो जाता है। स्तम्भ के दूसरी तरफ भी पृथ्वीराज रानियों के बीच में है। एक तरफ राजा सो रहा है और चारों तरफ सेवक रानियों के साथ ढाल व तलवार लिये हैं, दासियाँ शान्त भक्ति भाव में हाथ जोड़े हैं। कुम्भलगढ़ में प्राप्त सबसे महत्वपूर्ण प्रशस्ति है जिसका अन्यत्र विवरण दिया जायगा। इस गढ़ के अन्दर सबसे ऊँचे स्थान पर एक गढ़ और है। इस गढ़ के बाहर देवी का मन्दिर है। शारदाजी ने कुम्भलगढ़ को कुम्भा की सैनिक और रचनात्मक मेधा का महान मूर्तरूप प्रतीक"[1] कहा है। टाड के शब्दों में "इसकी एक विशाल प्रतिमा है जिसमें अनेक बुर्जे और कंगारे हैं जो एट्रस्कन से बहुत मिलती जुलती हैं।"[2] इसी प्रकार डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि "यह उस नरेश के सामरिक और रचनात्मक गुणों का स्मारक है।"[3] इस दुर्ग ने अनेक बार मुगलों के दाँत खट्टे किये और अजय बना रहा। यदि राणा फतहसिंह इसमें नये महल नहीं बनवाते और पुराने महलों को ही बना रहने देते तो हमें कुम्भा के साधारण जीवन और जनकार्यों के प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती।

2. मन्दिर—परम्परागत भारतवासी ईश्वर में आस्था रखते हैं, अपने देवताओं, तीर्थंकरों आदि को आराध्य मानकर पूजते रहे हैं। समृद्ध नागरिकों व शासकों ने समय-समय पर अपने धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने हेतु ऊँचे पहाड़ों, झील के किनारों, नदियों की लहरों पर और सागर की लहरों को छूते अनेक सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया जो आज भी कला के नमूने बनकर भारत का गौरव बढ़ा रहे हैं। कैलाश पर्वत से श्वेतबन्ध रामेश्वरम् तक और पुरी से द्वारकाजी तक हमारा देश मंदिरों की गुम्बजों से आच्छादित है जिनमें हर प्रान्त में दो चार मंदिर तो ऐसे हैं जो देश विदेश के पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बन गये हैं। राजस्थान में भी इस प्रकार के हृदय आकर्षक मन्दिर हैं जिनमें सबसे पहला स्थान देलवाड़ा के जैन मंदिर का है। प्रथम तो इतनी ऊँची पहाड़ियों पर संगमरमर के मन्दिरों का निर्माण स्वयं एक अचरज की बात है फिर उनकी छटा और सौन्दर्य भारतीय मूर्तिकला व

1. शारदा—महाराणा कुम्भा, पृष्ठ 125.
2. टाड—एनल्स एण्ड एन्टीयूटीज ऑफ राजस्थान, पृष्ठ 670
3. डॉ० गोपीनाथ—सोशल लाइफ इन मिडीवियल राजस्थान, पृष्ठ 71

मन्दिरों के निर्माण की एक अनुपम गाथा है। यह जैन मन्दिर कला प्रेम का सजीव उदाहरण है।

देलवाड़ा, सिरोही राज्य के देवड़ा राजाओं के राज्य में स्थित ऊँची पहाड़ियों से घिरा एक स्थान है जो समुद्र से चार हजार फीट ऊँचा और आबू नगर से लगभग डेढ़ मील दूर है। मन्दिरो का समूह होने के कारण ही इस स्थान को देवताओं का वाड़ा या देलवाड़ा कहा जाता है। ये मन्दिर संख्या मे पाँच हैं जिनका निर्माण संगमरमर के पत्थर से किया गया है जो आबू पहाड़ के निचले भाग झालीवाड़ से लाया गया था। पहला मन्दिर विमलशाह ने बनवाया जो गुजरात के राजा भीमदेव का मन्त्री व सेनापति था। इस मन्दिर का निर्माण 1031 ई० मे हुआ था। यह मन्दिर भुवनेश्वर प्रणाली का है। विमलशाह पोरवाल जाति का वैश्य था जिसने हजारों रुपये देकर सिरोही के शासको से मन्दिर-निर्माण के लिये यह पहाड़ी स्थान खरीदा था। यह मन्दिर जैनियों के पहले तीर्थंकर आदिनाथ का है। विमलशाह के सौ साल बाद वस्तुपाल और उसके छोटे भाई तेजपाल ने 1131 ई० मे दो और मन्दिर बनवाये जिनमे नेमीनाथजी की मूर्तियाँ स्थापित हैं। पास ही अन्य दो मंदिर भी हैं जो कला की दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण नही हैं। आदिनाथ का मन्दिर वास्तव में सारे भारत में ही नही सारे विश्व में अपनी तरह का अनूठा मन्दिर है। इसी मन्दिर से प्रेरणा लेकर कुम्भा के समय में राणकपुर का जैन मन्दिर बनाया गया था जिसका एक-एक स्तम्भ व चौकोर आकृति देलवाड़ा की याद सजीव कर देती है। इनके अतिरिक्त पार्श्वनाथ का चौमुख मन्दिर और आदिनाथ का एक मन्दिर और है। देलवाड़ा का आदिनाथ मन्दिर बाहर से देखने में बिल्कुल सादा है किन्तु मन्दिर के सभा मण्डप में जाते ही दर्शक दर्शन करना भूलकर खम्भों की कटाई, छत पर संगमरमर का बारीक काम, मूर्तियों की आकर्षक भाव भंगीमा, सभी को एक टक देखता रह जाता है। गर्भगृह और मण्डप तीन फीट ऊँचे चबूतरे पर बना है। मण्डप की छत आकर्षक आठ स्तम्भों पर टिकी है जिन पर गुम्बज है। आँगन में और मण्डप के चारों तरफ 92 स्तम्भ और हैं। कुल मिलाकर सौ स्तम्भों पर कटाई का बारीक काम किया गया है। मन्दिर के चारों तरफ बरामदे में चौकोर स्तम्भों के साथ में 31 अन्तरालय बने हैं जिनमें हर एक में एक मूर्ति स्थापित है। अन्तरालयों के बारह बरामदे की छतों को भी सुंदर देवी देवताओं की मूर्तियो से सजाया गया है जिसके फलस्वरूप दर्शक बरामदे में से गुजरते समय आगे न देखकर ऊपर देखता हुआ चलता है। मन्दिर का मुख्य द्वार इतना बड़ा है कि उनमें से मय सवार के एक हाथी आसानी से अन्दर आ सकता है। मन्दिर के गर्भगृह मे आदिनाथ की ताम्बे की मूर्ति खड़ी है। जिसकी आँखें व गले का हार असली हीरों का है। इस मूर्ति की आँख से स्वतः प्रकाश निकलता है। मन्दिर के पास ही अम्बादेवी का चबूतरा है जो मन्दिर से पुराना है। दूसरे दो मन्दिरो की बनावट भी विमलशाह मन्दिर जैसी ही है। इस मन्दिर मे मुख्य मन्दिर, सभा भवन और हस्तिशाला में बने छोटे बड़े संगमरमर के

हाथी देखने योग्य हैं । मुख्य मन्दिर के द्वार की ताकों को देवरानी जिठाणी के गवाक्ष कहते हैं । विमलशाह के मन्दिर को बनाने वाला मुख्य शिल्पी का नाम शोभदेव था । इस मन्दिर के लिये यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि कारीगर को संगमरमर की मूर्तियों से तोड़ी हुई बारीक रेत को तोलकर मेहनताना दिया जाता था । कई स्थानों पर तो संगमरमर को इतना बारीक तराशा गया है कि वह पारदर्शक हो गया है और कागज के समान पतला लगता है । इस मन्दिर में देखने योग्य वस्तुएँ इस प्रकार है— (1) मन्दिर का बड़ा हाथी द्वार (2) दरवाजे पर देवरानी-जिठाणी की ताकें । (3) मन्दिर के लम्बे बरामदे और उनके साथ बने 31 अन्तरालय । (4) स्तम्भो की कटाई, उन पर देवताओं की मूर्तियां, और मौर्य कालीन कमल और चौकोर धरातल । (5) मण्डप के खम्भे और गुम्बज में बना कमल (6) स्तम्भों के बीच बनी जाली । (7) आदिनाथ की मूर्ति में चमकती हीरे की आँखें व हार । (8) एक कोने में बना विद्या देवी का मन्दिर । (9) दूसरे मन्दिर में हस्तिशाला और (10) बरामदे की छतों में बने कमल व देवी देवताओं की विभिन्न मुद्राएँ ।

इस दृष्टि से मन्दिर को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थापत्य कला में राजस्थान भारत के किसी भाग या विश्व में किसी अन्य मन्दिर से पीछे नहीं है। यह मन्दिर राजस्थान के भवन व मन्दिर-निर्माण कार्य को पराकाष्ठा की सीमा पर पहुँचा देता है। यह भी स्पष्ट है कि भारत के धनाढ्य लोग धार्मिक स्थान बनाने में रुचि रखते थे । विमलशाह ने डाकुओं से बहुत सा धन छीना उसी का सदुपयोग इस मन्दिर के निर्माण में किया गया । स्पष्ट है कि अन्यथा मन्दिरों के समान देलवाड़ा के जैन मन्दिर भारत के मन्दिरों मे ऊँचा स्थान रखते हैं जिनकी कला का अद्भुत प्रदर्शन चिर स्मरणीय है ।

अनेक इतिहासकारों ने इस मन्दिर को देखा और सराहना की है । यहाँ उनमें से कुछ विद्वानों के मत देना उचित होगा । श्री कोसेन का कहना है कि "संगमरमर पर पतला, पारदर्शक काम अन्यत्र देखी गयी किसी भी चीज को मात देता है और कुछ एक नमूने तो सुन्दरता के विभिन्न स्वप्न लगते हैं ।"[1]

डॉ॰ गोपीनाथ का कहना है कि "इन मन्दिरों की कारीगरी तक्षण कला और खुदाई का काम देखते ही बन पड़ता है । शिल्प कला की दृष्टि से भारत में ये मन्दिर अपने ढंग की कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने हैं ।..........यदि ताजमहल एक स्त्री का संस्मरण है तो इन मन्दिरों के पीछे एक धर्मनिष्ठ उदारता मूर्तिमान दिखाई देती है ।"[2]

1. कोसेन – स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृष्ठ 581.
2. डॉ॰ गोपीनाथ—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 586-87.

इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि—"कारीगर और सूक्ष्मता की दृष्टि से इन मन्दिरों की समानता भारत की कोई इमारत नहीं कर सकती। ये भारतीय शान और सभ्यता के सच्चे प्रतीक हैं।"[1]

कर्नल टाड महोदय का कहना है कि—"इनके मंडप और अन्तरालयों की पच्चीकारी अद्वितीय है। इनकी नक्काशी को देखने वाला एकाएक अपनी आँख को नहीं हटा सकता।"[2]

इसी प्रकार फर्गुसन का कहना है कि—"यदि बीस आदमी भी विमलशाह के मन्दिर को देख लेंगे तो वे सब एक मत होकर यही कहेंगे कि भवन निर्माण-शैली की दृष्टि से यह मन्दिर सर्वोत्कृष्ट है।"

अन्य विदेशी लेखकों ने इन मन्दिरों की तुलना कभी यूनान की पान् शैली से की है तो कभी "वेस्टमिनिस्टर ऐबे" से जो इंगलैण्ड का प्रसिद्ध गिरजाघर है। ये मन्दिर केवल देखने मात्र की चीज नहीं हैं वरन् हमें इनसे भारतीय शिल्प नाटक, इतिहास और समाज के बारे में भी महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। श्री एस० के० सरस्वती ने इनकी कमियों पर भी प्रकाश डाला है कि मंडप में एक ही खुदाई को बार-बार पुनरावृत्ति दर्शकों में थकावट पैदा करती है। अन्त में हम डॉ० बी० एस० भार्गव के शब्दों में कह सकते हैं कि—"देलवाड़ा के मन्दिर प्राचीन भारत की भवन-निर्माण शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।"[3]

राजस्थान के मन्दिरों में रणकपुर का मन्दिर भी अपना स्थान रखता है। अपरिग्रह के अनुयायी जैनियों ने इस मन्दिर में भी कला का अपार संचय किया है। यह मन्दिर महाराणा कुम्भा के समय में बना था। इसे कुम्भा के एक विश्वासपात्र धरणाक नामक व्यक्ति ने 1496 वि० सं० में बनवाया था। इसका बनाने वाला मुख्य शिल्पी देपाक नामक ब्राह्मण था जिसकी सहायता के लिये 50 अन्य श्रेष्ठ शिल्पी भी बुलाये गये थे। यह मन्दिर पाली जिले में मेवाड़ की सीमा के पास है जो फालना स्टेशन से 12 मील और सादड़ी से 6 मील दूर है। चारों तरफ ऊँची पहाड़ियाँ और द्वार पर बहती नदी ने इस मन्दिर को प्रकृति का एक सुन्दर बिन्दु भी बना दिया है। पहले इस मन्दिर को सात मंजिल का बनाने का इरादा था किन्तु फिर छोटी मोटी चार मंजिल बना कर ही इसे समाप्त कर दिया गया। किन्तु आज दिन तक इसमें कोई न कोई काम चलता ही रहता है। यह मन्दिर 48,000 वर्गफुट का घेरा लिये है जिसमें जाने के लिये कोई 25 सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। इस मन्दिर में 85 शिखर, 24 मण्डप और 1444 स्तम्भ हैं। मूल गर्भ-

1. डॉ० स्मिथ—दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।
2. टाड—राजस्थान का इतिहास।
3. डॉ० भार्गव—राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, पृष्ठ 229.

हाथी देखने योग्य हैं। मुख्य मन्दिर के द्वार की ताकों को देवरानी जिठानी गवाक्ष कहते हैं। विमलशाह के मन्दिर को बनाने वाला मुख्य शिल्पी का नाम देव था। इस मन्दिर के लिये यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि कारीगर को सं की मूर्तियों से तोड़ी हुई बारीक रेत को तोलकर मेहनताना दिया जाता स्थानों पर तो संगमरमर को इतना बारीक तराशा गया है कि वह पारदर्श है और कागज के समान पतला लगता है। इस मन्दिर में देखने योग्य द प्रकार हैं— (1) मन्दिर का बड़ा हाथी द्वार (2) दरवाजे पर देवरा की ताकें। (3) मन्दिर के लम्बे बरामदे और उनके साथ बने 31 (4) स्तम्भों की कटाई उन पर देवताओं की मूर्तियाँ, और मौर्य और चौकोर धरातल। (5) मण्डप के खम्भे और गुम्बज में बना म्भों के बीच बनी जाली। (7) आदिनाथ की मूर्ति में चम हार। (8) एक कोने में बना विद्या देवी का मन्दिर। (9 शाला और (10) बरामदे की छतों में बने कमल व मुद्राएँ।

बापा ने मेवाड़ का राज्य विस्तार किया था। चारों ओर पर्वतो से घिरा यह शिव मन्दिर एक अत्यधिक रमणीक स्थान भी है। बापा के बाद बार-बार के मुसलमान, तुर्क व मुगल आक्रमणों से इस मन्दिर का जीर्णोद्धार होता रहा। हम्मीर, मोकल, कुम्भा और रायमल ने इसे सुदृढ़ और सुन्दर बना दिया। दिल्ली-अहमदाबाद के रास्ते में होने के कारण यह मन्दिर सदा शत्रुओं का शिकार होता रहा किन्तु ये आक्रमण इस के ठोस नवनिर्माण मे सहायक बन गये। कुम्भा और रायमल ने इसके तीन तरफ खाई और चारो तरफ ऊँची किले की दीवार बनवा दी जिससे यह मन्दिर देखने में एक दुर्ग सा लगता है। प्रवेश द्वार से मुख्य मन्दिर तक टेढ़ा-मेढा संकरा मार्ग है और द्वार से मन्दिर तक कोई निर्माण क्रम नही रखा गया है। मन्दिर का शिखर बन्द है। इसका सभा मण्डप खम्भो से सजा है फिर शृंगार चँवरी के बाद गर्भाशय है जिसमें काले पत्थर की चार मुंह वाली मूर्ति है। यह मूर्ति महाराणा हम्मीर ने स्थापित करवाई थी क्योंकि पहले की मूर्ति तुर्कों के आक्रमण के समय पास के इन्द्र सरोवर में सुरक्षित रख दी गयी थी। मुख्य मन्दिर में पार्वती, गंगा, यमुना और गणेश की मूर्तियां भी हैं।

इस मन्दिर के पुजारी पहले पाशुपत पद्धति के थे किन्तु आचार्यों में सामान्य मनुष्य के दोष पाकर बनारस से सन्यासी आचार्य को लाकर यहां का कार्य सौंपा गया। ये महन्त आज भी ब्रह्मचारी रह कर शिव की उपासना में लगे रहते हैं। मेवाड़ के राणा समय पर मन्दिर को धन, भूमि और भेंट आदि देकर इसका यश बढ़ाते रहते हैं। इस मन्दिर मे शिवरात्रि और फाग के उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं। मन्दिर के मुख्य स्थान पर राम की मूर्ति यह बताती है कि उदयपुर के राणा अपने आपको राम के वंशज मानते थे। मंदिर के दक्षिणी द्वार पर रायमल के समय की प्रशस्ति लगी है जिसमें 101 श्लोक हैं। मेवाड़ के इतिहास पर इस मंदिर में प्राप्त इस प्रशस्ति का भारी प्रभाव पड़ा है और अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार वि० सं० 1028 ई० के शिलालेख से भी मेवाड़ का इतिहास प्रकाश में आता है। यह लेख भी इसी मंदिर में है। जहां यह मंदिर राजस्थान के गढ़ मंदिरों का प्रतीक है वहां इतिहास का भी एक अनमोल साधन है। कहते हैं कि जब औरंगजेब ने इस मन्दिर की प्रतिमा को मिटाने के लिये सेना भेजी तो मण्डप मे बने चाँदी के नांदया में से असंख्यों भँवर निकल पड़े और मुगल सेना को भागकर जान बचानी पड़ी।

इसी मंदिर के पास कुम्भा ने कुम्भश्याम मंदिर बनवाया जिसकी दीवारों पर व स्तम्भों पर देवी-देवता, पशु और मनुष्य के विभिन्न चित्र अंकित करवाये जो उस समय के रहन-सहन और वेशभूषा का ज्ञान देते हैं। यहां पर युद्ध, काम और साधारण जीवन की भी अनेक मूर्तियां है जो हृदय आकर्षक ही नहीं, कला की दृष्टि से भी बेजोड़ है। विष्णु की तीन मुख की मूर्ति राजस्थान की मूर्तिकला का सबसे उत्तम नमूना है।

ग्रह में आदिनाथ की मूर्ति है। लोग-बाग यह कहते हैं कि स्तम्भों का अलंकरण इस प्रकार का है कि सब एक- दूसरे से अलग-अलग लगते हैं किन्तु इस कथन में अधिक सत्यता नहीं है। मन्दिर के मुख्य मण्डप मे पहुँच कर ऐसा लगता है मानों देलवाड़ा के मन्दिर में ही खड़े है अतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यह मन्दिर पूर्ण रूप से देलवाड़ा मन्दिर की यदि नकल नही तो पूर्णरूप से प्रतिबिम्ब अवश्य है। यहाँ दूसरी, तीसरी व चौथी मंजिल में अन्य जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया स्थापित की गयी है। मुख्य मन्दिर के सामने दो जैन मन्दिर और हैं जिनमें से एक पार्श्वनाथ का है। इस मन्दिर का बाहरी भाग काम युक्त मूर्तियों से भरा पड़ा है। यही कारण है कि महावीर के अनुयाइयों ने इस मन्दिर का नाम ही वैश्या मन्दिर रख दिया। स्पष्ट है कि जैनियों पर हिन्दू शिल्पकारों का सीधा प्रभाव था। साथ ही अनेक मूर्तियों के हाथ में ढाल व तलवार भी दिखाई गयी है। अहिंसा के उपासकों के तीर्थ में युद्ध सामग्री का प्रदर्शन उन पर युग धर्म का प्रभाव बताता है। सारे मंदिर मे मकराना और सेदाड़ी के हल्के सफेद संगमरमर का प्रयोग किया गया है। यह वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण लगता है कि इसकी लागत शारदा महोदय अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' मे पृष्ठ 151 पर 99 लाख रुपया बताते हैं। समय और रुपये के महत्त्व को देखते हुए इसे मानने का आधार नही मिलता।

इस मन्दिर का निर्माता धरणाक सिरोही जिले के मान्दिया गांव का रहने वाला था। मन्दिर निर्माण के बाद उसे लोग धरणी शाह कहने लगे थे। मन्दिर निर्माण मे लगभग 20 वर्ष लगे थे। फर्ग्युसन ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर' मे इसका बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करते हुए लिखा है कि—"ऐसा कलापूर्ण व जटिल मन्दिर देखने का सौभाग्य मुझे अभी तक नही मिला।" कदाचित यह वाक्य उसने देलवाड़ा मन्दिर देखने से पहले कहा होगा। सत्तरहवी शताब्दी के कवि रिषभदास जैन ने तो यहाँ तक कह डाला कि—"जिसने रणकपुर की यात्रा नहीं की उसका जन्म लेना ही निरर्थक है।" फिर भी दूर से देखने मे मंदिर के 85 शिखर, अन्दर आकर देखने मे खम्भो पर देवी देवताओं की मूर्तियां और मण्डपों की गुम्बजो में बने कमल इस मन्दिर की कला को मन्दिर-निर्माण कला में ऊँचा स्थान दिलाते हैं और इसके निर्माण से कुम्भा का युग कलामय हो गया, धरणाक अमर हो गया और भारतीय मन्दिरों मे कला का प्रतीक सादड़ी के पर्वतो में पर्यटकों को आकर्षित करने लगा।

श्री एकलिंग जी के मन्दिर का वर्णन किये बिना राजस्थानी मन्दिर कला अधूरी रह जायेगी। उदयपुर से 14 मील उत्तर की तरफ नाथद्वारा सड़क पर बना यह शिव मन्दिर मेवाड़ के महाराणाओं की शिव भक्ति का प्रतीक है। बापा रावल ने ऋषि हारीत का शिष्य बन कर राज्य प्राप्ति पर इस महान ऐतिहासिक मन्दिर का निर्माण करवाया था। कहते हैं कि श्री एकलिंग जी का आशीर्वाद पाकर ही

बापा ने मेवाड़ का राज्य विस्तार किया था। चारों ओर पर्वतों से घिरा यह शिव मन्दिर एक अत्यधिक रमणीक स्थान भी है। बापा के बाद बार-बार के मुसलमान, तुर्क व मुगल आक्रमणों से इस मन्दिर का जीर्णोद्धार होता रहा। हम्मीर, मोकल, कुम्भा और रायमल ने इसे सुदृढ और सुन्दर बना दिया। दिल्ली-अहमदाबाद के रास्ते में होने के कारण यह मन्दिर सदा शत्रुओं का शिकार होता रहा किन्तु ये आक्रमण इस के ठोस नवनिर्माण मे सहायक बन गये। कुम्भा और रायमल ने इसके तीन तरफ खाई और चारो तरफ ऊँची किले की दीवार बनवा दी जिससे यह मन्दिर देखने में एक दुर्ग सा लगता है। प्रवेश द्वार से मुख्य मन्दिर तक टेढ़ा-मेढ़ा संकरा मार्ग है और द्वार से मन्दिर तक कोई निर्माण क्रम नही रखा गया है। मन्दिर का शिखर बन्द है। इसका सभा मण्डप खम्भो से सजा है फिर शृंगार चँवरी के बाद गर्भाशय है जिसमें काले पत्थर की चार मुह वाली मूर्ति है। यह मूर्ति महाराणा हम्मीर ने स्थापित करवाई थी क्योंकि पहले की मूर्ति तुर्कों के आक्रमण के समय पास के इन्द्र सरोवर में सुरक्षित रख दी गयी थी। मुख्य मन्दिर मे पार्वती, गंगा, यमुना और गणेश की मूर्तियां भी हैं।

इस मन्दिर के पुजारी पहले पाशुपत पद्धति के थे किन्तु आचार्यों में सामान्य मनुष्य के दोष पाकर बनारस से सन्यासी आचार्य को लाकर यहाँ का कार्य सौंपा गया। ये महन्त आज भी ब्रह्मचारी रह कर शिव की उपासना मे लगे रहते है। मेवाड़ के राणा समय पर मन्दिर को धन, भूमि और भेंट आदि देकर इसका यश बढ़ाते रहते हैं। इस मन्दिर मे शिवरात्रि और फाग के उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं। मन्दिर के मुख्य स्थान पर राम की मूर्ति यह बताती है कि उदयपुर के राणा अपने आपको राम के वंशज मानते थे। मंदिर के दक्षिणी द्वार पर रायमल के समय की प्रशस्ति लगी है जिसमें 101 श्लोक हैं। मेवाड़ के इतिहास पर इस मंदिर में प्राप्त इस प्रशस्ति का भारी प्रभाव पड़ा है और अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार वि० सं० 1028 ई० के शिलालेख से भी मेवाड़ का इतिहास प्रकाश में आता है। यह लेख भी इसी मंदिर में है। जहाँ यह मंदिर राजस्थान के गढ मंदिरों का प्रतीक है वहाँ इतिहास का भी एक अनमोल साधन है। कहते हैं कि जब औरंगजेब ने इस मन्दिर की प्रतिमा को मिटाने के लिये सेना भेजी तो मण्डप मे बने चाँदी के नांदिया मे से असंख्यों भँवर निकल पड़े और मुगल सेना को भागकर जान बचानी पड़ी।

इसी मंदिर के पास कुम्भा ने कुम्भश्याम मंदिर बनवाया जिसकी दीवारों पर व स्तम्भों पर देवी-देवता, पशु और मनुष्य के विभिन्न चित्र अंकित करवाये जो उस समय के रहन-सहन और वेशभूषा का ज्ञान देते हैं। यहाँ पर युद्ध, काम और साधारण जीवन की भी अनेक मूर्तियाँ हैं जो हृदय आकर्षक ही नहीं, कला की दृष्टि से भी बेजोड़ हैं। विष्णु की तीन मुख की मूर्ति राजस्थान की मूर्तिकला का सबसे उत्तम नमूना है।

थी एकलिंग जी के मंदिर के उत्तर-पूर्व में, इन्द्र सरोवर बनाया गया है। यह बाँध संगमरमर का है। इस सरोवर में खिले कमल चाँदनी रात में मादकता उत्पन्न करे बिना नहीं रहते और दर्शक प्रभु-भक्ति और माया-मोह के बीच भटकने लगता है।

इन मंदिरों के अतिरिक्त पुष्कर का रंगजी का मंदिर अपनी विशालता के लिये और 20वीं शताब्दी में बना पिलानी का सरस्वती मंदिर राजस्थान को बिड़ला परिवार की अनमोल भेंट हैं।

3. स्तम्भ—यों तो अशोक के स्तम्भ भारतीय कला में आज भी बेजोड़ हैं। दिल्ली की कुतुबमीनार भी हजारों दर्शकों को रोज कौतूहल में डाल देती है, और हैदराबाद दक्षिण की चार मीनार भी कला का उत्कृष्ट नमूना है किन्तु फिर भी चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ इन सबसे अलग और ऊपर अपना स्थान सुरक्षित रखता है। डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि—"कुम्भा का जय-स्तम्भ, जो शिलालेखों में कीर्तिस्तम्भ के नाम से विख्यात है, चित्तौड़ दुर्ग का स्थापत्य और उत्कीर्ण कला का प्रमुख प्रतीक है।" महाराणा कुम्भा ने मालवा के सुल्तान मोहम्मद को पराजित करने के बाद अपनी विजय की स्मृति में यह कीर्तिस्तम्भ बनवाया था। इस स्तम्भ को कुम्भा ने अपने इष्टदेव विष्णु के लिए बनवाया था जो इस स्तम्भ में बनी अनेक विष्णु की मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है। हर्मन गूज, इस स्तम्भ को समिधेश्वर को एक भेंट मानते है किन्तु किसी भी लेख में मालवा विजय के उपलक्ष्य में इसके बनाये जाने का वर्णन न मिलते हुए भी यह सत्य है कि कुम्भा ने इसे मालवा विजय के बाद बनवाया था। इसका निर्माण 1497 वि० सं० में शुरू हुआ और इसकी प्रतिष्ठा माघ कृष्णा 10वीं सवत् 1517 में हुई। इस प्रकार इसके निर्माण में लगभग बीस वर्ष का समय लगा।

स्तम्भ का आधार 12 फिट ऊँचा और 42 फिट लम्बा व चौड़ा चबूतरा है। धरती से यह स्तम्भ 122 फिट ऊँचा है। इसकी चौडाई 30 फिट है और इसमे 9 मंजिलें है। स्तम्भ के अन्दर ऊपर तक सीढ़ियाँ बनी है और हर मंजिल पर चारों दिशाओं में झरोके बने हुए हैं। स्तम्भ में पांच महत्त्वपूर्ण लेख भी स्थापित किये गये थे जिनसे इनके निर्माण-कर्ता का पता लगता है। सारा स्तम्भ हर चप्पे पर देवी-देवताओं की मूर्तियों से सजा हुआ है। ओझाजी इसे 'देवी-देवताओं का संग्रहालय या पौराणिक देवताओं का अमूल्य कोष' कहते हैं। इसके प्रवेश द्वार में जाते ही जनार्दन की मूर्ति है और पास की ताकों में रुद्र, व ब्रह्मा बिराजे हैं। आक्रमणकारी मुसलमानों ने इन मूर्तियों के हाथ तोड़ दिये है। अन्य मंजिलों में अग्नि, वरुण, भैरव, जयंत, नारायण, चन्द्रार्क, पार्वती, उमा, गंगा, यमुना, लक्ष्मी, सरस्वती, महाकाली, नरसिंह-अवतार आदि प्रमुख हिन्दू देवी-देवताओं को अलग-अलग बिठाया गया है। इनकी उपासना में पूजा नृत्य आदि मुद्राओं से सजी दासीगण भी हैं। आठवीं मंजिल में चार प्रशस्ति ताकें हैं किन्तु दर्शकों ने इन्हें इतना घिस दिया है

कि अब उन्हें पढ़ना कठिन है। ये मूर्तियाँ कुम्भा द्वारा निर्मित अन्य मूर्तियों के समान ही हैं जो इस बात को और भी स्पष्ट करती हैं कि उनका बनवाने वाला कुम्भा ही था।

कीर्तिस्तम्भ को पौराणिक देवताओं का कोष मात्र ही नही मान लेना चाहिये। कलाकार ने अपनी छेनी से 15वी शताब्दी के जन जीवन को जिस चतुराई से इन मूर्तियों में अंकित किया है वह दर्शकों को ज्ञान के भंडार मे तैरा देता है। शय्या पर राजा रानी के साथ सेविकाओं का प्रदर्शन आकर्षक है और विविधता से भरपूर है। राम के साथ शबरी भीलनी का प्रभाव अमिट है। इस स्तम्भ में भक्ति और शौर्य, प्रेम और जीवन का जो समावेश देखने को मिलता है उसका चिन्तन अन्यत्र कहाँ पडा है। प्रयोग में आने वाले शस्त्रों, वाद्य यंत्रों और वस्त्र आभूषणों का सामूहिक व ठोस चित्रण इस स्तम्भ में किया गया है। वास्तव में यह स्तम्भ राजा महाराजा, देवी-देवताओं के साथ सामान्य जीवन की एक नाट्यशाला है। जहाँ मूर्तियां बिना बोले अपना वर्णन स्वयं कर देती है। कुछ मूर्तियो में भाव शून्यता भी है और कुम्भा द्वारा निर्मित अन्य स्थानों की मूर्तियाँ कीर्तिस्तंभ से कही अधिक आकर्षक व भावपूर्ण है। प्रत्येक भाग को सजाने के चक्कर में सजीवता का गुण कम हो गया है। जनजीवन का प्रदर्शन इन मूर्तियों का लक्ष लगता है इसी से आकर्षण का अभाव लगता है। फिर भी कीर्तिस्तम्भ अकेला कुम्भा के कला प्रेम का जीवित उदाहरण रहेगा।

4. जलाशय व उद्यान —राजपूत राजाओं को जलाशय व उद्यान आदि के निर्माण का शौक नही था। मुसलमानों के सम्पर्क में आने से पहले केवल अनादेव द्वारा अजमेर में आना सागर झील का निर्माण मात्र देखने को मिलता है। जिसे आगे चलकर शाहजहाँ ने और सुन्दर बना दिया था। वैसे तो उदयपुर को आज झीलों का नगर कहा जाता है किन्तु मुगलों के आगमन से पूर्व न तो यहाँ पिछोला झील थी और न सहेलियों की बाड़ी। आमेर, जोधपुर और कोटा में भी बहुत समय बाद जलाशय और उद्यान बनने लगे थे। हम जिस युग से सम्बन्धित है उसमें ले देकर एक मात्र जलाशय राजसमंद ऐसा बनाया गया जो आज भी सारे राजस्थान के जलाशयों में सर्वोत्तम प्रतीत होता है। यह झील उदयपुर राज्य में काकरोली स्टेशन से लगभग 5 मील दूर है। यह चारो तरफ पहाड़ियों से घिरी झील है जिसका क्षेत्रफल 195 वर्ग मील का है। साधारणतः इसकी लम्बाई $2\frac{3}{4}$ मील और चौड़ाई $1\frac{1}{2}$ मील है। यह बाँध गोमती नदी पर बाँधा गया है। महाराणा अमरसिंह ने इस बाँध को बँधवाने की योजना बनाई थी किन्तु वास्तव में यह महाराणा राजसिंह ने बँधवाया। डॉ० गोपीनाथ शर्मा के अनुसार गोमती नदी की बाढ़ ने राणा राजसिंह को विवाह करने जैसलमेर जाते समय तीन दिन तक रोक लिया। उसी समय राजसिंह ने इस पर बाँध बँधवाने का निर्णय कर लिया था। साथ ही यह भी माना जाता है (जैसा टाड महोदय ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ 310-11 पर और वीर विनोद मे दूसरे भाग में पृष्ठ 446 पर भी दिया है)

कि राजप्राप्ति के षडयंत्र के लिए राजकुमार सरदारसिंह, उसकी माता और एक पुरोहित व एक चारण की हत्या के प्रायश्चित स्वरूप राणा राजसिंह ने 'राजसमुद्र' या 'राजसमंद' झील बनवाई।

तालाब का कार्य 20 जनवरी, 1776 ई० को शुरू हुआ। कदाचित् राजसिंह अपनी अजमेर यात्रा से लौटते समय आनासागर जैसी बारहदरी आदि बनाने का विचार लेकर आये थे। बारहदरियों का स्पष्ट प्रभाव राजसमंद के मण्डपों पर झलकता है। उन्हें देखते ही आनासागर झील पर शाहजहाँ द्वारा निर्मित बारहदरियाँ याद हो आती हैं। इस बाँध के कार्य में 60 हजार मजदूर काम करते थे और यह 202 गज लम्बा व 70 गज चौड़ा बाँध 1 करोड़ 5 लाख 7 हजार 6 सौ 8 रुपयों की लागत से बनकर तैयार हुआ। मालवा, गुजरात और उत्तर भारत के शिल्पियों के साथ राजस्थान के विख्यात शिल्पी भी इसके निर्माण में लगे थे। इस बाँध को 'नौचौकी' कहते हैं। क्योंकि बाँध के नीचे वाले तीन चबूतरों पर तीन-तीन मण्डप बने हुए हैं। इन मण्डपों की छतें सपाट हैं और सफेद संगमरमर से इन्हें बनाया गया है। ये मण्डप और बारहदरियाँ राजस्थानी शिल्प में एक नवीन शैली को जन्म देती हैं। इनके स्तम्भ सुन्दर कटाई के काम से शोभित हैं। जानवरों की खुदाई हिन्दू शैली की है तो जालियों में बेलबूटे मुगल शैली से लिए गये हैं। स्त्री मूर्तियों के आभूषण व वेशभूषा मेवाड़ी ढंग के दिखाये गये हैं। स्तम्भों पर राजस्थान का सामाजिक व धार्मिक जीवन चित्रित किया गया है। तोरण के सामने वाले चबूतरे पर पौराणिक कथाएँ अंकित हैं। प्रथम चबूतरे पर एक विवाह चित्र में नववधू को गाँव वालों का बाहर वृक्ष तक छोड़ने आना फिर बहू का न जाने का अभिनय और पति का उसे खींच कर ले जाना। इस सारे दृश्य की मधुरता यह है कि ऊँट भी गर्दन झुकाकर बड़ी करुणा भरी दृष्टि से इस दृश्य को देखता है। अन्य चबूतरों व मण्डपों पर सामन्त के सामने बारीक पारदर्शक वस्त्रों में नर्तकी दरबार में नृत्य करते बताई गई है तो कहीं हाथी, घोड़े, बैल, मैढ़ा आदि की लड़ाईयों का चित्रण किया गया है। जहाँ शिकार के दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं वहाँ एक स्थान पर शिवलिंग की पूजा भी दिखाई गई है। कृष्ण-लीला भी कई स्थानों पर अंकित है।

राजसमंद की ताकों में लगी प्रशस्तियाँ भी उतने ही महत्त्व की हैं। ये प्रशस्तियाँ उस समय की शिक्षा प्रणाली, प्रचलित नाप-तोल, तीर्थ यात्राएँ, धार्मिक महत्त्व, राज्य की सीमा आदि बहुत महत्त्वपूर्ण बातों पर काफी प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार राजसमंद अपने आप में एक संस्था है जो उस समय के राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक परम्पराओं और ज्ञान का श्रोत बन गया है। राजसिंह ने इस प्रकार की सुन्दर कृति का निर्माण कर कला के साथ-साथ अपना नाम भी अमर कर लिया।

5. **समाधियाँ**—राजस्थान अपनी वीरता के लिए विश्व विख्यात है। यहाँ के योद्धाओं ने हर युग में अपनी स्वतन्त्रता के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों की

बलि दी है। जहां इस देश के पुरुष युद्ध भूमि में मरना गौरव की बात समझते हैं वहां यहां की महिलाएँ अपने पतियों के शव के साथ सती हो जाना अपना परम धर्म व कर्त्तव्य मानती रही हैं। योद्धा के वीरगति प्राप्त होने पर उसकी माँ का सीना तन जाता था तो उसकी समधन भी कम गर्व नहीं करती थी क्योंकि उसकी पुत्री योद्धा की पत्नी भी तो जीते जी अग्नि का सामना कर हँसते-हँसते अपने प्राण दे देती थी। इस वीरतापूर्ण त्यागमय दाम्पत्य प्रेम में मर मिटने वालों पर सारा समाज गौरव का अनुभव करता था और ये सतियाँ आज भी सारे राजस्थान में पूजी जाती हैं। जिन स्थानों पर वीरांगनाएँ जल कर सती हो जाती थीं उन्हें महासतियाँ कहा जाता था। मध्यकाल के राजस्थान में निरंतर मुसलमानों के आक्रमणों ने सती प्रथा को सामूहिक रूप दे दिया था। नारियाँ अपने सतित्व की रक्षा के लिए अपने पति की किसी निशानी को साथ लेकर सती हो जाती थीं। ऐसी वीरांगनाओं के सती होने के स्थान पर छत्रियाँ बना दी जाती थीं। जिन्हें देवल या देवलियाँ भी कहते थे। इन छत्रियों के बीच में या तो सती होने वाली स्त्री की मूर्ति या शिवलिंग स्थापित कर दिया जाता था।

इन पवित्र स्थानों पर लोग आज भी श्रद्धा से फूल चढ़ाते हैं और कई स्थानों पर तो उनकी याद में मेले लगते हैं। चित्तौड़, जोधपुर, बीकानेर और आहड़ आदि स्थान सतियों की समाधी के लिए विख्यात हैं। चित्तौड़ में सूर्य तथा गौमुख कुण्ड के पास का स्थान विश्व विख्यात है जहाँ पद्मिनी ने अपनी सैंकड़ों सहेलियों के साथ अपने प्राण दे दिये थे। इसी प्रकार उदयपुर के पास ही आहड़ गाँव महासतियों के नाम से विख्यात है। यह स्थान मेवाड़ के महाराणाओं का दाहसंस्कार स्थान है। जहाँ अनेक राणाओं के साथ सैंकड़ों रानियाँ सती हो चुकी हैं। इस क्षेत्र में अनेक सुन्दर छतरियाँ और शिलालेख अंकित हैं।

जोधपुर से कुछ दूर मण्डोर में पंचकुण्ड भी राजाओं का श्मशान है जहाँ रणमल, चूण्डा, जोधा, गांगा आदि की रानियों के सती होने पर छत्रियाँ बनवाई गई थीं। इसी प्रकार बीकानेर में भी बीकाजी की टेकरी और लाल किले से पाँच मील पूर्व में बना देवकुण्ड के पास के सती स्थान में बनी सफेद संगमरमर व लाल पत्थर की छत्रियाँ इस बात का प्रमाण है कि ये सतियाँ राजस्थान के इतिहास में अमर रहेंगी। इन समाधियों में छिपे स्थापत्य में, खम्भे, महराबें, गुम्बज और बारादरियाँ मुगल प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। पुरानी समाधियाँ मन्दिरों की तरह बनती थी। जिनमें शिखर, मण्डप, स्तम्भों और गर्भाशयों को महत्त्व दिया जाता था। ये समाधियाँ जहाँ धर्म, श्रद्धा और इतिहास के आधार हैं वहाँ इनमें प्राचीन और मध्यकाल की कला का मिश्रण भी सराहनीय है।

□

26

राजस्थान में चित्रकला

वीर भूमि होने के कारण तलवार के धनी राजपूत राजाओं से कला की कोमल कूची के संरक्षण की आशा, चमकते हुए सूर्य के प्रकाश में सितारों की खोज के समान असम्भव सी प्रतीत होती है किन्तु समय और खोज के साथ-साथ आज इतिहास के विद्यार्थी अचरज से अध्ययन करते हैं कि इतने युद्ध व्यस्त रहने के विपरीत राजस्थान के राजा और रईसो ने अपने विश्राम के अल्प क्षणों में चित्रकला को जो संरक्षण व स्नेह प्रदान किया वह भारत ही नही समस्त विश्व की चित्रकला मे अपना महत्त्व रखता है। सामान्यत यह धारणा सी थी कि चित्रकला तो अजंता के बाद भारत से अदृश्य सी हो गयी और राजपूतो के समय को तो एक युद्ध मात्र का समय मानकर बड़े-बड़े कला-पारखियों ने राजस्थान की कला को कभी 'हिन्दू कला' और कभी 'राजपूत कला' के नाम से सम्बोधित किया। इतिहासकार ब्राउन अपनी पुस्तक 'इंडियन पेन्टिंग' के पृष्ठ 51 पर राजस्थानी शैली को राजपूत शैली कह कर पुकारते हैं किन्तु उनकी यह धारणा अधूरी है कि राजपूत राजाओं व जमीदारो ने ही चित्रकला को संरक्षण दिया। वास्तव में धार्मिक संस्थाओं, सेठ-साहूकारो और साधारण जनता ने भी राजा महाराजाओ के साथ मिलकर राजस्थान में चित्रकला को पूर्ण संरक्षण देकर समृद्ध बनाया। इसी प्रकार श्री एन० सी० मेहता ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन इण्डियन पेन्टिंग' के पृष्ठ 5 पर राजस्थान की चित्रकला को 'हिन्दू शैली' का नाम दिया है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि 16वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी में विकसित इस कला पर मुगलों का भी भारी प्रभाव है अत: इसे हिन्दू या राजपूत शैली न कह कर हमें राजस्थानी शैली के नाम से ही पुकारना चाहिये क्योंकि इस शैली की अपनी अनेक शाखाएँ है। अकबर के विद्वान दरबारी अब्दुल फजल ने भी इसे हिन्दू शैली कह कर प्रशंसा की है। उनका कहना है कि "हिन्दू चित्रकार मुसलमान चित्रकारों से अधिक सुन्दर चित्र रचना करते हैं।" वास्तव मे राजस्थानी शैली अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। जैसा कि कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेन्टिंग' की प्रस्तावना मे लिखा है कि—"राजस्थान मे भी चित्रकला का एक सम्पन्न स्वरूप है।" इसके साथ ही इस धारणा को भी मन से निकाल देना चाहिये कि राजस्थान में चित्रकला का प्रसार मुसलमानो के सम्पर्क में आने के बाद हुआ। श्री यदुनाथ सरकार की यह धारणा निराधार है कि अकबर और जहाँगीर आदि के सम्पर्क में आकर ही राजपूतो ने चित्रकारी को संरक्षण प्रदान किया।

वास्तव में राजस्थान में तो पाषाण काल से ही चित्रकारी चली आ रही है। अनेक स्थानों पर की गयी खुदाई में प्राप्त चट्टानों पर कई प्रकार के चित्र प्राप्त हुए हैं। यहाँ तक कि सिन्धुघाटी सभ्यता के समकालीन राजस्थान में तो कलाकार अपने भावों को चित्रों में सार्थकता से व्यक्त करते थे। ये चित्र शिकार, युद्ध और देवी की पूजा आदि महत्वपूर्ण विषयों पर बनाये जाते थे।

प्राचीन राजस्थान में मिट्टी के बरतनों पर सरल रेखाओं में चित्र अंकित किये जाते थे। *जानवरों की आकृतियों का विशेष प्रचलन था।* मिट्टी पर सलेटी रंग की पृष्ठ भूमि पर काले और लाल रंग के जानवर बनाते थे। हर्षवर्धन के समय तक अर्थात् हिन्दू काल के अन्त तक पीले, नीले और कत्थई रंग का प्रयोग भी होने लगा था। राजस्थान में पहले दो तरह के चित्र बनते थे। एक तो पुस्तकों में कथाओं को समझाने के लिये लगाये गये चित्र। ये चित्र पुस्तकों को अलंकृत करते थे। जैसलमेर में इस प्रकार के हजारों चित्र मिले हैं। दूसरे वे चित्र जो ताड़ की पंक्तियों और महलों की दीवारों पर बनते थे। ये चित्र दरबारी जीवन, महफिल पर, नृत्य, धार्मिक उत्सव और पौराणिक कथाओं पर आधारित होते थे।

राजस्थान के रेतीले भाग को दिखाने के लिये पीले रंग का प्रयोग चित्रों में अधिक होता था। यहाँ के कलाकार सुन्दर बड़ी-बड़ी आँखें बनाते थे जिन्हें कटाक्ष नेत्र कहा जाता था। चित्र में प्रकृति का पूरा सहयोग लिया जाता था। सामान्यतः मिलन चित्रों में आम के वृक्ष का होना शुभ समझा जाता था। संक्षेप में यदि यह कह दें कि प्राचीन राजस्थान की चित्रकला अजन्ता से मिलती हुई थी। हमारी चित्रकला पर भूगोल का भी प्रभाव है। मखमली बालू रेत की चादरें, सूखे पहाड़ों की कतारें और पथरीली भूमि ने राजस्थान की कला को उसी प्रकार का बना दिया है। प्रकृति का जो चित्रण नाथद्वारा शैली में मिलता है वह भारत के किसी अन्य प्रदेश में नहीं मिलता। भौगोलिक स्थिति ने राजस्थान को राजनीतिक उथल पुथल से बहुत समय तक बचाये रखा और इस बीच कला को विकास का पूर्ण अवसर मिल गया। वि० सं० के कुछ पहले से ही यहाँ पहाड़, नदी, सूर्य, चाँद, मनुष्य, पशु, धनुष बाण आदि के चित्र बनते रहे हैं। बैराट, रंगमहल तथा आहड़ से प्राप्त सामान पर रेखा द्वारा वृक्ष आदि से सजावट इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन राजस्थान में भी चित्रकला पूर्ण विकसित थी।

चित्रकला के विषय—विभिन्न स्थानों में चित्रकला के विकास का अध्ययन करने से पहले यह उचित होगा कि हम इस कला के विषय का तथा क्षेत्र का भी अवलोकन करें। किशनगढ़ का प्रेयसी प्रेम, जयपुर में पुरुष व स्त्रियों की बेजोड़ रचनाएँ, जोधपुर की कलम से वीरतापूर्ण कृत्यों के चित्र, उदयपुर के स्वतन्त्रता पर मर मिटने व धार्मिक कथाओं के चित्र, नाथद्वारा के प्राकृतिक चित्र, कोटा बूंदी का नारी सौन्दर्य और अलवर के किनारों के डिजाइन सारे भारत में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि

नाथद्वारा, कोटा, बूंदी व अलवर की कला पर मुगल कला का प्रभाव है फिर भी इन सभी स्थानो में विकसित चित्रकला का अपना अलग अस्तित्व है।

इस प्रकार हम चित्रकला के विषयों को निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं—

(1) धार्मिक चित्र, (2) प्राकृतिक व ऋतु चित्र, (3) जनजीवन के चित्र, (4) व्यक्ति चित्र, (5) प्रणय चित्र, (6) पराक्रम चित्र, (7) नारी सौन्दर्य चित्र, (8) पशु चित्र, (9) ऐतिहासिक चित्र, और (10) संगीत चित्र।

1. धार्मिक चित्र—धर्म जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। गुप्तकाल में भगवान बुद्ध का जीवन अजन्ता की गुफाओं मे चित्रित हुआ और तब से धर्म प्रचार व धर्म के प्रति श्रद्धा का आधार कला बन गयी। राजपूतों की अधीनता में राजस्थान में चित्रकला ने भी हिन्दू धर्म का प्रदर्शन शुरू किया। पौराणिक विषयों को लेकर यहाँ चित्रकला दिन प्रति दिन समृद्ध होती गयी। विभिन्न अवतारो के जीवन को चित्रित किया गया। राम, कृष्ण, कौरव-पांडव व अन्य देवताओं के जीवन का चित्रण होने लगा। कृष्ण, लीला के विभिन्न अग प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किये गये। माखन चोरी, कंस-वध, गोपियों के साथ रास लीला, राम वन गमन, सीता हरण व महाभारत के युद्ध आदि के चित्र जन-साधारण के प्राण बन गये। राधा व कृष्ण की भाव-भगिमा जनता के प्रेम का आदर्श बन कर रह गये। इन पौराणिक गाथाओ मे प्रेम, शौर्य, मिलन, वियोग, भक्ति, त्याग और धर्म के सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक दिखाया गया है।

2. प्राकृतिक चित्र—भारत में छ ऋतुएँ होती हैं। बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, और शिशिर इनमें मुख्य है। इनका मानव जीवन पर गहरा प्रभाव है। बसंत में प्रकृति का कण कण मस्त हो खिल उठता है तो कलाकार क्यों न आनन्द विभोर हो झूम उठे? वर्षा के काले बादल और पुरवा हवाएँ वियोगी भावनाओं को भड़का कर कला को दर्दमय सजीवता से सजा जाती है तो ग्रीष्म के गरम थपेड़े और बालू से तपती धरती नैराश्य के पीले रंग मे लिपट जाती है और कलाकार का चित्र वियोग, निराशा और थकावट का प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूप भी चित्रकार को प्रेरणा प्रदान कर कला के स्तम्भ बन जाते हैं। कलाकार चाँद का बादलों में लुक छिप उगते, सूरज का रक्त-रंजित रूप, पवन की गोदी में झूलते उद्यान, और मन-मोहक झरनों के स्वर में मानव जीवन को चित्रित करता है। वियोगी को सूखे पेड़ों के नीचे खड़ा करना, प्रेमियों को उद्यान में मिलाना, घटाओं को देख कर परदेश गये पति की याद में उदास होना आदि कला में शुरू से लोक-प्रिय प्रदर्शन हैं।

3. जन-जीवन के चित्र—राजस्थान के सामाजिक जीवन की सही झांकी चित्रकला में देखने को मिलती है। गाँवों की झोंपड़ियाँ, पनघट की भीड़, घर में

चरखा चलाती महिलाएँ, खेत और खलिहान में नर-नारी का सहयोग-मय जीवन राजस्थान के दाम्पत्य प्रेम का ज्वलंत प्रमाण है। खेत पर ग्रामीण महिला द्वारा भोजन लेकर जाना और पति को अपने पास बिठा कर भोजन कराना जन-जीवन का जीता जागता प्रतीक है। गायों और ग्वालों का समूह, शिक्षा देते शिल्पी, होली के दृश्य, पनिहारियों का समूह, काजल लगाती कृशोदरी, काँटा निकालती कामिनी, दर्पण में मुख कमल निहारती तरुणी और अंगडाई लेती मस्त महिला, सदा से राजस्थान की चित्र-कला के आकर्षण रहे हैं। त्योहारों पर मेंहदी रचाती, सुहागनों के चित्र जीवन के सुखमय गीतों की तरह मन की आँखों में मँडराते रहते हैं। नारी शृंगार के बाहर भी राजस्थानी चित्र-कला के चमकीले रंग, चमकते रहे हैं। थके प्यासे सैनिक को पानी पिलाती कँवारी कन्या, सेवक द्वारा ठाकुर को हुक्का पकड़ाना, पेड़ की छाया में पथिक का विश्राम करना, बरगद की छाया में साधू महात्माओं की सभा और मेलों में मस्त नाचते ग्रामीणों का चित्रण वास्तव में राजस्थान के कला का मनमोहक भाग है।

4. व्यक्ति चित्र—प्रारम्भ में राजस्थान की चित्र-कला व्यक्ति चित्रों को महत्त्व नहीं देती थी। क्योंकि ऐसे पराक्रमी व्यक्तियों का अभाव भी था जिन्हें नायक मान कर कलाकार अपनी कल्पना का आधार बनाता किन्तु मुगल सम्पर्क और राजस्थान में संगठित राज्यों की स्थापना के साथ साथ नायक का चित्रण शुरू हो गया। राजस्थानी चित्रकार, अपने राजा महाराजाओं के प्रभावशाली चित्र बनाने लगे। अकबर बादशाह को हाथ में गुलाब का फूल लिये देख कर राजस्थानी चित्रकारों ने और विशेषतौर पर जयपुर व बीकानेर के चित्रकारों ने अपने राजाओं को सिंहासन पर बिठा कर गुलाब हाथ में दे दिया। इस प्रकार के व्यक्ति चित्रों में राजस्थान माधुर्य और संजीवता की दृष्टि से मुगल शैली से भी आगे निकल गया। इसी शैली से आगे एक नवीन शैली का जन्म हुआ जिसे काँगड़ा शैली कहा गया। राजस्थान में व्यक्ति शैली के चित्र अधिकतर जयपुर में पाये जाते हैं। झरोकों में बैठे राजा, वृक्ष की टहनी पकड़े राजकुमारी, साधु-संतों के विविध रूप आदि व्यक्ति चित्रों में आते हैं। किन्तु इनमें कोमलता व संजीवता उतनी नहीं जितनी अन्य चित्रों में प्रदर्शित की गयी है।

5. प्रणय चित्र—शृंगार, मिलन और वियोग जीवन के आकर्षण हैं। जहाँ प्रणय नहीं वह जीवन नीरस है फिर राजस्थान का कलाकार नीरस कैसे रह सकता था? भंवरे से त्रस्त नारी को मुक्त करना, पनघट पर परदेसी को पानी पिलाना, झरोके में बैठी राजकुमारी को नायक का नीचे से देखना, खेत में काम करती महिला के पैर से कांटा निकालना, विभिन्न ऋतुओं में मिलन विरह के रूप प्रदर्शित करना राजस्थान के चित्रकारों की विशेषता रही है। इसी प्रकार वियोगन के विभिन्न रूप, प्रतीक्षा करती नारी, पक्षी को संदेश देती वियोगन आदि प्रणय के कई रूप देखने को मिलते हैं। प्यार में शृंगार भी बहुत महत्त्व रखता है। पिया मिलन की भावना से

प्रदित होकर सुहागन का सजना, मेंहदी, काजल और वेणी में फूल लगाना। इसी प्रकार पुरुष का रूठी रानी को मनाना। शिशु को दूध पिलाती अवस्था में नारी का अगड़ाई लेना। रास और शृंगार के बीच प्रणय चित्रों को अमर बना देता है।

6. पराक्रम चित्र—यह तो विश्व विख्यात है कि राजस्थान वीरों का देश है और यहाँ स्वतन्त्रता के लिये मर मिटना एक साधारण किन्तु गौरवपूर्ण बात है। फिर चरित्र के इस महान् गुण का चित्रण कलाकार की कूंची क्यों न करती। इस पराक्रम शैली का विकास साधारण तौर पर उदयपुर से हुआ। असुर वध, घोड़े पर सवार शस्त्र लिये नायक, आखेट करते हुए बाघ को मारता राजा, पृथ्वीराज का संयोगिता हरण, राम का बाली को मारना, भीम-दुर्योधन युद्ध आदि का प्रदर्शन यहाँ बहुत लोकप्रिय रहा है। वास्तव में यदि राजस्थान के कलाकारों ने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण भाग को न देखा होता तो एक अधूरापन चित्र-कला में रह जाता। पृथ्वीराज रासो पर आधारित पृथ्वीराज का शब्दभेदी बाण से गौरी को बाण द्वारा मार गिराना, इस शैली के चित्रों का आकर्षण रहा है। हाथियों पर बैठ कर शेर का शिकार भी राजाओं के जीवन का प्रदर्शन करता है। पराक्रम का प्रदर्शन वीरों के इस देश में बहुत रोचक लगता है।

7. नारी सौन्दर्य चित्र—कलाकार की कल्पना में नारी का रूप सदा एक प्रश्न वाचक चिन्ह रहा है। सुन्दर रंगों से नारी के रूप को सजा कर उसके कोमल अंगों को तरसा देने वाला हलका प्रदर्शन यहां की एक विशेषता रही है। जैसे दूध पिलाती नारी, दर्पण में मुख कमल निहारती नारी, काजल से कटाक्ष सवारती नारी, काँटा निकालती नारी, पेड़ की डाली पकड़े प्रियतम की प्रतीक्षा करती नारी, मृग नयनी नारी, कृशोदरी नारी, लम्बी बाहों वाली नारी, कमर से नीचे लटकती वेणी वाली नारी, पतले होठ और भरा हुआ चेहरा राजस्थान की नारी सौन्दर्य का स्वरूप है। जोधपुर की और उदयपुर की नारी का चित्रण वास्तव में अत्यन्त आकर्षक है। मांसल ग्रीव के तले कसी हुई कंचुकी और पतली कमर पर लटकता लहंगा अत्यधिक हृदय आकर्षक लगता है। मानव की इस अर्धांगनी को जो महत्त्व राजस्थान की चित्रकला मे दिया है वह वास्तव में अद्वितीय है। राजस्थानी नारी में अजन्ता की चित्रकला जैसे विशाल उरोज या अतिशयोक्ति पूर्ण पतली कमर देखने को नही मिलती। जहा नेत्रों की विशालता पर जोर दिया गया है वहीं नारी को आभूषणों से भी अलंकृत किया गया है।

8. पशु चित्र—जहाँ शृंगार, प्रणय और शौर्य ने राजस्थान के चित्रकारों को आकर्षित किया है वहाँ उन्होंने हर क्षेत्र में पशुओं की सहायता ली है। हाथियों का युद्ध, गायो का चित्रण, ऊँट और घोड़े के चित्र भी पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। पक्षियों का पंक्तिबद्ध उड़ना, मृग शावकों और शेरों का जंगल में विचरण करना। प्रयोग के जानवरों से लेकर जंगल के खूंखार जानवरों का भावपूर्ण चित्रण राजस्थानी चित्र-कला का एक और आकर्षण रहा है। तालावो मे क्रीड़ा करते हंस व

बतक, कुंओं मे कलोल करते सारस, भुकव कबूतर आदि चित्रकार के कलम के प्रमुख साधन रहे हैं। वर्षा में नाचता हुआ मोर राजस्थान की एक विशेषता है। इस क्षेत्र में बूंदी की शैली सबसे आगे निकल गयी है। शेरों व सूअर का शिकार चित्र देखने योग्य है।

9. ऐतिहासिक चित्र - राधा कृष्ण की लीला, महाभारत के दृश्य, द्रोपदी चीर हरण, राम-रावण युद्ध, नल दमयती चित्र, पृथ्वीराज रासो वर्णन आदि ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं हैं जिनका चित्रण हर युग में राजस्थान के विभिन्न केन्द्रों मे बार-बार हुआ है। इस प्रकार के चित्रों में राजाओं के व्यक्तिगत चित्र भी सम्मिलित किये जाते हैं। समाज के विभिन्न वेशभूषा का प्रदर्शन भी इतना स्पष्ट है कि प्राप्त चित्रों से राजस्थान की सामाजिक दशा पर काफी प्रकाश पड़ता है। जैसे पुरुषों के पहनाव में पगड़ी, जामा, पटका, पायजामा आदि। इसी प्रकार विभिन्न आभूषण भी उस समय के रहन-सहन पर प्रकाश डालते हैं। स्त्री की वेशभूषा, मेले, सामाजिक उत्सव आदि समय के इतिहास के श्रोत व प्रतिबिम्ब बन कर हमारे सामने आते हैं।

10. संगीत चित्र —संगीत भी साहित्य और कला की भांति संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। राजस्थान के अमीर और गरीब सभी संगीत के प्रेमी रहे हैं। राग-रागनियों को मूर्तवत बनाकर चित्रों में उतार कर राजस्थान के कलाकारों ने संगीत के प्रति रुचि को संजो दिया। यहां पर राग-रागनियों का चित्रण ऋतु के साथ किया गया है। अनेक लोकप्रिय रागनियों को चित्रबद्ध कर संगीत की लोकप्रियता को बढ़ा दिया। टोड़ी, मालकोष, दीपक, असावरी, भूपाली, भैरव, भैरवी, केदारा आदि रागों को नायक और परकीया, स्वकीया, गणिका, अभिसारिका आदि को नायिकाओं की मूर्ति स्वरूप उतारा गया। विभिन्न नाट्य शालाओं का भी प्रदर्शन किया गया। रास नृत्य, राधा कृष्ण नृत्य आदि को लावण्य और छटा के साथ अंकित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के विभिन्न भागों का भरपूर प्रदर्शन राजस्थान की चित्रकला के अनेक विषयों में होता रहा है। अब हम यह देखें कि यह कला राजस्थान में कहां-कहां पर अपना केन्द्र बना गयी और कौन कौनसी शैली के नाम से जानी जाती हैं। राजस्थान की चित्रकला के मुख्य केन्द्र व शैलियां निम्नांकित आंके जाते हैं—(1) जयपुर शैली, (2) किशनगढ़ शैली, (3) मारवाड़ शैली, (4) मेवाड़ शैली, (5) बीकानेर शैली, (6) कोटा शैली, (7) जैसलमेर शैली, (8) अलवर शैली, (9) बूंदी शैली, (10) नाथद्वारा शैली।

1. जयपुर शैली—जयपुर और दिल्ली में अकबर के समय से घनिष्ट सम्बन्ध रहा था इसलिये जयपुर की कला पर मुगलों की छाप प्रायः स्वाभाविक सी है किन्तु कई रूपों में समान होते हुए भी जयपुर शैली अपनी मौलिकता रखती है। समयानुसार शिकार व सवारी के ठाट बाट मुगलों से मिलते जुलते हैं। औरंगजेब

प्रदित होकर सुहागन का सजना, मेंहदी, काजल और वेणी में फूल लगाना। इसी प्रकार पुरुष का रूठी रानी को मनाना। शिशु को दूध पिलाती अवस्था में नारी का अंगड़ाई लेना। रास और शृंगार के बीच प्रणय मित्रों को अमर बना देता है।

6. **पराक्रम चित्र**—यह तो विश्व विख्यात है कि राजस्थान वीरों का देश है और यहां स्वतन्त्रता के लिये मर मिटना एक साधारण किन्तु गौरवपूर्ण बात है। फिर चरित्र के इस महान् गुण का चित्रण कलाकार की कूंची क्यों न करती। इस पराक्रम शैली का विकास साधारण तौर पर उदयपुर से हुआ। असुर वध, घोड़े पर सवार शस्त्र लिये नायक, आखेट करते हुए बाघ को मारता राजा, पृथ्वीराज का संयोगिता हरण, राम का बाली को मारना, भीम-दुर्योधन युद्ध आदि का प्रदर्शन यहां बहुत लोकप्रिय रहा है। वास्तव में यदि राजस्थान के कलाकारों ने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण भाग को न देखा होता तो एक अधूरापन चित्र-कला में रह जाता। पृथ्वीराज रासो पर आधारित पृथ्वीराज का शब्दभेदी बाण से गौरी को बाण द्वारा मार गिराना, इस शैली के चित्रों का आकर्षण रहा है। हाथियों पर बैठ कर शेर का शिकार भी राजाओं के जीवन का प्रदर्शन करता है। पराक्रम का प्रदर्शन वीरों के इस देश में बहुत रोचक लगता है।

7. **नारी सौन्दर्य चित्र**—कलाकार की कल्पना में नारी का रूप सदा एक प्रश्न वाचक चिन्ह रहा है। सुन्दर रंगों से नारी के रूप को सजा कर उसके कोमल अंगों को तरसा देने वाला हलका प्रदर्शन यहां की एक विशेषता रही है। जैसे दूध पिलाती नारी, दर्पण में मुख कमल निहारती नारी, काजल से कटाक्ष सवारती नारी, कांटा निकालती नारी, पेड़ की डाली पकड़े प्रियतम की प्रतीक्षा करती नारी, मृग नयनी नारी, कृशोदरी नारी, लम्बी बाहों वाली नारी, कमर से नीचे लटकती वेणी वाली नारी, पतले होठ और भरा हुआ चेहरा राजस्थान की नारी सौन्दर्य का स्वरूप है। जोधपुर की और उदयपुर की नारी का चित्रण वास्तव में अत्यन्त आकर्षक है। मांसल ग्रीव के तले कसी हुई कंचुकी और पतली कमर पर लटकता लहंगा अत्यधिक हृदय आकर्षक लगता है। मानव की इस अर्धांगनी को जो महत्त्व राजस्थान की चित्रकला में दिया है वह वास्तव में अद्वितीय है। राजस्थानी नारी में अजन्ता की चित्रकला जैसे विशाल उरोज या अतिशयोक्ति पूर्ण पतली कमर देखने को नहीं मिलती। जहां नेत्रों की विशालता पर जोर दिया गया है वहीं नारी को आभूषणों से भी अलंकृत किया गया है।

8. **पशु चित्र**—जहां शृंगार, प्रणय और शौर्य ने राजस्थान के चित्रकारों को आकर्षित किया है वहां उन्होंने हर क्षेत्र में पशुओं की सहायता ली है। हाथियों का युद्ध, गायों का चित्रण, ऊंट और घोड़े के चित्र भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। पक्षियों का पंक्तिबद्ध उड़ना, मृग शावकों और शेरों का जंगल में विचरण करना। प्रयोग के जानवरों से लेकर जंगल के खूंखार जानवरों का भावपूर्ण चित्रण राजस्थानी चित्र-कला का एक और आकर्षण रहा है। तालाबों में क्रीड़ा करते हंस व

बतक, कुंजों में कलोल करते सारस, शुकव कबूतर आदि चित्रकार के कलम के प्रमुख साधन रहे हैं। वर्षा में नाचता हुआ मोर राजस्थान की एक विशेषता है। इस क्षेत्र में बूंदी की शैली सबसे आगे निकल गयी है। भैंसें व सूअर का शिकार चित्र देखने योग्य हैं।

9. ऐतिहासिक चित्र -राधा कृष्ण की लीला, महाभारत के दृश्य, द्रोपदी चीर हरण, राम-रावण युद्ध, नल दमयती चित्र, पृथ्वीराज रासो वर्णन आदि ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ है जिनका चित्रण हर युग में राजस्थान के विभिन्न केन्द्रों मे बार-बार हुआ है। इस प्रकार के चित्रों मे राजाओं के व्यक्तिगत चित्र भी सम्मिलित किये जाते हैं। समाज के विभिन्न वेशभूषा का प्रदर्शन भी इतना स्पष्ट है कि प्राप्त चित्रों से राजस्थान की सामाजिक दशा पर काफी प्रकाश पड़ता है। जैसे पुरुषों के पहनाव मे पगड़ी, जामा, पटका, पायजामा आदि। इसी प्रकार विभिन्न आभूषण भी उस समय के रहन-सहन पर प्रकाश डालते है। स्त्री की वेशभूषा, मेले, सामाजिक उत्सव आदि समय के इतिहास के श्रोत व प्रतिबिम्ब बन कर हमारे सामने आते है।

10. संगीत चित्र —संगीत भी साहित्य और कला की भाँति सस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। राजस्थान के अमीर और गरीब सभी सगीत के प्रेमी रहे हैं। राग-रागनियों को मूर्तवत बनाकर चित्रों मे उतार कर राजस्थान के कलाकारों ने संगीत के प्रति रुचि को संजो दिया। यहाँ पर राग-रागनियों का चित्रण ऋतु के साथ किया गया है। अनेक लोकप्रिय रागनियों को चित्रबद्ध कर सगीत की लोकप्रियता को बढ़ा दिया। टोड़ी, मालकोप, दीपक, असावरी, भूपाली, भैरव, भैरवी, केदारा आदि रागों को नायक और परकीया, स्वकीया, गणिका, अभिसारिका आदि को नायिकाओं की मूर्ति स्वरूप उतारा गया। विभिन्न नाट्य शालाओं का भी प्रदर्शन किया गया। रास नृत्य, राधा कृष्ण नृत्य आदि को लावण्य और छटा के साथ अंकित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के विभिन्न भागों का भरपूर प्रदर्शन राजस्थान की चित्रकला के अनेक विषयों मे होता रहा है। अब हम यह देखें कि यह कला राजस्थान में कहाँ-कहाँ पर अपना केन्द्र बना गयी और कौन कौनसी शैली के नाम से जानी जाती है। राजस्थान की चित्रकला के मुख्य केन्द्र व शैलियाँ निम्नांकित आंके जाते है—(1) जयपुर शैली, (2) किशनगढ शैली, (3) मारवाड़ शैली, (4) मेवाड़ शैली, (5) बीकानेर शैली, (6) कोटा शैली, (7) जैसलमेर शैली, (8) अलवर शैली, (9) बूंदी शैली, (10) नाथद्वारा शैली।

1. जयपुर शैली—जयपुर और दिल्ली में अकबर के समय से घनिष्ट सम्बन्ध रहा था इसलिये जयपुर की कला पर मुगलों की छाप प्रायः स्वाभाविक सी है किन्तु कई रूपों में समान होते हुए भी जयपुर शैली अपनी मौलिकता रखती है। समयानुसार शिकार व सवारी के ठाट बाट मुगलों से मिलते जुलते हैं। औरंगजेब

के समय में जब मुगल दरबार में कला का महत्त्व प्रायः समाप्त सा हो गया त कलाकार दिल्ली छोड़ कर जयपुर आदि राजस्थान के समृद्ध केन्द्रों में आ गये औ जयपुर के महाराजाओं ने उन्हें प्रोत्साहन व संरक्षण प्रदान किया। मिर्जा राज जयसिंह, अजीतसिंह, विजयसिंह, मानसिंह, सवाई जयसिंह और ईश्वरीसिंह जै कला प्रेमी राजा जयपुर में हुए जिनके सान्निध्य में ढूढार प्रदेश में कला का विका हुआ। जयपुर के चित्रों में म्यूरल्स, वैराठ तथा मोजमाबाद के फिरसकोज अत्यधि प्रसिद्ध है। अजीतसिंह के समय मे अन्तःपुर की रंगरेलियाँ, स्त्रियों के स्नान औ होली के खेलों ने राग रंग को वह माधुर्य प्रदान किया जो अचेतन मे भी आवेश भ देता है। विजयसिंह और मानसिंह के समय में श्रृंगार और भक्ति रस ने जोर मार और लाल व पीले रंगों के प्रयोगों से स्त्रियों के गठीले अंगों का मोहक प्रदर्शन किय गया। आमेर में बने लघु चित्र भी, जो किसी न किसी घटना की स्मृति में बनाये जाते थे चित्रकला का एक लोकप्रिय अंग थे। महाराजा ईश्वरीसिंह के समय में तं प्रकृति चित्र, व्यक्ति चित्र, और प्रतीक चित्रों की प्रधानता रही। जयपुर शैली में पुरुष गलमुच्छ, ऊँची पगडी (तुर्रेदार), जामा व दुपट्टा धारण किये उन्नत ग्रीवा ताम्रवर्णी रग व सुदृढ कन्धे वाले बनाये जाते थे। नारी का चित्रण भी मनमोहक था। कमर तक केशों का फैलाव, मादक बड़े-बड़े नेत्र, उभरे हुए अधर, नथनी धारे नाक, विकसित यौवन और पतली कटि इस शैली की विशेषता थी। स्त्री पुरुष के अतिरिक्त सामाजिक जीवन भी जयपुर शैली की विशेषता है। कुम्हार, धोबी, नाई मिस्त्री सुनार, पनिहारी, दुकानदार, माली, लकड़हारा, किसान, ग्वाला और सैनिक आदि के जीवन की घटनाओं को भी प्रदर्शित किया जाता था। इस शैली के मुख्य विख्यात कलाकारों में साहिबराम, लालचन्द, सालगराम, घासी, रघुनाथ, राम सेवक आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार जयपुर शैली लाल व पीले रंगों में स्त्री पुरुष, सामाजिक, व्यक्तिगत, धार्मिक एवं रस-श्रृंगार में बहुत प्रगति पर थी जिस पर मुगल घरानों का प्रभाव होते हुए मौलिकता थी।

2 किशनगढ़ शैली— किशनगढ़ का छोटा सा नगर व राज्य अजमेर और जयपुर के बीच में है। इस नगर को बसाने वाले राठौड़ राजा जोधपुर के वंशज थे किन्तु कला के क्षेत्र में किशनगढ मारवाड़ के अधीन नही रहा अपितु राजस्थान के अन्य राज्यों से कही आगे निकल गया। कला व सौन्दर्य की दृष्टि से यहाँ के चित्र बड़े आकर्षक व प्रभावशाली है। इस नगर के संस्थापक राजा रूपसिंह काव्य, कला और भक्ति में विशेष श्रद्धा रखते थे। शक्ति और आराधना को एक साथ कला में उतार कर रूपसिंह ने अपने व्यक्तित्व का परिचय दिया। इनके दरबार मे दूर-दूर से कलाकार आकर आश्रय पाते थे। इनके समय मे राधाकृष्ण की आराधना के अनेक चित्र बने थे। इनके पुत्र सामन्तसिंह भी अच्छे कला पारखी थे। राजा होने के साथ साथ ये परम भक्त भी थे और सारे राजस्थान में भक्त नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध थे। सामन्तसिंह या भक्त नागरीदास का शासनकाल 1699 से 1764 ई० तक

था। उनके समय में विख्यात कलाकार निहालचन्द हुए जिन्होंने भक्त नागरीदास और उनकी प्राण प्रेयसी बनी ठनी को राधा और कृष्ण का रूप देकर उनके जीवन को चित्रबद्ध कर डाला जो युग युगान्तर के लिये अपने आप मे एक नवीन शैली का रूप धारण कर राजा उसकी प्रेयसी और कलाकार तीनों को अमर बना गयी। राजा नागरीदास उच्चकोटि के भक्त महान तपस्वी सन्त, परम कला पारखी और भावुक कवि हृदय थे। इनके गीत आज भी राजस्थान मे गाये जाते हैं। ये उद्भट प्रेमी भी थे तथा अपनी प्रिया बनी ठनी में राधा का रूप देखते थे। चित्रकारों ने अपने राजा की साधना को सफल बनाने हेतु उसकी आराधना को इस प्रकार सुन्दर चित्रों में उतारा कि वह सब राजस्थान की उत्तम शैली बन गयी। चित्र ब्रजभाषा के गीतों को विषय मानकर बनाये गये है जिनमें घनी वृक्ष माला, बड़ी-बड़ी अट्टारिकाओं और रात में राजाओ के रंगीन जीवन की झाँकियाँ दिखाई गयी हैं। नरसीदास और बनी ठनी के वृन्दावन से सम्बन्धित चित्र-कला को सर्वोच्च शिखर पर बैठा देती है। किशनगढ़ शैली में स्त्री पुरुष के आकर्षक रूप बनाये जाते थे। नारी के चित्रण में लम्बी नाक, कजरारे बाँके नयन, मधुर मुस्कानमय अधर, पतले कपोल, क्षीण कटि पर उन्नत उरोज देखते ही मन भाते हैं। प्रकृति चित्रण के कमल से भरे सरोवर, पक्षियों की पाँतें, खेतों से हरी भरी धरती, फूलों से लदे उपवन और चाँद-तारों से भरा आसमान व दूध जैसी चाँदनी, इस शैली की विशेषता रही है। इस शैली की विशेषता नारी के मादक नयन हैं जो अपनी विशालता व वशीकरण के लिये विख्यात हैं। साधारणत: यहाँ के कलाकार गुलाबी और सफेद रंग का प्रयोग करते थे। राजा कृष्ण के परम भक्त थे। यही कारण है कि उनका नगर कृष्ण गढ़ या किशनगढ़ कहलाया।

3. मारवाड़ शैली—कुछ लेखक इसे जोधपुर शैली कहकर भी सम्बोधित करते हैं। सन् 1000 से 1500 ई० के बीच सारे राजस्थान में चित्रकला का विकास बहुत हुआ और भोजपत्र, ताडपत्र आदि पर काव्य व धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर चित्र बनाये जाने लगे। इसी समय मारवाड़ पर मेवाड़ का राजनीतिक प्रभाव भी रहा। महाराणा मोकल से लेकर राणा सांगा मारवाड़ और मेवाड़ की चित्र-शैली एक सी थी। लेकिन मालदेव के समय में 1531 से 1562 ई० के बीच मारवाड़ में स्वतंत्र चित्र-शैली का जन्म व विकास हुआ। जोधपुर के राजाओं मे मालदेव, चन्द्रसेन, मानसिंह, तखतसिंह, जसवंतसिंह और अजीतसिंह जैसे प्रभावशाली राजा हुए जिनके संरक्षण मे कला का सर्वांगीण विकास हुआ। ये राजा वीर तो थे ही किन्तु काव्य और कला में भी विशेष रुचि रखते थे। इन राजाओं के दरबार में अनेक कलाकार थे जिन्होंने, युद्ध-शिकार, राग-विलास और राधाकृष्ण की चित्र-कला को जाग्रत किया। नागौर में प्राप्त सचित्र पोथियाँ व जालोर के जैन कल्प सूत्र आज भी मारवाड़ की कला के उज्जवल नमूने हैं। जोधपुर के अतिरिक्त नागौर, जालौर, मेड़ता, कुचामन आदि भी कला के उत्तम केन्द्र थे। इसीलिये इसे जोधपुर शैली न

कहकर मारवाड़ी शैली कहना अधिक उत्तम है। नागौर की सचित्र, पोथियों में राजा रसालू की बात, चोबोली री कथा. विक्रमादित्य की वार्तासिन, कुंवर की वार्ता, चकवा चकवी री वार्ता, आदि कथाएँ मौलिक हैं। इस शैली में रामायण, महाभारत की कथा पर आधारित अनेक चित्र मिले हैं और साथ ही अनेक भीत्ति चित्र भी प्राप्त हुए हैं। राजाओं के जीवन का चित्रण सविस्तार देखने को मिलता है। अमरसिंह राठौड़, वीर दुर्गादास, पाबूजी, हड़्बू जी, गूगा जी, राव मल्लिनाथ जी आदि वीरों के चित्र बनते थे। प्रेम व शृंगार में यह किशनगढ़ शैली से पीछे नहीं थी। मूमल देव, निहालदेव के चित्रों की शैली विख्यात थी। साथ ही ढोला-मारु की प्रेम कथा के विभिन्न चित्र दर्शकों को स्तब्ध रख देते थे। मारु का अपने प्रियतम ढोला को सरोवर के श्वेत पक्षी कुरजां द्वारा संदेश भेजना और ढोला का मारु को आधी रात गये महल से उठाकर ले जाना आदि प्रभावशाली चित्र इसी शैली की देन हैं। यहाँ तक कि कल्प सूत्र के अनेक अंशों को भी चित्रों में परिणित किया गया। जोधपुर में जहाँ पुरुष स्वस्थ गठाचर और आभूषणों से अलंकृत होते थे वहाँ नारी का कद लम्बा, तलवार से तीखे नयन, पारदर्शक कसी हुई कंचुकी में स्वस्थ वक्ष, क्षीण कटि और लम्बी भुजा दिखाई गयी है। मारवाड़ में ऊँटों, हाथियों तथा घोड़ों पर राजा की सवारी का विशेष प्रदर्शन किया गया है। पक्षियों में हंस और मोर दिखाये गये हैं। पुरुषों के मूँछ और दाढी दिखाई गयी है। सन् 1591 ई० में उत्तराध्ययन सूत्र चित्रित किया गया। चोपेला महल में छतों व बल्लियों पर राम रावण युद्ध का भावपूर्ण चित्रण किया गया है जो मालदेव के समय का है। मारवाड़ के अधिकांश चित्रकार भाटी वंश के थे जिनमें किशन, शिवदास और देवदास का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। *यहाँ लाल व पीले रंग का प्रयोग अधिक होता था* और हाशिये या सीमा में छोटे-छोटे पक्षियों की पंक्ति बनाई जाती थी।

4 मेवाड़ शैली—यदि हम चित्तौड़ के प्राचीन महलों को देखें तो हमें मेवाड़ की समृद्ध शैली फूलों की पंखड़ियों में बिखरी मिलेगी जो सदियों के युद्ध के विपरीत आज भी ताजा नजर आती है। उदयपुर के राणा अमरसिंह, संग्रामसिंह, अरसीसिंह और भीमसिंह ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। यहाँ के राणा प्रायः कृष्ण के उपासक थे अतः सूर के पदों पर *आधारित कृष्ण लीला* यहाँ *की चित्रकला* का आकर्षण रहा है। बिहारी सतसई, पंचतंत्र की कहानियाँ, पृथ्वीराज रासो, नल दमयन्ती और मीरा की जीवनी यहाँ के चित्रकारों के प्रिय विषय थे। ये छोटी से छोटी घटना को इस विस्तार के साथ प्रस्तुत करते थे कि उनकी कल्पना की उड़ानों की सराहना किये बिना नहीं रहा जा सकता। चित्रकार यहाँ कृष्ण को नायक बना-कर उसे हर रस में अंकित करते थे। इस शैली में बड़ी नाक, परवल की बड़ी आँख से नेत्र, लम्बी घुमावदार ऊँगलियाँ और गहनों की अधिकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पक्षियों में चकोर, हंस और मोर तथा जानवरों में हिरण व हाथी अधिक दिखाये जाते थे। मेवाड़ के चित्रों में श्रम कम और रस अधिक दिखाये गये हैं। इस

शैली ने भक्ति रस को एक नया मार्ग दिया है। मेवाड़ में कला का विकास सबसे पहिले महाराणा अमरसिंह के समय मे मेवाड़ की राजधानी चावंड में हुआ। श्री गोपीचन्द कानोड़िया ने मेवाड़ के अनेक चित्र अपने पास कलकत्ता में सुरक्षित रख रखे हैं तथा अनेक चित्र राणाओं के महलों में सुरक्षित है जिन्हें देखकर स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ में चित्रकला का विकास तेरहवीं शताब्दी से हुआ था। सर्वप्रथम रागमाला चित्र बने जो आज भी बड़ोदा के संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। राम-रावण युद्ध, सीता हरण आदि के चित्रों पर तो मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट है और रावण एक मुसलमान फकीर के समान लगता है। कुछ लोग मेवाड़ पर अजन्ता शैली का भी प्रभाव मानते हैं जो काफी निकट ही थी।

5. बीकानेर शैली—बीकानेर की शैली का अध्ययन करते समय हमें दो बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो यह कि मारवाड़ के ही राठौड़ बन्धु बीकानेर में शासन करने लगे थे अतः बीकानेर की कला पर मारवाड़ का प्रभाव स्पष्ट व स्वाभाविक था। दूसरा यह कि मुगलों की अधीनता में आकर बीकानेर के शासक अधिकतर दक्षिण भारत में रहते थे जिसके फलस्वरूप उनके जन जीवन और कला पर दक्षिण का भी प्रभाव था। इस शैली में कई चित्र मुगल शैली की नकल मात्र हैं। उनमें चित्रों में प्राण मन्द गति से संचारित होता दिखाई देता है। चित्रकला के विषय कृष्ण लीला, भागवत गीता, पौराणिक कथाएँ, आखेट, काम-सूत्र, रसिक प्रिया, और रागमाला के शृंगार मय चित्र थे। पुरुष आकृति जोधपुर जैसी लम्बे कद की बनती थी और नारी आकृति पर भी जोधपुर का भारी प्रभाव था। लम्बी वेणी, विशाल नेत्र, मोटी गरदन, उभरा वक्षस्थल और कसी हुई कंचुकी के नीचे घेरावदार लटकता हुआ लहंगा नारी का सरल स्वरूप था।

राग रागनियों में बीकानेर में मांड मालकोष और दीपक का चित्रण उल्लेखनीय है। इन चित्रों में साहित्यिक भावना भी है। डॉ० कुमार स्वामी अपनी पुस्तक 'राजपूत पेन्टिग्ज' में लिखते हैं कि "बीकानेर शैली अपने व्यक्तित्व का बोध कराती है और इसका दृष्टिकोण अत्यन्त मार्मिक है।" यहाँ पर चित्रकार अधिकतर मुसलमान थे। बीकानेर में राजा रायसिंह, कर्णसिंह और कल्याणमल ऐसे शासक हुए हैं जिन्होंने चित्रकला को पूरा संरक्षण प्रदान किया। यद्यपि बीकानेर के चित्र जोधपुर और मुगल शैली से प्रभावित हैं किन्तु फिर भी इनकी सुन्दरता इन्हें अलग एक श्रेणी देती है। इस शैली के चित्रकार अपने चित्रों पर अपना नाम व तारीख भी लिख देते थे। बीकानेर की शैली का समृद्ध स्वरूप हमें राजा अनूपसिंह के समय में देखने को मिलता है। फव्वारे व दरबार के दृश्यों में दक्षिण का प्रभाव स्पष्ट है तो पंजाब के पास होने से वहाँ की छाया भी चित्रों में मिलती है। प्रमुख चित्रकारों में अलीरज़ा, हसन और रामलाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

6. कोटा शैली—हाड़ौती संस्कृति की भाँति कोटा की चित्रकला भी राजस्थान में अपना स्वतन्त्र स्थान रखती है। इस शैली को हाड़ौती शैली भी कहते हैं। यह आगे चलकर दो भागों में बट गयी जो कोटा व बूंदी शैली कहलाई। यहाँ

हम सिर्फ कोटा का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। कोटा में मथुराधीश (कृष्ण) का सुप्रसिद्ध मन्दिर है। इसी मंदिर में प्रेरणा लेकर चित्रकारों ने दर्शन झांकी, सेवा के चित्र और रासलीला का चित्रण अधिक किया है। यहाँ की कला सदा भक्ति प्रधान रही है। मंदिर के पुजारी गोसाइयों के राजा जैसे ठाटबाट भी यहाँ की चित्रकला के प्रमुख केन्द्र बन गये। चित्रकला के विषयों में धार्मिक कथाएँ, दरबार के दृश्य, आखेट और राजमहलों की दीवारों पर बने भित्ति चित्र थे। इन भित्ति चित्रों में विख्यात एवं श्रेष्ठ चित्र 'संगीत साधना', 'बेटी की विदाई', 'पैर का काँटा निकालती नारी' स्नेहालिंगन, 'श्रृंगार वेला का प्रतिबिम्ब', और 'राग तोड़ी' है। कोटा में 1800 से 1950 तक चित्रकला का अत्यधिक विकास हुआ। इन 150 वर्षों में कोटा शैली नारी की सुन्दरता व्यक्त करने में सबसे आगे निकल गयी। रीतिकाल के कवियों ने नारी का जो वर्णन किया है कोटा के चित्रकारों ने उसे हू-ब-हू चित्र में उतार दिया है। अनेक नारी चित्र अंगड़ाई लेते हुए या वृक्ष की टहनी पकड़े दिखाये गये है। यह कला कोटा में जन-जन में फैली हुई थी जिसने कोटा को कला का एक केन्द्र बना दिया। नीला, हरा, लाल, सुनहरी, व काला रंग काम में लिया जाता था। कम परिश्रम से तैयार किये ये चित्र अनायास ही आँखों को अपनी ओर खींच लेते है जिसके फलस्वरूप कोटा शैली अमर हो गयी। हाड़ौती में रंगों का प्रयोग बड़े सुन्दर ढग से किया गया है। जालिमसिंह के समय में उसकी हवेली की दूसरी मंजिल मे जो चित्र बने है उन्हें देखकर शासकों के संरक्षण का पता चलता है। यहाँ के महलो के निर्माण में गुम्बजों को देखकर पता चलता है कि इनमे फारस का प्रभाव भी था। कोटा की नारी का चित्रण मेवाड़ जैसा था। मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद दरबारी ठाटबाट बहुत बढ़ गया था।

7. जैसलमेर शैली—कला के क्षेत्र में राजस्थान का मरु भाग जोधपुर से प्रभावित है। उत्तर व पश्चिम मे कांगड़ा शैली का प्रसार होने से जैसलमेर पर दूसरा गहरा प्रभाव कांगड़ा शैली का है। इस प्रकार मारवाड़ और कांगड़ा शैली की छाया में जैसलमेर शैली का विकास हुआ। जैसलमेर के कलाकार ऊपरी टिपटाप से अपने चित्रों को सुन्दर बनाते थे। वैसे उनकी भावभंगी, रंगो का मिश्रण और रेखाओं का लालित्य उतना आकर्षक नही जितना राजस्थान के अन्य स्थानों पर देखने को मिलता है। मारवाड़ की तरह पुरुषों की आकृति दीर्घ होने से चित्र मन मोहक लगते हैं। अतः इस शैली की विशेषता टिपटाप, दीर्घ आकृति और प्राकृतिक चित्र हैं। जैसलमेर के चित्रकार कल्पना का सहारा लेकर राग रागनियों का चित्रण करते थे। कबूतर उड़ाती नारी, उपवन मे फूल सूंघती नारी, और जंगल में आखेट करता शिकारी यहाँ के मुख्य प्रभावशाली चित्र गिने जाते हैं। यहाँ के पुरुष का चित्र लम्बा कद, तना हुआ सीना, बड़ी-बड़ी दाढ़ी मूँछें, चहरे पर वीररस और सिर पर झुकी हुई पगडी लिये है। प्रकृति में धरती, आकाश, पेड़, पौधे और जानवरों में ऊँट, घोडा और गायों के चित्र अधिक बनते थे। कागजों के अतिरिक्त ये लोग हाथी दाँत और पत्थरों में भी विभिन्न रंग भरकर उन्हें सुन्दर बना देते थे।

8. अलवर शैली—अलवर से मुगलों का सम्बन्ध बहुत निकट का था। इस शैली में मुगल सम्राटों के और उसके अधिकारियों के चित्र आते हैं। औरंगजेब के समय से लेकर भारत में कम्पनी राज्य के अन्त तक (1857 ई० तक) यहां कला का विशेष विकास हुआ। औरंगजेब ने जिन कलाकारों को तिरस्कृत करके दिल्ली से निकाल दिया वे सीधे अलवर जा पहुँचे। अलवर शहर राजा प्रतापसिंह ने बसाया था। उनके पुत्र राजा विनयसिंह कला के महान सरक्षक थे। वैसे जयपुर और अलवर की शैली मे कोई विशेष अन्तर नही है लेकिन दोनों में सदा होड़ लगी रहती थी। यहाँ तिजारा गांव के कलाकार बहुत विख्यात थे जिन्होंने अलवर के राज महलों की दीवारों पर विख्यात चित्रो का संग्रह कर दिया जो पिछले वैभव की स्मृतियों को आज भी सजीव बनाये हुए है। अलवर मे गणिकाओं के चित्र अधिक मिलते हैं। बड़े परिश्रम से बनाये गये इन चित्रों मे गणिकाएँ अत्यन्त आकर्षक हैं। साधु व जन साधारण के चित्र भी बहुत मिलते हैं। हाशियों में बेलबूंटा का प्रयोग और और वसली बनाने में तो ये लोग निपुण थे। यहाँ के विख्यात कलाकारों में डालचन्द सालिगराम का नाम उल्लेखनीय है। हाथी दाँत पर राजा रानी के मुखो की सुन्दर आकृतियां भी खूब बनती थी। सोने के रंग का बहुत प्रयोग होता था तथा रंग चिकने व चमकदार होते थे। अभी तक अलवर के अनेक चित्रों का पता नही लगा है। सामने आते ही ये भंडार सारे राजस्थान की कला पर छा जायेंगे।

9 बूंदी शैली—राजस्थान के दक्षिण पश्चिम मे यह एक छोटी सी रियासत है जिसकी स्थापना 1398 ई० मे हुई थी। यहाँ के राजा कला के पूर्ण विकास मे सहयोग प्रदान करते थे। यहाँ की शैली में अनेक मौलिक रचनाएँ देखने को मिलती हैं। राजा रामसिंह, राव गोपीनाथ, छत्रसाल, और बिशनसिंह आदि ने बूंदी में कला को विशेष प्रोत्साहन दिया। यहाँ की कला के विषयों में प्रमुख रासलीला, शिकार, सवारी, उत्सव हैं। रागनियों में भैरवी व टोड़ी। प्रकृति मे वर्षा का आनन्द, ग्रीष्म का कष्ट व शीत का प्रकोप दिखाया जाता था। घने जगलो मे हिरण, शेर, हाथियो और खुले व मेघाछन्न नभ मे पक्षियो की उड़ान दिखाई जाती थी। वर्षा में नाचता हुआ मोर जितना सुन्दर बूंदी में दिखाया गया है उतना सारे देश में अन्यत्र कहीं नही मिलता। मकानों, बाजारों और ग्रामो का चित्रण भी आकर्षक है। यहाँ के नर नारी का रूप अपना अलग आकर्षण व अस्तित्व रखता है। बूंदी की कला उन वीरों के गुण गाती है जो रसिक और प्रेमी होते हुए भी वीर थे। कला के माध्यम से यहाँ रस बरसाया गया, प्यार उभारा गया किन्तु इसके विपरीत देश रक्षा के लिये प्रेमियों ने हँसते-हँसते प्राण दे दिये। ये रोचक गाथाएँ बूंदी की कला को अमर बना देती है।

10 नाथद्वारा शैली—उदयपुर के निकट पहाड़ियों के आँचल मे छिपा यह श्री नाथजी का स्थान जहाँ देवताओं का निवास स्थान है वहाँ इस रमणीक स्थान पर मेवाड़ की कला की एक वरिष्ठ शाखा स्वतंत्र रूप धारण कर अमर हो गयी।

उस देव-स्थान पर सारे भारत के असंख्य नर नारी आते जाते रहते हैं। यहाँ की चित्रकारी में भक्तों ने अनेक अवतारों की लीलाओं का रोचक वर्णन किया है। प्रकृति के भावपूर्ण प्रदर्शन में भी नाथद्वारा पीछे नहीं है। न तो यहाँ राग रागनियों का जमघट है और न ही प्रेम कथाओं ने यहाँ के कलाकारों को वशीभूत किया। यहाँ तो कृष्ण का जीवन, नन्द की गायें, यमुना तट पर वंशी, माखन चोरी, गोपियों से रास और कंस-वध आदि पर ही केन्द्रित हैं। प्राकृतिक चित्रण भी उत्तम थे किन्तु उनमें व्यावसायिकता आने से वे सस्ते और भावहीन होते गये। नाथद्वारा में मुख्यतः कृष्ण-यशोदा के चित्र हैं। कृष्ण की भव्य आकृति, गोपियों का मोहक रूप, पशु-पक्षियों की छवि सब मिलाकर नाथद्वारा को अन्य धार्मिक शैलियों से आगे निकाल देती हैं। कृष्ण की लीला का जितना मोहक रूप यहाँ बताया गया है उतना अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। कृष्ण लीला के चित्रों में मौलिकता और कल्पना की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। यह कला किसी व्यक्ति विशेष की देन न होकर समय, धर्म और स्थान के कारण विकसित हुई थी।

राजस्थानी चित्रकला की विशेषताएँ—डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि "राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बड़ा समृद्ध प्रान्त है। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि इस चित्रकला की निधि को, जो अनेक राज प्रासादों की भित्तियों तथा संग्रहालयों में सुरक्षित है टटोला जाय।"[1] मुगल व विदेशी प्रभाव में पली इस राजस्थानी चित्रकला के लिये विदेशी पारखियों का मत भिन्न है। श्री लारेंस बिनियन कहते हैं कि—"राजस्थानी शैली शुद्ध भारतीय है। ईरानी या मुगल शैली का इस पर कोई प्रभाव नहीं।" राजस्थानी कलाकार की प्रशंसा करते हुए राय कृष्णदास कहते हैं कि—"राजस्थानी कलाकार को सम्मान और प्रसिद्धि की कामना नहीं रही। वह कला की सेवा को ही एक प्रसिद्धि का कारण मानता रहा है। यह विशेषता राजस्थानी कला की मौलिक एकता का प्रमुख आधार है।"[2]

श्री नाथूराम व्यास अज्ञात; अपनी पुस्तक भारतीय चित्रकला के पृष्ठ 76 पर राजस्थानी चित्रकला की विशेषता बताते हुए लिखते हैं कि—"यह विशुद्ध भारतीय शैली है और भारतीयता की छाप इसके प्रत्येक चित्र से लक्षित होती है।" संक्षेप में इस कला की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—यह शुद्ध भारतीय कला है। धर्म प्रधान शैलियाँ हैं। रागमालाओं का चित्रण अन्य स्थानों से श्रेष्ठ है। घरेलू चित्रों में अनोखापन व वास्तविकता भरी पड़ी है। इसके विषय जानदार, ठोस और लोक-

---

1. डॉ० गोपीनाथ—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 620.
2. राय कृष्णदास—भारत की चित्रकला, पृष्ठ 58.

प्रिय हैं। रंग योजना बेजोड़ और चातुर्य पूर्ण है। रेखाओं की बारीकी और नायिकाओं का अलंकरण सराहनीय है। अन्त में यह भी मानना पड़ेगा कि काव्य ग्रन्थों को चित्रों में बड़ी चतुराई से उतारा गया है।

डॉ० वी० एस० भार्गव का कहना है कि यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि "सामाजिक जीवन का चित्रण जैसा राजपूत चित्रकला में हुआ है वैसा किसी अन्य शैली में दिखाई नहीं पड़ता। रंगों की चटक, आँख की आकृति, इस शैली की अपनी अनूठी विशेषता रही है।"[1]

---

1. डॉ० वी० एस० भार्गव—राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, पृष्ठ 242.

27

जालिमसिंह (1740–1824)

1. परिचय—"कोटा राज्य के साथ जालिमसिंह का घनिष्ठ सम्बन्ध था और इस राज्य के इतिहास के साथ उसके कार्यों का ऐसा मिश्रण है, जिससे उसके नाम के प्रति किसी प्रकार की उपेक्षा तथा अवहेलना नहीं की जा सकती। वास्तव में जालिमसिंह इतनी अच्छी राजनीति जानता था कि वह कहीं पर भी रहकर अपनी मर्यादा कायम कर सकता था।"[1]

जालिमसिंह का जन्म कोटा में सन् 1740 ई० में हुआ था। वह पृथ्वीसिंह झाला का दूसरा पुत्र था। उसके जन्म का वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में युग परिवर्तन का वर्ष गिना जाता है जब दिल्ली में नादिरशाह का भयानक आक्रमण हुआ और मुस्लिम साम्राज्य के ढलते हुए सूर्य के साथ भारत में अंग्रेजी आधिपत्य का आरम्भ हुआ था। जालिमसिंह के पड़दादा भावसिंह सौराष्ट्र के रहने वाले थे और हलवद के साधारण सामन्त थे। भावसिंह पच्चीस सैनिक सवारों को साथ लेकर हलवद से दिल्ली चला गया और उत्तराधिकार युद्ध में मुगल शहजादों की सहायता करने लगा। भावसिंह का लड़का माधवसिंह अपने पच्चीस सवारों के साथ कोटा आ गया। यह लगभग 1696 ई० मे कोटा आया था और इस समय महाराव भीमसिंह कोटा के राजा थे। जालिमसिंह के दादा को भीमसिंह ने अपनी सेना मे फौजदार नियुक्त किया। क्योंकि माधोसिंह झाला वंश का राजपूत था। इसलिए कोटा महाराव ने उसे दरबार मे सम्मानित पद दिया। आपसी स्नेह बढ़ता-बढ़ता पारिवारिक गठबन्धन के रूप में बदल गया और महाराव भीमसिंह ने उसे अपना समधी बनाकर अपने पुत्र अर्जुनसिंह का विवाह माधवसिंह की लड़की से कर दिया और माधवसिंह को नाणता नगर दे दिया। यहीं से झाला परिवार का महत्त्व कोटा दरबार मे बढ़ता गया। माधवसिंह के साहस, नीति निपुणता और समझदारी से प्रभावित होकर कोटा नरेश भीमसिंह ने उसे अपना सेनापति बना दिया और जालिमसिंह के दादा का महत्त्व बहुत बढ़ गया। यहाँ तक कि वह जिस दुर्ग मे रहता था उस दुर्ग पर उसका अधिकार मान लिया गया। यही से झाला परिवार का सम्मान कोटा मे बढ़ता गया। माधवसिंह औरंगजेब की मृत्यु के समय 1707 ई० में कोटा आया था और लगभग 33 वर्ष तक कोटा का सेनापति रहकर वह 1740 ई० मे परलोक सिधार गया। इस बीच 1720 ई० में महाराव भीमसिंह का भी देहान्त हो गया और उनके निर्बल व अयोग्य उत्तराधिकारियों के बीच

[1] टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 790

हलवद का यह झाला परिवार कोटा का सर्वेसर्वा बन गया। फौजदार से सेनापति और सेनापति से ये लोग राजघराने के संरक्षक बन गये।

माधोसिंह के बाद उनका लड़का मदनसिंह कोटा का सेनापति बना। सामान्यतः यह परम्परा थी कि पिता की मृत्यु के बाद पुत्र ही उसकी उद्दी पर बैठता था। किन्तु मदनसिंह अधिक समय तक न रहा और सिर्फ 13 वर्ष तक राज्य का भार सम्भालने के बाद 1753 ई० में उसका भी देहान्त हो गया। मदनसिंह के दो लड़के थे, हिम्मतसिंह और पृथ्वीसिंह। हिम्मतसिंह केवल 5 वर्ष तक सेनापति रहकर चल बसा। इसका देहान्त 1758 ई० में हुआ था। इसके कोई सन्तान नहीं थी और इसने मृत्यु से पहले अपने छोटे भाई पृथ्वीसिंह के छोटे लड़के जालिमसिंह को गोद ले लिया था। इस प्रकार 1758 ई० में 18 वर्ष की अवस्था में जालिमसिंह कोटा का सेनापति बना। जालिमसिंह के पिता पृथ्वीसिंह का देहान्त भी इस वर्ष से पहले ही हो चुका था।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सौराष्ट्र के मामूली ठिकाणें हलवद के झाला परिवार का यह युवक जो हिम्मतसिंह का दत्तक पुत्र था, अठारह वर्ष की अवस्था में कोटा राज्य का सेनापति बना। अपनी योग्यता से इसने अपने आपको कोटा ही नहीं सारे राजस्थान का सर्वेसर्वा बना लिया और लगभग 66 वर्ष तक कोटा में राज्य कर 1824 ई० में 84 वर्ष की अवस्था में इसका देहान्त हुआ।

नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि जालिमसिंह कोई निर्दई, अत्याचारी और कठोर शासक होगा। उसके विरुद्ध अनेक आन्तरिक संगठित विद्रोह भी हुए थे किन्तु जिस दूरदर्शिता, शौर्य और राजनीतिक चेतना से उसने सभी विद्रोहियों का दमन कर 66 वर्ष तक कोटा राज्य के भाग्य की बागडोर को संभाले रखा वह सराहनीय ही नहीं अद्वितीय है। सारा देश अनिश्चितता के अंधेरे में डांवाडोल था। उसके जन्म के साल 1740 में नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल राज्य की कमर तोड़ दी थी और जिस वर्ष वह कोटा का सेनापति बना (1758 ई०) उस साल प्लासी की लड़ाई जीतकर अंग्रेज भारत की ताजपोशी के मीठे सपने लेने लगे थे और दूसरी तरफ मराठे अपने आतंककारी प्रयत्नों से देश को अपने कदमों में झुकाने पर तुले हुए थे। दिल्ली और महाराष्ट्र के बीच राजपूतों की स्वाधीनता की लग्न नायक और नायिका (मराठे और दिल्ली) के बीच खल नायक सी अड़ी हुई थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में कोटा की रक्षा व प्रगति करने वाले इस झाला सरदार ने अपनी कूटनीति से मराठों को मित्र बनाये रखा और पड़ोसी राजपूत राज्यों से अपने राज्य की रक्षा कर जिस सफलता का गौरव प्राप्त किया उसने जालिमसिंह को कोटा राज्य के इतिहास में अमर बना दिया। उसके सेनापति व मन्त्री काल में कोटा मे चार महाराव बदले और इन चारो के समय में जालिमसिंह का प्रभाव बढ़ता गया। ये चार शासक निम्नांकित हैं—

(1) महाराव शत्रुशाल ने 1757 से 1763 ई० तक सिर्फ 6 वर्ष राज्य किया। ये दुर्जनशाल के गोद लिए हुए पुत्र थे।

(2) महाराव गुमानसिंह 1764 से 1770 ई० तक।

(3) महाराव उम्मेदसिंह 1770 से 1819 ई० तक 49 वर्ष तक राज्य किया। राज्याभिषेक के समय इनकी आयु सिर्फ दस वर्ष की थी और यह 50 वर्ष का समय जालिमसिंह की शक्ति की चरम अवस्था थी जिसने उसके शासनकाल को अमर बना दिया।

(4) महाराव किशोरसिंह द्वितीय ने 1819 से 1827 ई० तक राज्य किया।

इन चार राजाओं के समय जालिमसिंह ही प्रायः कोटा का सर्वेसर्वा था। चार पीढ़ी तक कोटा राज्य का संरक्षक बने रहने वाले इस झाला सरदार का मूल्यांकन हम उसके निम्नांकित कार्यों का अध्ययन करके कर सकते हैं। जालिमसिंह के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—

1. **भटवाड़ा युद्ध**—(17 दिसम्बर, 1761 ई०) जालिमसिंह को सेनापति बने अभी तीन ही साल हुए थे कि उसे अपने समय का सबसे भयंकर युद्ध लड़ना पड़ा। यह युद्ध जयपुर और कोटा राज्य के बीच लड़ा गया। वैसे भी 1761 ई० भारत के इतिहास में अपना महत्त्व रखती है जब पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की शक्ति को भारी आघात लगा था। कुछ समय के लिए ऐसा आभास होने लगा कि मराठा शक्ति समाप्त प्राय हो गई है। इस अवसर से लाभ उठाकर जयपुर नरेश माधोसिंह ने राज्य विस्तार नीति का अनुकरण शुरू कर दिया। यदि हम इस युद्ध के कारणों को देखें तो स्पष्ट विदित होगा कि जयपुर नरेश माधोसिंह की राज्य-विस्तार नीति के कारण तथा मराठों की शक्ति क्षीण हो जाने के कारण कोटा और जयपुर के बीच में यह युद्ध हुआ। सन् 1744 में बूंदी राज्य के उत्तराधिकार युद्ध में कोटा-नरेश दुर्जनशाल ने भाग लेकर जयपुर की मनोकामनाओं को पूरा नहीं होने दिया था और राव उम्मेदसिंह हाड़ा को बूंदी की गद्दी पर वापस बिठा दिया था। तभी से जयपुर और कोटा राज्य की शत्रुता चली आ रही थी। इस प्रकार बूंदी का प्रश्न भी जयपुर और कोटा की शत्रुता का एक कारण बन गया और अपने पूर्वजों की असफलता का बदला लेने के लिए जयपुर नरेश माधोसिंह ने भी एक विशाल सेना के साथ कोटा पर आक्रमण किया। यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि औरंगजेब के समय तक कोटा व बूंदी के राव मुगल दरबार में सामन्तों की तरह रहते थे और सामान्यतः अजमेर प्रान्त में इनकी जागीरें गिनी जाती थी। जिसके सूबेदार जयपुर नरेश होते थे। इस दृष्टि से भी जयपुर नरेश अपने आपको कोटा का स्वामी या शासक मानकर चलते थे। किन्तु मुगल साम्राज्य के विघटन के साथ-साथ कोटा नरेशों ने जयपुर को अपना अधि-कारी मानने से मना कर दिया और पड़ोस के राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर

जयपुर को और अप्रसन्न कर दिया। इसके अतिरिक्त महाराजा सवाई जयसिंह के समय से चली आ रही वृहत जयपुर की नीति इस युद्ध का मूल कारण थी। इसी नीति के अन्तर्गत राजा ईश्वरीसिंह ने मराठों की सहायता से 1744 ई० मे 61 दिन तक कोटा नगर का घेरा डाला था और कोटा के निकट कोटड़ी गांव में जयपुर व कोटा की सेनाओं में युद्ध हुआ था जिसमे सफलता न मिलते देखकर मराठों ने सैन्य खर्च के चार लाख रुपये लेकर कोटा से सन्धि कर ली थी। इन सब पराजयो का बदला लेने के लिए जयपुर नरेश माधोसिंह ने 1761 ई० में फिर से कोटा पर आक्रमण किया। यदि हम संक्षेप में इन कारणों को गिनें तो इस प्रकार होगे—

(1) महाराजा सवाई जयसिंह की 'वृहत जयपुर' नीति।

(2) बूंदी उत्तराधिकार युद्ध में जयपुर की पराजय और कोटा की विजय।

(3) पानीपत की लड़ाई 1761 से मराठों की शक्ति का क्षीण होना।

(4) कोटा का मुगल दरबार में साधारण सामन्त होकर अजमेर के अधीन गिना जाना।

(5) कोटड़ी के युद्ध में 1744 मे जयपुर की कोटा विजय योजना का असफल रहना।

(6) जयपुर नरेश का रणथम्भोर, खेतड़ी, इन्द्रगढ़, खातोली, गैंता आदि हाड़ा जागीरों पर अधिकार कर लेना तथा कोटा को भी अपना सामन्त बनाने की चेष्टा करना।

(7) जिन हाड़ा जागीरों को जयपुर नरेशो ने जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उन पर अधिक सख्ती की जाती थी अतः ये सरदार अपनी जागीरें छोड़-छोड़ कर कोटा में आ गये थे और कोटा नरेश से बार-बार यह अनुरोध करते थे कि वे इन जागीरो को पुनः जयपुर के चंगुल से निकाले। इन सरदारो ने जयपुर नरेश को कर देना बन्द कर दिया। सब सरदारों ने कोटा की अधीनता मे रहना स्वीकार किया और नालू व बूंदी सदा के लिए कोटा नरेश शत्रुशाल को दे देने का वादा किया। इस दिशा मे अपने अधीन जागीरदारों की रक्षा के लिए कोटा नरेश ने भी जयपुर से युद्ध करने का निर्णय किया।

(8) जब जयपुर नरेश माधोसिंह को कोटा और अन्य जागीरदारों की गुटबन्दी का पता चला तो उसने एक विशाल सेना के साथ 1761 ई० में कोटा पर आक्रमण कर दिया तथा उणियारा पर अधिकार कर लिया फिर कोटा राज्य के दूसरे भाग लाखेरी पर भी अधिकार कर लिया। लाखेरी अब तक मराठों के अधीन था किन्तु मराठे इस समय पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली से उलझ रहे थे। इस प्रकार राजस्थान में मराठों की अनुपस्थिति ने कोटा और

जयपुर का संघर्ष अनिवार्य कर दिया। यदि मराठे पानीपत मे नहीं लड़ते तो कोटा जयपुर युद्ध भटवाड़ा में कभी नही होता।

मुगल शक्ति का पतन, मराठों की पराजय, वृहत जयपुर की भावना, विस्तारवादी नीति, कोटड़ी की पराजय, हाड़ा जागीरदारो का अनुरोध, बूँदी का उत्तराधिकार प्रश्न आदि बातो ने भटवाड़ा में माधोसिंह और जालिमसिंह को लड़ा दिया।

जयपुर की सेना ने चम्बल और पार्वती नदी के संगम स्थान से कोटा राज्य में प्रवेश किया। जयपुर की सेना में 60,000 घुड़सवार, हाथी, तोपखाना व पैदल सैनिक थे जबकि जालिमसिंह की सेना की संख्या केवल 15,000 मात्र थी। जयपुर नरेश भीमसिंह ने इस आक्रमण में मराठा सरदार मल्हार राव होल्कर से सहायता माँगी थी। मल्हार राव सेना लेकर आ भी गया था किन्तु जालिमसिंह ने अपनी कूटनीति से उसे तटस्थ कर दिया और मल्हार राव ने यह वादा किया कि वह मैदान से दूर खड़ा रहेगा और यदि जयपुर की सेना हार गयी तो उसे लूट लेगा। इस निर्णय से जयपुर की सेना हतोत्साही हो गयी और जालिमसिंह की हिम्मत बहुत बढ़ गयी। एक ही दिन, 17 दिसम्बर 1761 ई० के निर्णायक युद्ध में जयपुर की सेना की भारी पराजय हुई और उसे मैदान छोड़कर भागना पड़ा। इस युद्ध मे बूँदी की सेना भी आई थी किन्तु मराठो की तरह तटस्थ रही। मल्हार राव होल्कर की सेना ने भागती जयपुर की सेना को खूब लूटा और इन्दौर लौट गया। इस युद्ध में जालिमसिंह को काफी धन व सम्मान प्राप्त हुए। डॉ० एम० एल० शर्मा के अनुसार—"कोटा वाले जयपुर वालों के 17 हाथी, 1800 घोड़े, 73 तोपें तथा एक पंचरंगा लूटकर कोटा ले आये। इस युद्ध में कोटा के 35,5000 खर्च हुए थे।[1] कोटा और जयपुर के बीच यह अन्तिम युद्ध था। इस युद्ध में विजय पाने से जालिमसिंह का सम्मान सारे राजस्थान में बहुत बढ़ गया। उसने राजस्थान की संगठित व शक्तिशाली जयपुर रियासत को पराजित किया था। उसकी इस विजय से प्रभावित होकर महाराव शत्रुशाल ने उसे सेनापति के साथ कोटा राज्य का प्रधान मंत्री भी बना दिया। श्री गहलोत का कहना है कि—"भटवाड़ा के युद्ध मे जालिमसिंह का सौभाग्य रूपी सितारा उदय हुआ। इस युद्ध के समय जालिमसिंह 21 वर्ष का युवक था। व्यक्तिगत वीरता के कारण ही उसे सफलता प्राप्त हुई।"[2] इस प्रकार जयपुर को पराजित कर जालिमसिंह उन्नति के शिखर पर जा बैठा।

3. जालिमसिंह मेवाड़ में—भटवाड़ा विजय के तीन वर्ष बाद तक जालिमसिंह कोटा राज्य का 'राज व राजा' बनकर काम करता रहा। महाराव

1. डॉ० एम०एल० शर्मा—कोटा राज्य का इतिहास—भाग दो, पृष्ठ 447
2. गहलोत—राजपूताने का इतिहास—भाग दो, पृष्ठ 67

शत्रुशाल को उस पर सदा पूर्ण विश्वास बना रहा किन्तु 1764 ई० मे शत्रुशाल का देहान्त हो गया। उनके कोई सन्तान नही थी अत. उनका छोटा भाई गुमानसिंह कोटा की गद्दी पर बैठा। वैसे जालिमसिंह की वहन गुमानसिंह को ब्याही गयी थी किन्तु गुमानसिंह एक स्वतन्त्र विचारों का राजा था जो जालिमसिंह के हस्तक्षेप को बुरा समझता था। जालिमसिंह भी अभी सिर्फ 25 वर्ष का ही था अत. कोटा राज्य के अन्य अनुभवी हाड़ा सरदार उससे ईर्षा रखने लगे। लोगो ने गुमानसिंह को बार-बार शिकायतें कर जालिमसिंह का विरोधी बना दिया। राजा और मंत्री के मनमुटाव के कारण बताते हुए टाड महोदय लिखते है कि—"महाराव का प्रेम एक सुन्दर दासी से था और वही युवती जालिमसिंह की नजरो मे भी चढ़ गई थी। इससे साले बहनोई मे मनमुटाव हो गया।"[1] सरदारों की शत्रुता और एक दासी के प्रेम ने राजा और मंत्री के बीच गहरी खाई खोद दी। एक ही वर्ष मे गुमानसिंह ने पहले तो उसे अपना राजमन्त्री बनाया और अगले ही साल उसकी जागीर जब्त कर ली। दिसम्बर 1764 में तो गुमानसिंह ने उसे राजमन्त्री के पद से सुशोभित किया और 1765 के मध्य में जालिमसिंह कोटा छोड़कर उदयपुर चला गया। आरणता की जागीर जो महाराव भीमसिंह ने जालिमसिंह के दादा को दी थी अब उसके मामा भूपतसिंह झाला को दे दी गयी। गुमानसिंह ने जालिमसिंह को सेनापति पद से भी हटा दिया और उसकी जगह उसके मामा भूपतसिंह को दे दी। इस परिवर्तन को जालिमसिंह ने अपना अपमान समझा और कोटा छोड़ कर अन्यत्र जाने का फैसला किया।

कुछ वर्षों पहले वह जयपुर को हरा चुका था अतः जयपुर के द्वार उसके लिये बन्द थे। मारवाड़ के दुर्बल शासक आपसी फूट और मराठो की लूट से प्रभावहीन युग से गुजर रहे थे। मारवाड़ के लोग उसे बहुत चतुर समझते थे और उससे दूर ही रहना ठीक समझते थे। अब संगठित राजस्थानी राज्यो मे केवल मेवाड़ ही ऐसा स्थान था जहां जालिमसिंह सम्मान सहित जी सकता था। उस समय (1765 ई० में) झाला वंश का ही एक सरदार राघादेव झाला मेवाड़ मे रहता था। मेवाड़ राज्य के उत्तराधिकार प्रश्न मे राघादेव ने तत्कालीन महाराणा अरिसिंह की सहायता कर उसे मेवाड़ का राणा बनाया था। महाराणा अरिसिंह ने उसे प्रधान सामन्त का पद दिया और राघादेव को देलवाड़ा की जागीर भी दी। इसी झाला सरदार से सम्पर्क स्थापित कर जालिमसिंह 1765 में कोटा छोड़कर मेवाड़ चला गया। राघादेव ने जालिमसिंह का परिचय महाराणा से कराया। महाराणा अरिसिंह ने जालिमसिंह को अपने दरबार मे स्थान दिया। अब जालिम सिंह मेवाड़ में रहने लगा। वह 1765 में 1770 ई० तक पांच साल मेवाड़ मे रहा। उसके इस पांच वर्ष के समय मे दो महत्त्वपूर्ण बातें हुई—

1. टाड—राजस्थान भाग- [illegible]

(1) राघादेव झाला का वध, और

(2) राणा अरिसिंह के लिये मराठों से युद्ध।

मेवाड मे आकर जालिमसिंह को अनुभव हुआ कि उसी का वंशज राघादेव झाला धीरे-धीरे मेवाड़ में अपना प्रभुत्व बढ़ा रहा है। राणा तो उसके अहसानों से दवे हुए थे अतः कुछ कह नही सकते थे पर मन ही मन उसके चंगुल से मुक्त होना चाहते थे। जालिमसिंह ने स्थिति को समझकर राणा का स्नेह प्राप्त किया और विश्वासपात्र बनने के लिये अपने ही शुभचिन्तक राघादेव का वध करवा दिया। झाला सामन्त राघादेव मेवाड में मनमानी कर रहा था और अन्य सारे सामन्त उसके विरुद्ध थे। जालिमसिंह ने सारी परिस्थितियों का अध्ययन कर के ही यह कदम उठाया था। उसके इस काम से राणा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने जालिमसिंह को 'राज राणा' की उपाधि दी और चीताखेड़ा की बड़ी जागीर भी। इस स्थान को अन्य इतिहासकार चित्र खाड़िया[1] भी कहते हैं। इस प्रकार जालिमसिंह ने मेवाड़ में आते ही राणा को प्रभावित कर दरबार में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया और एक ही वर्ष में उसकी गिनती मेवाड़ के दूसरी श्रेणी के सामन्तों में होने लगी। महाराणा अरिसिंह ने उसे अपना राजनीतिक सलाहकार नियुक्ति किया। यह राजनीतिक हत्या विश्वासघात का परिणाम थी।

मेवाड में जालिमसिंह की दूसरी प्राप्ति मराठों से संघर्ष था। यह प्रश्न मेवाड के उत्तराधिकार का था। राणा रतनसिंह अपने आप को मेवाड़ का राणा गिनता था। उसने सलूम्बर, वदनोर, कानोड़ और घाणेराव के जागीरदारों की सहायता से विद्रोह कर कुम्भलगढ़ पर अपना अधिकार जमा लिया और अपने आपको मेवाड का राणा घोषित कर दिया। वह इतने से ही सन्तुष्ट नही हुए और उदयपुर व चित्तौड पर अधिकार जमाने के लिये मराठा सरदार माधवराव सिंधिया की शरण में जा पहुँचा। मेवाड़ की आन्तरिक फूट से लाभ उठाकर सिंधिया ने मेवाड़ पर आक्रमण किया ताकि अरिसिंह को गद्दी से उतार कर रतनसिंह को राणा बना दे। जालिमसिंह का यह धर्म व कर्त्तव्य था कि अपने राणा की रक्षा करे। राणा की राय से जालिमसिंह ने एक सेना तैयार कर मराठों पर आक्रमण कर दिया। उज्जैन के पास उसका मराठों से युद्ध हुआ जिसमे मराठा आक्रमणकारियों ने जालिमसिंह को घायल कर बन्दी बना लिया। मराठों ने उदयपुर को घेर लिया। राजपूत बडी वीरता से लड़े किन्तु मराठे संख्या मे उनसे बहुत अधिक थे और राणा के जीतने की कोई सम्भावना नही थी अन्त में राणा ने मराठों से सन्धि कर ली। यह सन्धि जालिमसिंह के मित्र मराठा सरदार अम्बाजी इंगले ने करवाई थी। मराठा सेनापति त्र्यम्बक राव इसी मराठा सरदार अम्बाजी इंगले का पिता था जिसने साठ हजार रुपये लेकर जालिमसिंह को छोड़ दिया।[2] अपने घावों के ठीक

1. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 792
2. वीर विनोद—भाग दो, पृष्ठ 1556–58

होने पर जालिमसिंह अपने भविष्य पर फिर से सोचने लगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मेवाड़ की आन्तरिक फूट कभी समाप्त नहीं होगी। उसे मेवाड़ की दीन दुर्बल शक्ति में अन्धकार ही नजर आया और उसने पण्डित लालजी बेलाल के साथ 1770 में वापस मेवाड़ छोड़कर कोटा जाने का निश्चय किया।

4. मराठे और जालिमसिंह—जालिमसिंह के कोटा छोड़कर चले जाने के बाद मराठों के निरन्तर आक्रमणों ने कोटा की राजनीतिक और आर्थिक दशा को अत्यन्त दुर्बल बना दिया था और महाराव गुमानसिंह को हर अवसर पर जालिम सिंह की याद आती थी। अन्त में सारे अहम् को त्याग कर 1770 ई० में उन्होंने जालिमसिंह को वापस कोटा बुला लिया। इधर जालिमसिंह स्वयं वापस कोटा जाने की योजना बना चुका था। अतः बिना किसी आपत्ति के फौरन कोटा चला आया। टाड महोदय इस वापसी यात्रा में विभिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि जालिमसिंह स्वयं पहले कोटा लौट आया और जब इंदौर के मराठा शासक मल्हार राव होल्कर ने कोटा पर आक्रमण किया तो महाराव गुमानसिंह ने अपने सेनापति को मराठों से सन्धि करने भेजा किन्तु वह असफल लौट आया तब महाराव ने अपने सेनापति माधवसिंह को दक्षिणी सीमा पर स्थित बुकायनी दुर्ग की रक्षा करने भेजा जहाँ दुर्ग की रक्षा करते-करते सेनापति माधवसिंह वीर गति को प्राप्त हुआ और बुकायनी पर मल्हार राव होल्कर का अधिकार हो गया। कोटा के दक्षिण में 60 मील दूर घमासान लड़ाई में कोटा की हार हुई और अनेक हाड़ा सरदार मारे गये। किले से लौटती हुई सेना को घेर कर रात्रि के समय मराठों ने कोटा की सेना को भारी क्षति पहुँचाई थी। ऐसी कठिन घड़ी में महाराव गुमानसिंह को जालिमसिंह की याद आई। टाड महोदय का कथन है कि—"कोटा का राजा गुमानसिंह इस समय बड़े संकटों में था। उसको अपनी रक्षा के लिये कोई उपाय नहीं मिल रहा था। इसलिये उसने बहुत कुछ सोचकर इस बात का निर्णय किया कि भटवाड़ा के युद्ध में जालिमसिंह के द्वारा हाड़ा राजपूतों ने सफलता पायी थी और इस समय भी जालिमसिंह के द्वारा ही कोटा राज्य की रक्षा का कोई उपाय निकल सकता है। इस प्रकार सोच समझकर उसने जालिमसिंह को बुलाया और होल्कर के साथ सन्धि करने का उत्तरदायित्व उसको सौंपा।"[1] बकानी या बुकायनी पर अधिकार करने के बाद मराठे आगे बढ़े और उन्होंने अनेक अत्याचार और लूटमार के बाद सुकेत नामक दुर्ग को भी जीत लिया। इस युद्ध में अनेक मराठों के साथ चार सौ हाड़ा सरदार भी मारे गये। तब महाराव गुमानसिंह ने जालिमसिंह को होल्कर से सन्धि करने का अधिकार देकर भेजा। जालिमसिंह ने जल्दी ही मराठों के साथ सन्धि कर देश को अत्यधिक लूटमार और विनाश से बचा लिया। उसने स्वयं मल्हार राव की सेवा में उपस्थित होकर उसे छः लाख रुपये भेंट देकर सन्धि करली।

1. टाड [illegible]

"महाराव ने प्रसन्न होकर जालिमसिंह को पुनः मुसाहिब का पद और नानता की जागीर दे दी।"[1] जालिमसिंह को सेनापति तो बना दिया लेकिन डॉ० शर्मा का कहना है कि "जालिमसिंह को पुनः फौजदार बना कर भी महाराव ने स्वरूपसिंह को अपने पद से नही हटाया। वह भी जालिमसिंह के साथ राज्य प्रबन्ध करता रहा"[2] और आगे चलकर वह जालिमसिंह का प्रबल विरोधी बन गया। इसी बीच महाराव गुमानसिंह सात वर्ष तक शासन करने के बाद सख्त बीमार पड़े और देहान्त से पहले दस वर्ष के पुत्र उम्मेदसिंह को जालिमसिंह झाला की गोदी में छोड़कर चल बसे। उम्मेदसिंह तो जालिमसिंह का भानजा था। उसके 50 वर्ष के शासनकाल मे जालिमसिंह कोटा राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। सन् 1770 से 1820 ई० तक वह महाराव उम्मेदसिंह को कठपुतली बनाकर बड़ी कुशलता से राज्य करता रहा। महाराव का अधिकांश समय परिवार या ईश्वर भक्ति मे बीतने लगा।

अपने इस 50 वर्ष के एक छत्र आधिपत्य काल मे जालिमसिंह ने सुधार किये, मराठो और अंग्रेजों से जो सम्बन्ध स्थापित किये तथा आन्तरिक विद्रोहो का जिस प्रकार नीतिनिपुणता से दमन किया वे वास्तव में सराहनीय हैं। सबसे पहले हम जालिमसिंह के मराठो से सम्बन्ध देखें कि किस प्रकार उसने समय की सबसे प्रबल और खुंखार शक्ति को कोटा राज्य हड़पने से रोका। अन्यथा कोटा जैसे छोटे से राज्य में इतनी शक्ति कहाँ थी जो मराठों के आगे टिक सकती। राजस्थान के अन्य राज्यो मे मराठो का आतंक व लूटमार सदा होती रही किन्तु नीति निपुण जालिमसिंह के शासनकाल मे मराठे धन-सम्पन्न कोटा को नहीं लूट सके। टाड महोदय का कहना है कि "जालिमसिंह ने कोटा राज्य मे इस प्रकार का शासन आरम्भ किया कि आधी शताब्दी तक लुटेरे मराठों को उसके राज्य की तरफ आगे बढने का साहस न हुआ। यद्यपि इस दीर्घकाल में राजस्थान के लगभग सभी राज्य लूटे गये, उनका विनाश हुआ और अनेक प्रकार की विपदाओं का उनको सामना करना पड़ा। परन्तु कोटा का राज्य उस प्रकार के विनाश से बचा रहा। उसका कारण जालिमसिंह का शासन था, जिसको उसने अपनी पच्चीस वर्ष की अवस्था से आरम्भ किया था और बयासी वर्ष की आयु तक सफलतापूर्वक चलाया।"[3] कोटा राज्य वैसे भारत के मध्य भाग मे है और मराठो से उसकी सीमा टकराती थी। उसने देश मे शान्ति बनाये रखने के लिये मराठो को वार्षिक भेंट या 'ट्री ब्यूट' देकर तथा मराठा सरदारों से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य को शान्ति प्रदान की। मराठो के अधीन काम करने वाले खूंखार

1. गहलोत— राजपूताने का इतिहास— भाग 2, पृष्ठ 70
2. डॉ० मथुरालाल शर्मा—कोटा राज्य का इतिहास— भाग 2, पृष्ठ 443
3. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 812

पिन्डारियों को भी कोटा के दक्षिणी भाग में कई छोटी छोटी जागीरें देकर हमेशा के लिये अपना स्वामीभक्त नौकर बना लिया। उसने अनेक पिण्डारियो को झालरा पाटन और गागरोन के बीच बसा दिया जो अन्य पिण्डारी व मराठों के आक्रमण के समय अपनी जागीरों की रक्षा के चक्कर मे उन आक्रमणकारियों को आगे नही बढ़ने देते। इस प्रकार सबसे पहले जालिमसिंह ने मराठों के सेनापतियो को अपनी तरफ मिलाकर, उन्हें जागीरें देकर अपने राज्य को सुरक्षित बनाया और लोहे से लोहे को काटने की नीति को अपनाया। इन्ही पिण्डारियों की सहायता से उसने नये परगने जीते और कोटा का राज्य-विस्तार भी किया। इस नीति के फलस्वरूप राजपूत तो क्या मराठो मे भी उसका इतना प्रभाव बढ़ गया था कि वे अपने आन्तरिक मामलों को भी जालिमसिंह की राय से सुलझाया करते थे।

उसकी विदेश नीति या दूसरे राज्यों से सम्बन्ध, शान्ति और मित्रता पर आधारित थे। जहाँ वह कठोर और क्रोधी था वहाँ अवसर आने पर अतिविनम्र बनकर अपना काम निकालना जानता था किन्तु विनम्र होकर भी वह स्वाभीमान से काम लेता था। उसकी सफलता का मूल कारण यह है कि वह अपने निर्णय पर दृढ़ रहकर निडरता से काम करता था। यहाँ यदि हम यह कहें कि उसमें श्रेष्ठ कोटि के राजनीतिज्ञ के सभी गुणो का समावेश था, तो अतिशयोक्ति नही होगी। वैसे वह मराठों का मित्र था किन्तु जब जनरल मॉनसन एक विशाल सेना लेकर होलकर पर आक्रमण करने मध्य भारत में आया तो जालिमसिंह ने भविष्य को सही समझकर मराठों का साथ छोड़ दिया और आगे बढ़कर जनरल मॉनसन का स्वागत किया लेकिन जब मॉनसन होलकर से हार कर भाग रहा था तो जालिमसिंह ने उसे तुरन्त कोटा राज्य से निकल जाने का आग्रह किया और अपने राज्य में ठहरने की अनुमति नही दी। साधारणतः किसी राजपूत राजनीतिज्ञ से इस प्रकार की दल बदलू नीति के अनुकरण की आशा नही की जाती थी। राज्य में सहारा न देकर भी जालिमसिंह ने मॉनसन की प्राण रक्षा में पूरी मदद की थी। उसका प्रिय सरदार जो कोइला का जागीरदार था मॉनसन की रक्षा करता हुआ मराठों के हाथ से मारा गया था। इस प्रकार की श्रेष्ठ समयानुकूल नीति का पालन करके ही जालिमसिंह भारत के उस अनिश्चितता के तूफानी युग में 50 वर्ष तक कोटा को सुरक्षित रख सका।

जालिमसिंह की विदेश नीति का एक मात्र उद्देश्य शक्ति संतुलन बनाये रखना था ताकि कोई शक्ति अधिक शक्तिशाली बनकर पड़ोसी राज्यो को तंग न कर सके। वह उसी शक्ति की सहायता करता था जो कोटा की सहायता पाकर दूसरी शक्तियों से अधिक शक्तिशाली हो जाती। उद्देश्य से वह हर पड़ोसी शक्ति से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखता था। अब हम विशेष रूप से मराठो के साथ उसका आदान-प्रदान देखे। सन् 1737 ई० में पेशवा ने सिंधिया और होल्कर को कोटा राज्य की सीमा पर इन्द्रगढ़ और पीपल्दा आदि की जागीरें दे दी थी। तब से लगा कर

मराठों के पतन तक अर्थात् 1818 ई० तक ये मराठा सरदार निरंतर कोटा के लिये एक आतंक व भय का कारण बने रहते थे। इन जागीरों की देख-भाल के लिये मराठों की तरफ से कोटा में एक वकील रहता था जो मराठा जागीरों से लगान वसूल कर अपने सरदारों को बाँट देता था। लगान वसूल करते समय ये मराठे सरदार कोटा राज्य में भी घुस जाते थे और लूट मार करते थे किन्तु कोटा राज्य को यह सब सहन करना पड़ता था। मराठे शासन व्यवस्था की तरफ कम ध्यान देते थे और कठोरता से लगान वसूली करते थे। कोटा में रहने वाले मराठा वकील को 38,000 रु० सालाना वेतन मिलता था। मराठा सरदार कोटा के आसपास की जागीरों को बड़ा महत्त्व देते थे। कुशासन के कारण इन रियासतों में आन्तरिक विद्रोह सदा होते रहते। मराठा वकील इन विद्रोहों का दमन करने के लिये हमेशा कोटा राज्य से सैनिक सहायता लेता था। अपने राज्य में शान्ति बनाये रखने के लिये जालिमसिंह मराठों की जागीरों में शान्ति बनाये रखता था। मराठा वकील के अधीन एक दीवान भी रहता था तथा हर जागीर में एक कमविसदार, जो आजकल के तहसीलदार के बराबर का था। स्पष्ट है कि मराठों के भय से जालिमसिंह इन्हें हर प्रकार से खुश रखना चाहता था। वह समय-समय पर होल्कर को भेंट व उपहार आदि देता रहता था। होल्कर के पुत्र के विवाह के समय उसने कोटा की तरफ से 7000 न्योते भेजे थे। मल्हार राव होल्कर के बाद तुकोजी होल्कर विस्तारवादी था किन्तु जालिमसिंह की नीति निपुणता से वह भी कोटा में कभी लूटमार नहीं कर सका। अपने देश में शान्ति बनाये रखने के लिये, जालिमसिंह मराठों को प्रतिवर्ष कई लाख रुपये भेंट स्वरूप देता था। यही कारण है कि मराठों ने जयपुर, जोधपुर और मेवाड़ में अपनी लूटमार का आतंक जमा रखा था उस समय कोटा की जनता निर्भय जीवन व्यतीत कर रही थी।

जालिमसिंह की मराठा नीति के आधार इस प्रकार निम्नांकित निकाले जा सकते हैं—

1. मराठों के खुंखार सेनापति पिंडारियों को मराठा और कोटा-राज्य के बीच में झालरा पाटन और गागरोन आदि में जागीरें देकर स्वामीभक्त सेवकों में बदल लिया जिससे दो बड़ी शक्तियों के बीच एक तटस्थ शक्ति बन गयी।

2. मराठा वकील की लगान वसूली व शान्ति स्थापना में सहायता कर मराठों का कृपा पात्र बना रहा।

3. मराठों को वार्षिक नियमित भेंट, जो लाखों रुपयों की होती थी, देकर अपने राज्य की शान्ति खरीद लेना।

4. मराठा सरदारों के आपसी आन्तरिक मामलों में सदा शक्तिशाली की मदद करना।

5. इतने पर भी यदि होल्कर कोटा राज्य पर चढ़ आता तो जालिमसिंह

स्वयं आगे बढ़कर उसका स्वागत करता और उसे बहला फुसला कर कुछ भेंट देकर सकुशल वापस लौटा देता जैसा उसने जनरल मॉनसन की सहायता करने पर किया था। होल्कर को मॉनसन का कोटा राज्य से गुजरना बुरा लगा और जब उसे ज्ञात हुआ कि मॉनसन की सहायता व रक्षा करते समय जालिमसिंह का प्रिय सामन्त आपा अमरसिंह भी अंग्रेजी सेनापति कप्तान लुकर के साथ मारा गया तो वह एक विशाल सेना लेकर जालिमसिंह पर चढ़ आया। जालिमसिंह को इस आक्रमण का भास पहले ही हो गया था। अतः उसने जनरल मॉनसन को कोटा में रुकने नहीं दिया और आगरा भेज दिया। फिर भी जब होल्कर-सेना लेकर कोटा पर चढ़ आया तो जालिमसिंह ने कोटा गढ़ के बाहर उसे तीन लाख रुपये देकर विदा किया।[1] होल्कर ने पहले दस लाख रुपये की माँग की थी।

6. सन् 1817 ई० में होल्कर डीग के युद्ध में हार कर, बुरी तरह परास्त होकर भागा था। राजस्थान के अन्य राजपूत राजाओं ने विशेष तौर पर जयपुर व जोधपुर ने तो होल्कर की कमजोरी से लाभ उठाकर उस पर आक्रमण की तैयारियाँ भी कर दी थी किन्तु जालिमसिंह ने अपनी मित्रता की नीति को नहीं छोड़ा। वह अपने अन्तिम समय तक होल्कर से मित्रता बनाये रहा।

इस प्रकार मराठों के प्रति वह आदर और मित्रता के भाव रखता था जिसे उसने होल्कर के साथ सदा निभाया। मराठो की आतंकवादी नीति जालिमसिंह की उदारता और चातुर्य के आगे झुक गयी थी।

5. जालिमसिंह और अंग्रेज—भारत का राजनीतिक भविष्य करवट ले रहा था। सन् 1740 में नादिरशाह के भयानक आक्रमण ने मुगल साम्राज्य की कमर तोड़ दी थी। मुगलों के बाद कौन ? यह प्रश्न सजीव और सक्रिय था कि सन् 1757 में प्लासी की लड़ाई जीतकर अंग्रेजों ने मराठों के बढ़ते प्रभुत्व को चुनौती दी। इस घटना के चार वर्ष बाद ही पानीपत की तीसरी लड़ाई में 1761 ई० में मराठों के सपने चूर-चूर हो गये। यद्यपि मराठो ने सिर्फ दस वर्ष के छोटे से समय में अपनी शक्ति का संगठन कर दिल्ली के बादशाह को अपना पालतू पंछी बना लिया फिर भी वे समस्त उत्तर भारत को अधीन न कर सके। अंग्रेजों ने बंगाल, बिहार व उड़ीसा को निगलने के बाद अवध के हरे-भरे प्रदेश पर दाँत गड़ा दिये थे। विलासी नवाबों को मित्रता का भुलावा देकर वारेन हेस्टिंग्ज ने रुहेलखंड का नाम मिटा दिया और मराठों के आक्रमण के समय अवध की रक्षा का वचन दिया। दोनों शक्तियों का आमना-सामना तब हुआ जब बम्बई सरकार के छेड़छाड़ पर मराठा तलवार म्यान से निकल पड़ी किन्तु प्रारम्भिक सफलताओं के बाद प्रथम मराठा युद्ध में सलबाई की सन्धि ने मराठो का मान मर्दन कर उनकी

1. टाड—राजस्थान का इतिहास—भाग—3, पृष्ठ 1573





3. तात्कालिक राजनीतिक स्थिति को देखकर स्पष्ट था कि सारे भारत पर अंग्रेजी प्रभाव स्थापित हो रहा था । पंजाब, सिन्ध और राजस्थान को छोड़कर अन्य सभी राज्य अंग्रेजों के चंगुल में फँसे गये थे । इच्छा या अनिच्छा इस 'रिंग फेंस' घेरा डालो और अधीन रखो की अंग्रेजी नीति के आगे एक-एक कर कई बड़े-बड़े राजा घुटने टेक चुके थे । राजस्थान के छोटे-छोटे राजा इस 'घेरे की नीति'[1] से कैसे बच सकते थे । वे भी इस भंवर में स्वयं आ फँसे । जालिमसिंह भी अपने सत्तारूढ होने के समय से निरंतर अंग्रेजों का विस्तार देख रहा था । उसने समझ लिया था कि अंग्रेजों का भाग्योदय अब हो चुका है और भारत का राजनीतिक भाग्य अब उनके इशारों पर चलता है । मराठा दरबार में भी जब अंग्रेजी रेजीडेन्ट रहने लग गया तो फिर कोटा जैसे राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व कब तक संभव था । इस दशा में पहले ही जयपुर और मेवाड अंग्रेजों से सन्धि कर चुके थे अतः जालिमसिंह ने अंग्रेजों से मित्रता स्थापित करना ही लाभदायक समझा ।

4. हेस्टिंग्ज की नीति—सन् 1813 में 59 वर्ष की अवस्था का अनुभवी अंग्रेज सेनानी लार्ड हेस्टिंग्ज भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया । वह इंग्लैण्ड के युवराज जार्ज चतुर्थ का मित्र था, अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में सेनापति रह चुका था और संसद का सदस्य भी रह चुका था । वह भारत में शांति और सुरक्षा स्थापित करने का उद्देश्य लेकर आया था किन्तु भारत आकर उसने अनुभव किया कि तटस्थ रह कर तो कठिनाइयों को निमंत्रण देना है और यदि विस्तारवादी नीति को अपना लिया जाय तो अंग्रेजो का प्रभुत्व सारे भारत पर आसानी से स्थापित हो सकता है । उसने चारों तरफ शत्रुभाव देखा । सात बड़ी समस्याएँ उसके सामने थी जो विस्तारवादी नीति से ही हल हो सकती थी । अपनी परिवर्तित नीति का समाधान करने तथा गृह सरकार की इस हेतु स्वीकृति पाने लार्ड हेस्टिंग्ज ने कंपनी के डायरेक्टरों से जो पत्र-व्यवहार किया उसमें इन बातों को अपनी नई नीति का कारण बताते हुए देशी राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप की स्वीकृति मांगी । ये सभी तर्क डॉ० मोहनसिंह मेहता ने अपने ग्रन्थ "लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इन्डियन स्टेट्स" में दिये हैं । इन तर्कों से हेस्टिंग्ज की नीति स्पष्ट हो जाती है । ये तर्क निम्नांकित हैं—

1. सिंधिया और होल्कर के अत्याचारों से देशी रियासतों में अत्यधिक अराजकता व्याप्त है ।

2. भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी व सुदृढ़ बनाने के लिये मराठों की शक्ति का अन्त अत्यन्त आवश्यक है और मराठों को समाप्त करने के लिये उसने दो मार्ग सुझाये । एक तो यह कि देशी राज्यों का एक संघठन या मित्र मंडल बना लिया

---

1. एस० आर० शर्मा—आधुनिक भारत का निर्माण, पृष्ठ 176

महत्त्वाकांक्षाओं को असमर्थता की सीमा में बाध दिया । यह महत्वपूर्ण सन्धि वारेन हेस्टिग्ज और मराठों के बीच 20 फरवरी, 1783 ई० को हुई थी । यह सन्धि भारत के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखती है । भारत के विभिन्न देशी शासक जो अब तक मराठो के डर से अंग्रेजों से कतराते थे अब आगे होकर अंग्रेजों से मित्रता की चेष्टा करने लगे । प्रथम मराठा युद्ध ने स्पष्ट संकेत कर दिया था कि मुगलों के बाद भारत के शासक अंग्रेज होंगे, मराठा नहीं । "भारत के अन्य शासक जिनमें निजाम हैदराबाद, अवध के नवाब, दिल्ली के बादशाह, पंजाब के सिख, सिन्ध के अमीर, मराठा सामन्त और राजस्थान के राजपूत राजा सभी अब अंग्रेजों से मित्रता स्थापित करना चाहते थे । इस मित्रता के चार स्पष्ट कारण नजर आते है और इन्ही चार स्पष्ट कारणों से प्रेरित होकर अन्य भारतीय राजाओं की तरह जालिमसिंह व कोटा राज्य भी अंग्रेजों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष मे था ।

1. मित्रता के कारण—राजपूत राजा मराठों के आतंक से पीड़ित थे और धन जन की रक्षा के लिये किसी संगठित शक्ति का संरक्षण चाहते थे ।

2. पिण्डारियों का भय—15 से 20 हजार तक के घुड़सवारों के गिरोह में ये राजस्थान मे लूटमार तो करते ही थे अब आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने लगे थे । उन्ही के दबाव से मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा को विष का प्याला पीना पड़ा था । इन शत्रुओं से मुक्ति पाने का एक मात्र इलाज अंग्रेज थे । क्योंकि ये पिंडारी मराठों की शह पर अंग्रेजी राज्य मे भी लूटमार करते थे । जैसाकि लार्ड हैस्टिग्ज की डायरी से भी ज्ञात होता है । उसने जनवरी 31 सन् 1817 को लिखा—"पिण्डारी साढ़े ग्यारह दिन कम्पनी के राज्य मे रहे । कुल मिलाकर उन्होने 339 गाँवों को लूटा, 182 आदमियों को मार डाला, 505 व्यक्ति घायल हुए और तीन हजार छः सौ तीन लोगों को भयानक यंत्रणाएँ भोगनी पड़ी ।" इस अवस्था में उसने गृह सरकार से स्वीकृति लेकर इन लुटेरों का दमन करने का निश्चय किया । वह इस शुभ काम मे उन सभी राज्यों की सहायता चाहता था जिनमे ये लुटेरे आतंक मचाते थे ताकि अंग्रेजों के आक्रमण के समय ये लोग दूसरे देशी राजाओ के यहाँ शरण न ले लें । इस क्षेत्र में देशी शासक भी अंग्रेजों को मदद किये बिना नही रह सके । यहाँ तक कि जिन मराठो की कृपा के ये पिंडारी पात्र थे वे भी अब इनके दबावों से तंग आ गये थे और अवसर आने पर सारे मराठा सरदारों ने एक-एक कर इनके दमन के लिये अंग्रेजो से सन्धि कर ली । "यहाँ तक सिंधिया ने अपनी शरण में आये वसील मुहम्मद को अंग्रेजो को सौंप दिया जिसने गाजीपुर की जेल मे आत्म-हत्या कर ली ।"[1] स्पष्ट है कि परिस्थितियों ने राजपूतों को भी पिण्डारियो के आतंक से छुटकारा पाने के लिये अंग्रेजों की मित्रता के लिये प्रेरित किया ।

1. देखें—मेरी ही पुस्तक—भारत में कम्पनी राज्य के कारनामे, पृष्ठ 355

3. तात्कालिक राजनीतिक स्थिति को देखकर स्पष्ट था कि सारे भारत पर अंग्रेजी प्रभाव स्थापित हो रहा था। पंजाब, सिन्ध और राजस्थान को छोड़कर अन्य सभी राज्य अंग्रेजों के चंगुल में फँस गये थे। इच्छा या अनिच्छा इस 'रिंग फेन्स' घेरा डालो और अधीन रखो की अंग्रेजी नीति के आगे एक-एक कर कई बड़े-बड़े राजा घुटने टेक चुके थे। राजस्थान के छोटे-छोटे राजा इस 'घेरे की नीति'[1] से कैसे बच सकते थे। वे भी इस भंवर में स्वयं आ फँसे। जालिमसिंह भी अपने सत्तारूढ होने के समय से निरंतर अंग्रेजो का विस्तार देख रहा था। उसने समझ लिया था कि अंग्रेजों का भाग्योदय अब हो चुका है और भारत का राजनीतिक भाग्य अब उनके इशारों पर चलता है। मराठा दरबार मे भी जब अंग्रेजी रेजीडेन्ट रहने लग गया तो फिर कोटा जैसे राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व कब तक संभव था। इस दशा मे पहले ही जयपुर और मेवाड़ अंग्रेजो से सन्धि कर चुके थे अतः जालिमसिंह ने अंग्रेजो से मित्रता स्थापित करना ही लाभदायक समझा।

4. हेस्टिंग्ज की नीति—सन् 1813 मे 59 वर्ष की अवस्था का अनुभवी अंग्रेज सेनानी लार्ड हेस्टिंग्ज भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। वह इंग्लैण्ड के युवराज जार्ज चतुर्थ का मित्र था, अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में सेनापति रह चुका था और संसद का सदस्य भी रह चुका था। वह भारत में शांति और सुरक्षा स्थापित करने का उद्देश्य लेकर आया था किन्तु भारत आकर उसने अनुभव किया कि तटस्थ रह कर तो कठिनाइयों को निमंत्रण देना है और यदि विस्तारवादी नीति को अपना लिया जाय तो अंग्रेजों का प्रभुत्व सारे भारत पर आसानी से स्थापित हो सकता है। उसने चारों तरफ शत्रुभाव देखा। सात बड़ी समस्याएँ उसके सामने थी जो विस्तारवादी नीति से ही हल हो सकती थी। अपनी परिवर्तित नीति का समाधान करने तथा गृह सरकार की इस हेतु स्वीकृति पाने लार्ड हेस्टिंग्ज ने कंपनी के डायरेक्टरो से जो पत्र-व्यवहार किया उसमें इन बातों को अपनी नई नीति का कारण बताते हुए देशी राजाओ के मामलों मे हस्तक्षेप की स्वीकृति मांगी। ये सभी तर्क डॉ० मोहनसिंह मेहता ने अपने ग्रन्थ "लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इन्डियन स्टेट्स" में दिये हैं। इन तर्कों से हेस्टिंग्ज की नीति स्पष्ट हो जाती है। ये तर्क निम्नांकित हैं—

1. सिंधिया और होल्कर के अत्याचारों से देशी रियासतों में अत्यधिक अराजकता व्याप्त है।

2. भारत मे अंग्रेजी राज्य को स्थायी व सुदृढ़ बनाने के लिये मराठों की शक्ति का अन्त अत्यन्त आवश्यक है और मराठों को समाप्त करने के लिये उसने दो मार्ग सुझाये। एक तो यह कि देशी राज्यों का एक संगठन या मित्र मंडल बना लिया

1. एस० आर० शर्मा—आधुनिक भारत का निर्माण, पृष्ठ 176

जाय जिनकी आन्तरिक सुरक्षा और बाह्य नीति पूर्ण रूप से अंग्रेजों के हाथ में हो और दूसरा यह कि प्रत्येक देशी राजा के साथ वेलेजली की सहायक प्रथा की तरह अलग-अलग सन्धि कर ली जाय ताकि मराठे मित्र विहीन हो जायें और उनको चारों तरफ से घेर कर पूर्णरूप से पराजित किया जा सके।

3. देशी राजाओं के राज्यो मे भी कई स्थानों पर तो सामन्त ही राज्य के सर्वेसर्वा बने हुए हैं जिनसे उनके राज्य में गुटबन्दी और आपसी फूट के कारण अराजकता फैली हुई है। उसने इस दिशा में जालिमसिंह का उदाहरण दिया था जो कोटा राज्य का सर्वेसर्वा बन बैठा था और उसका भानजा उम्मेदसिंह केवल कठपुतली मात्र था।

4. स्थायी शांति के लिये पिण्डारियों का दमन आवश्यक बताया गया और इनके पूर्ण दमन के लिये देशी रियासतों से मित्रता आवश्यक थी अन्यथा ये पिण्डारी भाग कर देशी राज्यों मे शरण ले लेते थे।

5. पंजाब और अंग्रेजी राज्य के बीच में तटस्थ सीमा स्थापित करने के लिये देशी राज्यों को मित्र बनाना आवश्यक था ताकि सिक्ख विस्तार के आगे ये देशी राज्य बाड़ बन सकें और सिक्ख अंग्रेजी राज्य को न छू सकें।

6. व्यापार की उन्नति, प्रशासन के बढ़ते व्यय और सेना खर्च कम करने के लिये देशी राज्यो से सम्पर्क व सन्धि लाभदायक थी।

7. हेस्टिंग्ज मराठा शक्ति को राजपूतों की शक्ति से ही समाप्त करना चाहता था। वह जानता था कि मराठों ने राजपूत राज्यों का काफी शोषण किया है और वे मराठों से पीछा छुड़ाने के लिये फौरन अंग्रेजों से संधि कर लेंगे और तब पंजाब व सिन्ध को छोड़कर सारे भारत पर अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित हो जायेगा।

लार्ड हेस्टिंग्ज को पूर्ण विश्वास था कि गृह सरकार उसके विचारों का समर्थन करेगी इसीलिये बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये उसने अपना कार्य शुरू कर दिया। किन्तु हम एकदम से हेस्टिंग्ज और कोटा राज्य के सम्बन्धों पर नहीं जा सकते। इससे पहले भी दोनों शक्तियों में विचारों का आदान-प्रदान व औपचारिक बातचीत चल चुकी थी। जालिमसिंह के अंग्रेजों से सम्बन्ध दो भागों में बाँटे जा सकते है। एक असफल प्रयत्न जो द्वितीय मराठा युद्ध तक किये गये और दूसरा वह काल जिसमे मित्रता की भावना बढ़ती गयी और अंत में मित्रता हो गयी। यह काल 1806 से 1817 का है।

1. असफल प्रयत्न—सामान्यतः यह माना जाता है कि लार्ड वेलेजली के समय से जालिमसिंह ने अंग्रेजो से मित्रता शुरू की किन्तु कोटा राज्य के कागजात से ज्ञात हो चुका है कि इससे पहले भी कोटा की सेना मे जालिमसिंह ने मूसा और

यादलबेग नामक दो अंग्रेजों को रख लिया था जो उसे पाश्चात्य सभ्यता और रहन-सहन से परिचित करवाते थे। प्रथम मराठा युद्ध के समय ही वह समझ गया था कि जल्दी ही सारे देश पर अंग्रेजी प्रभाव स्थापित हो जायगा। सहयोग की भावना सबसे पहले तब प्रदर्शित हुई जब कर्नल मॉनसन की अधीनता में अंग्रेजी सेना ने कोटा राज्य से जाकर होल्कर पर आक्रमण किया। जालिमसिंह ने आपा अमरसिंह की अधीनता में कोटा की सैन्य सहायता भी भेजी थी जिसने पराजित हो जाने पर मॉनसन को सुरक्षित आगरा भागने का अवसर दिया। मॉनसन कोटा में रुक कर होल्कर का फिर मुकाबला करना चाहता था जिसके लिये जालिमसिंह तैयार नहीं था क्योंकि वह अपने राज्य को युद्ध का मैदान नहीं बनाना चाहता था। अतः मॉनसन को प्राण रक्षा के लिये आगरा लौटना पड़ा। वहाँ जाकर उसने अपनी हार का उत्तरदायित्व जालिमसिंह पर डाल दिया। सच तो यह था कि कोटा के कारण ही वह जीवित बच निकला था किन्तु इस पराजय से कोटा—अंग्रेज मित्रता खटाई में पड़ गयी। अतः यह पहला प्रयास असफल गया। वैसे मराठों का दमन करने के लिये लार्ड वेलेजली ने 1803 में भरतपुर, अलवर, जयपुर आदि राजपूत राज्यों से सन्धि कर ली थी और जोधपुर व मेवाड़ के पास भी सन्धि के प्रस्ताव भेजे गये थे किन्तु कोटा को छोटा या सामन्तों द्वारा प्रशासित राज्य मानकर जब अंग्रेजों ने कोई प्रस्ताव नहीं भेजा तो जालिमसिंह ने स्वयं सधि का प्रस्ताव रखा।

दोनों राज्यों की मित्रता में दूसरी बड़ी बाधा सिंधिया के साथ चल रही अंग्रेजों की सन्धि वार्ता थी। अंग्रेज इस सन्धि में कोटा को सिंधिया का प्रभाव क्षेत्र मानने को तैयार थे। मराठा—आंग्ल वार्ता का नायक लार्ड लेक था और वह नहीं चाहता था कि सन्धि के बाद मराठों के प्रभाव क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाय। फिर भी जालिमसिंह अपने स्तर पर चेष्टा करता रहा। उसका निजी मित्र मेटकाफ उसका यह संदेश वेलेजली तक ले गया और वेलेजली ने लार्डलेक को कोटा से सन्धि करने का भी आदेश दे दिया था किन्तु इन प्रयत्नों का कोई फल नहीं निकला। 30 दिसम्बर, 1803 को सुर्जी अर्जुन गाँव में अंग्रेजों की सिंधिया से सन्धि हो गयी जिसमें कोटा राज्य को सिंधिया का प्रभाव क्षेत्र मानकर अंग्रेजों ने फिलहाल कोटा से मित्रता का विचार त्याग दिया। हाँ राजस्थान के अन्य राज्य जयपुर, जोधपुर, अलवर व भरतपुर आदि सिंधिया ने अपने प्रभाव के बाहर मान लिये थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों और सिंधिया के बीच सुर्जी अर्जुन गाँव की सन्धि और मॉनसन को सहायता न देने की दो घटनाएँ कोटा अंग्रेज सम्बन्धों के बीच दीवार बन गयी। टाड महोदय इस विलम्ब में जालिमसिंह को दोषी नहीं ठहराते उनका कहना है कि जालिमसिंह ने "परिस्थितियों के अनुकूल" ही काम किया। डॉ॰ मथुरालाल शर्मा भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि—"ऐसी परिस्थिति में जब उसे अंग्रेज सरकार का संरक्षण प्राप्त नहीं था तथा होल्कर कोटा में

बढ़ा चला आ रहा था, तो जालिमसिंह का पराजित मॉनसन को कोटा राज्य से विदा करना एक दूरदर्शिता पूर्ण कार्य था।" इसके बाद द्वितीय मराठा युद्ध समाप्त होने पर 1805 व 1806 में सिंधिया और होल्कर से जो संधियाँ की गयीं उनमें कोटा को मराठों का प्रभाव क्षेत्र मानकर जालिमसिंह को मराठों से मित्रता बनाये रखने पर बाध्य किया गया। अंग्रेजों की इस उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि जालिमसिंह ने तीन लाख रुपये देकर होल्कर से पीछा छुड़ाया। पिण्डारियों को खुश रखने के लिये अमीर खाँ के परिवार को शेरगढ़ और बिलण्डी के दुर्ग दिये जिनमें केन्द्र बनाकर अमीर खाँ अन्य राज्यों पर आक्रमण करता रहा। यहाँ यह कहना उचित होगा कि अंग्रेजों से सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहने के कारण जालिमसिंह के स्थानीय सम्मान को भारी आघात पहुँचा और कोटा के अनेक हाड़ा सामन्त उसके विरोधी व समालोचक बन गये जिन्होंने जालिमसिंह के विरुद्ध अनेक षड़यन्त्र रचे। उन षड़यन्त्रों का हम आगे अलग से वर्णन करेंगे किन्तु यह सब आंग्ल—कोटा सम्बन्धों की असफलता का प्रत्यक्ष परिणाम बन गये। पिण्डारियों ने भी थोड़े समय बाद कोटा को लूटना शुरू कर दिया और 4 फरवरी, 1814 को तो ये पिण्डारी कोटा नगर में जा धमके। मराठा सरदार भी धन प्राप्ति के लिये आये दिन कोटा पर आक्रमण की धमकी देते थे। वार्षिक लगान के अतिरिक्त होल्कर ने 1804 में सूकेत में तीन लाख रुपये जुर्माना या भेंट लिये और 1809 में सांगानेर में होल्कर के वकील रामदीन ने कोटा के गंगरार में लूटमार करना चाहा किन्तु जालिमसिंह ने उसे रोककर लौटा दिया किन्तु तीसरी बार 1817 में फिर होल्कर की सेना ने कोटा राज्य के राजपुरा क्षेत्र को लूटा।

इसी प्रकार सिंधिया ने भी तीन बार कोटा मे लूटमार करने की चेष्टा की। ये प्रयत्न 1806, 1808 और 1809 ई० में किये गये। इन आक्रमणों को रोकने के लिये जालिमसिंह को सेना का सहारा लेना पड़ा। जालिमसिंह चाहते हुए भी मराठों से मित्रता नहीं रख सका और उसे अपने राज्य की सुरक्षा के लिये अंग्रेजों से मित्रता करने हेतु फिर प्रयत्न करने पड़े।

3. जालिमसिंह का संकल्प—चारों तरफ अशांति का वातावरण व्याप्त था और कोटा का छोटा सा राज्य होल्कर, सिंधिया और पिण्डारियों की शक्ति का सामना करने में असमर्थ था। समय के साथ जालिमसिंह का आंतरिक विरोध भी बढ़ता जा रहा था। कोटा के हाड़ा सरदार इस झाला सरदार से मुक्त होना चाहते थे। अब जालिमसिंह 70 वर्ष से भी अधिक आयु का हो गया था, उसका शारीरिक बल क्षीण होता जा रहा था और नेत्र ज्योति भी क्षीण हो चली थी किन्तु वह स्थान छोड़ने से पहले कोटा राज्य की सुरक्षा को स्थाई रूप और नीति देना चाहता था। उसका यही संकल्प उसे बार-बार अंग्रेजों से मित्रता करने की प्रेरणा देता था। सन् 1803 से 1817 के बीच जालिमसिंह निरन्तर यही प्रयत्न करता रहा और ..., में सन्धि करके ही माना। मूल रूप से यह जालिमसिंह का ही संकल्प व लगन जिसने आखिरकार जालिमसिंह के 15 वर्षों के प्रयत्नों को सफल बना दिया।

वह दिल्ली में स्थित अंग्रेजी रेजीडेन्ट कर्नल मलाज से समय-समय पर दूत भेजकर सलाह लेता रहता था और मलाज उसे यही राय देता था कि समय के अनुकूल व्यवहार करो। वैसे तो अन्य राजा भी अंग्रेजों से सन्धि करने को तैयार थे किन्तु अंग्रेजों ने राजस्थान में सबसे पहले कोटा के जालिमसिंह से ही स्थाई सन्धि की जबकि मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर जैसे बड़े राज्य इस कार्य में पहल पाने का श्रेय प्राप्त नहीं कर सके। टाड महोदय और डॉ० मोहनसिंह मेहता की यह मान्यता है कि यदि पिण्डारियों व मराठों के आतंक ने कोटा को क्षुब्ध नहीं किया होता तो कदाचित् जालिमसिंह अंग्रेजों के चंगुल में नहीं फंसता। अपने देश की सुरक्षा के विचार ने उसे अंग्रेजों से सन्धि करने के लिये विवश कर दिया। कलकत्ता स्थित अंग्रेजी सचिवालय का उच्च अधिकारी सर चार्ल्स मेटकाफ भी जालिमसिंह का हितैषी और मित्र था। जालिमसिंह और मेटकाफ के पत्र व्यवहार का विस्तृत उल्लेख पहले डॉ० कुमारी रामप्यारी शास्त्री ने अपने अप्रकाशित अनुसंधान ग्रन्थ—'राज राणा जालिमसिंह ऑफ झालावाड़' में किया है जिन्हें 15 वर्ष बाद में डॉ० देवेन्द्र पत्नीगढ़ी ने, अपने अनुसंधान लेख 'सरचार्ल्स मेटकाफ' में फिर से दिया है। इस आधार पर डॉ० वी० एस० भार्गव का कहना है कि—"जालिमसिंह के प्रतिनिधि ने कंपनी के साथ 26 दिसम्बर, 1817 के दिन जो सन्धि की थी वह एक ऐसा आदर्श समझौता था जिसे अन्य राजपूत राजाओं के साथ होने वाले समझौतों का आधार बनाया गया था।"[1] अपने इसी संकल्प की पूर्ति के लिये वह अंग्रेजों की गतिविधि पर नजर रखने लगा और जब-जब उसे अवसर मिले तब-तब उसने अंग्रेजों की विशेष रूप से सहायता की। हम ऊपर देख चुके हैं कि अंग्रेज मराठों और पिण्डारियों की शक्ति समाप्त करने पर तुले हुए थे अतः जालिमसिंह ने भी उन्हें सहायता देना शुरू किया।

4. पिण्डारी अभियान—लार्ड हेस्टिंग्ज ने 1817 ई० में पिण्डारियों के दमन की महान संघर्षपूर्ण योजना की घोषणा की और राजस्थान के राजाओं को इस सामाजिक कार्य में सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया और साथ ही यह घोषणा भी कर दी कि जो नरेश इस काम में अंग्रेजी सरकार की सहायता नहीं करेंगे और पिण्डारियों को अपने यहाँ शरण देंगे उन्हें कम्पनी राज्य का शत्रु समझा जायेगा। पिण्डारियों के दमन के लिये लार्ड हेस्टिंग्ज ने कर्नल जेम्स टाड को नियुक्त किया। इससे पूर्व टाड महोदय सिंधिया के दरबार में राजनीतिक एजेन्ट थे। दूरदर्शी जालिमसिंह ने अंग्रेजी घोषणा का सबसे पहले स्वागत किया और दूत भेजकर राजस्थान में आ रहे टाड महोदय को कोटा में निमंत्रित किया। टाड ने 23 नवम्बर, 1817 को कोटा से सिर्फ 25 मील दूर रावटा नामक गाँव में जालिमसिंह से भेंट की। यही रावटा आगे चलकर पिण्डारी दमन का केन्द्र बन गया जहाँ रहकर टाड ने सेनापति जॉन मॉल्काम से पूर्ण सम्पर्क बनाये रखा। मॉल्काम भी यह समझ गया कि जालिमसिंह

---

1. डॉ० वी० एस० भार्गव—राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, पृष्ठ 211.

राजस्थान का एक बुद्धिमान शासक है। उसने आगे चलकर इस झाला सरदार के पिण्डारी अभियान में सहयोग की सराहना करते हुए उसे एक "महत्त्वपूर्ण व्यक्ति" कहकर संबोधित किया। टाड महोदय के निजी शब्दों में—"दूरदर्शी जालिमसिंह ने समझ लिया कि अंग्रेजो सरकार के साथ सहयोग करना आवश्यक है। इस सहयोग और मित्रता का सूत्रपात कोटा राज्य से हुआ और उसके बाद राजस्थान के सभी राजाओं ने उसे स्वीकार करके लुटेरों को सदा के लिये नष्ट कर देने का निश्चय किया।"[1] इसी प्रकार श्री गहलोत का कहना है कि—"टाड और जालिमसिंह ने पिण्डारियों का दमन करने की योजना बनाई।"[2] इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के राजाओं मे टाड ने सबसे अधिक महत्त्व जालिमसिंह को दिया। टाड के कहने पर जालिमसिंह ने युद्ध की तैयारी शुरू कर दी और पाँच ही दिन में इतनी तैयारी हो गयी कि यदि शत्रु आक्रमण करे तो उसे भगाया जा सकता था। टाड ने जालिमसिंह का संदेह दूर करने को स्पष्ट किया कि कम्पनी पिण्डारियों का दमन देश में शान्ति स्थापित करने के लिये कर रही है, राज्य विस्तार के लिये नहीं। इस पर जालिमसिंह ने उत्तर दिया कि—"मुझे आप लोगों पर पूर्ण विश्वास है, जो कुछ आप कहते हैं, म उस पर संदेह नहीं करता। वह दिन दूर नहीं है, जब समस्त भारतवर्ष में एक ही राजनीतिक शक्ति काम करेगी।"[3] टाड महोदय जालिमसिंह की दूरदर्शिता की सराहना करते हुए आगे कहते हैं कि—"दस वर्षों में ही इस भविष्यवाणी की सच्चाई का प्रमाण मिल गया"……देश की समस्त विरोधी शक्तियों को नष्ट कर दिया गया।"[4]

पिण्डारियों के दमन में जालिमसिंह ने कम्पनी को एक सैनिक टुकड़ी भी दी जिसमें चार तोपें और 15 सैनिक थे। इस टुकड़ी ने नर्बदा के पार जाकर जॉन मालकम के साथ पिण्डारियों का दमन किया। दमन के समय पिण्डारियों और मराठों को जालिमसिंह और कोटा पर क्रोध आना स्वाभाविक था किन्तु अंग्रेजों ने हर कठिनाई के समय कोटा राज्य की रक्षा की। आखिरकार दो महीने के कठोर दबाव के बाद जनवरी 1818 में पिण्डारियों का पूर्ण रूप से दमन हो गया। जालिमसिंह ने जो जागीरें पिण्डारियों को दी थी वे वापस छीन ली। मराठों ने उसे अनेक प्रकार के भय दिखाये किन्तु जालिमसिंह ने अंग्रेजों का साथ नहीं छोड़ा। उसकी दृष्टि में अंग्रेजों की मित्रता में जो अधीनता थी वह पिण्डारियों की लूटमार और विनाश से कहीं अधिक अच्छी थी। इसी पिण्डारी दमन के बीच जालिमसिंह टाड और जॉन मालकम का परम् मित्र बन गया और यह व्यक्तिगत मित्रता 26 दिसम्बर, 1817 को अंग्रेजों और कोटा के बीच स्थापित राजनीतिक सन्धि का मूल आधार

1. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 818.
2. गहलोत—राजपूताने का इतिहास—भाग 2, पृष्ठ 78.
3. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 819.
4. टाड—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 819.

बन गई और जालिमसिंह जाते-जाते कोटा को मराठों व पिण्डारियो के भय से मुक्त कर गया। पिण्डारी अभियान कोटा अंग्रेज सन्धि का आधार बन गया।

5. आंग्ल-कोटा सन्धि—26 दिसम्बर, 1817—यह सन्धि दिल्ली में हुई जिसमें अंग्रेजों की तरफ से मैटकाफ और कोटा राज्य की तरफ से जालिमसिंह मंत्री के हस्ताक्षर हुए और जनवरी 1818 में लार्ड हेस्टिंग्ज और कोटा महाराव उम्मेदसिंह ने भी सन्धि पर अपनी-अपनी मोहर लगाकर हस्ताक्षर कर दिये। सारी सन्धि में जालिमसिंह और उसके अधिकारो का कहीं वर्णन नही था। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए मार्च 1818 में इसी सन्धि मे दो नई धाराएँ और जोड़ दी गई जिनमें जालिमसिंह के वंशजो को उसका पद देने का वर्णन था। इस प्रकार कुल मिलाकर इस सन्धि में बारह धाराएँ थी जो निम्नांकित हैं—

(1) कोटा और अंग्रेज शासकों के बीच आपसी हित और मित्रता सदा बनी रहेगी।

(2) एक पक्ष का मित्र या शत्रु दूसरे मित्र का भी मित्र या शत्रु होगा। यह नही कि मराठे अंग्रेजो के तो शत्रु और कोटा के मित्र बने रहे।

(3) अंग्रेजी सरकार ने कोटा को अपने संरक्षण में लिया तथा उसकी सुरक्षा का वचन दिया।

(4) महाराव और उसके उत्तराधिकारियो ने अंग्रेजी सरकार की अधीनता स्वीकार की और सदा सहयोग देने का वचन दिया।

(5) अंग्रेजों की अनुमति के बिना कोटा राज्य किसी अन्य शक्ति से चाहे वह राजस्थानी ही क्यों न हो सन्धि या मित्रता नही करेगा।

(6) किसी राज्य पर आक्रमण करने से पहले कोटा नरेश अंग्रेजों से स्वीकृति प्राप्त करेंगे।

(7) कोटा जो कर अब तक मराठों को देता था वह अब अंग्रेजों को देगा।

(8) अंग्रेजों के अतिरिक्त कोटा और किसी राज्य को कर नही देगा। यदि कोई राज्य ऐसा दावा करेगा तो अंग्रेज उससे निपटेंगे।

(9) आवश्यकता पड़ने पर कोटा अंग्रेजों की सैनिक सहायता करेगा।

(10) कोटा राज्य पर महाराव उम्मेदसिंह और उनके उत्तराधिकारियो का पूर्ण शासन रहेगा और उसके राज्य में अंग्रेज दीवानी या फौजदारी हस्तक्षेप नही करेंगे।

20 फरवरी, 1818 को इसमें एक सहायक लेख के द्वारा दो धाराएँ और जोड़ी गईं।

(11) महाराव उम्मेदसिंह व उनके उत्तराधिकारियो को कोटा का राजा माना गया।

(12) जालिमसिंह और उसके वंशजो को शासन प्रबन्ध का अधिकार दिया गया कि उसके वंशज सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त राज मंत्री बने रहेंगे।[1]

---

1. एचिसन—"ट्रिटीज सनद एण्ड एनगेजमेंट—भाग 3, पृष्ठ 357.

इस प्रकार कोटा अंग्रेजों का मित्र बन गया।

6. सन्धि की आलोचना—राजस्थान के राजाओं के लिए यह सन्धि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई और एक के बाद एक सभी राजस्थानी राजाओं ने कोटा का अनुकरण कर अंग्रेजों से सन्धि कर ली। सन् 1817 में ही बूंदी ने, 1819 में जोधपुर व मेवाड़ ने, और इस बीच डूंगरपुर, बांसवाड़ा व प्रतापगढ़ में भी अंग्रेजों से सन्धि कर ली। फिर 1821 में जयपुर ने भी सन्धि की। बीकानेर, अलवर और जैसलमेर भी अंग्रेजों के मित्र बन गये। इस प्रकार 1817 से 1857 का समय तो अंग्रेजों के साथ राजस्थानी राजाओं के सहयोग का समय बन गया। जिसका श्रेय जालिमसिंह को दिया जाता है। डॉ० मोहनसिंह मेहता का कहना है कि—"कोटा महाराव ने अंग्रेजों के साथ अधीनस्थ सहयोगी के रूप में कार्य करना स्वीकार कर लिया।"[1] सुरक्षा के चक्कर में जालिमसिंह ने उस आजादी को बेच दिया जो मुगलों के समय राजस्थान के राजा जान तक देकर भी बनाये हुए थे। डॉ० कुमारी रामप्यारी शास्त्री ने जालिमसिंह पर आरोप लगाते हुए पूरक सन्धि की दो धाराओं को "कपटपूर्ण" कहा है कि—"वह अंग्रेजों से मिलकर महाराव के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध षड़यन्त्र करना चाहता था।"[2] डॉ० वशिष्ठ की राय है कि यह आरोप—"सत्य की परिधि पर ठीक नहीं उतरता क्योंकि पूरक सन्धि को महाराव उम्मेदसिंह ने जालिमसिंह की कोटा राज्य को दी गई मूल्यवान सेवाओं को ध्यान में रखते हुए निर्विरोध अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।"

डॉ० मथुरालाल शर्मा भी अपनी पुस्तक 'कोटा राज्य का इतिहास' भाग दो में जालिमसिंह पर यह आरोप लगाते हैं कि—"उसने इस गुप्त सन्धि द्वारा कोटा राज्य को हानि पहुँचाई।" यह बात भी आधुनिक विद्वानों को न्यायसंगत नहीं लगती। वैसे यह तो स्पष्ट ही है कि पूरक सन्धि ने कोटा महाराव के अधिकारों को सीमित कर दिया था। डॉ० मेहता का कहना है कि—"आश्चर्य है कि इस विषैले वातावरण के बाद भी कोटा महाराव व अंग्रेजों के बीच सद्भावनापूर्ण संबंध बने रहे।"[3]

टाड महोदय इन पूरक धाराओं के लिए जालिमसिंह को दोष नहीं देते वरन् उसे पूर्ण स्वामीभक्त मंत्री मानते हैं और विश्वासपात्र भी। जब जालिमसिंह को अंग्रेजों ने चार परगनों की जागीर दी तो उसने ये चारों जागीरें कोटा नरेश को दे दी। ऐसे व्यक्ति पर कपटपूर्ण व्यवहार का दोष लगाना उचित नहीं।

---

1. डॉ० मोहनसिंह मेहता—लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इण्डियन स्टेट्स।
2. डॉ० वी० के० वशिष्ठ—स्नातकोत्तर पत्राचार अध्ययन—पाठ 13, पृष्ठ 11.
3. उद्धृत डॉ० वी० एस० भार्गव—राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, पृष्ठ 212.

7. सन्धि के बाद—जालिमसिंह और अंग्रेजों के बीच सन्धि और पूरक सन्धि तो दिसम्बर 1817 और फरवरी 1818 मे हो गई। सामान्य रूप से इस सन्धि के बाद कोटा में सुख-शान्ति और अमन-चैन स्थापित हो जाना चाहिये था किन्तु ऐसा नही हो सका। जहाँ बाहरी आक्रमणों का भय पूर्णरूप से समाप्त हो गया वहाँ आन्तरिक विद्रोहों ने तथा शक्ति प्राप्ति के लिए कोटा महाराव ने एक आमरण संघर्ष शुरू कर दिया और मराठों के आतंक से मुक्त कोटा अब आन्तरिक अशान्ति का केन्द्र बन गया। वैसे तो हाड़ा सरदार जालिमसिंह झाला को राजमंत्री और सेनापति के रूप में देख-देखकर जलते थे तथा समय-समय पर उसके विरुद्ध विद्रोह खड़े करते रहते थे। इस प्रकार के 19 विद्रोह जालिमसिंह के दीर्घकालीन शासन मे हुए जिनमें उसे मार डालने की चेष्टा की गई। किन्तु उसकी दूरदर्शिता से जालिमसिंह का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सका। महाराव उम्मेदसिंह ने अपने शासन के 50 वर्षों में कभी जालिमसिंह की अवहेलना नहीं की और जब पूरक सन्धि में जालिमसिंह के उत्तराधिकारियों को कोटा के महामंत्री पद का स्थाई अधिकार दिया तब भी महाराव उम्मेदसिंह को कोई आपत्ति नही हुई। आन्तरिक समस्या तब खड़ी हुई जब 1819 में महाराव उम्मेदसिंह का देहान्त हो गया और उनका पुत्र किशोरसिंह कोटा का महाराव बना। अगले पाँच वर्ष का समय नाना जालिमसिंह और नाती किशोरसिंह के बीच संघर्ष का समय है जबकि महाराव और महामंत्री के बीच राज्य की वास्तविक शक्ति अपने हाथ मे लेने के लिए युद्ध होते रहे। इस आन्तरिक क्लेश ने आखिरकार कोटा राज्य का विभाजन करवा दिया और अंग्रेजों ने जालिमसिंह के उत्तराधिकारी राजराणा माधवसिंह को 1838 में कोटा का एक तिहाई राज्य दिलवाकर इस आन्तरिक क्लेश का अन्त किया। कोटा राज्य में ही झालावाड़ नामक नये राज्य की स्थापना हो गई। पाँच वर्ष के कटु आन्तरिक मतभेदों के समय अंग्रेजों ने जालिमसिंह के साथ पूर्ण सहयोग बनाये रखा और अंग्रेजों की सहायता से ही राजराणा कोटा में अपना अस्तित्व बनाये रख सका। महाराव किशोरसिंह का स्वतन्त्रता प्राप्ति प्रयास उन्हें महंगा पड़ा और कोटा राज्य में एक नये झालावाड़ राज्य का उदय हो गया। हम यहाँ सिर्फ 1824 तक के सम्बन्धों को ही लेंगे जब जून में जालिमसिंह का देहान्त हो गया था।

कठिनाइयों का आरम्भ दोनों तरफ से हुआ। इधर तो महाराव उम्मेदसिंह का देहान्त और उधर जालिमसिंह को लकवा हो जाना। ये दोनों बातें नये शासक किशोरसिंह की महत्त्वाकांक्षा के कारण बन गई। इनके अतिरिक्त जालिमसिंह का अवैध पुत्र (जो उसकी अविवाहित पत्नी का पुत्र था) गोवर्धनदास भी अपने बड़े भाई और जालिमसिंह के उत्तराधिकारी माधवसिंह या माधोसिंह को अपने मार्ग से हटाकर स्वयं राज्य का सेनापति व मुख्यमन्त्री बनना चाहता था। माधोसिंह भी अयोग्य, आलसी और अफीम के नशे में व्यस्त रहता था। उसका छोटा भाई

गोवर्धनदास उसकी अयोग्यता को लक्षकर स्वयं जालिमसिंह को उत्तराधिकारी बनना चाहता था। इसके विपरीत जालिमसिंह अपने जीवन काल में ही माधोसिंह को अपना पूर्ण उत्तराधिकारी बना देना चाहता था। एक तरफ नये महाराव की नियंत्रण मुक्त होने की इच्छा और दूसरी तरफ जालिमसिंह के छोटे बेटे की शक्ति हड़पने की कामना ने आन्तरिक अशान्ति की ज्वाला में विस्फोटक आहुति का काम किया। नये महाराव जालिमसिंह का आदर करते थे और उसके जीते जी उसकी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते थे। किन्तु जब जालिमसिंह ने अपने अयोग्य लड़के माधोसिंह को सेनापति बना दिया तो चारों तरफ अशान्ति भड़क गई। यदि अंग्रेजी प्रतिनिधि टाड इस समय जालिमसिंह की सहायता न करते तो कोटा दरबार में झाला सरदारों का आधिपत्य समाप्त हो जाता। इस आन्तरिक उत्तराधिकार संघर्ष में अंग्रजों ने जो समर्थन प्रदान किया, उसी के दुष्परिणाम से कोटा का विभाजन हुआ। अब हम इन आन्तरिक क्लेश के पाँच वर्षों में जालिमसिंह व अंग्रेजो के मैत्रिक सम्बन्धों का अवलोकन करें।

महाराव किशोरसिंह और माधोसिंह आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या रखते थे। जब जालिमसिंह को लकवा हो गया और उसका बड़ा लड़का माधोसिंह जो पहले सेनापति था अब पूरक सन्धि के अनुसार राज्य के शासन प्रबन्ध की देखभाल भी करने लगा। महाराव किशोरसिंह स्वयं अपने सेनापति व राजमंत्री की नियुक्ति करना चाहते थे और इसे राजा होने के नाते अपना अधिकार समझते थे। उनकी नजर में माधोसिंह का छोटा भाई गोवर्धनदास अधिक योग्य व स्वामीभक्त था। महाराव ने मेवाड़ में स्थित अंग्रेजी प्रतिनिधि कर्नल जेम्स टाड को अपना विचार लिख भेजा। टाड महोदय ने जो इस समय कोटा, बूंदी और उदयपुर के लिए अंग्रेजी एजेन्ट का काम कर रहे थे, दिनांक 11 मार्च, 1820 को कोटा आकर महाराव से भेंट की और समस्या को सुलझाना चाहा किन्तु यह भी साफ बता दिया कि अंग्रेज पूरक सन्धि में कोई उलटफेर नहीं होने देंगे। महाराव इस बात के लिए तैयार नहीं थे। स्थिति इतनी बिगडी की महाराव ने किले में युद्ध की तैयारी शुरु कर दी। टाड ने जालिमसिंह का साथ दिया और उसे किला घेर लेने का आदेश दिया। अंग्रेज स्वयं खुले आम महाराव का विरोध नहीं करना चाहते थे क्योंकि इससे अन्य राजपूत राजाओं में अशान्ति फैलने की सभावना थी। इसीलिए टाड महोदय ने थोड़ा ढीला व्यवहार रखा। उधर जालिमसिंह के मन में भी एक संघर्ष चल रहा था। उसने आजीवन निःस्वार्थ भाव से कोटा राजघराने की सेवा की थी और अन्तिम दिनों में वह अपने चरित्र पर विश्वासघाती या विद्रोही का दाग नहीं लगवाना चाहता था। अतः वह महाराव के विरुद्ध शस्त्र उठाने में हिचकिचाता रहा। इस ढीलमढाल नीति से महाराव को शक्ति संगठन का अवसर मिल गया और अनेक हाड़ा सरदार माधोसिंह को छोड़कर महाराव किशोरसिंह के पास चले ... । अंग्रेजों की केन्द्रीय सरकार ने इसे टाड की लापरवाही समझ कर उसका

स्वतन्त्र स्थान छीनकर अब उसे मालवा के एजेन्ट के अधीन कर दिया। इस झटके ने टाड महोदय को सक्रिय कर दिया और उसने जालिमसिंह को गढ़ पर आक्रमण करने का आदेश दिया। जालिमसिंह ने गढ को घेर लिया। महाराव ने सेना और खाद्य पदार्थों के अभाव में कोटा छोड़कर जाना उचित समझा। टाड व जालिमसिंह ने उन्हें जाने दिया। यह उनकी भूल थी जिसके फलस्वरूप टाड को दिल्ली की सरकार से फिर चेतावनी मिली। टाड ने यह मांग रखी थी कि गोवर्धनदास को राज्य से निकाल दिया जाय। लाचार होकर महाराव को पहले दिल्ली और फिर बूंदी में शरण लेनी पड़ी। दिल्ली मे अंग्रेजी एजेन्ट ने संधि मे परिवर्तन करने से साफ मना कर दिया और जब महाराव ने बूंदी में शरण ली तो टाड ने बूंदी नरेश को सहायता न देने की चेतावनी दे दी। विवश होकर महाराव ने अपनी शक्ति इकट्ठी कर चम्बल पार करने की चेष्टा की। टाड ने नीमच से अंग्रेजी सेना मँगा ली। बहुत चेष्टा करने पर भी जब महाराव नहीं माने और चम्बल नदी पार कर कोटा राज्य में बढे तो अंग्रेजी सेना ने 1 अक्टूबर, 1821 ई० को महाराव पर आक्रमण कर दिया। महाराव का छोटा भाई पृथ्वीसिंह युद्ध मे मारा गया और स्वयं महाराव को मैदान छोड़कर भागना पड़ा। घूम-घामकर महाराव नाथद्वारा जा पहुँचा और अंग्रेजी एजेन्ट के माध्यम से 22 नवम्बर, 1821 को नाथद्वारा में महाराव और अंग्रेजों में संधि हो गई। चारों तरफ असफलता देखकर महाराव ने नाम मात्र का राजा रहना स्वीकार कर लिया। एक महीने बाद महाराव किशोरसिंह कोटा लौट आये और 21 दिसम्बर, 1821 को बड़ी धूमधाम से उनका राज्याभिषेक हुआ। गोवर्धनदास को दिल्ली भेज दिया गया। माधोसिंह को शासन व सेना पर पूर्ण अधिकार दिया गया। जालिमसिंह अंग्रेजों की सहायता से महाराव के स्वतंत्रता आन्दोलन को दबाने मे सफल रहा। कोटा नरेश एक पेंशन प्राप्त अफसर मात्र रह गए। राजमहलों के बाहर उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं रहा। इस संधि के बदले में महाराव के प्रति स्वामीभक्ति व आस्था की शपथ माधोसिंह ने 7 फरवरी, 1822 को लिखित रूप से दरबार में पेश की जिसमें महाराव के राजकीय सम्मान को परम्पराओं के अनुसार बनाये रखने का वचन दिया। इस प्रकार अंग्रेजों ने अपने मित्र जालिमसिंह का उसके बुढ़ापे में भी साथ दिया और उसके अधिकारों की रक्षा की। अंग्रेजों ने आगे चलकर जालिमसिंह के उत्तराधिकारियों को कोटा राज्य का एक तिहाई भाग दिलाकर 1838 मे झालावाड़ राज्य की नींव डालकर झाला व हाडा वंश के वैमनस्य को समाप्त कर दिया। जालिमसिंह स्वामीभक्त भी बना रहा और अपने परिवार का भी भविष्य उज्वल बना गया। कोटा के झाला मंत्री जालिमसिंह ने झालावाड़ राज्य की स्थापना करवा दी।

□

28

धार्मिक दशा

1 पृष्ठभूमि—युग युगान्तर से राजस्थान धर्म और भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है। सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेष यहाँ भी प्राप्त हुए हैं। हाल ही में पूना विश्वविद्यालय के डॉ० मिश्र ने बागोर में जिस सभ्यता के अवशेष खोज निकाले हैं वे इस बात के प्रतीक हैं कि राजस्थान धर्म और सभ्यता के मामले में आर्य तो क्या सिन्धु निवासियों से भी प्राचीन है। भारत की विभिन्नता यहाँ एकता का रूप धारण कर अमर हो गयी। इस भाग के निवासी जहाँ शिव और विष्णु की उपासना को परलोक सुधारने का साधन मानते हैं वहाँ शक्ति की उपासना में लीन क्षत्रीय बली और युद्ध को ही जीवन का आधार मानते चले आये हैं। स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने वाले निर्भीक राजपूतों में जहाँ प्राचीन शैव और शक्ति धर्म का बाहुल्य है वहाँ व्यापारी वर्ग जैन धर्म के प्रभाव में आकर अहिंसा के अतिशयोक्तिपूर्ण स्वरूप को ही निर्वाण का एक मात्र साधन मान बैठा है। आर्यों की यज्ञ प्रथा में अन्धविश्वासों का ऐसा समावेश हुआ है कि दयानन्द सरस्वती जैसे योगी भी उनके मिश्रण की नींव नहीं हिला सके। यहाँ के राजा अपने आपको राम और लक्ष्मण का वंशज मान कर यज्ञ आदि को महत्त्व देते रहे हैं। यज्ञ द्वारा ही राजपूतों की शुद्धि का सिद्धान्त इस बात का उदाहरण है कि ये लोग आर्य धर्म को प्राथमिकता देते थे। ईसा से 200 वर्ष पूर्व मौर्य वंश के समकालीन राजस्थानी राजा अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। कोटा, मेवाड़ और जयपुर के राजा भी सदा यज्ञ द्वारा ही विभिन्न संस्कारों का पालन करते रहे हैं। अश्वमेध यज्ञ तो सवाई जयसिंह के समय तक होते रहे हैं। राजा लोग जहाँ यज्ञ और शक्ति माँ की पूजा में लीन थे वहाँ जन-साधारण शिव और विष्णु की सरल उपासना से सन्तुष्ट था। व्यापारी वर्ग अहिंसा और जैन धर्म से प्रभावित रहा तो देहाती लोग स्थानीय सम्प्रदायों और सनातनी अन्धविश्वासों के सहारे जीते रहे। राजस्थान जो अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये सजग था वह धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में भी देश के अन्य भागों से आगे निकल गया था। देश के सभी प्रमुख धर्म यहाँ लोकप्रिय थे; अनेक सम्प्रदायों का उदय और अमर-भक्तों की लम्बी तालिका इस बात का प्रमाण है कि राजस्थान की धार्मिक जागरूकता एक आन्दोलन थी। अब हम उन विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों का अध्ययन करें जिन्होंने मध्य व आधुनिक राजस्थान में एक धार्मिक आन्दोलन को बल प्रदान किया।

शैव धर्म—पशुपति शिव, प्रजननशक्ति का प्रतीक शिव, वेदों का रुद्रदेव और भोले उपासकों का आशुतोष, प्राचीनतम काल से भारतीय धर्मों का आधार है फिर भला राजस्थान किस प्रकार इस देवाधिदेव की पूजा से विमुख रह सकता था। भगवान शिव के अनेक नाम थे। पशुपति, अचलेश्वर, चन्द्र चूड़ामणि, पिनाकिन, शम्भू, गौरी पति, सोमेश्वर, भवानीपति, एकलिंग महादेव आदि नामो से राजस्थान में शंकर की उपासना की जाती थी। मेवाड़ राज्य पर तो शिव की असीम कृपा समझी जाती थी और मेवाड़ के महाराणा अपने आपको श्री एकलिंग जी का दीवान मात्र मान कर राज्य करते थे। यहाँ पर लकुलीश सम्प्रदाय के साधुओ का बडा प्रभाव रहा है। ये साधु एकलिंग भगवान की दिन में तीन बार पूजा करते थे। शौच और पिशाब आदि से निवृत्त होने के बाद दिन मे अनेक बार स्नान करते थे। लिंग पूजा पर ही बल देते थे और शिवलिंग पर जल चढ़ाना श्रेष्ठ पूजा व सफलता का साधन मानते थे। मेवाड में आज दिन तक यह धारणा पूर्ण विश्वास रखती है कि मेवाड़ राज्य महाराज श्री एकलिंग जी की कृपा से ही आज दिन तक चला आ रहा है। हाल ही में सम्पन्न लोक सभा के चुनावों में बनेड़ा महाराज के विजयी होने पर उदयपुर के राणाजी ने श्री एकलिंगजी की पद यात्रा की थी। स्पष्ट है मेवाड़ का राजवंश शंकर का परम् भक्त रहा है। यहाँ के लकुलीश साधु सम्प्रदाय का जीवन भी प्रभावशाली है। ये लोग जीवन भर ब्रह्मचारी रह कर शिव की उपासना करते हैं। सिर्फ लंगोट और खड़ाऊँ धारण कर कड़ी सर्दी मे भी नगे रह कर जन-साधारण को प्रभावित करते हैं। श्री एकलिंग जी के पुजारियों मे कुछ महन्त अत्यधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली हुए हैं जिनमें हारीत, वेदांग मुनि, महेश्वर ऋषि, तथा नरहरि आदि आचार्यों के नाम आज भी मेवाड़ में अपना सम्मान व स्थान रखते हैं। महत्त्व की बात यह है कि 17 वी शताब्दी में इस सम्प्रदाय के शिष्यों में से एक स्वामी रामानन्द, बनारस के विख्यात सन्यासी सन्त के नाम से जाने गये।[1]

जोधपुर में भी शिव का उतना ही महत्त्व था जितना मेवाड़ में। मारवाड़ में शिव के उपासक 'नाथो' के नाम से विख्यात रहे हैं। जोधपुर में शिव का महा मन्दिर है और वही नाथो की गद्दी भी है। मारवाड़ के शासन मे भी नाथों का बड़ा हाथ रहा है। इन नाथो को जोधपुर राज्य की तरफ से धन, सम्मान और जागीरें भी दी जाती थी। साधारणतः हर राज्य मे मन्दिरो को माफी की जमीन प्राप्त थी जहाँ पुजारी खेती करवा कर स्वतन्त्र जीवन बिताते थे। नाथो की विशेषता यह है कि ये लोग भगवा वस्त्र धारण करते थे, लम्बे बालों पर ऊँची काली टोपी लगाते थे, कानों मे छेद कर बड़े-बड़े कुंडल पहनते थे, ललाट पर भभूती लगाते और जनता में शिवलिंग की उपासना का प्रचार करते थे।

1. डॉ॰ गोपीनाथ शर्मा—सोशल लाइफ इन मिडीवियल राजस्थान, पृष्ठ 183-84

लोकप्रियता का प्रतीक बन गया है। विष्णु की पूजा अनेक रूपों में की जाती थी। राम, कृष्ण, बलराम-वासुदेव कृष्ण लीला, राधा-कृष्ण की कथाएँ, जन-साधारण में बहुत लोकप्रिय थी।

गाँव-गाँव में कृष्ण व राम के मन्दिर इस बात के प्रमाण है कि राजस्थान की जनता वैष्णव धर्म मे कितना विश्वास रखती थी। मोकल का बनाया हुआ द्वारकाधीश का मन्दिर, कुम्भा द्वारा निर्मित चित्तौड़ व कुम्भलगढ़ का कुम्भश्याम मन्दिर, नाथद्वारा का श्रीनाथ जी का मन्दिर, कांकरोली का द्वारकाधीश का मन्दिर, पुष्कर का पुराना व नया रगजी का मन्दिर, जोधपुर मे घनश्याम जी का मन्दिर आज भी दूर-दूर से भक्तों को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। भगवान कृष्ण की रासलीला और राधिका प्रेम तो मन्दिरों की सीमा पार कर कलाकारों की रुचि के माध्यम से राजप्रासादों, सग्रहालयो और आम जनता के घरों तक मे लोकप्रिय हो गया। उदयपुर का सरस्वती भण्डार, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश और कोटा का संग्रहालय इस प्रकार के चित्रों से आज धनी गिना जाता है। मन्दिरों की दीवारों पर भी कृष्ण लीला चित्रित की जाती थी। राम नवमी और जन्माष्टमी के त्योंहार सदियो से यहाँ के मुख्य त्योंहार माने जाते हैं। रेवाडियों की सवारी निकालना तथा गणगौर का उत्सव मनाना सभी वैष्णव धर्म के प्रधान अग हैं।

राम भक्त हनुमान को जिस आस्था से इस भाग मे पूजा जाता है वह इस बात का प्रतीक है कि राम के प्रति राजस्थान मे कितनी आस्था रही है। नवरात्रि मे राम की विजय पर हर्ष मनाना, वृत रखना और रावण को जलाना आदि यहाँ के [illegible] की राम भक्ति का प्रमाण है। पूरी रामलीला का नाटक और जन्माष्टमी पर विभिन्न झाकियो का प्रदर्शन इस देश में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता और [illegible] प्रमाण है। यह सौभाग्य की बात है कि विश्वविख्यात कृष्ण भक्त [illegible]बिहारी जी राजस्थान के ही निवासी थे जिन्होने कृष्ण प्रेम की [illegible] गीतों से हमेशा के लिये अमर बना दिया। इनके अतिरिक्त [illegible] बीकानेर के पृथ्वीराज भी अपने युग के परम भक्त राजा [illegible] सहयोग से वैष्णव धर्म राजस्थान में और लोकप्रिय हो

इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त नागा, खाखी व सिद्ध लोग भी शिवधर्म अनुयायी थे। नागा लोग अखाड़े बनाकर रहते थे, राज्य की तरफ से इन्हें जागी प्राप्त थी। इनके महन्तो की सवारी हाथियो पर निकला करती थी और ये लो आतंक स्थापित कर जनता से धन वसूल करते थे। नगे रहना, शरीर पर भस लगाना, बड़े-बड़े लक्कड़ जलाकर अग्नि प्रज्वलित रखना, तथा अनेक शारीरिक कष्ट सह कर लोगो को अचरज में डालना इनका सामान्य काम था। ये लोग कठो तपस्या करते थे, जो लोक दिखावा भी था और शारीरिक वासनामय इच्छाओ प नियंत्रण रखने के लिये भी आवश्यक समझा जाता था। खाखी लोग भी इन्हीं की जमात बना कर चलते थे। इनमें विद्वान व तपस्वी लोग भी होते थे किन्तु इनका जीवन बड़े ठाट बाट का होता था। सिद्ध लोगों का तरीका तो अलग ही था। तांत्रिक विद्या व तपस्या के माध्यम से सिद्धि प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष सम झते थे और शिव के रुद्र रूप को मान्यता देते थे। श्मशानों में कठोर तपस्या औ शिव मंत्रों का उच्चारण इन्हे सिद्धि दिलाता था और ये जीते जी अपने आपको शिव का अग मानने लगते थे। इस प्रकार, लकुलीश, नाथ, नागा, खाखी, सिद्ध, अनेक सम्प्रदाय राजस्थान में अपने-अपने तरीकों से भगवान शिव की पूजा व प्रचार मे लीन थे। राजस्थान में शिवलिंग व चतुर्मुख शिव की अधिक पूजा होती रही है। कदाचित् ही कोई गांव या कस्बा ऐसा हो जिसकी प्रत्येक बस्ती मे एक दो शिव मदिर नही हों। राजाओं ने भी इस प्रकार के मन्दिरों के निर्माण मे पूर्ण योगदान दिया। जोधपुर मे राव गागा की रानी नानिक देवी ने अचलेश्वर का मन्दिर स्थापित कर अपनी आस्था को अमर कर दिया। उदयपुर में महाराणा कुम्भा ने एकलिंग जी को स्थाई जागीर देकर इस स्थान का महत्त्व बढ़ा दिया। इसी प्रकार डूंगरपुर मे धन-माता के पहाड़ पर महाकाल का मन्दिर शिव आस्था का प्रमाण है। जन-साधारण में भी शैव धर्म सबसे लोकप्रिय था। सोमवार का व्रत रखना, सावन के हर सोम-वार पर लगन से शिव व्रत रखना व पूजन करना, सावन के अन्तिम सोमवार के दिन गांव-गांव में शिव मन्दिरो में मेले लगना तथा शिवरात्रि व्रत का सब वर्गों मे लोकप्रिय होना इस बात का प्रमाण है कि राजस्थान मे शिव के अनुयायी सदा बहु-संख्य रहे है।

3. वैष्णव धर्म—शैव धर्म की तरह वैष्णव धर्म भी राजस्थान के प्राचीन-तम धर्मों मे से एक है। सामान्यतः राजपूत राजा अपने आपको राम या लक्ष्मण का वंशज मानते हैं इसलिये विष्णु की उपासना परम प्रधान सी बन गयी। राम भी भगवान विष्णु के अवतारों में मे एक गिने जाते हैं अतः विष्णु की उपासना के प्रति राजा व प्रजा दोनो की वशागत रुचि चली आ रही है। इसी प्रकार कृष्ण के रूप मे भी विष्णु की उपासना ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व से चली आ रही है। विभिन्न शिलालेखों पर जो जयपुर, उदयपुर आदि राज्यों मे प्राप्त हुए हैं 'श्री राम जी' शब्द का प्रयोग सबसे पहले व ऊपर किया गया है जो वैष्णव धर्म की

लोकप्रियता का प्रतीक बन गया है। विष्णु की पूजा अनेक रूपों में की जाती थी। राम, कृष्ण, बलराम-वासुदेव कृष्ण लीला, राधा-कृष्ण की कथाएँ, जन-साधारण में बहुत लोकप्रिय थी।

गाँव-गाँव में कृष्ण व राम के मन्दिर इस बात के प्रमाण है कि राजस्थान की जनता वैष्णव धर्म मे कितना विश्वास रखती थी। मोकल का बनाया हुआ द्वारकाधीश का मन्दिर, कुम्भा द्वारा निर्मित चित्तौड व कुम्भलगढ़ का कुम्भश्याम मन्दिर, नाथद्वारा का श्रीनाथ जी का मन्दिर, काकरोली का द्वारकाधीश का मन्दिर, पुष्कर का पुराना व नया रंगजी का मन्दिर, जोधपुर मे घनश्याम जी का मन्दिर आज भी दूर-दूर से भक्तो को अपनी तरफ आकर्षित करते है। भगवान कृष्ण की रासलीला और राधिका प्रेम तो मन्दिरों की सीमा पार कर कलाकारो की रुचि के माध्यम से राजप्रासादो, संग्रहालयो और आम जनता के घरो तक मे लोकप्रिय हो गया। उदयपुर का सरस्वती भण्डार, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश और कोटा का संग्रहालय इस प्रकार के चित्रो से आज धनी गिना जाता है। मन्दिरों की दीवारों पर भी कृष्ण लीला चित्रित की जाती थी। राम नवमी और जन्माष्टमी के त्योहार सदियो से यहाँ के मुख्य त्योंहार माने जाते हैं। रेवाड़ियो की सवारी निकालना तथा गणगौर का उत्सव मनाना सभी वैष्णव धर्म के प्रधान अंग हैं।

राम भक्त हनुमान को जिस आस्था से इस भाग मे पूजा जाता है वह इस बात का प्रतीक है कि राम के प्रति राजस्थान मे कितनी आस्था रही है। नवरात्रि मे राम की विजय पर हर्ष मनाना, व्रत रखना और रावण को जलाना आदि यहाँ के लोगों की राम भक्ति का प्रमाण है। पूरी रामलीला का नाटक और जन्माष्टमी पर कृष्ण की विभिन्न झांकियो का प्रदर्शन इस देश में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता और गहरी जडो का प्रमाण है। यह सौभाग्य की बात है कि विश्वविख्यात कृष्ण भक्त मीराबाई और बिहारी जी राजस्थान के ही निवासी थे जिन्होंने कृष्ण प्रेम की महिमा को अपने स्नेहमय गीतो से हमेशा के लिये अमर बना दिया। इनके अतिरिक्त जोधपुर के विजयसिंह और बीकानेर के पृथ्वीराज भी अपने युग के परम भक्त राजा थे जिनके संरक्षण और सहयोग से वैष्णव धर्म राजस्थान मे और लोकप्रिय हो गया।

4. जैन धर्म—राजस्थान के राजा शैव या वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी राजधर्म या धार्मिक सहिष्णुता में पूर्ण विश्वास रखते थे और यही कारण है कि वीरो और तलवार के धनी राजपूतों के इस देश में अहिंसा का प्रतीक जैन धर्म भी शान्ति सरोवर समान इस भूमि पर हिलोरे मारता रहा। जैन धर्म भारत के दो प्रदेशों मे विशेष लोकप्रिय है। एक मैसूर और दूसरा राजस्थान। मुसलमानो के आक्रमणों के साथ बौद्ध धर्म तो भारत से पलायन ही कर गया किन्तु जैन धर्म सुदूर दक्षिण और राजस्थान के सुरक्षित स्थानों मे आ बसा। हम देखते हैं कि मध्यकालीन और आधुनिक युग में राजस्थान, अधिकतर हिन्दू राजाओं के ही अधीन रहा।

अतः जैन धर्म को यहां सुरक्षा व प्रगति का अवसर मिलता रहा। राजस्थान में श्वेताम्बर शाखा का अधिक प्रचार हुआ। इनमें भी मन्दिरमार्गी और मुमती धारी अधिक लोक प्रिय थे। श्वेत वस्त्र धारण किये ये जैनी साधु अपनी सादगी, विद्वत्ता और प्रचार कार्य के लिये आज भी प्रसिद्ध हैं। वैश्य लोगों में जो दिन भर धन कमाने मे व्यस्त रहते थे, रात्रि में उपासरों में जाकर धर्म की कथाओं का स्मरण करना बहुत लोकप्रिय था। यही कारण है कि राजस्थान का धनी वैश्य वर्ग इस धर्म का अनुयायी होता गया। समृद्धि और अपरिग्रह का संयोग जो राजस्थान के जैन धर्म में देखने को मिलता है वह अन्यत्र कहीं नही मिलता।

जैन धर्म के अन्तर्गत समृद्ध जैनी ऐसे उपासरों का निर्माण कराते थे जिनमें *साधु रहते थे और समय-समय पर भक्तों में से एक दो वृद्ध या युवा, स्त्री या पुरुष* बडी धूमधाम से साधु वृत ग्रहण कर जनता में उत्साह भरते रहते थे। ये उपासरे प्रचार के साथ-साथ शिक्षा के भी केन्द्र थे जहाँ साधु सन्त शिक्षा सम्बन्धी चर्चा, व्याख्यान और वृत आदि दिया करते थे। यहाँ जनता में अणु वृतों का प्रचार भी किया जाता था। कोई यौवन से भरपूर अवस्था में शील वृत ग्रहण करता तो कोई अपनी प्रिय वस्तु का प्रयोग कुछ समय के लिये छोड़कर संयम का अभ्यास करता। इन्हीं उपासरों में बड़ी-बड़ी पुस्तकों का संग्रह किया जाता। समृद्ध जैनी अपनी धार्मिक पुस्तकों को अन्य लोगों से लिखवा कर इन उपासरो में संग्रह करते थे जो कालान्तर मे जाकर बड़े-बड़े संग्रहालयो में परिणत हो गये। जैन धर्म ग्रन्थ 12 अंगों पर आधारित है जो पांचवी शताब्दी से जैन साहित्य राजस्थान मे उपलब्ध होने लगा है। श्वेताम्बरो को दो वस्त्र धारण करने की स्वीकृति है और इनके ग्रन्थ अर्धमागधी मे हैं जो 'अंग' कहलाते हैं। इनका संकलन लिखित रूप मे पांचवी शताब्दी में हुआ था। इनके ग्रन्थ गृहस्थ स्त्री पुरुषो के लिये अलग-अलग होते हैं। भद्रबाहु द्वारा रचित 'कल्पसूत्र' जहां अपनी कथाओ के लिये लोकप्रिय है वहां एक आदर्श गृहणी व गुण सम्पन्न नारी के लिये 'गुण सुन्दरी' भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह सभी साहित्य अब राजस्थान की प्रचलित भाषाओ मे उपलब्ध है। दिगम्बरों का साहित्य चार भागो मे 'वेद' के नाम से संकलित है किन्तु इसका अभी सभी भाषाओं में अनुवाद नहीं मिलता। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और परलोक सुधारने की भावना इस धर्म ने जनसाधारण में फैला दी है।

राजस्थान के जैनी अधिकतर मूर्तियो की स्थापना करते रहे हैं और महावीर स्वामी, पार्श्वनाथ और ऋषभदेव की मूर्तियां व मन्दिर बनवाते रहे हैं। जो आज भी जैन धर्म की लोकप्रियता का प्रमाण बन हमारे सामने खड़े हैं। चार हजार फुट की ऊंची पहाड़ी पर खड़े संगमरमर के देलवाड़ा मन्दिर अपनी छटा व सौन्दर्य के साथ जैन धर्म की समृद्धि व लोकप्रियता के गीत आज भी गाते हैं। इसी प्रकार कुम्भाकालीन रणकपुर के 85 शिखरों का जैन मन्दिर जिसे मूर्तियो की भरपूर अश्लीलता के लिये वैश्या मन्दिर भी कहा गया है, देलवाड़ा का प्रतिबिम्ब और जैन

धर्म के बढ़ते प्रभुत्व का प्रतीक है। अजमेर में ढाई दिन का झोंपड़ा और सोनी जी की नसियाँ भी प्राचीन व आधुनिक जैन परम्पराओं के मिलन का आधार है। यहां तक कि चित्तौड़गढ़ के हृदय में आसित जैन मन्दिर इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि पराक्रमी क्षत्रीय राजा जहां रक्त की नदियाँ बहा सकते थे वहाँ अहिंसा के इस प्रतीक धर्म को भी पूरा सम्मान व स्नेह देते थे। राजस्थान के अनेक स्थानों पर जैनियों के शिलालेख मिले हैं जिन पर मूर्ति स्थापना और वृत प्रगति अंकित है। राजस्थान में जैन धर्म की सबसे बड़ी देन हस्तलिखित धर्म साहित्य की प्रतिलिपियां हैं जो जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इसी साहित्य ने जैन धर्म को अमर बना दिया है।

5. शक्ति पूजा—कदाचित् ही कोई राजस्थानी ऐसा हो जो राजपूतों के इस अभिवादन शब्द से परिचित न हो कि हर राजपूत नमस्ते या राम राम न कह कर 'जय माताजी री' कहता है। बलि देते समय, शत्रु पर आक्रमण करते समय या किसी भी कार्य का आरम्भ करते समय राजपूत मुख से इसी शब्द का आव्हान करते हैं। राजस्थान के उस युग का जीवन बलिदान, त्याग, युद्ध, भय और मृत्यु से अधिक जुड़ा हुआ है। राज्य शक्ति पर आधारित था, शौर्य में जब आराधना जुड़ी तो शक्ति माँ का स्वरूप अधिक सबल हो गया। काली माँ, अम्बिका, दुर्गा, जोगमाँ, भगवती, योगेश्वरी, अरण्यवासिनी व अष्टमात्रिका आदि रूपों में माता की पूजा होने लगी जिसमें वात्सल्य, शक्ति और विजय का समावेश देखा गया। स्थान-स्थान पर शक्ति माँ की पूजा होने लगी और राजाओं ने स्वयं माँ के विशाल व महत्त्वपूर्ण मन्दिरों की स्थापना की। चित्तौड़ का काली माँ का मन्दिर, गोगुन्दा में शीतला का मन्दिर, देशनोक में कर्णीजी का मन्दिर इस बात के उदाहरण हैं कि शक्ति माँ की आराधना राजघरानों में लोकप्रिय थी। इसी माता में जनसाधारण ने लक्ष्मी, पार्वती, राधिका, सरस्वती, सावित्री और संतोषी माता का रूप देखा और थोड़े-थोड़े स्थान के अन्तर पर यह शक्ति माँ विभिन्न नामों व रूपों में पूजी गयी। राजस्थान के स्त्री समाज की जितनी आस्था इन देवियों की पूजा में है उतनी देवताओं की आराधना में नहीं है। संतोषी माता में जनसमुदाय ने दुर्गा, पार्वती और लक्ष्मी का रूप पाया है। योग्यवर की प्राप्ति के लिये हर शुक्रवार को कृपोदरीगण चने व गुड़ लिये इस माता के मन्दिर में उमड़ पड़ती हैं और माता उनकी मनोकामना पूर्ण कर अपनी आस्था बनाये हैं। राजस्थान में स्त्री रूप में देवी पूजा का जो विलक्षण प्रभाव देखने को मिलता है वह अन्यत्र नहीं है।

6. इस्लाम धर्म—महमूद गजनी के समय से राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश माना जाता है। वैसे 12वीं शताब्दी से इस धर्म का राजस्थान में प्रचार शुरू हुआ। देश के अन्य भागों को जीतकर तो सुल्तानियत काल के शासकों ने शक्ति व तलवार के जोर से इस्लाम का प्रचार किया जिसमें काश्मीर, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल प्रमुख हैं किन्तु भारत के इस भाग पर उनका स्थाई अधि-

...और पर जैन धर्म इनकी आलोचना का केन्द्र रहता था। ईश्वर को निराकार ... भी उन्होंने उसे राम, कृष्ण, अल्ला आदि कई नामों से सम्बोधित किया ... इसका ग्रन्थ जम्भवाणी या शब्द वाणी राजस्थानी भाषा में लिखा गया है जो ... साहित्य के लिये आज भी लोकप्रिय है। जांभोजी ने शिष्य प्रणाली को अपनाया ... आज भी प्रचलित है। इनके अनुयाइयों को बिश्नोई इसलिये कहा गया कि इनके ... उपदेश बीस और नौ थे। इस प्रकार इनको बिश्नोई कहा गया। इनकी शिक्षाओं ... वैष्णव, आर्य, जैन और इस्लाम धर्म की श्रेष्ठ बातों का सामञ्जस्य साफ झलकता ... इनके अनुयाई इन्हें विष्णु का अवतार समझ कर आज भी पूजते हैं। इनके ... नियमों का आधार या सार इस प्रकार है। ये गृहस्थ में भी संयम को महत्व ... देते हैं।

... बच्चा होने पर स्त्री से 30 दिन तक काम न लें तथा रजस्वला स्त्री को ... पांच दिन अलग रखें, एक औरत से सन्तुष्ट रहे। ये सब बातें गृहस्थ नियम से ... सम्बन्धित हैं। रोज स्नान करना, संतुष्ट रहना, सांझ को आरती करना, अग्नि में ... घी की आहुति देकर यज्ञ करना और पांच बार विष्णु का नाम लेना आदि उपदेश ... वैष्णव धर्म का प्रभाव लगते हैं। चोरी न करना, झूठ न बोलना, हिंसा न करने ... ना, सोचकर बोलना, क्रोध न करना, पर निन्दा न करना, हरा वृक्ष न काटना, ... अमावस को व्रत रखना आदि जैन धर्म के ही सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप है। जांभोजी ... जानवरों की रक्षा पर भी जोर देते हैं, भेड़, बकरी और बैल को बाधी न करने का ... उपदेश देते हैं। इस प्रकार इनके बीस उपदेश सामान्य पुराने धर्मों के समान ही हैं। ... जांभोजी पर प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का भी प्रभाव था और वे नशीले पदार्थों ... के सेवन का विरोध करते हैं। अगले नौ उपदेशों में वे तम्बाखू, शराब, अफीम और ... भांग का प्रयोग वर्जित करते हुए अधिक चमक-दमक के कपड़े न पहनने व संसार से ... अधिक मोह न करने का आदेश देते हैं। अन्त में वाद-विवाद से दूर रह कर सबके ऊपर दया रखने को कहते हैं। जांभोजी के उपदेशों में जानवरों को अमर कर देने व नशीले पदार्थों को त्यागने पर जो जोर दिया गया है वह उनकी अपनी मौलिकता है। इस सम्प्रदाय के अनुयाइयों की संख्या बढ़ती ही जा रही है जो इसकी सरलता और लोकप्रियता का प्रतीक है।

8. भक्ति आन्दोलन—युग की प्रगति जिज्ञासु प्राणी के आध्यात्मिक उत्थान का आधार बन जाती है। साथ ही विभिन्न धर्मों की आपसी प्रतियोगिता नये मूल्यों को जन्म देती है और ऐसे समय में भक्तों की आराधना, विचारकों का चिन्तन और आडम्बरों पर प्रतिबन्ध शुरू हो जाते हैं जिसे विद्वान् सहज ही धार्मिक आन्दोलन या भक्ति आन्दोलन का नाम दे देते हैं। आर्य धर्म के एकाधिकार और धर्मलिप्सा को महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने चुनौती दी। पिछली कई शताब्दियों से देश धार्मिक कर्मकांड व अन्धविश्वासों में डूबा जा रहा था। मुगलों के आगमन ने हिन्दू धर्म के अस्तित्व को एक बड़ी चुनौती दी थी। भारतीय और

कार कभी नही रहा और उनके तूफानी व विनाशकारी आक्रमण राजस्थान के धार्मिक विश्वासों को शक्ति मे नही डिगा सके। राजस्थान मे इस्लाम का प्रचार सन्तो और फकीरो के माध्यम से हुआ। अजमेर के ख्वाजा मुइनउद्दीन चिश्ती का नाम कौन नही जानता। इनकी दरगाह पर हज करने के लिये दूर-दूर देशों से यात्री आते है। अकबर को भी ख्वाजा साहब की कृपा से ही जहांगीर जैसा एक मात्र पुत्र प्राप्त हुआ था। ख्वाजा साहब ने अपनी सरल और सहज भावना से इस धर्म को लोकप्रिय बना दिया। उन्ही के व्यक्तिगत प्रभाव से राजस्थान में इस्लाम का प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त नागौर, मेड़ता, जालौर और मांडल में भी फकीरों की शक्ति द्वारा इस्लाम का प्रचार हुआ। आज दिन भी उन फकीरो व पीरो की दरगाह पर वार्षिक मेले होते है और जन साधारण की यह मान्यता है कि उनके संकट इन पीरों की आराधना से दूर हो जाते हैं। राजस्थान के राजा सदा सहिष्णुता का पालन करते थे। उन्होने जहां जैन व अन्य धर्मों के मन्दिरों की स्थापना मे खुले हाथ से दान दिया था वहां वे इस्लाम धर्म को भी पूर्ण संरक्षण प्रदान करते थे। महाराजा अजीतसिंह और जगतसिंह ने ख्वाजा साहब की दरगाह के अजमेर के आस-पास कई गांवो को जागीर भी भेंट दी थी। अकबर के समय से तो मुगलों के अधीन आ जाने के कारण अजमेर में इस्लाम का केन्द्र ही बन गया और सभी बादशाहो ने दरगाह के गठन व विस्तार मे पूरा योग दिया। किन्तु समय-समय पर कठोर शासकों की अधीनता मे तोड़-फोड़ की नीति अपना कर शासको ने इस्लाम के प्रति शत्रु भावना को जन्म दिया और इस क्षेत्र मे इस्लाम की प्रगति को धक्का लगा। हिन्दुओं और मुसलमानों में कटुता बढी किन्तु साथ-साथ रहने के कारण ये एक दूसरे को प्रभावित करते रहे और सांस्कृतिक समन्वय ने एक नई सभ्यता को जन्म दिया। राजपूत राजाओ ने मुसलमान कलाकारों व शिल्पियों को अपने यहां स्थान देकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

7. **विश्नोई सम्प्रदाय**—विश्नोई धर्म के जन्मदाता जांभोजी का जन्म जोधपुर के पीपांसर गांव मे सन् 1451 ई० मे हुआ था। आप जन्म से राजपूत थे किन्तु मारवाड़ की मर्दमशुमारी के अनुसार जब ये 15 वर्ष के थे तो इनके माता-पिता का देहान्त हो गया और लोग इन्हे गूंगा कह कर पुकारते थे। 34 वर्ष की अवस्था तक इन्होंने अपनी जबान से एक शब्द भी नही बोला और 1485 ई० मे अपने धार्मिक विचारों का प्रचार शुरू किया और 41 वर्ष तक प्रचार करने के बाद 1526 ई० मे इनको स्वर्ग प्राप्त हुआ। कुछ हिन्दी के शोध विद्यार्थियों की धारणा है कि ये विष्णु के अवतार थे और अपने अनुयाइयों से दिन में पाँचो वक्त विष्णु की पूजा करने को कहते थे। जांभोजी मूर्तिपूजा मे विश्वास नही करते थे और ईश्वर के निराकार रूप की आराधना करते थे। अग्नि में घी की आहुति देकर यज्ञ करने के पक्ष में थे जिससे इनके विचारों पर आर्य धर्म का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। इनमें धार्मिक सहिष्णुता भी बहुत थी किन्तु फिर भी अन्य धर्मों की आलोचना करते थे।

खास तौर पर जैन धर्म इनकी आलोचना का केन्द्र रहा था। ईश्वर को निराकार मानते हुए भी उन्होंने उसे राम, कृष्ण, मल्ला आदि कई नामों से सम्बोधित किया है। इनका ग्रन्थ जम्भवाणी या शब्द वाणी राजस्थानी भाषा में लिखा गया है जो अपने साहित्य के लिये आज भी लोकप्रिय है। जांभोजी ने जिस धर्म की स्थापना की वो आज भी प्रचलित है। इनके अनुयायियों को विश्नोई इसलिये कहा गया कि इनके उपदेश बीस और नौ थे। इस प्रकार इनको बिश्नोई कहा गया। इनकी शिक्षाओं में वैष्णव, आर्य, जैन और इस्लाम धर्म की श्रेष्ठ बातों का समन्वय साफ झलकता है। इनके अनुयायी इन्हें विष्णु का अवतार मानकर आज भी पूजते हैं। इनके उपदेशों का आधार या सार इस प्रकार है। ये गृहस्थ में भी संयम को महत्त्व देते हैं:—

बच्चा होने पर स्त्री से 30 दिन तक काम न लें तथा रजस्वला स्त्री को पांच दिन अलग रखें, एक औरत से सन्तुष्ट रहें। ये सब बातें गृहस्थ नियम से सम्बन्धित हैं। रोज स्नान करना, संतुष्ट रहना, सांझ को आरती करना, अग्नि में घी की आहुति देकर यज्ञ करना और पांच बार विष्णु का नाम लेना आदि उपदेश वैष्णव धर्म का प्रभाव लगते हैं। चोरी न करना, झूठ न बोलना, हिंसा न करने देना, सोचकर बोलना, क्रोध न करना, पर निन्दा न करना, हरा वृक्ष न काटना, अमावस को व्रत रखना आदि जैन धर्म के ही सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप है। जांभोजी जानवरों की रक्षा पर भी जोर देते हैं, भेड़, बकरी और बैल को बधी न करने का आदेश देते हैं। इस प्रकार इनके बीस उपदेश सामान्य पुराने धर्मों के समान ही हैं। जांभोजी पर प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का भी प्रभाव था और वे नशीले पदार्थों के सेवन का विरोध करते हैं। अगले नौ उपदेशों में वे तम्बाखू, शराब, अफीम और भांग का प्रयोग वर्जित करते हुए अधिक चमक-दमक के कपड़े न पहनने व संसार से अधिक मोह न करने का आदेश देते हैं। अन्त में वाद-विवाद से दूर रह कर सबके ऊपर दया रखने को कहते हैं। जांभोजी के उपदेशों में जानवरों को अमर कर देने व नशीले पदार्थों को त्यागने पर जो जोर दिया गया है वह उनकी अपनी मौलिकता है। इस सम्प्रदाय के अनुयाइयों की संख्या बढ़ती ही जा रही है जो इसकी सरलता और लोकप्रियता का प्रतीक है।

8. भक्ति आन्दोलन—युग की प्रगति जिज्ञासु प्राणी के आध्यात्मिक उत्थान का आधार बन जाती है। साथ ही विभिन्न धर्मों की आपसी प्रतियोगिता नये मूल्यों को जन्म देती है और ऐसे समय में भक्तों की आराधना, विचारकों का चिन्तन और आडम्बरों पर प्रतिबन्ध शुरू हो जाते हैं जिसे विद्वान् सहज ही धार्मिक आन्दोलन या भक्ति आन्दोलन का नाम दे देते हैं। आर्य धर्म के एकाधिकार और खर्चीलेपन को महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने चुनौती दी। पिछली कई शताब्दियों से देश धार्मिक कर्मकाण्ड व अन्धविश्वासों में डूबा जा रहा था। मुगलों के आगमन ने हिन्दू धर्म के अस्तित्व को एक बड़ी चुनौती दी थी। भारतीय और

इस्लामी सभ्यता का समन्वय सागर के तूफान की तरह सब कुछ बदल देना चाहता था। जन-साधारण का विश्वास डांवाडोल और अस्थिर था ऐसी दशा में मन को शान्ति और विश्वासों को बल देने वाले भक्त ही होते हैं और मध्य व आधुनिक राजस्थान में भी इस प्रकार के भक्तों की विस्तृत कतार ने धर्म में सुधार और नये प्रवाह का संचार किया। रूढ़ीवाद का स्थान ईश्वर भक्ति ने ले लिया। मुसलमानों ने जब मन्दिरों को ढमाना और मूर्तियों को तोड़ना शुरू किया तो जन-साधारण बिना मूर्ति के अपने प्रभु का चिन्तन करने लगा। ठीक यही दशा राजस्थान की हुई, भजन, मनन, गायन और कीर्तनों पर लोगों ने अत्यधिक ध्यान दिया। सत्संग और हृदय के विचारों की शुद्धि पर ध्यान देकर सब धर्मों मे समानता खोजी जाने लगी। ईश्वर और फादर, माँ और मदर मे समानता देखी गयी। राम और रहीम को एक माना गया तो यही एक धार्मिक आन्दोलन बन गया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिनका संक्षिप्त वर्णन भी यहाँ हम आवश्यक समझते हैं। ये सम्प्रदाय निम्नांकित हैं—

(1) मीरां सम्प्रदाय—मीरा प्रेम और भक्ति की दीवानी थी। अपने जोगी के प्रति आकुलता ने उसके गीतों को इतना सरस, मीठा और दर्दपूर्ण बना दिया है कि यह कृष्ण भक्ति मे यदि सूरदास जी की साहित्यिकता को नही पा सकती तो भी काव्य के रस-दर्द और मिठास में सूरदास से आगे निकल जाती है। अपने जोगी की दीवानी मीरा का आराध्य कोई साधू या योगी था अथवा यह कृष्ण की दीवानी थी इस विषय को लेकर समालोचकों ने साहित्य के क्षेत्र मे मीरा के श्वेत वस्त्रों पर अपने कलुषित मन की कालिमा को पोतने की अनन्त चेष्टा की है किन्तु बादलों मे पूनम का चांद नही छिपता, सत्य पर मिथ्या का परदा सदा नही रहता उसी प्रकार कृष्ण की दीवानी मीरा को यदि राजस्थान की राधा कहें तो भी कम होगा। साहित्यकारों का आधार लेकर जो इतिहासकार मीरा के प्रेम को लौकिक और राणा के सन्देह को सत्य मान लेते हैं वे धर्म-भक्ति और आराधना का ही मखोल नही उड़ाते वरन् अपने असंतुष्ट मन की दुर्गन्ध से मीरा के अध्ययन को दूषित करना चाहते हैं। साहित्य में बहुचर्चित और मेवाड के राजकुमार की पत्नी मीरा का सारा जीवन दुःख, असफलता और विरोध से भरा पड़ा है। जीवन के कटु अनुभवों और सासारिक ठोकरों ने मीरा के प्रेम को तपे सोने की तरह पवित्र बना दिया और मीरा के गीतों में वासना की खोज करने वाले उसके वास्तविक स्वरूप के दर्शन से वंचित रह गये।

यहाँ मीरा के लौकिक जीवन का भी संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना उपयुक्त रहेगा। मीरा का जन्म मारवाड़ के एक गाँव-कुड़की मे हुआ था। इसके पिता रतनसिंह, मेडता के शासक दूदाजी के चौथे पुत्र थे। मीरा अपने पिता की इकलौती बेटी थी। जब मीरा छोटी ही थी तभी उसकी माता का देहान्त हो गया था और मीरा का लालन-पालन उसकी दादी ने मेड़ता में किया था। मीरा के दादा-दादी

कृष्ण के परम भक्त थे और मीरा बचपन से ही कृष्ण-भक्ति के गीत गाया करती थी। ओझा जी का कहना है कि एक बारात को देखकर मीरा ने अपनी दादी से पूछा कि 'मेरा दुल्हा कहाँ है?' इस पर दादी ने कहा कि तुम्हारा दूल्हा गिरधर गोपाल है।[1] इस प्रकार के भक्ति वातावरण में पली मीरा विवाह से पहले ही कृष्ण को अपना दुल्हा मान चुकी थी। मीरा का जन्म लगभग 1499 ई० में माना जाता है। कर्नल टाड मीरा को राणा कुम्भा की पत्नी बताते हैं जो सत्य नहीं है। दोनों के विचारों का मेल शारीरिक गठबन्धन का आधार नहीं हो सकता। कुम्भा भी कृष्ण भक्त था और मीरा भी। वास्तव में युवा होने पर मीरा का विवाह राणा सांगा के पाटवी कुँवर भोजराज से किया गया। विवाह के समय मीरा की आयु 19 वर्ष थी किन्तु गोपीनाथ जी विवाह के समय मीरा की आयु काफी कम मानते हैं। उनके अनुसार 1515 में मीरा के दादा का भी देहान्त हो गया और उसका पति पहले ही मर गया था।[2] गोपीनाथ जी स्वयं मीरा का जन्म 1498-99 ई० में मानते हैं। इस दशा में विधवा होते समय मीरा की आयु 16 वर्ष से भी कम आती है और डॉ० आसोपा के अनुसार "विवाह के दो तीन साल बाद ही भोजराज का देहान्त हो गया।"[3] इस प्रकार यदि मीरा के जन्म दिन पर दोनों विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मीरा 1499 में जनमी हो या इससे भी कुछ साल पहले इन सबों से यह स्पष्ट है कि युवा होते-होते मीरा विधवा हो गयी। उसके रूप की सराहना करने वाला, उसे सांसारिक सुख देने वाला जीवन साथी उसकी नय्या को बीच मझधार में छोड़ कर चला गया और 1530 ई० में तो उसके ससुर राणा सांगा का भी देहान्त हो गया। उसका पिता रतनसिंह भी खानवा के युद्ध में बाबर के विरुद्ध लड़ता-लड़ता मारा गया था। मीरा अनाथ और विधवा दोनों हो गयी। शेष जीवन को हरि चरणों में समर्पित कर वह जनम-मरण से छुटकारा पाना चाहती थी। उसे जीवन से बड़ी शिकायत थी। उसकी विरक्ति और प्रभु प्रेम को मेवाड़ के राजघराने में एक अभिशाप समझा गया। वह साधु सन्यासियों का आदर सत्कार करने लगी तब युवती विधवा बहू पर राणाजी का संदेह सहज और स्वाभाविक था। मीरा पर कई कहानियाँ घड़ ली गयी। मीरा का रवैया मेवाड़ के घराने की बहू-बेटियों के रवैये से भिन्न था। इस असाधारण स्त्री को जहर पीने के लिये बाध्य किया गया, साँपों से कटवाया गया किन्तु गिरधर की प्रेयसी, कृष्ण की मीरा को संसार का तत्व नष्ट न कर सका। इन कहानियों में सत्य इतना ही है कि मीरा को राणा का विरोध सहना पड़ा। वह घर छोड़कर वृन्दावन चली गयीं जहाँ उसने रूप गोस्वामी जी को कृष्ण के निर्गुण व सगुण रूप का बोध कराया। यही वृन्दावन में

---

1. ओझा—उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1, पृष्ठ 359
2. डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 513
3. डॉ० जयनारायण आसोपा—पत्राचार अध्ययन—पाठ 18, पृष्ठ 5

रहते-रहते एक दिन रणछोड़ की मूर्ति के आगे नृत्य करती मीरा अपने कृष्ण में लीन हो गयी। मीरा का निर्वाण 1540 में माना जाता है।

मीरा के नाम पर आज जो साहित्य सामने आता है वह छः पुस्तकों में हैं— (1) पदावली, (2) नरसी रो मायरो, (3) राग सोरठ, (4) राग गोविन्द, (5) सत्य भामाजी नु रुसणू और (6) गीत गोविन्द टीका।

किन्तु वास्तव मे मीरा द्वारा रचित तो एक ही पदावली लगती है। 'गीत गोविन्द' की टीका तो कुम्भा ने मीरा से बहुत पहले लिख दी थी। 'सत्य भामाजी नु रुसणू' एक गुजराती भाषा की रचना है जिसके वास्तविक रचियता वल्लभ हैं। 'राग सोरठ और राग गोविन्द' तो केवल राग रागनियाँ है ये स्वतंत्र ग्रन्थ नही कहे जा सकते। 'नरसीजी रो मायरो' साफ सुथरी ब्रज भाषा में है जिसका ज्ञान मीरा को हो गया लेकिन इस ग्रन्थ का रचियता रतन खाती को माना जाता है। इतने पर भी लगभग 250 पद मीरा के निजी हैं जो उसे ईश्वर भक्त और अमर कवि बना देते है।

मीरा के प्रभु प्रेम को समझने से पहले एक और विवाद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उसके नाम के बारे में भी अब अनेक भ्रांतियाँ फैल गयी हैं। भाषा विज्ञान के आधार पर मीरा शब्द की उत्पत्ति मीर, पीर आदि से बताई है और मीरा का नाम अजमेर के एक सिद्ध मीराशाह की मनौती के फलस्वरूप रखा गया था। गहलोत इसी शब्द का अर्थ सागर से लगाते है और प्रो० नरोत्तमदास स्वामी मीरा का मूल रूप बीरा बताते हैं। किन्तु मारवाड़ में राजपूतो में लड़कियो के ऐसे नाम रखे जाते थे। मालदेव की लड़की का नाम भी मीरा था। कृषि सम्बन्धी बीज, बैल, फसल आदि पर भी लडकियों के नाम रखे जाते थे। जोधपुर की कुछ रानियों के नाम जेवड़ा, बीजड़, फूला आदि भी थे और इसी आधार पर 'मीरा' नाम 'मेर' से लिया गया है जिसका मतलब होता है खड़ी फसल। अतः मीरा के नाम को पीर, मीर आदि से जोड़ना उचित नही और न ही वह पीरो या मीरों के प्रभाव से भक्त बनी थी। उसे तो जीवन की कटुता ने प्रभु चरणों में ला पटका था। महाराणा विक्रमाजीत ने जो यातनाएँ मीरा को दी उन्होने मीरा के प्रेम को और भी दृढ़ और पवित्र बना दिया। मीरा का कृष्ण प्रेम शारीरिक यातनाओं और जीवन की कड़वी घूंट मे बढ़ता ही चला गया। संसार में किसी को अपना न पाकर मीरा गोविन्द की हो गयी। जितनी यातना बढ़ी उतनी ही मीरा की तपस्या और सहन शक्ति भी बढ़ती गयी। मीरा को अमर बनाने में मेवाड़ के राजघराने का विशेष योगदान है। उसकी भक्ति और योग देखकर उसे, 'राजस्थान की राधा' कहना उपयुक्त होगा।

मीरा का प्रभु प्रेम ही उसकी अमरता का कारण है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे मीरा अपने 'जोगी' को देखने, उससे बात करने और उसके साथ हँसने खेलने को व्याकुल हो उठती है। उसका जोगी या योगी तो कृष्ण ही था किन्तु

लौकिक चश्मा चढ़ाकर साहित्यिक समालोचक किसी साधु को उसका गुरु या योगी प्रियतम मान लेते हैं। मीरा स्वायत सुखी है, वह अपने विचारों में ही अपने योगी से प्यार कर लेती है और जब उसकी मूर्ति उसकी जागरूक अभिलाषाओं की पूर्ति नहीं कर पाती तो मीरा को लगता है कि उसका प्रियतम उससे रूठकर जा रहा है और वह वियोग की भावनात्मक कल्पना में रो पड़ती है—"जोगी मत जा मत जा, पांव पड़ूं मैं तेरे।" इस गीत में मीरा बिछोह की वास्तविकता का चित्र अंकित करती है और जनसाधारण काव्य को कथा मानकर उसमें सत्य खोजने लगता है और यही आलोचकों का दुर्भाग्य है। जब वह अपने ज्ञानी गुरु की प्यारी सूरत देखने को आतुर हो गा उठती है तो समालोचकों की शंका और पक्की हो जाती है। वे यह मान लेते हैं कि मीरा को किसी जोगी गुरु से स्नेह हो गया था। शंका समाधान तर्क से नहीं आध्यात्मिक जागरूकता से ही हो सकता है। मीरा को सिर्फ भक्त ही समझ सकेगा सामान्य समालोचक नहीं। वह जानती है कि प्रीत करने से दु:ख होता है, उसके पास जोगी से मिलने का भी कोई मार्ग या साधन नहीं फिर भी वह अपने जोगी की प्रतिदिन बाट जोती रहती है, ऐसी उसकी लगन अटूट है। वह विरहन की तरह सारी-सारी रात बैठी अपने जोगी की बाट देखती रहती है। इन सब बातों को लोग मीरा का लौकिक पक्ष मानते हैं जबकि वह अपने योगी कृष्ण के लिये लालायित रहती थी।

मीरा के प्रभु प्रेम का दूसरा चरण तब शुरू होता है जब वह पिय मिलन का अनुभव करती है और एक आन्तरिक आशंका उसके मुख पर विषाद फैला देती है। मीरा को मिलन के बाद वियोग का भय सताने लगता है तब वह अपने योगी कृष्ण से विनती करती है कि—"छोड मत जाजोजी महाराजा" यह महाराज कोई साधु या राणा न होकर उसका हृदय सम्राट योगी कृष्ण ही है वह अपनी तपस्या और लगन से अपने प्रियतम को बाँधकर रख लेना चाहती है "ऐसी लगन लगाई कहाँ तू जासी ?" इसमें भी हृदय मे भविष्य के वियोग का भय छलक रहा है फिर भी वह संतुष्ट है कि उसे उपासना का फल मिल गया। जब मीरा गाती है कि—"माई मैं तो राम रतन धन पायो।" तो उसकी आध्यात्मिक प्राप्तियां स्पष्ट हो जाती हैं। इसके बाद मीरा को भौतिक सुख की चाह नहीं रहती।

प्रभु प्रेम की तीसरी सीढ़ी मे मीरा भक्ति की पराकाष्ठा पार कर जाती है। वह प्रभु के सिवा अब संसार मे किसी से कोई लगाव नहीं रखती और गा उठती है—"म्हारे तो गिरधर गोपाल दूजो न कोई।" वैराग्य, एकाग्रता और सच्ची लगन का इससे बड़ा और क्या प्रमाण चाहिये। राणाजी उसकी भक्ति और प्रभु प्रेम में खलनायक का काम करते हैं किन्तु प्रभु में जिसकी सच्ची लगन हो उसे किसी प्राणी का भय नहीं रहता। न प्रहलाद किसी से डरा था और न मीरा। वह शंकाओं के समाधान के लिये तथा अपनी दृढ प्रतिज्ञा का बोध कराने के लिये राणाजी को वार-वार समझाती है कि हे राणाजी ! मैं तो सिर्फ गोविन्द के गुण गाऊंगी। जब उसे

बदनामी से डराया जाता है तो प्रभु प्रेम की प्यासी मीरा कह देती है कि "राणाजी म्हाने या बदनामी लागे मीठी।" वह तो हरी मन्दिर में नाचने, घुघरिया घमकाने में लीन है उसे लोक लाज, कुल की रीत आदि सांसारिक झूठे बन्धन नही रोक सकते। वह सब कुछ छोड़कर गिरधर के भजन में लीन हो जाती है। उसका लौकिक प्रेम प्रदर्शन यदि है भी तो वह कृष्ण में ही प्रगट होता है। उसका प्रेमालिंगन कृष्ण से होता है और वही उससे कल्पनाओं में साकार मिलता भी है। साधना के इस धरातल से ही उठकर वह शुद्ध निर्गुण प्रेम को पाती है। मीरा को साहित्यकारों ने विभिन्न रूपों मे देखा है "चिर-दुखिनी मीरा, चिर विरहिणी मीरा, प्रेम की अग्नि मे जलती मीरा, योगी के प्रेम मे रत मीरा।" आदि अनेक प्रकार से उसके प्रेम की व्याख्या की गयी है।

मीरा आज भी विवाद का प्रश्न है। इतिहास मे हमे इतना जानना पर्याप्त है कि मीरा भक्त थी, कृष्ण की प्रेयसी और राजस्थान की राधा थी। उसने अपने पीछे कोई मत या सम्प्रदाय नही छोड़ा। वह सिर्फ अपनी मुक्ति, अपनी साधना तक सीमित थी। यह बात प्रचलित है कि मीरा की न कोई सन्तान थी और न ही उसने कोई शिष्य बनाया था। फिर भी अनेक लोग खास तौर पर मेवाड़ के कुछ ब्राह्मण और विधवाएँ मीरा की तरह जीवन व्यतीत करते रहते हैं जो मीरा की तरह श्वेत वस्त्र पहनकर कृष्ण के कीर्तन व भजन आदि गाते रहते हैं। ऐसी औरतो को 'मीराबाई' कहकर पुकारा जाता है। इन मीरा बाईयो के लिये मेवाड़ राज्य से 'सदावृत्त' दिया जाता था और खाने पीने के साधनों से बेफिकर ये मीरा बाईयाँ कृष्ण भक्ति का प्रचार करती है। मारवाड में खिची जाति की स्त्रियाँ भी मीरा की तरह कृष्ण भक्ति करती हैं किन्तु विद्वानो में इस विषय पर मतभेद है कि इन्हे 'मीराबाई' या मीरा की अनुयायी कहा जाय या नही।

मीरा की धारणा थी कि संसार का सुख-वैभव, सम्मान व पद, सब मिथ्या है यदि कुछ सच है तो वह गिरधर गोपाल। वह कृष्ण को ही भगवान मान कर आराधना करती थी। रूढिवाद को छोड़कर तन्मय होकर भक्ति करना ही मीरा का भक्ति मार्ग है। उसका भक्ति मार्ग सरल है जिसमे न तपस्या है न उपवास, कृष्ण स्मरण भी गीतों और नृत्य के माध्यम से उसने रोचक बना दिया। वह प्रभु प्रेम की पागल थी और उसके अभाव में आज उसका साहित्य उसी भक्ति मार्ग का पाठ पढ़ाता है। उसके अनुयाइयों का कोई सम्प्रदाय है या नही यह प्रश्न भी अभी विवादास्पद है। डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना यह है कि—"मीरादासी" सम्प्रदाय अनेक भक्तों द्वारा अपनाया जा रहा है और उसके अनुकरण करने वालों की संख्या राजस्थान में पर्याप्त है।"[1] मीरा का कोई मत सजीव है या नहीं, वह लौकिक या पारलौकिक प्रेम करती थी यह भी प्रश्न नहीं, सच तो यह है कि राजस्थान के भक्तों

1. डॉ० गोपीनाथ शर्मा— राजस्थान का इतिहास, पृष्ठ 515.

को मीरा एक नया भक्ति मार्ग बता गयी, इसी आधार पर इतिहास में अमर हो गयी और साहित्य की धरोहर बन गयी। उसके प्रभु प्रेम ने उसे अमर कर दिया, वह 'राजस्थान की राधा' बन गयी।

(1) रामानुज सम्प्रदाय—इसे राम स्नेही सम्प्रदाय भी कहते हैं। यह तो सत्य है कि जब-जब देश मे अधर्म और भ्रष्टाचार का प्रकोप बढता है तब-तब कोई न कोई महापुरुष जन्म अवश्य लेता है। राजस्थान में जब अन्ध विश्वास बढ़ते जा रहे थे और राजाओं का आपसी क्लेश देश की सभ्यता को नष्ट कर रहा था। आपसी द्वेष, मराठो के आक्रमण और अंग्रेजों की कुदृष्टि भारत के इस भाग को उजाड़ देना चाहती थी तब 1718 ई० में जयपुर रियासत मे सूरसेन नामक गाँव में रामस्नेही सम्प्रदाय के जन्मदाता रामकिशन का जन्म हुआ। ज्योतिषियो ने घोषणा की कि रामकिशन बडा सम्राट् या योगी बनेगा। ये बचपन से ही अपनी योग्यता का परिचय देते रहे और अपनी युवावस्था मे जयपुर महाराज के मन्त्री भी रहे। जब ये 24 वर्ष के थे तो इनके पिता का देहान्त हो गया और लगभग 36 वर्ष की आयु में ये साधु बन गये तथा मेड़ता के पास दातड़ा गाँव में गुरु कृपारामजी ने इन्हे दीक्षा दी और इनका नाम 'रामचरण' कर दिया। ज्ञान प्राप्ति और जिज्ञासा वश ये वृन्दावन भी गये किन्तु पुन: अपने देश मे लौट आये और भीलवाड़ा में रहकर अपने विचारों का प्रचार करने लगे। कुछ इतिहासकार इनका जन्म का स्थान दातड़ा, भीलवाड़ा मे बताते है इनका जन्म 1776 वि० सं० में बताते हैं जो न्याय संगत नहीं लगता। अन्त मे शाहपुरा मे 80 वर्ष की अवस्था में स्वामी रामचरण का देहान्त हो गया। आपने भीलवाडा में दस वर्ष रहकर निर्गुण उपासना तथा जनसाधारण के प्रति प्रेम का प्रचार किया। मूर्ति पूजा करने वाले इनके विरोधी हो गये और उनकी हत्या करने के प्रयत्न भी किये गये। यहाँ तक कि उदयपुर के महाराणा को भी स्वामीजी की शिकायत की गयी। स्वामीजी भीलवाड़ा छोड़कर शाहपुरा चले गये जहाँ के राजा ने इन्हें सम्मान सहित अपने यहाँ रखा और सैकड़ों लोगों ने रामधुन से लाभ उठाया। इनके मठों को रामद्वारा कहते हैं। स्वामी राम चरण ने जिन विचारों का प्रचार किया वे इस प्रकार हैं—

1. ये निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते थे।
2. इनके अनुयायी या चेले नगे भी रहते थे और कुछ तूंबा, लंगोट, चादर, माला और पुस्तक धारण करते थे।
3. ये आजीवन विवाह नही करते थे।
4. चेला मूंडते समय उसकी दाढ़ी, मूँछ और सिर के बाल मुंडवा देते थे।
5. गुरु का प्रथम चेला ही गुरु के बाद गद्दी पर बैठता था।
6. ये रामद्वारों में रहकर कथा बांचते और हरि भजन आदि करते थे।
7. मूर्ति पूजा और अन्ध विश्वासों का विरोध करते थे।

भीलवाड़ा में रामचरणजी के 225 अनुयायी हो गये थे। इनके द्वारा स्थापित शाहपुरा का केन्द्र सबसे प्रसिद्ध केन्द्र था। इसके अतिरिक्त खेंडापा (बीकानेर में) और रैण (मेड़ता) में भी रामस्नेही केन्द्र स्थापित हुए। खेंडापा में इस मत का प्रचार हरीराम दास जी ने किया। इनके अनुयायी, मालवा, गुजरात, जोधपुर और बीकानेर तक फैले हुए थे। इन्होंने अपने अनुयाइयों को गृहस्थ जीवन में रहने दिया, ये स्वयं भी गृहस्थ थे। इनके पाँच भेद हो गये थे जो विरक्त, विदेही, परमहंस, प्रवृति और घरबारी के नाम से विख्यात हुए। आज भी हर वर्ष खेंडापा में स्वामी हरीराम दास जी का मेला लगता है।

रैण में राम स्नेही मत का प्रचार करने वाले गुरु दरियावजी थे जिनके विचार स्वामी रामचरण से बहुत मिलते थे। आगे चलकर इस सम्प्रदाय के साधु खाने पीने और मौज मनाने में विश्वास रखने लगे और सम्प्रदाय अपनी लोकप्रियता खो बैठा।

(3) दादू पंथ—दादू का जन्म जौनपुर में सं० 1544 ई० में हुआ था। स्वतन्त्र धार्मिक विचारों के लिये दादू प्रसिद्ध हैं। इनकी जाति के विषय में विद्वान विभिन्न मत रखते हैं। ये जौनपुर या राजस्थान के या बंगाल के रहने वाले थे यह भी निश्चित नहीं है। कोई इन्हें पिनारा बताता है तो कोई मुसलमान। इनके नाती बालकराम ने इन्हें मुसलमान बताया है इसके विपरीत पं० सुधाकर द्विवेदी इन्हें जौनपुर का मोची या चमार बताते हैं। जो भी हो इनका लालन पालन एक नागर ब्राह्मण ने किया था जिसने इन्हें नदी में डूबने से बचाया था। इन्हें वृद्धानन्द ने दीक्षा दी थी और सारे राजस्थान में घूम घूमकर इन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया और अपने बावन पंथी विचारों का प्रचार करते-करते 61 वर्ष की अवस्था में नारायण गाँव में 1605 ई० में इनका देहान्त हो गया। यहाँ आज भी एक सुन्दर झील और संगमरमर के भवन में दादू के पद चिह्न बने हैं। हर वर्ष यहाँ दादूजी के निर्वाण दिवस पर मेला लगता है जिसमें दूर-दूर से सन्त दादूजी को श्रद्धांजली अर्पित करने आते हैं।

दादूजी के 152 शिष्य माने जाते हैं जिनमें से 52 प्रधान थे। इसीलिये दादू पंथी को 52 स्तम्भा कहा गया। इन लोगों ने दादू पंथ से अपना सम्बन्ध तो बनाये रखा लेकिन फिर भी स्वतन्त्र हो गये। इसी पंथ के परिवर्तित रूप है नागा, खालसा, खाकी और उत्तराठी। दादू कविता में अपने विचार प्रगट करते थे जिन्हे उनके शिष्यों ने संकलित कर लिया। उनकी भाषा में संस्कृत का भी पुट है। उनके जीवन के प्रथम 24 वर्ष के बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं है। कुछ लोग कमाल को भी दादू का गुरु मानते हैं। उनके दर्शन मे सूफी विचारधारा भी है। इनके सबसे पहले शिष्य दादू सुन्दरदास थे जिन्होने आमेर में दादू पंथ का प्रचार किया। इनके उपदेश सरल थे कि संतोष रखना चाहिये, जो दिया सो ही मिलेगा, इच्छा से नहीं मिलता, इच्छा का अन्त ही स्वर्ग का मार्ग है। संसार के बन्धनों से

मुक्त होना ही मोक्ष है। मूर्ति पूजा, जातपाँत, तीर्थयात्रा व जादू टोना में इन्हें विश्वास नहीं था। बिना गुरु के ज्ञान नहीं मिलता तथा उपासना, अहिंसा, प्रेम भाव और भक्ति से ही मुक्ति संभव है। इन पर कबीर का भी प्रभाव था। उनके शब्द हृदय को स्पर्श करके निकल जाते थे। ये कई भाषाओं के जानकार थे और इनकी सरल भाषा ही इनकी लोकप्रियता का मूल कारण थी। आज भी राजस्थान में इनके अनुयायी काफी है।

(4) अन्य सन्त—राजस्थान की अधिकांश जनता अशिक्षित है और विभिन्न धर्मों के ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने मे असमर्थ है। उन्हें धर्म के एक सूत्र में बांधने का कार्य क्षेत्रीय नायकों ने किया जिन्हें हम यहाँ अन्य सन्त कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। यह तो विश्वविख्यात ही है कि राजस्थान में जन सेवा पर प्राण दे देने वालों को देवता समझ कर पूजा जाता है। जो लोग आदर्श जीवन बिताकर समाज के लिये मर जाते हैं उन्हें आज दिन भी पूजा जाता है। अन्य सन्तों में हम जिन महापुरुषों का वर्णन करेंगे वे गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी, देवजी, भैरूजी, सूरोंजी आदि धर्म के नायक हैं जिन्होने धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राण दे दिये। गोगाजी ने गायों की रक्षा करते हुए अपने प्राण दे दिये थे। तेजाजी, पाबूजी आदि ने सादा जीवन बिताकर अपने सरल उपदेशों से अपना स्थान अमर कर लिया। आज भी राजस्थान के गाँवों मे हर वर्ष इन महापुरुषों की याद मे मेले लगते हैं। ऐसी मान्यता है कि ये पवित्र आत्माएँ अपने स्थानों पर आज भी उनके भोपों में आती रहती हैं और आसपास के ग्रामीण निश्चित दिनो पर इन स्थानो में जाकर भोपों के माध्यम से अपने कष्टों का निवारण करते रहते है। इन सन्तों के माध्यम से यद्यपि अन्धविश्वास का प्रसार हुआ है फिर भी भक्ति और आस्था को सजीव रखने में ये सफल हुए हैं। जहाँ अशिक्षित लोग धर्म की गूढ़ता को नहीं समझते वहाँ ये स्थानीय देवता एकता और धर्म के प्राण बनकर जनजागरण में सहयोग देते है।

[ ]

सहायक ग्रन्थ

1. डॉ० दशरथ शर्मा	राजस्थान थ्रू दी एजेज
2. ,, ,,	दी अर्ली चौहान डाइनेस्टीज
3. डॉ. भण्डारकर	फॉरेन एलिमेण्ट्स इन हिन्दू पॉपुलेशन।
4. रेप्सन	भारतीय मुद्राएँ
5. डॉ. रघुवीरसिंह	पूर्व आधुनिक राजस्थान
6. वी. ए. स्मिथ	ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया।
7. ,, ,,	महान् मुगल अकबर
8. रायचौधरी	हिस्ट्री ऑफ मेवाड़।
9. सी. वी. वैद्य	हिस्ट्री ऑफ मिडिवियल हिन्दू इंडिया।
10. डॉ डी. वी. सिंह	हिस्ट्री ऑफ दी चौहान्स
11. आर. सी. मजूमदार	दी स्ट्रगल फार एम्पायर
12. ,, ,,	दी क्लासीकल एज।
13. डॉ. लाल	खिलजी वंश का इतिहास
14. डॉडवेल	दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग 3
15. नीलकंठ शास्त्री	ए कॉम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 5
16. डॉ. कानूनगो	स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री
17. ,, ,,	शेरशाह एण्ड हिज टाईम्स
18. रशब्रुक विलियम	एन एम्पायर बिल्डर ऑफ दी सिक्सटीन्थ सेन्चुरी।
19. सर विलियमली वारनं	दी नेटिव स्टेट्स ऑफ इंडिया।
20. डॉ ईश्वरी प्रसाद	हुमायूँ एण्ड हिज टाइम्स।
21. इलियट एण्ड डौसन	तारीख-ए-शेरशाही।
22 ,, ,,	दी हिस्ट्री ऑफ इंडिया, टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन।
23. डॉ. वेनी प्रसाद	हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर।
24. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव	अकबर महान्।
25. ,, ,,	दिल्ली सल्तनत

26. अबुलफजल	अकबर नामा ।
27. निजामुद्दीन अहमद	ताजु-के-अकबरी ।
28. इलियट	तबकात-ए-अकबरी ।
29. ग्राड डफ	हिस्ट्री ऑफ मराठाज ।
30. डॉ. यदुनाथ सरकार	औरंगजेब
31. ,, ,,	फाल ऑफ मुगल एम्पायर
32. सरदेसाई	शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स ।
33. ,, ,,	मराठो का नवीन इतिहास, भाग 2
34. डॉ. एस. आर. शर्मा	भारत मे मुगल साम्राज्य ।
35. डॉ. सतीशचन्द्र	पार्टीज एण्ड पॉलिटिक्स इन मुगल कोर्ट ।
36. बर्नियर	ट्रेवल्स इन दी मुगल एम्पायर
37. मुंशी देवी प्रसाद	शाहजहाँ नामा ।
38. ,, ,,	महाराणा संग्रामसिंह ।
39. डॉ. दिघे	बाजीराव एण्ड दी नार्थ वर्ल्ड एक्सपैंशन ऑफ दी मराठाज ।
40. सिन्हा	मिलट्री सिस्टम ऑफ द मराठाज
41. डॉ. बथरा	कंपनी और जयपुर राज्य के संबध ।
42. पी. ई. राबर्ट्स	इंडिया अन्डर वैलेजली
43. डॉ. मोहनसिंह मेहता	लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इंडियन स्टेट्स ।
44. परसी ब्राउन	हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्कीटेक्चर ।
45. परसी ब्राउन	इंडियन पेंटिंग्स
46. रंधावा	इंडियन पेन्टिंग्स
47. लादूराम व्यास	भारतीय चित्रकला
48. कुमार स्वामी	राजपूत पेंटिंग्स
49. डॉ० ताराचन्द	इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम ओन इंडियन कल्चर
50. विल्सन	रिलीजियस सैक्ट्स ऑफ दी हिन्दूज
51. डॉ० गोपीनाथ शर्मा	राजस्थान का इतिहास
52. ,, ,,	दी सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान
53. ,, ,,	राजस्थान स्टेडीज
54. ,, ,,	ऐतिहासिक निबन्ध संग्रह
55. ,, ,,	मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स ।
56. ,, ,,	ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान
57. कवि श्यामलदास	वीर विनोद, भाग 1 से 5
58. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2

59. गौरीशंकरण हीराचन्द ओझा	जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2
60 ,, ,,	जयपुर राज्य का इतिहास ।
61 ,, ,,	बीकानेर राज्य का इतिहास
62 ,, ,,	बाँसवाडा व डूँगरपुर राज्य का इतिहास
63 ,, ,,	राजपूताने का इतिहास, भाग 1 व 2
64 सुखवीरसिंह गहलोत	राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास
65 ,, ,,	राजपूताने का इतिहास (सभी भाग) या संपूर्ण खण्ड
66 जगदीशसिंह गहलोत	मेवाड राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध
67 जेम्स टाड	राजस्थान का इतिहास (अनु० ईश्वरी प्रसाद)
68. मुहणोत नैणसी	नैणसी की ख्यात
69 चन्द्रवरदायी	पृथ्वीराज रासो
70 बाँकीदास	ऐतिहासिक बातें
71 पण्डित विश्वेश्वर नाथ रेऊ	मारवाड का इतिहास, भाग 1 व 2
72 ,, ,,	ग्लोरीज ऑफ मारवाड़
73. पण्डित रामकरण आसोपा	मारवाड का मूल इतिहास
74 ,, ,,	हिस्ट्री ऑफ दी राठोर्स ।
75 डॉ० मथुरालाल शर्मा	कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2
76 ,, ,,	जयपुर राज्य का इतिहास ,, ,,
77. डॉ वी एस भार्गव	मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स
78 ,, ,,	राजस्थान का इतिहास
79 ,, ,,	राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
80 डॉ घासीराम परिहार	मारवाड़ मराठा रिलेशन्स
81 डॉ के एस गुप्ता	मेवाड मराठा रिलेशन्स
82 ,, ,,	वनेड़ा संग्रहालय अभिलेख, भाग 1 व 2
83 डॉ आर पी व्यास	रूल ऑफ नोबिलिटि इन मेवाड़
84 सी यू विल्स	ए रिपोर्ट ऑफ दी लैंड टेन्पोर एण्ड स्पेशल पावर्स ऑफ सर्टेन ठिकाणाज ऑफ दी जयपुर स्टेट
85. डॉ हीरालाल माहेश्वरी	राजस्थानी भाषा और साहित्य
86 बेले	हिस्ट्री ऑफ गुजरात
87. हरविलास शारदा	महाराणा कुम्भा
8. ,, ,,	महाराणा साँगा

89.	रामवल्लभ सोमानी	महाराणा कुम्भा
90.	प्रो. श्रीराम शर्मा	महाराणा प्रताप
91.	भूरसिंह शेखावत	महाराणा यशप्रकाश
92.	अमर सार	प्रताप वर्णन
93.	डॉ. आर. एन. प्रसाद	राजा मानसिंह ऑफ आमेर
94	डॉ. मिस रामप्यारी शास्त्री	जालिमसिंह
95.	डब्ल्यू डब्ल्यू वेब	करेन्सीज ऑफ दी हिन्दू स्टेट्स ऑफ राजपूताना
96.	पं. जीवधर	अमर सार
97.	मोहन भट्ट	जगतसिंह शास्त्र
98.	सूर्यमल्ल, मिश्रण	वंश भास्कर
99.	मुन्शी ज्वालासहाय माथुर	वकाये राजपूताना
100	वीरेन्द्रस्वरूप भटनागर	सवाई जयसिंह

